6.4

मात्रा-प्रदीप

स्वामी कार्ष्णि गुरुशरणानन्द

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

मात्रा-प्रदीप

[जगद्गुरु आचार्यश्री श्रीचन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत
मात्रा-शास्त्र की विशद व्याख्या]

प्रणेता एवं सम्पादक
स्वामी कार्ष्णि गुरुशरणानन्द



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MĀTRĀ-PRADĪPA

[*Category* : Spiritual & Religious Literature]

Created & Edited by

Mahamandaleshwar Karshnipravar
Swami Shri Gurusharananand Ji Maharaj

ISBN : 978-93-5146-147-0

वि.सं. 2073 (2016 ख्रैस्ताब्द)

प्रथम संस्करण : 2016 ई.
[1st Edition : 2016]

मूल्य : ₹ 1000/=

प्राप्ति-स्थान

श्री उदासीन कार्ष्णि आश्रम
रमणरेती, पो. : महावन, जिला-मथुरा (उ.प्र.)

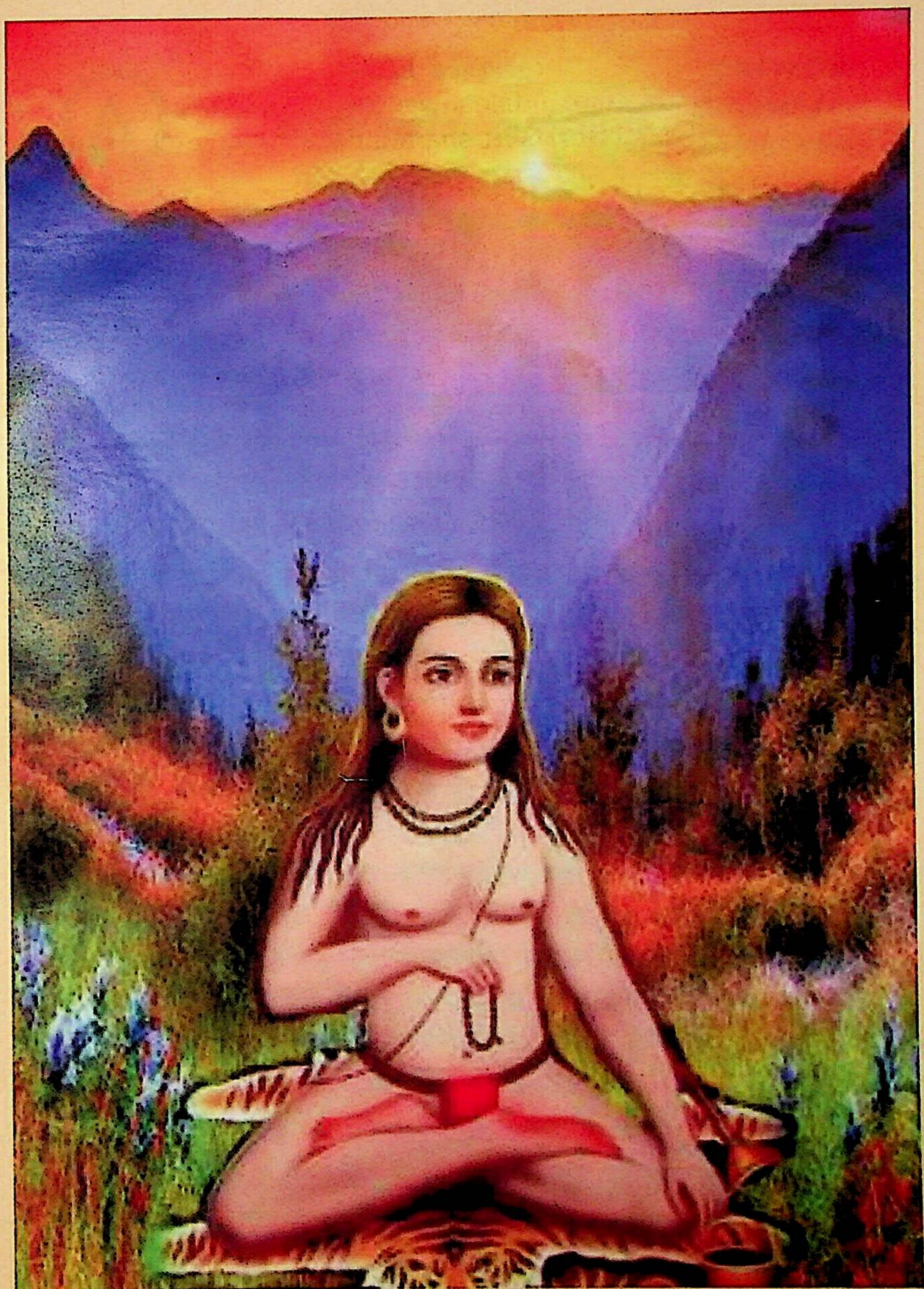
श्रीगुरुकार्ष्णिविद्याभवनम्
35, दीनदयालनगर, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

Publisher
VISHWAVIDYALAYA PRAKASHAN
Post Box No. 1149, Vishalakshi Building,
Chowk, Varanasi-221001
[U.P. INDIA]

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
पोस्ट बॉक्स नं. 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी-221001
[उत्तर प्रदेश, भारत]

Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
E-mail : sales@vvpbooks.com • vvpbooks@gmail.com
Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक
श्रीजी प्रिण्टर्स
जे. 12/5, नाटी इमली, वाराणसी-221002
फोन नं. 0542-2201104, 2207634
E-mail : shrijeeprint@gmail.com



श्रीशङ्करावतार उदासीनाचार्य जगद्गुरु भगवान् श्री श्रीचन्द्राचार्य जी



ॐ नमो ब्रह्मणे

श्री गुरु रामराय उदासीनाश्रम

शिवमन्दिर प्रबन्ध समिति (रजि.)

(आयकर मुक्त 80 जी प्रमाण पत्र)

दूरभाष कार्यालय :
011-23619485
09873244405
09868266103

अध्यक्ष : स्वामी राघवानन्द, एम.ए. वेदान्ताचार्य
बनूटी नेशनल हाईवे, 88 शिमला (हि.प्र.)
दूरभाष : 0177-2774099

आरामबाग, पंचकुइयाँ रोड
नई दिल्ली-11005

पूज्य कार्ष्णिपीठाधीश महामण्डलेश्वर महाराजश्री द्वारा जगद्गुरु आचार्य श्री श्रीचन्द्र भगवान् द्वारा रचित मात्रा-शास्त्र की विस्तृत व्याख्या **'मात्रा-प्रदीप'** प्रकाशन से पूर्व देखने को मिली, यह मेरा सौभाग्य है। विशेष रूप से महाराजश्री का अनुग्रह है।

आचार्य श्रीचन्द्र भगवान् द्वारा उदासीन सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मात्रा यद्यपि प्रारम्भ में केवल साधु समाज के लिए ही पठनीय-मननीय रहा, किन्तु इसकी महत्ता को मानकर जन-सामान्य के लिए प्रसारित किया गया तथा समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने मात्रा-शास्त्र की सुन्दर व्याख्या भी की।

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि पूज्य महाराजश्री ने मात्रा-शास्त्र की विस्तार से व्याख्या की है, यह अद्भुत है, प्रशंसनीय है। यद्यपि मात्रा-शास्त्र में सीधा, सादा, सरल साधु जीवन के लिए उपदेश ही दिखाई देता है; परन्तु महाराजश्री ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें मात्रा के प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्तिगम्य तथा अनेकविध शास्त्रीय उद्धरणों से प्रामाणिक प्रतिपादित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूज्य आचार्यश्री ने अन्तःस्थ रहस्यपूर्ण भावों को अत्यन्त सरल तथा भावप्रवण प्रवाहमयी भाषा में अभिव्यक्त किया है। स्थान-स्थान पर आवश्यकता के अनुरूप दार्शनिक विवेचन को भी पर्याप्त स्थान मिला है। पूज्य आचार्यश्री का योगमय साधना-सम्पन्न जीवन होने के कारण योग की विभिन्न प्रक्रियाओं का भी पूर्णरूपेण समावेश हुआ है।

मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ सम्पूर्ण साधु समाज, विशेष रूप से उदासीन सम्प्रदाय के लिए वरदान सिद्ध होगा। इस महत्तम कार्य के लिए हम पूज्य महाराजश्री के प्रति कृतज्ञ हैं।

स्वामी राघवानन्द

स्वामी राघवानन्द

प्रवेशिका

मात्रा-शास्त्र श्रौतमुनियों की श्रुति, स्मृति और धृति है। अतः प्रत्येक उदासीन अथवा उदासी के लिए इसका श्रवण, स्मरण, मनन और निदिध्यासन अनिवार्य माना गया है। मात्रा देखने-सुनने में जितनी सरल और सुबोध दिखाई पड़ती है, निहितार्थ प्रकट करने में उतनी ही गूढ़ है और व्याख्या की अपेक्षा रखती है। सम्प्रदाय और सम्प्रदाय से बाहर के विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इन दुपदों का अर्थ किया है। मैंने यथासम्भव इन टीकाओं का अवलोकन किया है, पर मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता हो रही है कि मात्रा-शास्त्र का जितना पाण्डित्यपूर्ण, विशद, बहुशास्त्र और साधनापुष्ट विमर्श भारत के उच्चकोटि के दार्शनिक, ज्ञानभक्ति-योग के तत्त्वज्ञ तथा रस साधना सिद्ध महामण्डलेश्वर कार्ष्णि स्वामी गुरुशरणानन्द जी महाराज रमणरेती ने प्रस्तुत कृति में किया है, अभी तक अन्यत्र मेरे देखने में नहीं आया। आचार्य भगवान् श्री श्रीचन्द्र जी के भावलोक में गहराई से प्रविष्ट होकर ही वह ऐसी उत्तम विवेचना कर सके हैं, इसे दैवी प्रेरणा और कृपा का अमोघ फल कहा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय धर्म साधनाओं में वैदिक, आगमिक और अवैदिक तत्त्व इस तरह घुलमिल गये हैं कि उन्हें सर्वथा भिन्न और पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। उनका विद्वानों ने अनुमान मात्र लगाया है। उपनिषद् श्रुतियों का शिरोभाग कहा जाता है, पर जो श्रुति मनु महाराज के अनुसार **'दुदोह यज्ञ-रक्षार्थं'** प्रकट हुई, जिस यज्ञ को परम साधन मानते हुए शतपथ-ब्राह्मण में **'यज्ञो वै विष्णुः'** तथा **'यज्ञो वै स्वर्नौका'** कहा गया, उसी को उपनिषद् ने **'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा'** कहकर गौण ठहराया। इसका परिणाम यह हुआ कि तत्त्वज्ञान, योग, उपासना और आचार की तपोनिष्ठ साधना ने एक ऐसी विचार सरणि को जन्म दिया, जिसमें ज्ञान, योग और भक्ति की प्रधानता थी। शैवयोगियों ने जिसे ज्ञान और योग के घाटों पर प्रवाहित किया, उसे सिद्धों ने योग और राग के दो तटों के बीच बहने दिया। ज्ञान, योग और भक्ति की इसी त्रिवेणी ने सन्तमत को जन्म दिया। बौद्ध, शैव तान्त्रिकों तथा नाथ योगियों में ही नहीं, प्राचीन वैष्णव साहित्य में भी योग की साधना प्रमुखता के साथ विद्यमान

है। श्री यामुनाचार्य ने अपने **'आगम प्रामाण्य'** में सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत और वेद को स्वतः प्रमाण मानते हुए परम्परागत साधना-तत्त्वों को मान्यता प्रदान की। मध्यकालीन सन्त साहित्य और साधना पर इस समेकित चिन्तनधारा का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। स्वामी रामानन्द का ज्ञान-भक्ति-योग इसका प्रमाण है। स्वामी रामानन्द, नामदेव, वेणी, कबीर, रैदास, गुरुनानक, श्रीचन्द्र और गोरखनाथ योग और भक्ति के समर्थक हैं। यह बात अलग है कि गोरख के यहाँ योग की प्रधानता है तथा रामानन्द जी के यहाँ भक्ति-योग की वरीयता है। गोरखबानी तथा रामानन्द प्रणीत भगतिजोग और योगचिन्तामणि इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। सन्त मिहीलाल ने ऐसे साधक को अवधूत कहा है। गुरु प्रकारी मे मिहीलाल रामानन्द जी के गुरु राघवानन्द जी को अवधूतवेशधारी बताते हैं। अवधूतों के चर्याप्रदर्शक दत्तात्रेय माने जाते हैं तथा गोरखनाथी भी अवधूत दत्तात्रेय को अपना मूल मानते हैं। डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने स्वामी रामानन्द की हिन्दी कृति में इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। स्वामी रामानन्द जी के पौत्र शिष्य गणेशानन्द जी की **'भक्ति भावती जोग'** कृति में भक्ति और योग के समन्वय की बात दुहराई गई है। रामभक्ति की तपसी शाखा भी इसी मार्ग को स्वीकार करती है। श्री रामानुज से स्वामी रामानन्द जी का पृथक् साधना मार्ग उनकी इसी नयी दृष्टि का परिचायक है। योग की पारिभाषिक शब्दावली की भरपूर अभिव्यक्ति इन रचनाओं में है। इस धारा का विश्वास है कि शरीर में सुरति है, सुरति में आत्मा है और आत्मा में परमात्मा है। इस सुरति रूप प्रेमनद का तट है निरति। आत्मा हंस है और प्रेमातिरेक निरति में डुबकी लगाते रहने में छिपी है उसकी आनंदलीला। नामस्मरण का अजपाजाप का नगाड़ा बज-बज कर योगी की साधना को शक्ति प्रदान करता रहता है। संतमत में इसे नगाड़ा बजना कहते हैं। श्रीचन्द्र जी ने **'नौबत शंख नगारा बजाया'** कहकर इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है। रामरक्षा में स्वामी रामानन्द कहते हैं—

> **गंग उलटी चलै भानु पच्छिम मिलै**
> **निकसिआ बिम्ब परकास कीआ।**
> **आत्मा माहि दीदार दरसता रहै यूँ**
> **अजरावर (अजर-अमर) होय आपु जीआ॥**

गुरुनानक ने **'गुरुमुखि जागि रहै अवधूता, सद वैरागी ततु परोता'** कहकर इस साधना के प्रति अपना रुझान परम्परा की रक्षा के लिए प्रकट किया है।

इडा-पिंगला-सुषम्ना नाड़ियों के साथ प्राण साधना सन्त योग का अनिवार्य साधन था। बौद्ध तन्त्रों में इडा को ललना, पिंगला को रसना तथा सुषुम्ना को अवधूती कहा जाता था। सिद्ध वाणियों में अवधूती को सहज सुन्दरी भी कहा गया है। शैव-योगियों के यहाँ सूर्य-चन्द्र नाड़ी तथा शाक्तों के यहाँ इन्हें वाम और दक्षिण कहा गया। हिन्दू-तन्त्रयोग धारा में इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाम अधिक प्रचलित थे, अतः किसी प्रकार का भ्रम साधक को न हो, आचार्यश्री ने इन्हीं प्रचलित नामों को स्वीकार किया, अवैदिक कही जाने वाली साधनाओं में चले आ रहे अन्य परम्परागत वैकल्पिक नामों को नहीं। उन्होंने गोरख के **'अलख पुरुष'** को अपनाया पर **'मन्त्र हरिनाम'** (गायत्री हरिनाम) कहकर भागवती भक्ति से उसका पुनः संस्कार किया। भागवतोक्त सबीज हरिध्यान की अनिवार्यता बताते हुए सुरति को **'क्षेमाय पादमूलम्'** के साथ जोड़ दिया। परम्परा का संस्कार कर वैदिक-आगमिक तत्त्वों को स्वीकार करना आचार्यश्री की मौलिक दृष्टि है। यह उनके स्वतन्त्र आचार्यत्व तथा नवीन प्रस्थान की सूचना देती है। उस युग में ब्रह्मचर्य और सदाचार को साधना का अनिवार्य अंग बनाने का कार्य गोरख की तरह श्रीचन्द्र जी ने भी किया। उनके शिष्य अलमस्त साहब ने अपनी मात्रा में लिखा भी है—

जत की जटा जोग का मज्जन
ज्ञान फाहुड़ी ध्यान निरंजन।
ऐसा जोगी जोग कमावै
सुपनै बिंदु न जाकै जावै॥

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परम्परागत साधनामूलक अवधारणाओं का संस्कार करते हुए उन्होंने निगमागम तथा श्रौत-स्मार्त साधना का समन्वयमूलक सहज सर्वजनग्राह्य जो रूप मात्रा-शास्त्र में प्रस्तुत किया, वह देश, काल, जाति, सम्प्रदाय और व्यक्ति से ऊपर उठा हुआ सार्वभौम और

सार्वकालिक है। मात्रा एक युग-काल की रचना नहीं है, उसे किसी एक मतवाद से बाँधकर नहीं देखा जा सकता।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि मात्रा-शास्त्र की यह आत्मप्रसादिनी **'मात्रा-प्रदीप'** टीका पाठकों के अविद्याजन्य आवरण को हटाकर सत्य के साक्षात्कार में सहायक होगी, निखिल आवरणों के क्षय हुए बिना आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। अवैदिकों के यहाँ जो अनुस्मृति है, संतमत में वही सुरति है, सुरति शब्दयोग साधना है और जीवन्मुक्ति उसका फल। बौद्धतन्त्र जिस प्रभामण्डल में प्रवेश की बात करते हैं, आचार्य श्रीचन्द्र उसे 'विषमगढ़ तोड़ निर्भव घर आया' कहकर श्रौतसिद्धान्त की ओर इशारा करते हैं। मात्रा-शास्त्र के टीकाकार ने इस तथ्य को कहीं भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया।

विष्णुदत्त राकेश

आचार्य (डॉ.) विष्णुदत्त राकेश
डी.लिट्.
पूर्व अध्यक्ष–मानविकी संकाय तथा
निदेशक, स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अक्षय तृतीया
09.05.2015
ईशान, भगवन्तपुरम्
कनखल

भूमिका

'मात्रा-प्रदीप' नाम से आचार्य महामण्डलेश्वर कार्ष्णिप्रवर **स्वामी श्री गुरुशरणानन्द जी महाराज** ने जो ग्रन्थ 'मात्रा' पर अपनी दृष्टि के साथ लोकमंगल हेतु, जिज्ञासु साधकों के लिए उपलब्ध कराया है, वह अतीव उपयोगी है। क्योंकि मात्रा के अर्थ को स्पष्ट करने हेतु इस प्रकार की अन्य व्याख्या उपलब्ध नहीं प्रतीत होती। उदासीनाचार्य भगवान् **श्री श्रीचन्द्र प्रभु** ने जीवों को जन्म-मरण की परम्परा से मुक्ति दिलाने हेतु उपनिषदों की तरह अत्यन्त रहस्यपूर्ण मात्रा का प्रणयन किया है। मात्रा-शास्त्र, मात्रासूत्र आदि नामों से व्यवहार में प्रसिद्ध यह आध्यात्मिक रहस्य का प्रतिपादक ग्रन्थ अपने कलेवर के अन्त में केवल 'मात्रा' शब्द से ही आचार्यचरण द्वारा बोधित किया गया है। अन्त के वाक्य, जो मात्रा की समाप्ति में उल्लिखित हैं, मात्रा के नाम एवं उसके प्रणयन के उद्देश्य दोनों को स्पष्ट करते हैं।

स्वामी श्री योगीन्द्रानन्द जी महाराज द्वारा लिखित संक्षिप्त हिन्दी व्याख्या के साथ 'मात्रा' का प्रकाशन श्री साधुवेला आश्रम, भदैनी, बनारस (वाराणसी) से सम्वत् 2010 में हुआ था। इस प्रकाशन में ग्रन्थ का शीर्षक केवल **'मात्रा'** है। अर्जुन विभूति के साथ **'मात्रा-शास्त्र'** नाम से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है, यह दोनों ही व्याख्यायें मात्रा-शास्त्र का प्रतिपद व्याख्यान करने हेतु अस्तित्व में आयी हैं। दोनों व्याख्यानों के सापेक्ष इस मात्रा-प्रदीप को देखने पर स्वामी जी महाराज के द्वारा मात्रा-प्रदीप हेतु किये गये प्रयास का अनुमान होता है। मैं समझता हूँ कि **'मात्रा-प्रदीप'** हेतु यह सामर्थ्य उनकी हरिनाम में निष्ठा, अपने गुरु एवं पथ-प्रदर्शक आचार्य कार्ष्णिप्रवर **स्वामी श्री हरिनामदास जी महाराज** के प्रति समर्पण एवं उनकी शास्त्रनिष्ठा तथा प्रौढि का फल है।

भारतीय चिन्तन परम्परा एवं उपदेश परम्परा में यह देखा जाता है कि कोई भी उपदेशक या ग्रन्थकार अपने पूर्व के सम्बद्ध ग्रन्थों एवं उपदेशों की उपेक्षा न कर उनके प्रति सम्मान का भाव रखता है। आचार्यचरण ने भी अपने पूर्व सन्तों की रहस्य प्रतिपादन हेतु उक्ति वैचित्र्यपूर्ण रहस्यात्मक शैली का अनुवर्तन किया

है। **'मात्रा-प्रदीप'** को आरम्भ से अन्त तक देखने से यह स्पष्ट होता है कि रहस्यार्थ के प्रतिपादन हेतु गोरखबानी, योगसूत्र एवं उपनिषदों के वाक्यों तथा अन्य ग्रन्थों का अवलम्ब लेकर व्याख्यान की दिशा का निर्धारण किया गया है। मात्रा पर चर्चा के सन्दर्भ में 'गोरखबानी' का उल्लेख **डॉ. विष्णुदत्त राकेश,** पूर्व-अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ने महाराजश्री से किया था। अन्य प्रसिद्ध मात्राओं के अध्ययन पर भी आपने बल दिया था। गोरखबानी का आधार लेकर ही **'कहु रे बाल'**, **'सूरत की सूई लै सद्गुरु सीवै'** तथा **'भोग महारस'** आदि मात्राओं का अर्थ परम्परानुसार निर्धारित किया जाना सम्भव हो सका है; क्योंकि गोरखबानी में 'बाल' शब्द को ब्रह्मपरक, 'महारस' शब्द को ब्रह्मरन्ध्र से क्षरण को प्राप्त होने वाले अमृतपरक तथा 'सुरति' शब्द को सुचित्त या शोभनचित्तपरक बतलाया गया है। यह तो विशेष निदर्शन मात्र है, अन्य मात्राओं के अर्थ निर्धारण में भी गोरखबानी, जो सन्तपरम्परा का प्रतिनिधित्व करती है, का अधिक महत्त्व है। अतः सन्तपरम्परा से प्राप्त समुचित अर्थों को गोरखबानी से संवाद प्राप्त कराकर **'मात्रा-प्रदीप'** के प्रणेता ने बहुत ही विशिष्ट कार्य किया है। इस तथ्य की अनुभूति मात्रा की प्रकृत व्याख्या के अनुशीलन से स्पष्ट रूप में होती है।

मात्रा-शास्त्र भगवान् श्रीचन्द्र की वाणी से निःसृत ऐसा पीयूष है, जो सन्तपरम्परा का अनुगमन कर उसे अनुप्राणित करते हुए मानव मात्र की अमरता के लिए वरदान के रूप में हमें प्राप्त है। इसका महत्त्व इसलिए और अधिक बढ़ जाता है; क्योंकि इसके अनुशीलन से मानव को अमरता ही नहीं देवत्व की प्राप्ति होती है। वह संसार में रहकर ही असंसारी होकर जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त कर सकता है। मात्रा-शास्त्र क्या है? इसे जानने के लिए हमें मात्रा की ही शरण में जाना होगा। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, मात्रा ऐसे उपदेशों का संग्रह है, जिनके अनुसार चलकर हम माया से अपनी रक्षा (त्राण) कर सकते हैं। माया से त्राण का अभिप्राय जन्म-मरण की परम्परा से मुक्ति पाना है। श्रुति में यह प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**—यह श्रुति स्पष्ट रूप से उद्घोष करती है कि ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का कोई अन्य साधन नहीं है। भगवान् श्रीचन्द्र भी मात्रा के अन्त में—

ऐसी मात्र लै पहिरै कोय।
आवागमन मिटावै सोय॥

यह कहते हुए मात्रा के अनुशीलन का प्रयोजन आवागमन या जन्म-मरण की परम्परा से मुक्ति बतलाते हैं। अतः मात्रा-शास्त्र से मोक्षोपयोगी ज्ञान होता है, यह स्पष्ट है। ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप में तीन मार्ग श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रों में वर्णित हैं, जो मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है, इस तथ्य को श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिपादित करते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(11/20/6)

इस वचन में प्रयुक्त **'नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्'** यह वाक्य शाब्दिक वाङ्मय में इन तीनों से भिन्न उपाय वर्णित नहीं है, यह बतलाता है। इससे स्पष्ट होता है कि आवागमन को मिटाने के उद्देश्य से रचित मात्रा-शास्त्र को भी इन सभी उपायों का वर्णन अवश्य करना चाहिए।

उपाय साधन होते हैं, जो साध्य की प्राप्ति होने तक निरन्तर अनुष्ठेय होते हैं। मात्रा-शास्त्र में प्रतिपादित उपाय भी जीवन्मुक्ति की प्राप्ति तक अनुष्ठेय हैं, यह संकेत हमें—

जटा जूट मुकुट सिर होय।
मुक्ता फिरे बन्ध नहिं कोय॥

इस मात्रा में प्राप्त होता है। जीवन्मुक्ति का सुख, जीवलोक के नित्य अर्थागम, आरोग्य, प्रिय स्त्री, प्रियवादिनी स्त्री, वश्य (आज्ञाकारी) पुत्र एवं अर्थकरी विद्या आदि सुखों में सबसे श्रेष्ठ है। अतएव श्रुति यह कहती है कि इस लोक में शरीर धारण कर जिसने सत्य स्वरूप परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका जन्म सफल होता है, अन्यथा वह महाविनाश को प्राप्त होता है। **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'** (केन.उप. 2/13)। इस श्रुति के द्वारा आत्मज्ञान के अभाव में सूचित महाविनाश आत्मज्ञान के महत्त्व

को ख्यापित करता है। आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान से यदि मोक्ष होता है, तो आत्मा या ब्रह्म के अज्ञान को बन्धन का कारण भी मानना होगा। यही कारण है कि दार्शनिकों ने अविद्या को बंधन का कारण स्वीकार किया है।

भगवान् श्रीचन्द्र ने मात्रा-शास्त्र में अविद्या को—

गुरु अविनाशी खेल रचाया।
अगम निगम का पन्थ बताया॥

इस मात्रा के माध्यम से अविनाशी गुरु परमात्मा के द्वारा रचित इस अविनाशी सृष्टिरूपी खेल का वर्णन कर संकेतित किया है। सृष्टि को खेल बतलाने का आशय है, उसका मायावी की माया के रूप में होना। हम जानते हैं कि जीवों (भोक्तागण) के लिए अपेक्षित भोग्य पदार्थों का समूह तथा भोक्ता का शरीर, इन्द्रिय आदि ही सृष्टि है और कर्मानुसार भोगों को प्राप्त करने वाला जीव इस सृष्टि में कर्म एवं भोग के आवर्त में पड़कर आवागमन करता रहता है।

कर्म से भोग की प्राप्ति एवं पुनः भोगवासना से कर्मानुष्ठान का यह चक्र कैसे समाप्त हो, इसका विचार कर आचार्यचरण ने **'निःकर्म जीन'** यह मात्रा उच्चारित किया; किन्तु भगवान् की भक्ति से रहित नैष्कर्म्य भगवान् श्रीचन्द्र को ग्राह्य नहीं है। अतएव उन्होंने पवन के घोड़े पर **'नाम की पाखर'** एवं 'निःकर्म जीन' दोनों को साथ-साथ संयुक्त करने को कहा है। इस प्रकार प्रत्येक श्वास के साथ नाम का उच्चारण एवं कर्तव्य कर्मों के अनुष्ठान के समय कर्म, फल की आशा का त्याग, यह दो रहस्य कर्म के अधिकारियों के लिए भगवान् श्रीचन्द्र ने बतलाया है। इस उपदेश से मन के साथ लड़ाई आरम्भ करने का संकेत आचार्यचरण हमें देते हैं, जो वैराग्यसम्पन्न लोग कर्म के अधिकारी नहीं हैं, उनके लिए यह नाम भक्ति मन को मारने के लिए प्रथम साधन के रूप में आचार्यचरण के द्वारा परिगृहीत की गयी है। मात्रा-शास्त्र में—

नाम की पाखर पवन का घोड़ा।

से आरम्भ कर—

अकल की बरछी गुणों की कटारी।
मन को मारि करो असवारी॥

इस मात्रा तक मन को निर्विषय करने के लिए (मारने के लिए) जो अस्त्र (उपाय) बतलाये गये हैं, उनमें नाम का सबसे पहले उल्लेख है। अतः नाम जप से साधना का आरम्भ करने का संकेत आचार्यचरण देते हैं। इन मात्राओं में योगशास्त्र में विहित उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली अवस्थायें तथा सम्प्रज्ञात समाधि के अनन्तर मनोलय की प्रक्रिया का वर्णन भी किया गया है। **तत्त्व कर जोड़ा**–यह मात्रा तत्त्वज्ञान को सूचित करती है, जो योगशास्त्र के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दोनों की विवेकख्याति के अनन्तर दोनों का स्वतन्त्र रूप से अवस्थान है। योगशास्त्र में 'प्रकृति का मोक्ष' एवं 'पुरुष का मोक्ष' दोनों पृथक् बतलाया गया है। 'तत्त्व कर जोड़ा' यह मात्रा उसी की ओर संकेत करती है। यह तत्त्वज्ञान मन, वाणी एवं शरीर के मर्यादित होने पर ही सम्भव है। इस तथ्य की सूचना हमें 'ज्ञान की गोदड़ी, खिमा की टोपी' आदि मात्राओं में मिलती है, जहाँ सतत प्रयत्न (यत का आडबन्द), ब्रह्मचर्य (शील की लंगोटी) आदि का वर्णन प्रधान रूप से शरीर से अनुष्ठेय कर्मों को सूचित करता है। ये सामान्य नियम हैं, जिनका अनुष्ठान हमें मोक्षप्राप्ति के लिए किसी भी मार्ग का आश्रयण करते समय अवश्य करना होता है।

'ज्ञान की गोदड़ी' इस मात्रा के पूर्व **'चेतहु नगरी'**, **'किसका भेजा नगरी आया'** तथा **'गुरु का भेजा नगरी आया'** इन मात्राओं में प्रयुक्त नगरी शब्द, ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता रखने वाले मनुष्य शरीर को बोधित करता है। नगरी को अर्थात् मनुष्य शरीर को सचेत या सावधान कैसे किया जाय? अथवा नगरी को सचेत कर इसे किस कार्य में लगाया जाय? किस उपाय या साधन का अनुष्ठान किया जाय? जिससे गुरु या परमात्मा के द्वारा प्राप्त इस शरीर से ब्रह्म प्राप्ति कर (ब्रह्म अंचला लै पहिरे सुजान) गुरु के द्वारा नगरी या शरीर की प्राप्ति कराने में जो उद्देश्य निर्धारित किया गया था, उस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके। उसका संकेत हमें **'अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव'** इस मात्रा में मिलता है। 'खिमा की टोपी' आदि मात्राओं में उन्हीं क्षमा आदि शरीरसाध्य कर्मों का उल्लेख है, जिनका अनुष्ठान ब्रह्मप्राप्ति में सहायक है तथा इसी नगरी या शरीर को ज्ञानप्राप्ति के लिए गोदड़ी के रूप में भी वर्णित किया गया है। यह शरीर 'गो' शब्द से बोधित होने वाली इन्द्रियों के लिए दरी या गुफा के समान हो

जाय, अर्थात् जैसे गुफा के अंधकार में कोई वस्तु दिखायी नहीं पड़ती उसी प्रकार इन्द्रियाँ सर्वथा शान्त होकर शरीर में इस तरह से लीन हो जायें कि शरीर में उनके अस्तित्व का संकेत भी हमें न मिल सके और उनकी बाधकता सर्वदा के लिए समाप्त हो जाय। ऐसी ज्ञान की गोदड़ी से ही ब्रह्म अचला की प्राप्ति हो सकती है, अर्थात् हम सगुण या निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति कर सकते हैं। इस मात्रा के विभिन्न अर्थ 'ग्रन्थ' में प्रतिपादित हैं, जो ग्रन्थकार की चिन्तनप्रौढ़ि को द्योतित करते हैं; किन्तु शरीर को ऐसी गोदड़ी बनाने के लिए हरि-भक्ति रूप मृगानी की आवश्यकता है। ध्यान की भी आवश्यकता है, जो ब्रह्म-प्राप्ति में सहायक है, उसका संकेत हमें **'ध्यान का बटुआ'** तथा **'निराशमठ, निरन्तर ध्यान'** इन मात्राओं से मिलता है। आचार्यचरण के द्वारा प्रदर्शित इस ज्ञान की गोदड़ी का संकेत हमें गीता में—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता 2/58)

इस भगवद्वचन में मिलता है। इस प्रकार इन्द्रियों का संहरण होने पर गाँव (इन्द्रिय ग्राम–इन्द्रिय समूह) का उद्धार हो गया, यह कहा जा सकता है।

मात्रा-शास्त्र का आरम्भ **'कहु रे बाल'** इस प्रश्न वाक्य से होता है, जिसका आशय बहुत ही गूढ़ है। आगे तीन प्रश्न वाक्य, **किसने मूड़ा? किसने मुड़ाया? किसका भेजा नगरी आया?** बाल से किये जाते हैं। यदि बाल शब्द का अर्थ बालक हो? क्योंकि भगवान् श्रीचन्द्र के योगाग्निमय शरीर को देखने से सर्वदा बाल्यावस्था की अभिव्यक्ति होती है, तो आगे के तीनों प्रश्न व्यर्थ हो जायेंगे; क्योंकि इन गूढ़ प्रश्नों का उत्तर बालक की बौद्धिक क्षमता से परे है। यह तीनों प्रश्न गूढ़ आशय वाले हैं; क्योंकि किसने तुम्हारा मुण्डन कराया अर्थात् संन्यास की दीक्षा तुम्हें किसने दी? कौन उस मुण्डन का प्रेरक बना तथा किसके भेजने से तुम नगरी (शहर) में आये हो, इस रूप में यदि प्रश्नों का आशय आकलित किया जाय तो भी यह प्रश्न निरर्थक ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि मात्रा-शास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ में किसी बाल संन्यासी के गुरु का नाम पूछना, संन्यास के लिए प्रेरणा के स्रोत कौन लोग थे, यह पूछना

तथा किसने शहर में निवास के लिए बालयति को प्रेषित किया, यह भी जिज्ञासा आध्यात्मिक दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होती है। अतः यह अवश्य सोचने को विवश होना पड़ता है कि भगवान् श्रीचन्द्र ने किसी विशेष आशय से यह प्रश्न यतियों के मुख से कराया है। प्रश्न की सार्थकता एवं जिज्ञासाओं के समाधान के परिप्रेक्ष्य में यदि हम मात्रा-शास्त्र का अवलोकन करें तो मात्रा के अन्त में जिस आवागमन को मिटाने की चर्चा की गयी है, उस आवागमन के कारण की चर्चा का मात्रा के प्रारम्भ में होना आवश्यक प्रतीत होता है।

दर्शनों के अनुसार अविद्या या अज्ञान ही वह मूल कारण है, जिसके कारण आवागमन होता रहता है, जिसका संकेत हमें **'गुरु अविनाशी खेल रचाया'** इस मात्रा में मिलता है, यह चर्चा पहले की जा चुकी है। अविद्या के कारण ब्रह्म, जीवभाव को कैसे प्राप्त होता है? ब्रह्म के जीव रूप में आने का क्या कारण है? तथा आवागमन के लिए उपयोगी शरीर, वह कैसे प्राप्त करता है? यह तथ्य इन मात्राओं में उद्घाटित है। इसकी अवगति हमें **'मात्रा-प्रदीप'** में किये गये विचार से होती है। 'कहु रे बाल' इस प्रथम मात्रा में प्रयुक्त 'बाल' शब्द अमृतस्वरूप अविनाशी ब्रह्म का बोधक है। यह स्वीकार किया जाय तो प्रथम एवं द्वितीय मात्राओं से यह जिज्ञास्य होगा कि हे ब्रह्मस्वरूप अविकारी बाल तुम यह बताओ कि तुम्हारा मुण्डन किसने किया? हम जानते हैं कि मुण्डन से व्यक्ति कुरूप हो जाता है, अतः ब्रह्म ही मुण्डन से कुरूप होने के कारण निर्विकारभाव से भिन्न सविकारभाव को प्राप्त हुआ है। आनन्दरूपता को छोड़कर सर्वथा दुःखी रहने लगा है। असंगभाव को छोड़कर वह ससंग हुआ है। हम जानते हैं कि ब्रह्म, माया के सम्बन्ध से ही सविकार प्रतीत होता है, अन्यथा उसमें कोई विकार नहीं है, लेकिन माया ब्रह्म के अधीन है, वह स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकती, इसलिए सद्गुरुस्वरूप ब्रह्म को ही ('सद्गुरु मूड़ा' इस मात्रा में) मुण्डन का कर्ता बताया जा रहा है। लेख या अदृष्ट को 'लेख मुड़ाया' इस मात्रा में निमित्त बतलाया जा रहा है; क्योंकि बिना अदृष्ट के सृष्टि तथा उसमें आवागमन को युक्तिसंगत ढंग से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। अतः लेख शब्दवाच्य पूर्व-जन्मार्जित कर्म को जीव के भोगायतन शरीर एवं भोगप्रद सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति में निमित्त के रूप में स्वीकार किया गया है।

तीसरे प्रश्न, 'किसका भेजा नगरी आया' पर विचार करते समय जब इसके उत्तर वाक्य **'गुरु का भेजा नगरी आया'** पर विचार केन्द्रित होता है, तो 'सद्गुरु मूड़ा' इस मात्रा के साथ प्रकृत मात्रा को देखने पर एक जिज्ञासा होती है कि मुण्डन में निमित्तता सद्गुरु की बतलायी जा रही है और नगरी में भेजने वाले के रूप में गुरु को बतलाया जा रहा है, तो यह सद्गुरु और गुरु दोनों एक हैं या अलग-अलग हैं, अर्थात् 'सद्गुरु' शब्द यदि ब्रह्म का बोधक है, तो 'गुरु' शब्द किसका बोधक है। इन मात्राओं के विचार के प्रसंग में जिज्ञासाओं का समाधान विस्तार से प्रकृत ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। प्रकृत विचार के प्रसंग में हम यहाँ यह कह सकते हैं कि 'गुरु' शब्द सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा जी का बोधक है, जो जीवों के पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर की रचना करते हैं। सूक्ष्म शरीर जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन एवं बुद्धि हैं, इसकी रचना ब्रह्मा जी नहीं करते। वह परमात्मा के द्वारा रचित सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर रूप नगरी में केवल भेजते हैं। वेदान्त मत के अनुसार अविद्या का कार्य मन है। योगशास्त्र भी मन की उत्पत्ति स्वीकार करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और प्राण तथा बुद्धि भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से बना सत्रह अवयवों वाला सूक्ष्म शरीर भी भोग के लिए स्थूल शरीरों को धारण करता है, सूक्ष्म शरीर का ही आवागमन होता है। यह आवागमन तब तक बन्द नहीं होता जब तक अविद्या निवृत्त नहीं होती अथवा योगशास्त्र की दृष्टि से प्रकृत पुरुष की विवेकख्याति नहीं हो जाती। सूक्ष्म शरीर, स्वस्थ स्थूल शरीर में रहकर ही भोग का साधन बनता है, अथवा मोक्ष के साधनों का अनुष्ठान करता है। स्थूल शरीर स्वस्थ तभी रहता है जब हम धर्माविरुद्ध आचरण करते हैं, संयमयुक्त वाणी का प्रयोग करते हैं तथा मन को मर्यादित रखते हैं। अतः आचार्यचरण ने मात्रा में नगरी (स्थूल शरीर) को सावधान किया है 'चेतहु नगरी'। श्रुति में ब्रह्म के ईक्षण के द्वारा सृष्टि होती है, यह वर्णन मिलता है, गीता में भी—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (14/3)

श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण ने सृष्टि में अपने को (ब्रह्म को) कारण बतलाया। अविद्या के कारण ब्रह्म अन्यथा रूप में भासित होता है। जैसे अंधकार से आवृत

रज्जु दण्ड, माला धारा आदि के रूप में प्रतीत होती है। उसी प्रकार सृष्टि में ब्रह्म, विवर्ती उपादान होता है तथा अविद्या परिणामी उपादान होती है। अदृष्ट या प्राणियों के द्वारा अपने कर्मों से अर्जित पुण्य-पाप को सृष्टि में निमित्त कारण स्वीकार किया जाता है, यही अदृष्ट नगरी या स्थूल शरीर की सृष्टि में भी निमित्त है। ब्रह्मा प्राणियों के अदृष्ट के अनुसार स्थूल शरीर की रचना करते हैं और इसमें सूक्ष्म शरीर को भोग के लिए प्राप्त कराते हैं (भेजते हैं) इन तथ्यों को 'सद्गुरु मूडा, लेख मुडाया, गुरु का भेजा नगरी आया'—इन मात्राओं में स्पष्ट किया गया है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तै.उप. 2/6) इस श्रुति के द्वारा सृष्टिकर्ता का ही शरीर में प्रवेश बोधित होता है। अतः शरीर की रचना कर ब्रह्मा जी उसमें प्रवेश कर जाते हैं, यही अर्थ बोधित होना चाहिए, तथापि ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि कराने के अनन्तर उसमें ब्रह्म, सूक्ष्म शरीर से उपलक्षित चेतन का प्रवेश होता है, यह अर्थ स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है, इस तथ्य को 'बहुरंगी मोर छड़', 'निर्लेप विष्टी' इन मात्राओं में स्पष्ट किया गया है। यद्यपि व्यापक ब्रह्म का परिच्छिन्न शरीर में प्रवेश कहना उचित नहीं है, तथापि तैत्तिरीय उपनिषद् के शाङ्करभाष्य में उन युक्तियों को देखा जा सकता है, जिनके द्वारा प्रवेश की उपपत्ति की गयी है। विस्तार के भय से हम उस चर्चा से विरत होकर इतना ही कहना चाहते हैं कि 'गुरु का भेजा नगरी आया' इस मात्रा में उन सभी युक्तियों को स्वीकार करने की सूचना है, जो प्रवेश को उपपन्न करती हैं। इस मात्रा के व्याख्यान के प्रसंग में प्रवेश सम्बन्धी विचार को विस्तार से देखा जा सकता है।

'चेतहु नगरी तारहु गाँव' यह मात्रा उस उद्देश्य को सूचित करती है, जिसके लिए गुरु ने हमें मानव शरीर में भेजा है। ब्रह्मज्ञान की सम्पत्ति (होना) ही मानव शरीर का लक्ष्य है, यह तथ्य श्रीमद्भागवत में निम्न रूप में वर्णित है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥

(11/9/20)

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने आत्मशक्तिरूप अविद्या के द्वारा वृक्ष, सरीसृप (रेंगकर चलने वाला), पशु, पक्षी, दंश, मत्स्य आदि की रचना करने के बाद उनसे संतुष्ट न होने पर मनुष्य शरीर की रचना की और उन्होंने जब यह देखा कि मानव शरीर ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है, तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुयी। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा जी के द्वारा रचित मानव शरीर यदि किसी जीव को प्राप्त होता है, तो उससे यह आशा की जाती है कि वह ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करे। ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का साधन, प्रणव या ऊँकार का जप है, उसे 'अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव' इस मात्रा में स्पष्ट किया गया है। यह तथ्य माण्डूक्य उपनिषद् में विस्तार से वर्णित है, जहाँ प्रणव के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति की विधा देखने को मिलती है। प्रकृत मात्रा के अर्थ विचार के प्रसंग में ऊँकार की आत्म-प्राप्ति साधनता को विस्तार से विवेचित किया गया है। 'गुरु अविनाशी खेल रचाया, अगम-निगम का पन्थ बताया', इन मात्राओं में सृष्टि का प्रयोजन एवं सृष्टि की प्रवाहनित्यता का वर्णन है, जिसे हम—

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोशून्पुरुषः पृथक्॥
विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥

इत्यादि माण्डूक्य उपनिषद् के मन्त्रार्थ का वर्णन करने वाली कारिकाओं से स्पष्ट रूप से ज्ञात कर सकते हैं।

सन्त परम्परा एवं सम्प्रदाय की प्रसिद्धि के अनुसार अविनाशी मुनि आचार्यचरण के गुरु थे, यह स्वीकार किया जाता है। 'गुरु अविनाशी खेल रचाया' इस मात्रा को भी निर्विवाद रूप से इसमें प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जाता है। गुरु अविनाशी शब्द का उल्लेख प्रकृत मात्रा के अतिरिक्त 'गुरु

अविनाशी सूषम वेद' इस मात्रा में भी मिलता है। सन्त परम्परा की प्रसिद्धि के अनुसार आचार्यचरण ने अविनाशी मुनि से दीक्षा प्राप्त की, इस तथ्य को मात्रा की दृष्टि से देखा जाय तो यह विचारणीय प्रतीत होता है कि 'नानक पूता श्रीचन्द्र बोले, जुगति पछाड़े तत्व विरोले' इस मात्रा के प्रतिपाद्य अर्थ के साथ 'गुरु अविनाशी खेल रचाया, अगम-निगम का पन्थ बताया' इस मात्रा के प्रतिपाद्य अर्थ की क्या संगति है? क्योंकि 'नानक पूता' इस मात्रा का प्रतिपाद्य अर्थ नानकदेव से पूत या पवित्रीकृत श्रीचन्द्र का यह कथन है कि युक्ति को पहचान कर, समझ कर उसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए। इस मात्रा में प्रयुक्त 'पूत' शब्द का अर्थ 'नानकदेव के पुत्र' यह अर्थ करना समुचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि संन्यासी के लिए पिता आदि परिवारजनों का स्मरण निषिद्ध है। स्वभाव से भी संन्यासी ऐसा नहीं करते। अतः पूत शब्द का 'पावित या पवित्रीकृत' अर्थ करने पर निषेध के उल्लंघन का प्रसंग नहीं होता; क्योंकि गुरुनानकदेव का स्मरण भगवान् श्रीचन्द्र, गुरु के रूप में कर रहे हैं न कि पिता के रूप में। यतः गुरु ही उपदेश के द्वारा ज्ञान प्राप्त कराकर शिष्य को पवित्र करता है। **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'** यह श्रुति बतलाती है कि जिसका उपदेशक आचार्य प्रशस्त अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार सम्पन्न है ऐसे शिष्य को ब्रह्म साक्षात्कार होता है, वही ब्रह्म को जान पाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि गुरुनानक देव ब्रह्म साक्षात्कार सम्पन्न महापुरुष थे, जो 'सर्वविदित' है। उन्हीं की कृपा से भगवान् श्रीचन्द्र को भी ज्ञान प्राप्ति हुई, इसीलिए उन्होंने अपने को 'नानक पूता' इस शब्द से बोधित किया है। माण्डूक्योपनिषद् में पठित निम्न मन्त्र—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वा, उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ (प्र.म. 10)

यह स्पष्ट करता है कि जिसने प्रणवोपासना के द्वारा ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है ऐसे ब्रह्मवित् के कुल में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता, जो ब्रह्म साक्षात्कार सम्पन्न न हो अर्थात् ऐसे ब्रह्मवित् के कुल में होने वाले सभी पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न होते हैं। श्रुति के द्वारा प्रतिपादित यह तथ्य कैसे संगत

होगा, यह शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'कुल' शब्द ऐसे सभी शिष्यों का बोधक है, जो ब्रह्मवित् के द्वारा परिगृहीत होते हैं, अर्थात् जिन्हें वह अपनाता है। हम जानते हैं कि ब्रह्मज्ञान सम्पन्न तत्त्वदर्शी महापुरुष गुणों के आधार पर ही लोगों को अपनाते हैं अथवा यह कहना अधिक समीचीन होगा कि जो लोग सेवा के द्वारा अथवा सत्संग के द्वारा ऐसे महापुरुष का दीर्घकालिक सान्निध्य प्राप्त करते हैं अथवा अल्पकालिक सान्निध्य में भी उनकी अहैतुकी कृपा के भाजन बनते हैं, उनमें महापुरुष ऐसे बीज का वपन करते हैं, जो समय पर पुष्पित एवं पल्लवित ही नहीं होता, अपितु ब्रह्मज्ञान रूप फल से युक्त भी होता है। अतः श्रुति का यह तात्पर्य है कि ऐसे महापुरुषों की कृपादृष्टि से पवित्रीकृत साधक इसके बन्धु होते हैं और वे यथासमय ब्रह्म प्राप्ति अवश्य करते हैं। बन्धु उसे कहते हैं, जो बन्धन के कारण होते हैं। ब्रह्मवित् का बन्धन तो नहीं होता, किन्तु 'बन्धु' शब्द यह बतलाता है कि उनके ऊपर ब्रह्मवित् की कृपादृष्टि सर्वदा पड़ती है। भगवान् श्रीचन्द्र दोनों तरह से गुरुनानक देव के बन्धु हैं, वे उनके पुत्र तो हैं ही कृपाभाजन भी हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि गुरुनानक देव से पवित्रीकृत, उनके उपदेश से आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न श्रीचन्द्र प्रभु ने अविनाशी मुनि से संन्यास ग्रहण किया था। अतएव सम्प्रदाय में यह प्रसिद्धि है कि आचार्यचरण के गुरुदेव भगवान् अविनाशी मुनि जी हैं।

मात्रा-शास्त्र में ज्ञान, कर्म (निष्काम कर्म), भक्ति एवं योग का वर्णन मिलता है। इसमें शब्दों का ऐसा प्रयोग मिलता है, जो लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अर्थों का बोध कराते हैं। अतएव मात्रा के व्याख्यान के प्रसंग में लौकिक अर्थ एवं आध्यात्मिक भाव दोनों को प्रकट करने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है। लौकिक अर्थ तो केवल दृष्टान्त के रूप में आध्यात्मिक भाव को बुद्धिगम्य बनाने हेतु साधन के रूप में मात्रा से प्रतिपादित होते हैं। आचार्यचरण का तात्पर्य तो केवल आध्यात्मिक अर्थों में ही है। श्रीमद्भगवद्गीता में—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (5/5)

इस वचन के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट किया है कि कर्म संन्यास (ज्ञान-मार्ग) और कर्मयोग (फलकामनाशून्य पुरुष के द्वारा ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जाने

वाला कर्म) दोनों ही मोक्ष-प्राप्ति के साधन हैं, इसलिए दोनों ही मोक्ष को प्राप्त कराते हैं। प्रकृत में सांख्य शब्द ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों का बोधक है। भगवान् का यह कथन है कि संन्यासियों के द्वारा मोक्षरूप जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही स्थान कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं; क्योंकि ईश्वर में कर्म का समर्पण करके फल की कामना न करने वाले ऐसे योगी कर्म संन्यास की योग्यता प्राप्त कर, इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अतः सांख्य एवं योग दोनों का फल एक होने के कारण जो लोग सांख्य एवं योग को एक ही समझते हैं, वही लोग ज्ञान-प्राप्ति के साधनों को अच्छी तरह से जानते हैं। आचार्यचरण की दृष्टि भी इस प्रकार की थी तथा उन्होंने निष्काम कर्मानुष्ठान एवं कर्मसंन्यास दोनों को चित्त की अवस्था के अनुसार अथवा अधिकारिता के अनुसार अनुष्ठित करने पर बल दिया है।

सहज वैराग्यसम्पन्न साधक, जिनका चित्त विषयों से आकृष्ट नहीं होता, वे योगमार्ग के अधिकारी हैं। अतएव मात्रा में 'इडा में आवे पिंगला में धावै' यहाँ से लेकर 'सहज विरागी करे विराग, माया मोहिनी सकल त्याग' तक की मात्राओं में योग का (प्राणायाम एवं ध्यान) अनुष्ठान सहज वैराग्यसम्पन्न साधक के द्वारा किया जा सकता है, यह प्रतिपादित है। (कर्मसंन्यास का इस पथ से कोई विरोध नहीं है)।

इसके पूर्व **'त्रैगुण चकमक अग्नि मथ पाई'** से लेकर **'जो पीवे सो शीतल भया'** यहाँ तक की मात्राओं में प्राणायाम करते हुए उसके साथ निरन्तर प्रणव जप के द्वारा कैसे मन का लय अपने कारणभूत अव्यक्त प्रधान में किया जा सकता है, इसका वर्णन किया गया है। 'इडा में आवे' इस मात्रा से तो प्रणवरहित प्राणायाम के द्वारा कैसे मन को शुद्ध किया जा सकता है, इसका वर्णन प्रारम्भ होता है।

मन सुषम्ना नाड़ी में कैसे प्रवेश करेगा इस प्रश्न का उत्तर आचार्यचरण ने **'सुषमन के घर सहज समावै'** इस मात्रा में दिया है। उनका आशय यह है कि प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा जब प्राण की सहज रूप में ऊर्ध्व गति हो जाती है, तो वह मन को सुषुम्ना में प्रविष्ट करा देती है। सुषुम्ना में मन के प्रविष्ट होने पर ही ब्रह्मप्राप्ति होती है, यह प्रसिद्धि है; किन्तु मन सुषुम्ना में तभी प्रवेश कर

पाता है, जब वह वासनारहित होकर चाञ्चल्य को छोड़ देता है। उसको मारने के लिए अर्थात् वासनारहित करने के लिए उसके साथ दीर्घकालिक युद्ध करना पड़ता है। उस युद्ध में जो अस्त्र एवं जैसा घोड़ा चाहिए उसका वर्णन **'नाम की पाखर'** इस मात्रा से आरम्भ कर **'गुणों की कटारी'** इस मात्रा तक किया गया है। इन अस्त्रों के प्रयोग से मन को मार कर उस पर सवारी करने की बात **'मन को मार करो असवारी'** इस मात्रा में आचार्यचरण करते हैं। मन के मर जाने पर उस पर असवारी कैसे होगी, यह शंका दृढ़मूल नहीं है; क्योंकि मन के मरने पर या विषयशून्य होने पर जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त होता है। जीवन्मुक्ति काल में मन हमारे वश में होता है, न कि पूर्व की तरह हम मन के वश में होते हैं। इस प्रकार जैसे अश्व को अश्ववार (सवार) नियंत्रित करता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त साधक के द्वारा मन नियंत्रित होता है। यही मन के ऊपर सवारी है।

मन का निर्वासन करने के लिए जो साधन पूर्व में वर्णित किये गये हैं, उन साधनों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है, इस तथ्य का प्रतिपादन **'प्रीति पितम्बर मन मृगछाला'** इस मात्रा में किया गया है। इस मात्रा में प्रीति शब्द का प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि 'प्रीति' शब्द पराकाष्ठा की प्रीति का बोधन कराता है। भक्त का मन निरन्तर भगवान् की ओर उन्मुख रहने से विषयों को मन में स्थान नहीं मिल पाता और इस प्रकार भगवद् अनुराग की निरन्तर वृद्धि होती है तथा मन मृग का क्षालन हो जाता है। मन को प्रकृत मात्रा में मृग कहा गया है, जो निरन्तर विषयों को खोजता रहता है। इस पराकाष्ठा की भक्ति से स्वतन्त्र रूप से ज्ञान प्राप्त होता है, इस तथ्य को 'चीत चितम्बर रुण झुण माला, बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन, खौस खड़ावा इह मति लीन' इन तीन मात्राओं में वर्णित किया गया है।

आत्मज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर अथवा प्रकृति-पुरुष की विवेकख्याति हो जाने पर समाधिजन्य असीमित सुख की प्राप्ति होती है। सभी सिद्धियाँ भी इसे प्राप्त रहती हैं; किन्तु ये सिद्धियाँ उसके बन्धन का कारण न होकर केवल मुकुट की तरह उसकी शोभा बढ़ाती हैं। वह जीवन्मुक्त होकर भ्रमण करता है, उसके ऊपर किसी भी बन्धन का कोई प्रभाव नहीं होता, अर्थात् वह सर्वथा बंधनमुक्त होता है। जटाजूट का मुकुट, जो योगी के सिर पर शोभा पा रहा है, वह सिद्धियों का

समूह है, जो योगशास्त्र में वर्णित है। 'मुक्ता फिरे बन्ध नहिं कोय' इस मात्रा में प्रयुक्त 'मुक्ता' शब्द जीवन्मुक्त का बोधक है, जो यह सूचित करता है कि साधक सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर चुका है और असम्प्रज्ञात समाधि की ओर उन्मुख है। इन मात्राओं के अर्थ के विचार के प्रसंग में योगशास्त्र की इस दृष्टि को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है।

मात्रा-शास्त्र में मन का निर्वासन करने के विभिन्न उपाय प्रदर्शित किये गये हैं, 'अमृत प्याला उदक मन दिया, जो पीवै सो शीतल भया' एवं 'मन को मारि करो असवारी' तथा 'खौस खड़ावा इह मति लीन' इत्यादि मात्राओं में मन की ऐसी स्थिति का वर्णन है, जो निर्वासन स्थिति कही जा सकती है। इन तीनों के पूर्व में पठित मात्राओं में वे उपाय वर्णित हैं, जिनके द्वारा मन उस स्थिति में (निर्वासन स्थिति में) पहुँचता है। **'त्रैगुण चकमक अग्निमथ पाई'** इस मात्रा से यह सूचित किया गया है कि ऊँकार की उपासना से मन उदक के समान निर्मल होकर अमृत प्यालारूपी प्रधान या प्रकृति में लीन होता है। इस प्रकार इस मात्रा से आरम्भ कर **'जो पीवै सो शीतल भया'** इस मात्रा तक प्रणवोपासना एवं उससे होने वाले मनोलय की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इस सन्दर्भ में पठित मात्रा 'पात्र विचार फरुआ बहुगुणा, कर मण्डल तुम्बा किश्ती घणा' का आध्यात्मिक अर्थ विशेष रूप से द्रष्टव्य है; क्योंकि इसमें सम्प्रज्ञात समाधि से असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने में प्राप्त होने वाली मन की विभिन्न स्थितियों का वर्णन है। यद्यपि प्रधान (प्रकृति) में मन का लय शरीरपात के समकाल में ही होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में तो मन निरुद्ध होता है, अतः मन का लय जीवन्मुक्ति काल में समाधि सुख का अनुभव करने के अनन्तर ही शरीरपात के साथ होता है, यह सत्य इस (मात्रा) में वर्णित है।

'इड़ा में आवे पिंगला में धावे' इस मात्रा का आरम्भ कर 'मन को मारि करो असवारी' तक की मात्राओं में प्रणव जपरहित प्राणायाम के द्वारा मन को वासनारहित किया जा सकता है, यह तथ्य वर्णित है। अतः जो लोग प्रणव जप के अधिकारी नहीं हैं, वे इस मार्ग का अवलम्बन करने में स्वतन्त्र हैं तथा उन्हें यथासमय हरिनाम को अपने उद्धार के लिए अपनाना भी है; क्योंकि हरिनाम को गायत्री बताकर उसे सबका उद्धार करने वाला बताया गया है। प्रत्युत यह कहना अधिक समीचीन है कि उन्हें हरिनाम के जप से अपनी साधना आरम्भ करनी है।

जो साधक गुरु मन्त्र को ही अपना सर्वस्व समझते हैं, उनके लिए गुरु-मन्त्र ही उद्धार का उपाय है, यह तथ्य 'शिखा गुरु-मन्त्र' इस मात्रा में वर्णित है। 'सोऽहं' इस मन्त्र के जप के द्वारा हम मुक्ति के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस तथ्य का वर्णन **'सोऽहं जप सच माल पिरोती'** इस मात्रा में प्रतिपादित है। इस कार्य में अहंकार सबसे बड़ा बाधक है, उसके रहते हमारी साधना पूर्णता को नहीं प्राप्त होती। हम आग्रहपूर्वक साधना करते हुये अनन्त जन्मों को बिताकर भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाते। अतः आचार्यचरण ने हमें यह निर्देश दिया है कि भक्ति योग अथवा ज्ञान या निष्काम कर्म रूप साधनों में से किसी भी एक साधन को अपना कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति करनी चाहिए।

तीनों में प्रधान रूप से अथवा अप्रधान रूप से भक्ति का आश्रयण होता ही है, उसके बिना साधक का आपा या अहंकार नहीं मिटता और उसे आत्म-प्राप्ति नहीं होती। इन तथ्यों को 'प्रीति पितम्बर मन मृगछाला' इत्यादि मात्राओं में वर्णित किया गया है। 'खौस खड़ावाँ इह मति लीन' इस मात्रा में योगी के द्वारा प्राप्त समाधि की अवस्था का तो वर्णन है ही, समाधि की अवस्था में शरीर की विशेष स्थिति तथा नेत्रों की अन्तर्निलीनता की स्थिति का भी वर्णन किया गया है। यह तथ्य इस ग्रन्थ के व्याख्यान प्रसंग में वर्णित है। 'पात्र विचार फरुआ बहुगुणा, करमण्डल तुम्बा चिश्ती घणा' इस मात्रा का आध्यात्मिक अर्थ जिस प्रकार मन के क्रमिक लय की अवस्थाओं को द्योतित करते हुए 'प्रदीप' में वर्णित किया गया है, वह योगशास्त्र की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे चिन्तन की अतिसूक्ष्म दृष्टि का उन्मीलन प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार मात्रा-शास्त्र जीवों के उद्धार का अप्रतिम साधन है; क्योंकि यहाँ कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं योग सबका प्रतिपादन है, यह निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है।

विदुषां वशंवदः

नरेन्द्रनाथपाण्डेयः

वाराणसी
महाशिवरात्रि,
वि.सं. 2072
(दि. 07.03.2016)

(प्रो. नरेन्द्रनाथ पाण्डेय)
पूर्व-कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

॥श्रीगुरुः शरणम्॥

मात्रा-शास्त्र की रचना-भूमि

भारतीय धर्मसाधनाएँ, साहित्य एवं दार्शनिक विचार सरणियाँ वैदिक और आगमिक अथवा तान्त्रिक कही जाने वाली परम्पराओं और चिन्तन प्रणालियों के आभोग में विकसित हुई हैं। वैदिक साधनाएँ ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों की छाया में फलीं-फूलीं तथा आगमिक साधनाएँ श्रमण और तन्त्र परम्पराओं के बीच विकसित हुईं। पुराण-धारा में जिन स्मार्त पञ्चदेवोपासनाओं का विकास हुआ, उनमें इन सभी का समावेश इस तरह हुआ कि उन्हें पृथक्-पृथक् करके देखना कठिन है। पुराणों में सूर्य, विष्णु, शिव, शक्ति तथा गणेश विषयक सामग्री और फिर शैव, शाक्त तथा वैष्णवागमों का विपुल मात्रा में प्रणयन इसी समन्वय की विराट् चेष्टा का फल है। इतना ही नहीं, ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञ प्रतीकोपासना, उपनिषदों की निर्गुण तथा शब्द लय साधना, योग, गुरुतत्त्व, मन्त्रजाप, नामस्मरण तथा पुराणों में ऋषभदेव, बुद्ध की अवतारों में प्रतिष्ठा, तीर्थाटन, दान आदि का समावेश भी मध्यकालीन धर्म साधनाओं का अंग बन गया। वैदिकोत्तर काल से लेकर मध्यकाल तक के सारे दार्शनिक मतवाद, आस्तिक-नास्तिक कहे जाने वाले सम्प्रदाय, स्मृतियाँ और साहित्यमतवाद इसी व्यापक सोच को परिलक्षित करते हैं। कुल्लूक भट्ट से पूर्व ही श्रीमद्भागवत में श्रुति और तन्त्र को समान दृष्टि से देखा जाने लगा था। भागवत का कथन है—

या प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यां आचार्यैः पद्मजादिभिः।

पारमेश्वर संहिता में पाञ्चरात्रागमों को एकायन वेद की संज्ञा दे दी गयी; क्योंकि यह सिद्धान्त भगवान् संकर्षण द्वारा प्राप्त हुआ है, अतः इसे श्रुति की ही तरह प्रामाणिक माना गया। जैसे श्रुतियों के प्रथम प्राप्तकर्ता ऋषि अग्नि, वायु तथा रवि हैं, वैसे ही पाञ्चरात्र श्रुतियों के मुनि शाण्डिल्य, भरद्वाज, मौंजायन, कौशिक तथा उपगायन हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए इनके सिद्धान्त एकमात्र साधन हैं, अतः इन्हें एकायन वेद कहा जाता है।

साक्षात्सङ्कर्षणाद् भक्तात् प्राप्त एव महत्तरः।
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्वतो विधिः॥

मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

कापिञ्जल, अहिर्बुध्न्यसंहिता, जयाख्यसंहिता, पारमेश्वरसंहिता, लक्ष्मी-संहिता, नारद-पाञ्चरात्र, ज्ञानामृतसार तथा नारायणीय उपाख्यान (महाभारत शान्तिपर्व) इस मत के मूल स्रोत हैं। भीष्म ने तत्कालीन प्रचलित पाँच ज्ञान-धाराओं (सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद तथा पाशुपत) के समन्वित रूप को मत की संज्ञा प्रदान की।

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥

वैष्णव सम्प्रदाय पाञ्चरात्रों को प्रमाण मानते हैं। षडङ्ग-योग इस परम्परा में उसी तरह मान्य था, जैसे शैवयोगी नाथ सम्प्रदाय में स्वीकृत था। बौद्ध तान्त्रिक साहित्य में भी इसका उपयोग विशेष रूप से हुआ है। पण्डित गोपीनाथ कविराज का तो यहाँ तक कहना है कि भास्कराचार्य की गीता की टीका से यह ज्ञात होता है कि योग का समावेश प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय में भी था। नाम की दृष्टि से कुछ अन्तर बौद्ध षडङ्ग योग में मिलता है। गुह्य समाज तन्त्र और सेकोद्देश टीका में इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। प्राणायाम या प्राण साधना वैदिक, आगमिक तथा संतमत में बौद्धों के ही समान है। सम्पूर्ण आवरणों का क्षय हो जाने पर निर्मल ज्योति के प्रभामण्डल में प्रवेश सभी का समान लक्ष्य है।

शैवागमों का मुख्य विकास कश्मीर में हुआ। आचार्य वसुगुप्त, उत्पल, अभिनवगुप्तपादाचार्य, क्षेमराज कश्मीर में तथा श्रीकंठ, सिद्धेश्वरी तोंड, नीलकण्ठ, आचार्य सिंगीराज, आचार्य चामरस तथा षडक्षरदेव दक्षिण में प्रमुख शैवाचार्य हुए। महावसवपुराण, मृगेन्द्रसंहिता-व्याख्या, प्रभुलिंगलेखा, राजेश्वर-विलास, नरसिंह आगम, वेदान्त सूत्र का श्रीकर भाष्य, विवेक चिन्तामणि, वीर-शैव चिन्तामणि इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। शैवागमों की मुख्य 28 शाखाएँ हैं और फिर इनके उपागम हैं। काश्मीरी शैवमत अद्वैतवादी कहा जाता है। अन्तर इतना है कि अद्वैतवाद का ब्रह्म निष्क्रिय है; किन्तु काश्मीरी शैवाद्वैत का ब्रह्म (परमेश्वर) कर्तृत्वसम्पन्न है। अद्वैतवाद में जगत् ब्रह्म का विवर्त या भ्रम है तथा काश्मीरी

शैवमत में जगत् ब्रह्म का स्वातन्त्र्य अथवा आभास है। स्पंदशास्त्र में ईश्वराद्वय की अनुभूति का मार्ग ईश्वर दर्शन और तज्जन्य मल निवारण है तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में ईश्वर के रूप में अपनी प्रत्यभिज्ञा (पुनरनुभूति) ही वह मार्ग है। स्पंदशास्त्र के मूल ग्रन्थ सोमानन्द कृत शिवदृष्टि, उत्पलाचार्य कृत ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकारिका तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रन्थ अभिनव प्रणीत तन्त्रालोक एवं प्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिनी हैं। सन्त मत में प्रत्यभिज्ञा को ही अपने मूल को जानना पहचानना या स्मरण करना कहा है। शाक्तागमों में केनोपनिषद्, श्वेताश्वतर, शक्तिसूत्र, विद्यारत्नसूत्र, प्रपञ्चसार, महाकालसंहिता, देवीयामल, शक्तिसंगम परानन्दतन्त्र, षट्त्रिंश-संदोह, सौन्दर्यलहरी, भावनोपनिषद्, वामकेश्वरतन्त्र, बोधपञ्चाशिका तथा शारदातिलक आदि की गणना की जाती है। सुरेश्वराचार्य तो शैवशाक्तागमों से इतना प्रभावित हैं कि मानसोल्लासवार्तिक में उन्होंने आगमिक शब्दावली का यथोचित प्रयोग किया है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भगवती चिति की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। आद्य शंकराचार्य ने कश्मीर की यात्रा में शारदापीठ का उद्घाटन करते हुए शैवागमों तथा शाक्तागमवादियों से विचार-विनिमय किया था। उन्होंने वहाँ प्रपञ्चागम नामक ग्रन्थ भी देखा था। उदासीनाचार्य भगवान् श्रीचन्द्र की शिक्षा भी कश्मीर में हुई। अतः अनुमान किया जाता है कि वह भी इस दार्शनिक प्रणाली से भली-भाँति परिचित रहे होंगे। शाक्ताद्वैतचन्द्रिका, दुर्गासप्तशती के सूक्त तथा अन्तिम तीन रहस्य एवं महाकालभैरवागम शैव-शाक्ताद्वैत को भली-भाँति स्पष्ट करते हैं।

शैव साधकों का योगिनी मार्ग मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ के द्वारा प्रचारित हुआ। कौलज्ञाननिर्णय, अवधूतगीता, ज्ञानामृतयोग, सिद्धसिद्धान्त-पद्धति, गोरखबोध, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, दत्तगोरखसंवाद, नाथ सिद्धों की बानियाँ तथा गोरखबानी के सिद्धान्तों को समझने के एकमात्र साधन हैं। मध्यकालीन सन्तमत इसी धारा का प्ररोह है। कबीर, नानक, रविदास, श्रीचन्द्र, नामदेव, बेणी, दादू आदि सन्त अपने अनुभवों के साथ साधनाओं में प्रवृत्त हुए। वारकरी तथा निरञ्जनी सम्प्रदायों का गठन भी इसी धारा का विकास कहा जां सकता है। बौद्ध वज्रयानी साधना, सिद्ध साहित्य तथा साधना तथा नाथ साधना के मूल तत्त्वों को समझे बिना सन्त साहित्य और साधना का मर्म नहीं

समझा जा सकता। आचार्य श्रीचन्द्र जी ने अपने साहित्य मूलतः मात्रा साहित्य की रचना के समय इस पुष्कल साहित्य और उसकी दीर्घकालीन परम्परा का पूर्णतया अवगाहन किया था। सन्त मत के प्रेरक आचार्य रामानन्द और उनके गुरु स्वामी राघवानन्द भी भक्ति, ज्ञान और योग परम्परा के समर्थक थे। सगुण-निर्गुण भक्ति साहित्य स्वामी रामानन्द के शिष्यों और अनुयायियों की देन है।

मात्रा-शास्त्र आत्मप्रबोधमूलक है

प्रायः कहा जाता है कि नाथ सिद्धयोगियों से सम्वाद करते हुए सिद्धसंगोष्ठी में आचार्यश्री ने मात्रा-शास्त्र का उच्चारण किया। वस्तुतः गोरखनाथ ने सर्वप्रथम अभैमात्राजोग की रचना की थी। श्रीचन्द्र जी की मात्रा में उस मात्रा से कुछ समानताएँ भी हैं, तो कुछ पार्थक्य भी। वस्तुतः बाह्याचार और बाहरी भेष के तीव्र खण्डन की जो परम्परा सरहपा आदि सिद्धों से प्रारम्भ हुई थी और जिसका पूरी शक्ति से प्रहारात्मक प्रयोग कबीर ने किया, उसका सद्‌गुणों में रूपान्तरण करने का सुग्राह्य उपदेश श्री नानक तथा आचार्य श्रीचन्द्र ने किया। सदाचार, नैतिक तथा पवित्र जीवन-यापन करना ही सन्त की पहचान है। सहज जीवन, आदर्श जीवन तथा समाजोपयोगी जीवन के बिना कोई सन्त नहीं हो सकता। गोरखबानी ने अभैमात्राजोग में जिस तरह योग के उपकरणों और बाह्य भेष के चिह्नों का दैवी सम्पदा में रूपान्तरण किया, नानक जी ने जिसे व्यक्ति के आन्तरिक सद्‌गुणों के साथ जोड़कर देखा, आचार्य श्रीचन्द्र ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास को देखते हुए उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। वह गोरख की मात्रा की तरह किसी योगी की सच्ची पहचान तक सीमित न होकर पूरी आश्रम व्यवस्था की पहचान बन गयी है। इन प्रतीक चिह्नों को नैतिक, आध्यात्मिक गुणों में रूपान्तरित किया जाना चाहिए। माया (अञ्जन) के बीच निर्लिप्त (निरञ्जन) रहना ही सच्चा योग कमाना है।

अंजन माहि निरंजन रहिये, जोग जुगति इव पाइए।

श्रीचन्द्र जी ने आगमिक परम्परा तथा वैदिक परम्परा के अनुसार स्वयं से प्रश्न किया है तथा स्वयं उत्तर दिया है। इस पद्धति का समर्थन महास्वच्छन्दतन्त्र ग्रन्थ से हो जाता है। वहाँ कहा गया है—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैः, तन्त्रं समवतारयत्॥

जीवात्मा को सम्बोधित करते हुए मात्राकार कहते हैं—

कहु रे बाल!
किसने मूँडा, किसे मुँडाया?
किसका भेजा नगरी आया?
सद्गुरु मूँडा लेख मुँडाया
गुरु का भेजा नगरी आया।

अर्थात् हे बालरूप जीवात्मा तुझे इस संसार में आकर कर्म में प्रवृत्त करने का कार्य किसने किया, तुझे किसने कर्म की प्रेरणा दी, इस देहरूपी नगरी में तुझे भेजने वाला कौन है? उत्तर दिया—सद्गुरु परमात्मा ने तुझे संसार में आकर कर्म करने को नियुक्त किया। पूर्वकृत कर्मों के फलभोग ने तुझे योनि विशेष में उत्पन्न किया। कर्मशील होने का संकल्प ही देह धारण का निमित्त बना। प्राकृत विषयों को भोगने की इच्छा ही इस प्रपञ्च रचना का आधार है। यहाँ जीवात्मा के लिए बालक, काया के लिए नगर तथा कर्म के लिए गुरु शब्द का प्रयोग परम्परानुसार है, माया के सम्पर्क से यह पाप-पुण्य कमाता है और कर्म शृंखला में बँधकर जन्म-मरण के चक्र में आता-जाता रहता है। गोरख तथा नानक का वचन है—

सुन्न सिषर महि बालक बोले
ताकर नाम धरहुगे कैसा? (गोरखबानी)
काइया नगरु एकु बालक वसिआ। (ग्रन्थसाहिब)

देह के लिए नगर का रूपक भागवत के पुरंजनोपाख्यान में भी उपलब्ध है। नारद जी ने कहा—पुरंजन जीव है, जो अपने लिए एक, दो, तीन, चार अथवा अनेक पैरों वाला या बिना पैरों का शरीर रूप पुर (नगर) तैयार कर लेता है। प्राकृत विषयों को भोगने की अदम्य लालसा ही उसे अन्य योनियों की अपेक्षा मानव देह प्रदान करती है।

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद् व्यनक्त्यात्मनः पुरम्।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम्॥

(श्रीमद्भाग. 4/29/2)

यदा जिघृक्षन् पुरुषः कात्स्न्र्येन प्रकृतेर्गुणान्।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रि तत्रामनुत साध्विति ॥

(श्रीमद्भाग. 4/29/4)

इतना ही नहीं, श्रीचन्द्र जी के सामने यजुर्वेद के प्रथम अध्याय का यह छठाँ मन्त्र भी था—

कस्त्वा युनक्ति, स त्वा युनक्ति
कस्मै त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति, कर्मणे वां वेषाय वाम्।

(यजु.सं.अ. 1, म. 6)

अर्थात् हे नर-नारी तुम्हें कर्मणे (कर्म करने के लिए), वेषाय (शुभ गुणों, दैवी गुणों तथा सात्विक जीवन शैली के लिए) कौन नियुक्त करता है? उत्तर है—सः (परमेश्वर) वह नियुक्त करता है। किसलिए तुम दोनों (वाम्) को नियुक्त करता है? उस (तस्मै) महान् साधना (मोक्ष प्राप्ति अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रधान जीवन-यापन) के लिए नियुक्त करता है। यहाँ वेषाय का अर्थ (सर्वशुभगुणविद्या-व्याप्तये) दिव्य जीवनशैली के निर्वहन के लिए किया जा सकता है।

आचार्य श्रीचन्द्र का कर्म को ईश्वर तथा गुरु कहना भी श्रीमद्भागवतकार के अनुरूप ही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धनपूजा के प्रसंग में कहा है, हे बाबा (नन्द) समस्त प्राणी निजकर्मानुसार जन्म लेते हैं और मर जाते हैं। उन्हें कर्मानुसार ही सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, शुभ-अशुभ, भोग पदार्थ तथा अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। जीव अपने कर्मों के अनुसार ही उत्तम और अधम शरीरों को ग्रहण करता है। अपने कर्मों के अनुसार ही वह वर्ण, कुल, स्वभाव, आश्रम आदि प्राप्त करता है। कर्म ही उसे व्यवहार में प्रवृत्त करते हैं, अतः मेरी मान्यता है कि कर्म ही गुरु है और कर्म ही ईश्वर।

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव निलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥

(10/24/13)

देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥

(10/24/17)

तस्मात्सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥
(10/24/18)

इस प्रकार कर्म के लिए दैवत, गुरु तथा ईश्वर शब्दों का प्रयोग भगवान् कृष्ण ने किया है। भागवत का यह प्रसंग यजुर्वेद की पूर्व कथित श्रुति का अर्थपल्लवन ही है। श्रीचन्द्र जी ने सद्गुरु के लिए ईश्वर, लेख के लिए इष्ट या दैवत तथा कर्म में प्रेरयिता के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है। ऐसे में यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त पंक्तियों के पीछे बाल रूप यति श्रीचन्द्र जी के प्रति वृद्ध नाथ सिद्धों का अवज्ञाभाव छिपा है।

मात्रा में वर्णित सूषमवेद

(मात्रा-शास्त्र के इस द्विपद की व्याख्या ब्रह्मलीन तपस्वी कर्त्तारदास जी महाराज के सम्मुख उनके आग्रह पर की गयी थी)

संतमत की कड़ी होने के कारण श्रीचन्द्र जी ने कहा—

गुरु अविनाशी सूषमवेद
निर्वाण विद्या अपार भेद।

उनसे पूर्व गोरखनाथ ने 'सूषमवेद सोहं परकासं' कहकर स्वसंवेद्यज्ञान को सूषमवेद कहकर प्रमाण माना, जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति 'सोहं' के रूप में होती है। इस जप से प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति साधक की साधना का चरमफल है। गुरुनानक ने इसे 'बिसमादुनाद बिसमादुवेद' कहा है। संतमत में यही सहज श्वास जप सच्ची श्रुति है तथा ऋक्, यजु, साम, अथर्व वाणी के विकार या विलास मात्र हैं। सतवंतीनाथ सिद्धयोगी ने कहा है—

जे तु बाला बूझ करत हौ
तौ सुसंवेद सूं लागौ।
सुसमवेद का भेद निराला
च्यारूँ वेद विकारा।

शारदातिलक में कहा गया है कि भगवति! यह वही हंसपद है, जिसका मनुष्य प्रतिदिन सहज रूप से जप करता है, पर मोहान्ध होने के कारण वह

परमेश्वर की कृपा से मानव देह में अहर्निश होने वाली इस सहज क्रिया को नहीं जानता। ईश्वर प्रदत्त यह क्रिया स्वाभाविक है। इसमें किसी प्रकार का बाह्य प्रयत्न या चेष्टा नहीं करनी पड़ती। केवल अन्तर्मुख होकर विचार करना पड़ता है। इसी को शब्द का सुरति से तथा सुरति का अपने मूल रूप से जुड़ना कहा जाता है। प्राणिमात्र का यही एकमात्र साधनामार्ग है। श्रीचन्द्र जी ने मात्रा में अजपाजप, सोहं, हंसगायत्री के साथ भागवतोक्त हरिनाम का जप भी साधना के लिए अनिवार्य माना है। वह नानक जी की तरह कर्ता पुरुष न कहकर नाथों की तरह अलष पुरुष के स्मरण पर बल देते हैं तथा भागवत के कपिल-देवहूति सम्वाद में उल्लिखित चरणकमलों के ध्यान की चर्चा भी करते हैं। श्रीचन्द्र जी निर्गुण-सगुण, वैदिक-आगमिक, नाथसिद्ध तथा वैष्णव सभी साधना-प्रणालियों में समन्वय का प्रयत्न करते हुए मात्रा को सर्वग्राह्य बना देते हैं।

'गुरु अविनाशी सूषम वेद' इस मात्रा में तीन पद है, जो समानार्थक भी हैं और स्वतन्त्रार्थक भी। रहस्य अर्थ की दृष्टि से तीनों समानार्थक हैं और लोकप्रसिद्ध अर्थ की दृष्टि से स्वतन्त्रार्थक हैं। इनका विशेषण-विशेष्य भाव भी है। इनमें से प्रत्येक पद की व्याकरणसम्मत व्याख्या इस टीका में उपलब्ध है। सर्वदा अज्ञानरूपी अन्धकार का निवारण करने वाले अविनाशी परमात्मा जो उत्पत्ति विनाश रहित होने के कारण अनादि निधन हैं, वही समस्त ज्ञानों के एकमात्र उद्‍गम स्रोत के रूप में प्रसिद्ध वेद के सूक्ष्मतम स्वरूप में अवस्थित हैं। अर्थात् निर्गुण निष्कल सर्वाश्रय ज्योतिस्वरूप स्वयं प्रकाश परमात्मा के व्याख्याता वेद हैं। इस ज्योतिस्वरूप परमात्मा को अपरोक्ष ज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति भी कहते हैं। सूषमवेद वस्तुतः स्वसंवेद्य ज्ञान है, जिसका अनुभव गुरुकृपा तथा ब्रह्मचर्यादि का पालन कर स्वयं साधक करता है। यह परसंवेद्य ज्ञान से भिन्न है; क्योंकि परसंवेद्य व्यावहारिक ज्ञानों से यह सूचित होता है। अतएव **'प्रतिबोधं विदितं मतम्'** यह श्रुति परसंवेद्य ज्ञानों से सूचित होने वाले स्वप्रकाश या स्वसंवेद्य ज्ञान के रूप में इसे सूचित करती है, पर संवेद्य ज्ञान वह है, जो अन्य साधनों या प्रामाणिक व्यक्तित्व की सापेक्षता में उत्पन्न होकर विषय का संवाद कराते हैं। प्रायः शब्दों से होने वाले ये ज्ञान परोक्ष ज्ञान होते हैं, जो शब्दातिरिक्त साधनों से होते हैं, वे ज्ञान भी अक्षपदवाच्य इन्द्रियों से पर या

भिन्न विषय आदि का अवलम्ब करने के कारण यौगिक दृष्टि से परोक्ष कहे जा सकते हैं।

स्वसंवेद्य ज्ञान ही सूक्ष्मवेद हैं, वही शब्द रूप में वैदिक वाङ्मय हैं और अर्थ रूप में शब्दों के वाच्यरूप में व्यवस्थित हैं। उस स्वसंवेद्य ज्ञान का ही शब्द एवं अर्थरूप में नियत परिणाम होने के कारण दोनों को अत्यन्त अविविक्तरूप में 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इस उक्ति में स्मृत किया गया है। लौकिक ज्ञान के लिए संसार में तीन वस्तुओं की अपेक्षा होती है। कोई जानने वाला होता है, जिसे 'ज्ञाता' कहते हैं, कुछ विषय जानने के योग्य होते हैं, जिन्हें 'ज्ञेय' कहते हैं या 'विषय' कहते हैं, इसके साथ ही कुछ जानकारी प्राप्त होती है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं। जैसे–घटज्ञान में जो घट को जानने वाला है, उसे ज्ञान का कर्त्ता कहेंगे। घट जो ज्ञान से विदित होता है, वह विषय है तथा यह घट है, इस प्रकार की जो मन की वृत्ति है, उसे ज्ञान कहते हैं। स्पष्ट है कि ज्ञान की इस प्रक्रिया में 'ज्ञाता' 'ज्ञेय' और ज्ञान तीनों पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु स्वसंवेद्य ज्ञान जो **'अहं ब्रह्मास्मि'**– 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में अखण्ड ब्रह्म की साक्षात्कारात्मक ज्ञानरूप वृत्ति है, वह अखण्ड एकरस है, इसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अलग-अलग नहीं होते। अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के तिरोहित होने के बाद केवल स्वप्रकाश एकरस निर्विभाग चैतन्यरूप ब्रह्म ही अवशिष्ट होता है, इसको समझने के लिए हम यह कह सकते हैं कि जो ज्ञाता है, वही ज्ञान है और वही ज्ञेय भी है। गुरु कृपा से जब साधक को अपने स्वरूपभूत आत्मा का परब्रह्म के रूप में अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है, तो उस स्थिति में ब्रह्म ही ज्ञाता होता है, ब्रह्म ही ज्ञेय भी हो जाता है तथा स्वयं ब्रह्म ही ज्ञान हो जाता है।

ब्रह्म वस्तुतः चित्स्वरूप है, उसे जब हम एक बार अपनी आत्मा के रूप में समझ लेते हैं, अर्थात् आत्मा के रूप में ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं, तो इस अनुभूति के अनन्तर ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की भेदबुद्धि सर्वदा के लिए समाप्त हो जाती है। इसी को दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जो संवित् है, जो सम्वेत्ता है और जो सम्वेदन है, वस्तुतः वह सब एक ही है। 'परा सम्वित्' की 'प्राप्ति' केवल व्यवहार की भाषा है, अर्थात् सर्वत्र व्यापक नित्य प्राप्त अपने स्वरूपभूत परासम्वित् को हम प्राप्त न कर साधनों से केवल अप्राप्ति के भ्रम को

दूर करते हैं। यही पराविद्या है, यही परतत्त्व ब्रह्म है, जिसे आगमों में शिव कहा गया है। इस तत्त्व को स्वयं स्वयं प्रकाशक, स्वयं स्वयं का ज्ञाता और स्वयं स्वयं का ज्ञान कह सकते हैं। यह अभेदमूलक आत्मज्ञान ही, जो ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद की निवृत्ति के बाद अपरोक्ष साक्षात्कारात्मक अनुभूति के रूप में व्यवस्थित होता है, सम्वित् मात्र, स्वसंवेद्य एवं स्वप्रकाश, स्वप्रबोध, आत्मतत्त्व, आत्मज्ञान आदि नामों से द्योतित किया जाता है। ऐसी अवस्था में स्थित साधक की नानात्वबुद्धि या भेदबुद्धि का अवसान हो जाता है। यह विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नहीं समझाई जा सकती, अधिक-से-अधिक उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। अविनाशी सद्‌गुरु के द्वारा इंगित यह अनुभवैकगम्य ज्ञान स्वसम्वेद्य है।

स्वसम्वेद्य ज्ञान ही सूक्ष्मवेद अर्थात् सूच्छं वेद है, इसे संकेतरूप में प्रणव या ओंकार के रूप में भी द्योतित किया जा सकता है; क्योंकि उसी अविनाशी परब्रह्म से ओंकार या प्रणव की उत्पत्ति है। अतएव श्रुति भी इसे पर एवं अपर ब्रह्म के रूप में द्योतित करती है। इस मात्रा के विचार-प्रसंग में तथा अन्यत्र भी प्रणव की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन ग्रन्थ में किया गया है। स्वसंवेद्य ज्ञान के अनुभूति में आने पर अर्थात् आत्मा एवं ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार होने पर भेदबुद्धि कैसे तिरोहित होती है अथवा यह कहें कि नाना स्वरूपों में व्यवस्थित जगत् के अविकल रूप में रहते हुए भेदबुद्धि कैसे तिरोहित होती है, अर्थात् आत्मज्ञान कैसे होता है? इसे अनुभूति में लाने के लिए यह आवश्यक है कि अनात्मवस्तु या दृश्यमान जगत् का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लिया जाय; क्योंकि अभेद ज्ञान तभी हो सकता है, जब ठीक-ठीक यह मालूम हो जाय कि यह प्रतीत प्रपंचात्मक भेद भ्रांतिमूलक है। यही कारण है कि शास्त्रों में इस भेदात्मक विश्व का कारण समझाने की चेष्टा की गयी है। यह प्रपंच कैसे बना? बना तो क्या अवभासित मात्र हो रहा है? इसकी अवभासमानता की प्रक्रिया क्या है?

इन प्रश्नों पर विचार करें, तो इस परिदृश्यमान प्रपंच का प्रारम्भ कब हुआ, इसे कोई बता नहीं पाता। अतएव इसे अनादि कहा गया है। श्रुति में जगत् की उत्पत्ति या प्रारम्भ का मूल परमात्मा की इच्छा से बतलाया गया है, **'बहु स्यां**

प्रजायेय' यह श्रुति एकाकी परमात्मा की रमण या क्रीडा के निमित्त बहुभवन की इच्छा को प्रकट करती है, किन्तु उसे यह इच्छा क्यों हुई? उसको किस बात का अभाव था? यह कोई नहीं बता सकता। अतः यह सृष्टि उसकी लीला है, यह स्वीकार किया गया है। यही इच्छा स्पन्द है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया और इस प्रकार ज्ञान, इच्छा और क्रिया का क्रम प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञान इच्छा क्रिया के रूप में त्रिपुटीकृत है। त्रिपुटीकरण में समर्थ इस शक्ति को ब्रह्म की शक्ति अथवा माया कहा गया है, जो ब्रह्म से भिन्न रूप में प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः अभिन्न ही है।

ज्यों ही ब्रह्म में इच्छाशक्ति का आविर्भाव हुआ उसी क्षण वह सगुण या सोपाधिक हो गया, सृष्टि का हेतु यही सगुण ब्रह्म है, जो स्वयं सूक्ष्मतमरूप या तत्त्वरूप में रहकर स्थूल-स्थूलतर एवं स्थूलतम रूप में अभिव्यक्त होता है। यही अभिव्यक्तिकरण ही सृष्टि है, जिसे **'तदात्मानं स्वयमकुरुत्'** यह श्रुति बतलाती है। सगुणब्रह्म या कलायुक्त होने से 'सकल' पद से बोधित परमात्मा में जो इच्छाशक्ति हुई वह एक प्रकार का स्पंद या कम्पन है, जिसे उपनिषदों की भाषा में 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि वाक्यों से बोधित 'एजन' कहते हैं। वस्तुतः नाद अथवा शब्द इस कम्पन या एजन का स्थूल या मूर्तरूप है। आगमों में इस एजन को 'नाद' कहा गया है। नाद अत्यन्त सूक्ष्म अव्यक्त शब्द है। मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है, वह बहुत ही स्थूल शब्द है। इसके परिप्रेक्ष्य में हम अव्यक्त नाद की कल्पना नहीं कर सकते। केवल बौद्धिक दृष्टि से ही हम उस प्रथम स्पंदन की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है; क्योंकि चेतन के भीतर होने वाली इच्छा को हम प्रथम अभिव्यक्ति से ही समझने का उपक्रम कर सकते हैं। इच्छा के साथ क्रिया लगी हुई है, वह इच्छा के अनन्तर भावी है, क्रिया को ही हम बिन्दु कहते हैं। वस्तुतः निष्कल सर्वधर्मशून्य, सर्वविशेषणविवर्जित सच्चिदानन्द ही कलासहित अर्थात् सगुणपरात्मरूप में प्रकट होते हैं। उन्हीं की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से ही बिन्दु की उत्पत्ति हुई। सगुण परमात्मा की ज्ञानशक्ति ही इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति का मूल है, नाद को इच्छाशक्ति और बिन्दु को क्रियाशक्ति कहते हैं, यही ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति का त्रिकोण है। नाद या इच्छाशक्ति गति है, बिन्दु या क्रियाशक्ति स्थिति है; क्योंकि

प्रत्येक क्रिया किसी-न-किसी पदार्थ को मूर्तरूप देकर स्थिति या विराम को प्राप्त करती है। इस प्रकार गति और स्थिति ही समवेतरूप से आकार या रूप को प्रकट करते हैं।

यह स्वसंवेद्य परमसूक्ष्मतत्त्व जो सभी पदार्थों का मूल एवं सभी साधकों का प्राप्तव्य है, इसे उच्चरित स्थूल शब्दों से समझाया नहीं जा सकता, अतएव श्रुति भी तात्पर्य वृत्ति से उसका बोधन करती है, किन्तु हमारी बाध्यता है कि उसे बुद्धिगम्य बनाने के लिए यही स्थूल शब्द ही साधन के रूप में उपलब्ध है। अतः जब उस तत्त्व को समझाने के लिए भाषा का प्रयोग होता है, तो सभी बातें शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं हो पातीं, फिर भी हम शब्दों से उसकी निकटता को अवश्य प्राप्त करते हैं। अतएव महिम्नस्तोत्र में कहा गया है—**'अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि'**। इस प्रकार इस तत्त्व के प्रकाशन में भाषा पूर्णरूप से सफल साधन नहीं बन पाती, किन्तु शब्द को पूर्णतः व्यर्थ भी नहीं समझा जा सकता। अस्तु, शब्द की विषयप्रकटीकरण में असामर्थ्य की सीमा के बारे में उलझना नहीं चाहिए। स्थूल शब्दों में इस विषय के निरूपण हेतु हम यह कह सकते हैं कि प्रथम स्पंदन नाद के रूप में प्रकट हुआ। इस नाद को हम सबसे सूक्ष्मरूप में अथवा सभी अक्षरों के मूल रूप में उपलब्ध सूक्ष्मवेद ओंकार के रूप में भी कह सकते हैं। ओंकार के घटक अ,उ,म यह तीन वर्ण हैं। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर के रूप में अकार उपलब्ध है, जो **'अकारो वै सर्वा वाक्'** इस श्रुति से सभी वाक् तत्त्व का मूल है। सबसे स्थूल ओष्ठ्य वर्णों का अन्तिम वर्ण मकार है, जो ओष्ठों को बन्द कर देता है तथा प्रकट होने के लिए नासिका का सहारा लेता है। इस प्रकार हमारा जाना हुआ मूल स्वर या नाद अकार ही है, जिसे हम प्रथम स्पंदन 'अ' के रूप में गतिशील हुआ, कह सकते हैं। ओंकार की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति, जो **'ओंकारश्चाथशब्दश्च'** इत्यादि रूप में स्वीकृत है, उसके घटकवर्ण अकार की प्रथम स्पंदन के रूप में गतिशीलता को सूचित करती है; किन्तु केवल गतिशीलता ही नहीं स्थिति भी अपेक्षित है। नाद ही गति है, बिन्दु ही स्थिति है और गति स्थिति का विलास ही जगत् है। यह तथ्य ओंकार के घटक वर्णों की सृष्टि-स्थिति एवं प्रलय की बोधकता के वर्णन से स्पष्ट होता है। गतिरूप नाद को सृष्टि के लिए आवश्यक स्वीकार करने पर उसके साथ

विराम या स्थितिसूचक बिन्दु भी अपेक्षित है। हम जानते हैं कि मकार अनुस्वार के रूप में बदलता है। ओंकार के उच्चारण में अ,उ,म इन तीनों वर्णों के उच्चारण क्रम को हम इस रूप में समझ सकते हैं। अकारस्वर कण्ठ से उत्पन्न होकर म व्यंजन से रुद्ध हुआ, उसे कण्ठ से ओष्ठ तक यात्रा करनी पड़ी और ओष्ठ बन्द हो गये, ओष्ठ बन्द होते-होते वह नाद 'ऊ' जैसा हो जायेगा। इस प्रकार अ,उ,म रूप ओंकार के स्वरूप में प्रथम स्पंदन हुआ, पर वह समाप्त नहीं हुआ, यह एजन या कम्पन लगातार चलता रहता है। एक बार ओंकार बन्द हो गया, तो कम्पन या एजन कैसा? इस प्रकार अ,उ,म यह अक्षरत्रय मिलित रूप ही 'ओम्' है। सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का उपलक्षण यह एजन या कम्पन सर्वदा चलता रहता है। इस स्पंदन को स्थूल शब्दों में समझाया गया है, इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही सामान्य व्यक्ति का ध्यान जायेगा, वस्तुतः यह समझाने का एक प्रकार मात्र है। प्रथम विश्व ब्रह्माण्डव्यापी स्पंदन ओंकार के इसी सूक्ष्म उच्चारण का साम्य लिये हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में होगा, इसीलिए ओंकार विश्व का प्रारम्भ है (ओंकार से सम्पूर्ण सृष्टि का वर्णन मात्रा के व्याख्यान के प्रसंग में किया गया है)। यह सगुण ब्रह्म का नव या नूतन रूप है, प्रकृष्टतया नव या नूतन होने से इसे प्रणव कहते हैं, नव या नवीन आदि शब्दों से उसे द्योतित करना उचित है; क्योंकि नवीन तो पुरातन भी हो जाता है, यह प्रतिक्षण नवीन की तरह प्रतीत होने वाला सार्वकालिक स्तुत्य स्पंदन कभी पुरातन नहीं होता। यतः वह प्रतिपल नित्य स्पंदित हो रहा है, इसीलिए वह प्रणव है। **'प्रतिक्षणं नवं नवं जायमानः प्रणवः'** यह व्युत्पत्ति उसे अनन्त सर्जन से सम्बद्ध रूप में व्यक्त करती है, स्वसंवेद्य ज्ञान का यह प्रथम रूप है। साधकों, सिद्धों एवं महापुरुषों ने इसे ही 'सूक्ष्मवेद' शब्द से द्योतित किया है। यह सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त नाद है, इससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पूरित है, इसी समष्टिव्यापिनी आरम्भिक वाक् को श्रीमद्भगवद्गीता में एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। एक ही कम्पन या स्पंदन के रूप में इसे स्पष्ट करने हेतु भगवान् ने इसे एकाक्षर कहा है।

जब ओंकार से इस सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति कही जाती है, तो यह दर्शनों की स्थूल भाषा पर आधृत तथ्य होता है। श्रीचन्द्र जी ने अपनी द्वितीय मात्रा में इसलिए कहा—

ॐ देवल धरती देवल आकाश, देवल देव भया परकास।
अवधू सुरत निरख कर बोलो, ज्ञान रत्न की कोठड़ी खोलो।

सिद्धान्तसागर में भी आया है—

ओम आदि वेद प्रधान, ओम जाप अजपाध्यान।
ओम ध्वनी जिहि थल प्रगटाई, पारब्रह्म तहं बास बसाई।
तिनहुं देव इक थाँय बसाये, तिनहुं भुवन जपत बरसाये।
तीनहुं गुण तिहं समता पावत, सुर नर असुर होत बिसमावत।

परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस स्वसंवेद्य अर्थ को ओंकार के द्वारा नानारूपों में प्रकट करना अभीष्ट था, वह इसके द्वारा पूरा व्यक्त नहीं होता; क्योंकि स्वसंवेद्य ज्ञान की अभेदावस्था में ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय का भेद तो मिट जाता है, पर ओंकार या एकाक्षरात्मक स्पंदन या एजन में वह भेद प्रारम्भ होता है। इस प्रकार शब्दों के स्थूलतर रूपों में श्रुत नाद, वेदवाणी के रूप में अभिव्यक्त है। यद्यपि वह परम प्रमाण तथा परम तत्त्व के निरूपण का एकमात्र साधन है तथा ब्रह्मरूप या परमेश्वररूप में स्वीकृत होते हुए भी वस्तुतः वह स्थूलवेद ही है। यह स्थूलवेद उस स्वसंवेदनरूप सूक्ष्मवेद का ही एक स्थूलव्यक्तरूप है। यह स्थूलवेद उस स्वसंवेद्य ज्ञानरूप ब्रह्म का निरूपण करने में असमर्थ होता है। अतएव **'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो'** इत्यादि कहते हुए अभेदानुभूति की अवस्था को बोधित करने में स्थूल शब्द रूप वेद वाक्य भी अवेदवत् हो जाते हैं, अतएव **'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति'** यह कहा जाता है। अविनाशी ब्रह्म या गुरुतत्त्व ही अपने आपको इस सूक्ष्म रूप में इंगित करता है, वही इंगन या संकेत वस्तुतः उनका ही स्वरूपबोधात्मक सूक्ष्मवेद है।

शैव-शाक्त कापालिकों तथा वज्रयानी धारा से भेद

मध्यकालीन धर्मसाधनाओं शैव-शाक्त कापालिकों तथा वज्रयानीधारा के अवशेष वाममार्ग की साधना अत्यन्त जुगुप्सित और भयकारी रही है। भवभूति के मालतीमाधव तथा राजशेखर के कर्पूरमंजरी जैसे नाटकों में इनके भयावह-अनैतिक रूपों की झाँकी देखने को मिल जाती है। इन कापालिकों का प्रभाव मध्यकालीन जनमानस पर व्यापक रूप से देखा जा सकता है। शंकरदिग्विजय

के अनुसार आचार्य शंकर का सामना कापालिकों से हुआ था। डॉ. वाचस्पति गैरोला ने '**भारतीय धर्म शाखाएँ और उनका इतिहास**' ग्रन्थ में लिखा है कि कापालिकों की गुह्य उग्र साधना, उनके रहस्यमय क्रियाकलापों का प्रभाव जनसामान्य में प्रत्यक्ष रूप से कम किन्तु परोक्ष रूप से अत्यन्त व्यापक होता गया। गोरखसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है कि श्रीनाथ के दूतों के रूप में विष्णु के चौबीस अवतारों के कपाल काट देने वाले इस नये मत के प्रवर्तकों को कापालिक कहा जाने लगा। उनका अधिष्ठाता देवता महेश्वर है। शिवोपासक होने के कारण कापालिकों तथा वैष्णवों में परम्परा से घोर सैद्धान्तिक विरोध रहा है। कापालिक मत शैव तथा पाशुपत मत की वह शाखा है, जिसमें विलासी घोर क्रियाकलापों से सम्बद्ध शिव की गुह्य साधना प्रचलित थी और जिसमें वामाचार चरमरूप में पाया जाता है। इस शाखा के शैव वाममार्गी साधु हैं और महाकाली के उपासक हैं। वे मद्यमांसादि का सेवन करते हैं और श्मशान में रहकर मृतक के कपाल से तांत्रिक क्रियाओं द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त क़रने में विश्वास करते हैं। उनमें नरबलि की प्रथा भी प्रचलित थी। साधनात्मक उपकरणों के प्रयोग की दृष्टि से कापालिक और वज्रयानी समान हैं। दोनों में स्त्रीसंग की अनिवार्यता है। चर्याचर्यविनिश्चयसिद्धि में वज्रधर को कापालिक या कपाली, मुद्रासहचरी को कपालवनिता तथा पुरुषेन्द्रिय को वज्र कहा गया है। वैरोचन, वज्रोदक, पद्म, वज्र, कपाल जैसे शब्दों द्वारा उनकी साधना का परिचय मिलता है। ज्ञानसिद्धि ग्रन्थ में इनका खुलासा इस प्रकार हुआ है—

शुक्रं वैरोचनं ख्यातं, वज्रोदकं तथाऽपरम्।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं, वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥

मत्स्येन्द्रनाथ तथा अर्धत्र्यम्बक धारा के आचार्य गुप्त इन साधनाओं के ज्ञाता ही नहीं थे, अपितु इनमें लिप्त भी थे। मत्स्येन्द्र को इस मार्ग से निकालने का श्रेय गोरखनाथ को है, उन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक बिन्दुरक्षा की अनिवार्यता बताकर सन्त साधना को चारित्रिक शुचिता की ओर उन्मुख किया।

इस पृष्ठभूमि में मात्राशास्त्र की इस कल्याणकारिणी मात्रा का अवलोकन करने से आचार्य श्रीचन्द्र के समाजोपयोगी दृष्टिकोण का पता चलता है।

संयम कपाली शोभाधारी, चरणकमल में सुरति हमारी।

इस मात्रा में भोग के स्थान पर वैराग्य, स्वेच्छाचार के स्थान पर संयम, स्त्रीसंग के स्थान पर ब्रह्मचर्य, कपाल के स्थान पर कमण्डलु, मृण्पात्र तथा करुणाभाव को महत्त्व दिया गया है। संयम, कपाल तथा शोभा ये साधना के तीन पारिभाषिक शब्द हैं। भगवान् ने इन शब्दों को सर्वथा नया अर्थ और सन्दर्भ दिया।

संयम का अर्थ उन्होंने कठोर तपस्या या आत्मोत्सर्ग माना। योग की धारणा, ध्यान तथा समाधि के त्रितय के लिए संयम शब्द का प्रयोग शास्त्र सम्मत है। कहा भी गया है—**'तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति'** (व्या.भा. 3/7)। कपाल के भी दो अर्थ हैं—**'कं पालयतीति कपालः'** अर्थात् कं (जलम्) को पुष्ट करने वाला भाव करुणा ही कपाल है। दूसरा अर्थ है—**'कं शिरो पालयति'** अर्थात् खोपड़ी। खर्पर (मिट्टी के पात्र का टुकड़ा) को भी कपाल कहते हैं। मनु ने कपालेन भिक्षार्थी कहकर खर्पर द्वारा ग्रहण करने का आदेश दिया है। श्रीचन्द्र जी कपाल का कमण्डल तथा करुणाभाव की ग्राह्यता मानते हैं। स्त्रीसंग के स्थान पर वह 'शोभा' या 'चारुता' शब्द का प्रयोग करते हैं। शुभ सद्गुणों की धारणा ही शोभा है, जिसका पालन करने से साधक का आकर्षण बढ़ता है। 'शोभा' शब्द की निरुक्ति 'शुभ्' शब्द से है। संस्कृत में शुभ्+अ+टाप् से 'शोभा' शब्द निष्पन्न होता है। कोशकारों ने शोभा के दो अर्थ किये हैं—1. लक्ष्मी, 2. कांति, लावण्य, चारुता। 'शोभाधारी' शब्द से कपाल या खर्पर धारण करने वाले शिव (रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः, द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः) तथा कमण्डलु, दण्ड, मोरछल या वस्त्र की कूँची धारण करने वाले श्रीपति नारायण। इस प्रकार इस मात्रा में विष्णु और शिव की अभेदता दिखाते हुए हरिहर के चरणकमलों के ध्यान को उपासना का अंग बनाया गया है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या' कहकर श्री या कान्ति तथा लक्ष्मी दोनों की चर्चा की गयी है। मार्कण्डेयपुराण के देवीसूक्त में भी दोनों की चर्चा क्रमशः एक साथ की गयी है—

या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध में मार्कण्डेय ऋषि के प्रसंग में विरक्तमूर्ति नारायण ऋषि का वर्णन इस प्रकार है—

पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत्
कमण्डलुं दण्डमृजुं च वैणवम्।
पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्जनं
वेदं च साक्षात्तप एव रूपिणौ॥

(12.8.33-34)

इस प्रकार भगवान् श्रीचन्द्र ने कपाल और कपालवनितामूलक अनैतिक और घोर साधना को सौम्य तथा नैतिक रूप प्रदान कर ब्रह्मचर्य, इन्द्रियनिग्रह, सेवा, दया तथा सदाचार को साधना का अनिवार्य अंग बताया। शैव-वैष्णव मत में अभेद स्थापित करते हुए पारस्परिक कटुता और मनोमालिन्य को दूर किया। भागवत में दक्ष यज्ञ प्रसंग में स्वयं विष्णु ने अपने में और शिव में अभेद दर्शन की बात कही थी। स्वच्छन्द भोगवाद पर अंकुश लगाकर समाज, साहित्य, साधना और राष्ट्र का बहुत बड़ा उपकार श्रीचन्द्र ने किया। यह उनकी महनीय देन है।

जैसा कहा जा चुका है, मात्रा शैव योगियों में गोरख की परम्परा स्वीकार करती है, वह प्रारम्भ ही गोरख की इस प्रश्नोत्तर शैली से होती है।

गोरख—

स्वामी कौंण से काया कौंण सो प्राण,
कौंण पुरिस का करिए ध्यान
कौंण अस्थान घरि काल सौं रहै,
सतगुरु होइ सुबूझया कहै?

मछीन्द्र—

अवधूत पवन सो काया, मन सौं प्राण,
परम पुरिस का करिए ध्यान
सहज अस्थान घरि काल सौं रहै,
ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।

आचार्य श्रीचन्द्र मात्रा का प्रारम्भ तीन प्रश्नों से करते हैं तथा तीन प्रश्नों का तीन सूत्रों में गूढ़ उत्तर देकर जीव, जगत् और परमात्मा का संकेत देकर कर्मयोग और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। कहा जा सकता है— मात्राशास्त्र परम्परानुमोदित लिखी गई संतकाव्य धारा की मंजूषा है, जिसकी विविधार्थप्रकाशिका मणियों का आलोक काव्य, शास्त्र तथा साधना के अध्येताओं का मार्ग आलोकित करता है।

योग बिना संत बानियाँ अपूर्ण

शैव नाथ परम्परा के विकासक्रम में आने के कारण संतसाहित्य में योग की शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है। कबीर इस परम्परा के गोरख के बाद प्रमुख प्रतिनिधि संत हैं और कहना चाहिए कि व्यवस्थापक संत भी। गुरुनानक ने सच्चे योगी की पहचान 'जपुजी' में प्रस्तुत की है। वह योगी के बाहरी वेष को अप्रासंगिक मानते हैं। कबीर भी सच्चे अवधूत की तलाश में हैं। नानक ने मुद्रा, झोली, भस्म, कंथा, डंडा, आदेश उच्चारण जैसे बाहरी उपकरणों को नैतिक-आध्यात्मिक गुणों में रूपान्तरित करने की बात कही है; क्योंकि बिना आन्तरिक-बाह्य पवित्रता और नैतिकता के योग सिद्ध नहीं होता। वह तो असली योग माया (अंजन) के बीच निर्लिप्त (निरंजन) रहकर निरंजन (परमेश्वर) के साक्षात्कार तथा निरंजनयुक्त रहने को ही मानते हैं। राग सूही में उन्होंने कहा—'अंजन मांहि निरंजन रहिए, जो जुगति इव पाईए'। वह अमृतस्राव (सहस्रार-निर्झर) तथा सहज धुन (अनहद) सुनने को ही शृंगीनाद कहते हैं—

निझरू झरै सहजधुन लागे, घर ही परचा पाइए।

गोरखनाथ ने 'अभैमात्राजोग' में जिस तरह योग के उपकरणों का दैवी सम्पदा में रूपान्तरण बताया। नानक तथा श्रीचन्द्र जी ने क्रमशः जपुजी तथा

मात्राशास्त्र में वैसे ही सार्थक और नित्य प्रासंगिक गुणों की चर्चा की। नानक जी जपुजी में कहते हैं—

मुंद्रा संतोखु सरमु पतु झोली, धिआन की करहि विभूति ।
खिंथा कालु कुमारी काया, जुगति डंडा परतीति ।।
आई पंथी सगल जमाती, मनि जीतै जगु जीति ।
आदेसु तिसै आदेसु ।
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुग जुग एको बेसु ।

यहाँ योगियों के मुद्रा, झोली, भस्म, कंथा, योगदण्ड, आदिपंथ, आदेश तथा अनहद शब्दों को प्रतीक बताकर उनके नैतिक प्रतिकारों को स्पष्ट किया गया है। पंजाब में लोकप्रिय तत्कालीन सूफीसन्त बुल्लेशाह भी प्राणायाम, नवद्वार, दशमद्वार तथा प्रेमसम्बन्ध की चर्चा करते हैं—

तैं कारन हब्सी होए हाँ, नौ दरवाजे बन्द कर सोए हाँ
दर दसवे आन खलोए हाँ, कदे मन मेरी अश्नाई।
तन राख उडी तां सेर होया।

बुल्लेशाह औरंगजेब के शासनकाल में उत्पन्न हुए। उन पर गुरुनानक और श्रीचन्द्र का प्रभाव था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मात्रा-शास्त्र के सृजन की यही परम्परापुष्ट प्रक्रिया है, जिसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के लिए आचारशास्त्र और साधना प्रतिपादक शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रीचन्द्र जी की मात्रा से प्रभावित होकर गरीबदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक संत गरीबदास जी ने अपने ग्रन्थ साहिब में 'अन्दरूनी रास', जैतराम जी ने मात्रा तथा पानपपंथ के प्रवर्तक संत पानपदास ने भी मात्रा लिखी। श्रीचन्द्र जी की इस प्रथम और प्रतिनिधि मात्रा से प्रभावित होकर अन्य मात्राएँ लिखी गयीं। हिन्दी संत साहित्य के शोधार्थियों को इन मात्राओं का तुलनात्मक अध्ययन कर मात्रा को एक स्वतन्त्र काव्य विद्या के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए। उदाहरण के लिए उक्त मात्राओं के कुछ अंश देखिए—

सुरति की सेली, निरति का नाद
पवन का फरुआ, अडिग आडबंद

ज्ञान का गोला, ब्रह्म विभूति रमावनी
मूल मुद्रा, सोहं मात्रा
ध्यान की धूनी, पीव की फावड़ी। (अन्दरूनी रास)

जत कर कड़ा, ध्यान का बटुआ
पवन का गुटका, चित्त का फावड़ा
ज्ञान की गुदड़ी, सुरति के धागे
सीमी धीरज, कंथा वचन हलीमी।
सद्गुरु दीया भेदी भेद
बिन रसना पढ़ै सूषम वेद। (वाणी जैतराम)

समता सेल पांचो तार
योगी गूँदे निरगुण सार
ज्ञान फावड़ी धूनी ध्यान
तपता जोगी परम सुजान
गुदड़ी देह सुरति का धागा
निरति सुई कर सीवन लागा।
सो गुदड़ी कभी क्षीण न होय।
युग युग राखै योगी सोय। (समझ मात्रा ग्रन्थ)

मात्रा-शास्त्र में प्राणसाधना का परम्परागत उल्लेख हुआ है। 'इड़ा में आवै पिंगला में धावै' उस प्रक्रिया का संकेत भर है। 'सुषुम्ना' में प्राण को स्थिर किये बिना जीवन-मरण, भूख प्यास, यौवन, बुढ़ापा तथा द्वन्द्वों से छुटकारा नहीं मिल सकता। इसीलिए 'सुषुम्ना को घर' कहकर आचार्य ने जीव की यात्रा का विराम स्थल निर्देशित किया है। कहा भी गया है—

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूक्ष्मरूपिणी।
सर्वं प्रतिष्ठितं यस्मिन्सर्वगं सर्वतोमुखम्॥

सिद्धान्तसागर में आचार्यश्री शब्दयोग की चर्चा करते हुए कहते हैं—

गंगा उतरी गगन से विंग तिडंगी
मीन चलै ऊरधदिसा सुरसिद्धि भिडंगी।

नेम आचार विचारा
सर्पिणी कुंडल परिहरै टपकै अमृतधारा। रहाऊ।
खिड़की खोले परसीए आलै बघु पाई,
प्राण गुरु प्रकासिया गति अगम लखाई
त्रिकुटी छूटै परसीए निर्मल उजियारा,
लख बिजलियाँ चमकई झिलमिली नजारा
अनहद ध्वनि आनंदरस मन मगन समाना
श्रीचंदगुरु कृपा ते दर दसम गुलाना।

भगवान् श्रीचन्द्र जी के प्रादुर्भाव के समय देश राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक दृष्टि से अशांत और अस्थिर था। मुहम्मद गौरी से लेकर बाबर के आक्रमण तक हिन्दू राज्यों और इस्लामशासित प्रदेशों में टकराहट चरमोत्कर्ष पर थी। दिल्ली के मुसलमान शासकों की आपसी मारकाट और हिन्दुओं के प्रति उनकी घृणा ने हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता छीन ली थी। बलात् धर्म परिवर्तन कराये जा रहे थे। हिन्दू सामंत भोग विलास में डूबे हुए थे। उनके भोग विलास की आपूर्ति निर्धन निरक्षर जनता को लूट-पीट कर हो रही थी। इन विषमताओं और सामन्ती अत्याचारों के विरुद्ध कोई बोलने वाला नहीं था। हिन्दू समाज जातियों, उपजातियों, सम्प्रदायों, पंथों, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, छुआछूत, छोटे-बड़े की भावना से जकड़ा हुआ था। राजकीय नियम धर्माधारित और हिन्दू-विरोधी थे। वैचारिक और राजनीतिक प्रतिरोध की क्षमता प्रायः समाप्त हो चुकी थी। तभी बाबर ने अफगान, उजबेक, मंगोल तथा अन्य मध्य एशियाई दुर्दान्त कबीलों के लड़ाकुओं की फौज लेकर हिन्दुस्तान पर हमला किया। बाबर का पितृकुल तैमूरलंग और मातृकुल चंगेजखाँ से जुड़ा हुआ था। दोनों की नृशंसता उसके खून में थी। इधर राजस्थान और दक्षिण भारत दिल्ली से स्वतन्त्र हो चुके थे। कश्मीर, मालवा, गुजरात और बंगाल विभिन्न अफगान सुलतानों के अधिकार में थे। मेवाड़ का राणा संग्राम सिंह उत्तर भारत में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने के मंसूबे पाले हुए था। अतः उससे अन्य हिन्दू राजा भयभीत और नाराज थे। पंजाब में विद्रोही दौलत खाँ का शासन था। दिल्ली में इब्राहीम लोदी का शासन था, पर उसके विरुद्ध उसका सगा चाचा आलमखाँ षड्यंत्र रच रहा

था। इस प्रकार हिन्दुस्तान अन्दर से जर्जर था। बाबर को हमलों के लिए इन विघटनकारी परिस्थितियों ने उकसाया। 1524 ई. में उसने पंजाब को जीतने के लिए लाहौर पर हमला किया। 1526 में पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम लोदी को, 1527 में खानवा की लड़ाई में राणा संग्राम सिंह को हराकर तथा कुछ समय बाद बंगाल, बिहार के अफगान सरदारों को हराकर उसने मुगल साम्राज्य स्थापित किया। इन फौजों ने रास्ते में चलते हुए खेत-खलिहानों, बस्तियों और ग्रामों को जलाकर उजाड़ दिया। हिन्दू और तुर्क औरतों के वस्त्र और बुर्के फाड़ दिए। उनकी बेइज्जती की। मुगलों ने जिन स्त्रियों से अनाचार और दुर्व्यवहार किया, उनमें हिन्दुवानियाँ, तुर्कानियाँ, नाटिनें और ठकुरानियाँ थीं। शहजादे टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये। पीर फकीरों के टोटके टोने व्यर्थ हो गये। इस विभीषिका का आँखों देखा हाल यदि किसी संत कवि ने देखा और भोगा है, तो वह है नानक। वासना की अनियंत्रित आँधी, सच्ची आस्था का अभाव, आपसी फूट तथा अनैतिक आचरणों ने हिन्दुस्तान को तबाह कर दिया। गुरुनानक द्वारा लिखे गये 'बाबर वाणी' शीर्षक चार पद पूरे देश की अन्तर्वेदना को व्यक्त करने वाले हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुस्तान डराइआ।
आपै दोसु न देई करता जम करि मुगल चडाइया।
एती मार पई कर लाणैं तैं की दरद् न आइआ।
करता तू समना का सोई। रहाउ
मुगल पठाणा भई लड़ाई रणमहिं तेग वंगाई।
ओन्ही तुपुक ताणि चलाई ओन्ही हसति चिड़ाई।
एक हिन्दुवाणी अवर तुरकाणी मटियाणी ठकुराणी।
इकन्हा पैरण सिरखुरपाटे इकन्हा वासु मसाणी।
जिन्ह के बंके घरि न आइजा तिन्ह किउ रैणि विहाणी।
राग आसा, असट पदिआ।

श्रीचन्द्र जी विकृतियों से भरे सामाजिक और राजनीतिक वातावरण तथा परिवेश के प्रति जागरूक थे। उन्होंने अपने पिता गुरुनानकदेव से बाबर की धर्मांधता की जानकारी ली थी। वह सुन्नी मुसलमान, मदिरा प्रेमी तथा स्त्रियों का

लोलुप था। उसने मन्दिर तुड़वाये और हिन्दुओं के सिरों से मीनार बनवाए। जहाँगीर अपेक्षाकृत उदार था। वह बाद में आचार्यजी के सम्पर्क में आया। लाहौर के कट्टर शासक कामरान को आचार्यश्री से भेंट के बाद उसने फटकार भी लगाई; पर उसने पुष्कर का मन्दिर तोड़ा तथा आगरा में बना पुर्तगालियों का गिरिजाघर भी बंद करा दिया। शाहजहाँ ने 1633 ई. में बनारस के इलाके में 73 मन्दिर तुड़वाये तथा हिन्दुओं के धर्मान्तरण के लिए एक अलग विभाग खोला, जिसका दायित्व मिर्जा लाहौरी और मुहिब अली सिंधी को सौंपा। श्रीचन्द्र जी ने भारत की यह दुर्दशा अपनी आँखों से देखी थी। अपने अन्तर्धान होने के ग्यारह वर्ष पूर्व शाहजहाँ के मन्दिर तुड़वाने की घटना से वह अन्तर्व्यथित हुए थे। उन्होंने सगुण उपासना को युगानुकूल न देखते हुए 'सिद्धान्तसागर' के एक पद में कहा—

विश्वनाथ परकूप डुबाना।
अजहूँ दंभी नर भरमाना।
गोविंद राम मसीती दूरै।
विप्रमनई धावत गहि छुरै।

बाबरी मस्जिद में राम का छिप जाना, ओझल हो जाना तथा विश्वनाथ जी का कूप में डुबाया जाना हिन्दू धर्म के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों का द्योतक है। उन्होंने मुसलमानों की निरर्थक धार्मिक क्रियाओं पर भी कटाक्ष किया। वह एक ओर मूर्ति तोड़ते हैं, तो दूसरी ओर काबा में बुत चूमते हैं। यह विरोधाभास नहीं तो और क्या है? सिद्धान्तसागर में आचार्य ने कहा—

शैतां केरो थाप मुकाम।
कंकर रोड़े फैंकत मुरख अन्तरमल अलह नहिं नाम। रहाऊ।
बुत्त विनासै बुत्तहिं थाप, दरगाहे लहिहैं संताप।
परम भूल लग फिर फिर लेख, सो कुरान किमि भनै अलेख
शरक गरब जहाँ पढ़ी निवाज, सोऊ दोजख पाय अजाब।
भूले लोक लोभ लुटमारै, कियो पैगम्बर दीन बिगारै।
श्रीचंद्र मंडल जेऊ मूढ़, लहहिं साधु आशय किमि गूढ़।

बाबा जी मस्जिद, मन्दिर, वेद, पुराण, कुरान, शंखध्वनि, नमाज, बाँग तथा हिन्दू-तुरक में कोई भेद नहीं मानते। सिद्धान्तसागर में उन्होंने कहा—

सद्‌गुरु पूरे शब्द सुनायो।
पारब्रह्म पूरण सब थाई घटि घटि एकु समायो। रहाऊ।
वन, पर्वत, जल, थल, महियल हरि ऊन न कोऊ थाना
मस्जिद देव देवालय मांही वेद पुराण कुराना।
बांग नमाजा संख अवांजा एकै ही गुण गावै।
हंस काक माखी मच्छर गो तृण तरु एकहि ध्यावै।
परम पुरख भगवत परमेश्वर बिन संतन कहुँ नाहीं।
मक्का मदीना गंग गोदावरी श्रीचंद्र पिरिव आहीं।

श्रीचन्द्र जी ने इसी परिप्रेक्ष्य में नैतिक मूल्यों, ग्रामोद्‌धार तथा सामाजिक संगठन, आध्यात्मिक सैनिक वेश एवं सरल, पवित्र, निश्छल धार्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देकर अपनी राष्ट्रीय संवेदना तथा अपने सामाजिक सरोकारों को अभिव्यक्ति दी। सच्चे गृहस्थ तथा सच्चे संत के लक्षण बताये। बाह्य भेष तथा आन्तरिक गुणों में सामंजस्य बैठाया। सामाजिक और नैतिक चिन्तन में एकरूपता निरूपित की। मुगल शासकों को सौहार्द एवं सुनीति का पाठ पढ़ाया। साम्प्रदायिक विद्वेष की धधकती आग में जलते हुए देश के लिए मात्रा ने अमृत वाणी का काम किया। सहिष्णुता, प्रेम, करुणा और सदाचार के सन्देश से संत्रस्त, दलित-पीड़ित-शोषित और मृतप्राय देशवासियों को नई संजीवनी देने का कार्य किया। सचमुच वह जगदाचार्य थे।

अन्त में इस सारस्वत यज्ञ के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना चाहते हैं। आज से लगभग चार दशक पूर्व काशी प्रवास के दिनों में तपोमूर्ति ब्रह्मलीन **कर्त्तारदास जी महाराज** निर्वाण सन्तों की मण्डली के साथ उदासीन पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन के रवीन्द्रपुरी वाले भवन में पधारे, जहाँ रहकर मैं श्रीहर्षमिश्रकृत **खण्डनखण्डखाद्य** ग्रन्थ पर शोधकार्य कर रहा था। तपस्वी जी ने हमसे मात्राशास्त्र पर चर्चा करने का आग्रह किया। उनके आग्रह पर हमने **'गुरु अविनाशी सूषम वेद.....'** वाली मात्रा पर कुछ चर्चा की जो उपरिवर्णित भी है। मात्रा-शास्त्र पर शास्त्रपरक चिन्तन का यह हमारा प्रथम प्रयास था।

सुनकर तपस्वी श्री कर्त्तारदास जी ने हमसे इसी रूप में मात्रा-शास्त्र की व्याख्या करने का आग्रह किया। विषय की गम्भीरता एवं शोधकार्य की दुरूहता के कारण हमने अपनी असामर्थ्य प्रकट की। बाबा जी ने कहा आचार्यश्री स्वयं आपसे यह सेवा ले लेंगे। तपस्वी जी के इन वचनों के साथ अखाड़े के मुकामी महन्त तथा कारोबारी रहे **श्री गोविन्ददास** ने यही स्नेहानुरोध किया। गुरुरामराय उदासीन आश्रम, दिल्ली के महाण्डलेश्वर **स्वामी राघवानन्द जी**, डेरा बाबा मंगनीराम पटियाला के **महन्तश्री आत्माराम जी** तथा जंडियाला गुरु अमृतसर के **महन्तश्री स्वामी परमानन्द जी** का भी यही आग्रह बराबर बना रहा। मात्रा-शास्त्र की टीका का यह महनीय कार्य इन्हीं मनीषी महात्माओं के शुभ संकल्पों के बल पर निर्विघ्न सम्पन्न हुआ।

मात्रा पर शास्त्रीय चर्चा करने का दुर्लभ अवसर सहजभाव से मुझे उदासीन सम्प्रदाय के सर्वमान्य विद्वान् वेदमूर्ति ब्रह्मलीन महामण्डलेश्वर **स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्द जी महाराज** वेददर्शनाचार्य तथा भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान्, न्याय-सांख्य-योग-वेदान्ताचार्य, अवैदिक धारा के भी मर्मज्ञ तथा चित्सुखी, खण्डनखण्डखाद्य और न्यायामृताद्वैतसिद्धि जैसे प्रौढ़ ग्रन्थों के टीका-व्याख्याकार **स्वामी श्री योगीन्द्रानन्द जी** मुनि मण्डल से भी मिला है। उनके सत्परामर्श से भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ। आज दोनों ही महापुरुष हमारे मध्य नहीं हैं, पर उनका कर्तृत्व सभी विद्वानों का मार्ग आलोकित करता आ रहा है और करता रहेगा। इस **'मात्रा-प्रदीप'** टीका के प्रकाशन के अवसर पर उनका पुण्यस्मरण पुण्याहवाचन के समान है।

अमरकंटक के त्यागमूर्ति बाबा **श्री कल्याणदास जी तपस्वी** की स्नेहपूर्ण दिव्य प्रेरणा भी इस सारस्वत अनुष्ठान को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने के लिए प्रेरित करती रही है। उनकी निर्मल आत्मीयता मेरी निधि है। लोकेषणाविरत, काशी की विद्वद्गोष्ठी के रत्न, आदर्श ब्राह्मणत्व के प्रतीक श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सर्वशास्त्रनिष्णात विद्वान् कुलपति **डॉ. नरेन्द्रनाथ जी पाण्डेय** ने न केवल इस **'मात्रा-प्रदीप'** टीका के सुलेखक का गुरुतर दायित्व सम्भाला वरन् समय-समय पर उनसे शास्त्र सम्वर्धन तथा दैनन्दिन पठानी तकाजों में रस्साकसी होती रही। अन्ततः वह हमसे इस

ग्रन्थ को जैसे तैसे पूर्ण कराने में सफल हो ही गये। वस्तुतः बन्धुवर पाण्डेय जी के इतने सक्रिय सहयोग के बिना मात्रा-शास्त्र की **'मात्रा-प्रदीप'** व्याख्या इस रूप में प्रस्तुत हो ही नहीं सकती थी। कृतज्ञता ज्ञापन में भी अलंबुद्धि न होने के कारण हम प्रभुश्री रमणबिहारी के चरणों में उनके सर्वविध मंगल की हार्दिक कामना करते हैं। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के पूर्व मानविकी संकायाध्यक्ष तथा निदेशक स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र, **डॉ. विष्णुदत्त राकेश**, सन्त साहित्य तथा भारतीय धर्म साधनाओं के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उनके ग्रन्थों एवं परामर्श ने भी इस कृति को सर्वांगपूर्णता प्रदान की है। मैं पण्डित 'राकेश' जी के मंगलमय जीवन के लिए श्री रमणबिहारी जी से अनेकानेक प्रार्थनाएँ करता हूँ।

संत साहित्य की परम्पराओं और पारिभाषिक शब्दावली की जानकारी के लिए हिन्दी सन्त साहित्य के प्रथम गवेषक **डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल**, डी.लिट्., **आचार्य परशुराम जी चतुर्वेदी, आचार्य डॉ. हजारी प्रसाद जी द्विवेदी**, विविध धर्म साधनाओं के लिए **डॉ. वाचस्पति गैरोला** तथा सिख पंथ और साहित्य के लिए इस धारा के पंजाबी और अंग्रेजी लेखक **प्रो. गुरुवचन सिंह तालिब** की कृतियों ने भी हमारा मार्ग प्रशस्त किया है। इनके अतिरिक्त भी हम उन सभी ज्ञाताज्ञात कृतिकारों के आभारी हैं, जिनके विचारों ने हमारे सिद्धान्त और साधनानुभूतियों को पुष्ट किया है। मात्रा-शास्त्र का यह विमर्श वैदिक, दार्शनिक मान्यताओं तथा पुराणोक्त धर्मसाधनामूलक तत्त्वों के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त शैव, शाक्त तथा पाञ्चरात्र आगमों, हिन्दू और सूफी माधुर्योपासना तथा जैन-बौद्धागमों के परिप्रेक्ष्य में मात्रा-शास्त्र का मन्थन आवश्यक है। 'आगम-निगम' की कसौटी पर कसे बिना मात्रा का रहस्य और मर्म पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। इस दृष्टि से हमारी मात्रा-शास्त्र पर दूसरी पुस्तक शीघ्र प्रकाशित होगी। यह अभाव सम्प्रदाय और सम्प्रदाय से बाहर के विद्वानों में आज तक सतत चला आ रहा है। आशा है, पूज्य सद्गुरुदेव भगवान् एवं ठाकुर श्री रमणबिहारी जी शुभ संकल्प की पूर्ति के लिए अपना अमोघ अनुग्रह प्रदान कर इस दीनजन को कृतार्थ करेंगे। मध्यकालीन संतमत भारत की इसी विराट् चिन्तनधारा का समन्वयकारी मार्ग है। अन्त में आचार्यश्री

श्रीचन्द्र जी, भगवान् श्री रमणबिहारी जी तथा पूज्य गुरुजनों और कार्ष्णिपीठाचार्यों के चरणकमलों में अपनी सादर, सश्रद्ध और भावपूर्ण प्रणतियाँ समर्पित करते हुए इस आशा और विश्वास के साथ लेखनी को विश्राम देता हूँ—

सदोषमपि निर्दोषं भवत्यग्रे विपश्चिताम्।

गुरुकृपा एवं आचार्यकृपा के भरोसे यह भी दावा करता हूँ कि जो भी जिज्ञासु आचार्यचरणों एवं गुरुचरणों में श्रद्धा, विश्वास एवं समर्पण बुद्धिपूर्वक इसका केवल पारायण मात्र करते रहेंगे, उनके अन्तर्मन में आचार्यकृपा एवं गुरुकृपा से मात्रा-शास्त्र के गूढ़भाव अवश्य ही अवभासित होने लगेंगे।

श्रीचन्द्र-नवमी
10 सितम्बर, 2016
श्री गुरु कार्ष्णि आश्रम
श्री रमणरेती, महावन
मथुरा (उ.प्र.)

स्वामी कार्ष्णि गुरुशरणानन्द

सङ्केताक्षर-सूची

अ.	अध्याय
अ.को.	अमरकोश
अ.व.मं.	अध्याय वल्ली मन्त्र
आ.सेट्	आत्मनेपद सेट्
ईश.उप.	ईशावास्योपनिषद्
उणा.सू.	उणादिसूत्र
ऋ.वे.	ऋग्वेद
ऐत.उप.	ऐतरेयोपनिषद्
काठ.उप.	काठकोपनिषद्
का.सं.	कारिका-संख्या
का.स्मृ.	कात्यायन-स्मृति
केन.उप.	केनोपनिषद्
काम.नी.	कामन्दकीय-नीतिसार
कौषी.ब्रा.	कौषीतकि-ब्राह्मण
ग.पु.	गरुडपुराण
गो.बानी	गोरखबानी
चाण.नी.	चाणक्यनीति
चि.सु.	चित्सुखी
चैत.म.प्र.	चैतन्यमहाप्रभु
छा.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
तत्त्ववै.	तत्त्ववैशारदी
तै.उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्

ते.बि.उप.	तेजोबिन्दूपनिषद्
द्र.	द्रष्टव्य
नृ.ता.उप.	नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्
न्यायसि.मु.	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
पा.सू.	पाणिनीयसूत्र
पृ.	पृष्ठ
प्र.उप.	प्रश्नोपनिषद्
बृ.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रह्मवै.पु.	ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्र.व.अनु.	ब्रह्मवल्ली, अनुवाक
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्र
म.भा.	महाभारत
म.स्मृ.	मनुस्मृति
मा.उप.	माण्डूक्योपनिषद्
मी.सू.	मीमांसा-सूत्र
मु.उप.	मुण्डकोपनिषद्
मैत्राय.उप.	मैत्रायण्युपनिषद्
योगवा.	योगवासिष्ठ
यो.सू.	योगसूत्र
याज्ञ.स्मृ.	याज्ञवल्क्यस्मृति
रघु.म.का.	रघुवंशमहाकाव्य
वा.प., ब्र.का.	वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड
वि.पु.	विष्णुपुराण
वे.परि.	वेदान्त-परिभाषा

शा.भा.	शाबरभाष्य
शां.भा.	शाङ्करभाष्य
श्वे.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्लो.सं.	श्लोक-संख्या
सं.शा.	संक्षेपशारीरक
सां.का.	सांख्यकारिका
सि.कौ.	सिद्धान्तकौमुदी



विषय-सूची

●

मात्रा-प्रदीप

सामान्य परिचय

'मात्राशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध जगद्गुरु भगवान् श्रीचन्द्र[1] जी का उपदेश-संग्रह, जीवों के उद्धार हेतु सूत्रशैली में रचित एक रहस्यमय एवं विलक्षण अतिलघुकाय ग्रन्थ है, जिसमें सूक्ष्मरूप में अत्यन्त गम्भीर आध्यात्मिक रहस्यों का प्रतिपादन किया गया है। आप्तकाम पुरुषों के द्वारा रचित प्रत्येक ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य जीवों के उद्धार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। अतः आचार्यचरणसदृश आप्तकामपुरुष का भी प्रकृत ग्रन्थ की रचना में **'परदुःखप्रहाणेच्छा'** (दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा) के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

यद्यपि [2]आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक रूप से प्रसिद्ध दुःखों के शमन के उपाय, विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित किए गए हैं तथा मात्राशास्त्र भी इन्हीं दुःखों के शमन के उपाय ही बतलाता है, तथापि इसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इसके प्रणयन के उद्देश्य, महत्त्व एवं उपयोगिता को स्वीकार करना पड़ता है। मात्राशास्त्र की विशिष्टता का मूलकारण इसके उपदेष्टा आचार्य जगद्गुरु श्रीचन्द्र जी की अलौकिकता है। दिव्य तेज एवं अलौकिक योगज सामर्थ्य से युक्त आचार्यचरण, भगवान् की ज्ञानकला के मूर्तिमान् स्वरूप थे। अवस्थाकृत विकार का भी प्रभाव उनके योगाग्निमय शरीर पर नहीं था। यही कारण है कि कालचक्र के ऊपर विजय प्राप्त करने वाला उनका पांचभौतिक शरीर, जरा एवं वैवर्ण्य (अवस्था से प्राप्त होने वाली विरूपता) से रहित होने के साथ-साथ तेजोमय एवं आकर्षक था, जिसके कारण उनके दर्शनमात्र से भगवत्-कृपापात्र संस्कार-सम्पन्न जीवों के मन में उनके प्रति सहज आकर्षण एवं अध्यात्म के प्रति जिज्ञासाओं का उदय स्वाभाविक था। यह जिज्ञासाएँ आकस्मिक रूप से व्यक्तिगत स्तर पर उदित प्रतीत होती थीं; किन्तु उनका मूल सार्वभौम होता था, जिसका दिग्दर्शन हमें मात्राशास्त्र में प्राप्त होता है। प्रारम्भ में किया गया प्रश्न, प्रत्येक मनुष्य की शाश्वत जिज्ञासा ही तो है, जिसके द्वारा प्रश्नकर्ता, उस कारण को जानने की इच्छा प्रकट करता है, जिसके चलते निर्विकार ब्रह्मस्वरूप वाला

जीव, सविकार होकर विरूप हो गया। सुख-सागर में दुःख की अनन्त लहरिकाओं का अनुक्षण उदय होने लगा। सबको अवलम्ब देनेवाला ब्रह्मस्वरूप जीव, अपने को निरालम्ब समझने लगा है। यह एक शाश्वत जिज्ञासा है, जो विचार-शक्ति के जागृत होने पर स्वाभाविक रूप से उदित होती ही है। मात्राशास्त्र ऐसी जिज्ञासाओं का समाधान तो प्रस्तुत करता ही है, जीवों के लिए सहज सुख-प्राप्ति का मार्ग भी प्रस्तुत करता है; किन्तु इसके अधिकारी सभी नहीं हैं। 'अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव' इस मात्रा में ऊँकार के जप आदि का विधान, संसार से उपरत मुमुक्षु पुरुषों का इस शास्त्र में अधिकार है, यह सूचित करता है। इसके अतिरिक्त 'इडा में आवे पिङ्गला में धावे, सुसमन के घर सहज समावे' इत्यादि मात्राओं में वर्णित योग की प्रक्रिया, निरन्तर ध्यान की कर्तव्यता सर्वथा नैराश्य आदि ऐसे अनुष्ठेय हैं, जिनको संसार से सर्वथा उपरत मोक्षपरायण जिज्ञासु ही कर सकता है। अतः वेदान्तशास्त्र के अधिकारी और मात्राशास्त्र के अधिकारी दोनों में साधन-चतुष्टय-सम्पत्ति आवश्यक है, यह कहना अत्युक्ति नहीं है। योगशास्त्र के अधिकारी भी मात्राशास्त्र के अधिकारी हैं, क्योंकि योगशास्त्र की दृष्टि से—

गुरु अविनाशी खेल रचाया।
अगम निगम का पन्थ बताया॥

इन मात्राओं का अर्थ, इस तथ्य को स्पष्ट करता है। मात्राओं का आध्यात्मिक अर्थ जिसे हम गूढ़ अर्थ कह सकते हैं, यदि सत्त्व, रज आदि गुणों के वैषम्यनिमित्तक सृष्टि से सम्बद्ध कर किया जाय तो पूर्व मात्रा के द्वारा प्रतिपादित अर्थ से स्पष्ट संगति भी हो सकती है। पूर्व मात्रा में वर्णित तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अलख पुरुष के नाम स्मरण सहित, प्रणवोपासना से 'पुरुष समूह' या जीव समूह का उद्धार करने हेतु अपेक्षित उपदेश की सामर्थ्य आचार्यचरण की दृष्टि से योगचर्या के द्वारा प्राप्त होती है। यह द्रष्टव्य है कि आचार्यचरण अपने गुरुवर अविनाशी मुनि को **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** (मु.उप. 3/2/9) ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार करने वाला ब्रह्म ही होता है, इस श्रुति वाक्य के अनुसार अविनाशी ब्रह्मरूप से वर्णित कर उनके द्वारा सृष्टि रूप अविनाशी खेल का निरन्तर संचालित होना बतला रहे हैं। प्रकृत

मात्रा में अविनाशी खेलरूपी सृष्टि का वर्णन कर जीवों के उद्धार हेतु यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि यद्यपि सृष्टि, पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए है फिर भी पुरुषों की क्रमिक मुक्ति होने से मुक्त पुरुष के प्रति [3]पुरुषार्थशून्यता के कारण गुणों की प्रवृत्ति न होने पर भी अकृतार्थ पुरुषों के भोग एवं अपवर्ग हेतु गुणत्रयात्मक प्रधान की प्रवृत्ति होती रहती है; क्योंकि अकृतार्थ पुरुषों के चित्त का प्रतिप्रसव (कारण क्रम से प्रकृति लय) तब तक नहीं होता जब तक उन्हें प्रकृति, पुरुष की अन्यता की [4]ख्याति (अन्यता या भेद का ज्ञान) नहीं हो जाती। अतएव गुरु का यह अविनाशी खेल जीवों के उद्धारपर्यन्त चलता रहता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अविनाशी शब्द, नित्यता को कहता है तथा सृष्टि के सभी पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण नित्य नहीं हैं। अतः खेल या सृष्टि की अनित्यता की आपत्ति आ रही है, तथापि परिणामि नित्यता और कूटस्थ नित्यता रूप, नित्यता के दो भेद योगशास्त्र में वर्णित रीति से स्वीकार कर इसका समाधान किया जा सकता है।

'क्षणप्रतियोगिपरिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः' (यो.सू. 4/33) के भाष्य में इसके वर्णन का क्रम इस प्रकार है—'द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्। तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्रालब्धपर्यवसानः। शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति'।

भाष्य का आशय यह है—दो प्रकार की नित्यता स्वीकार की जाती है। कूटस्थ नित्यता पुरुष की तथा परिणामि नित्यता गुणों की। कूटस्थ पुरुष जिन्हें सांख्यशास्त्र बहुत कहता है, स्वरूप से प्रच्युत न होने के कारण नित्य हैं; किन्तु परिणामशील गुण तो सर्वदा स्वरूप से प्रच्युत होते रहते हैं, तो उन्हें नित्य कैसे कहा जाय? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि धर्म लक्षण अवस्थारूप परिणाम का उदय तथा व्यय (नाश) होने पर भी धर्मी का तत्त्व से विघात न होने से (धर्मी के सर्वदा त्रिगुणात्मक रहने से) इसकी नित्यता स्वीकार की जाती है।

अतएव कूटस्थ नित्य तथा परिणामि नित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में तत्त्व का अभिघात या नाश न होने से दोनों को ही नित्य कहते हैं। गुणों के कार्यभूत बुद्धि आदि में परिणाम का क्रम, पर्यवसान या अन्त को प्राप्त करता है; क्योंकि बुद्धि आदि धर्मों (गुणों के कार्यों) का विनाश होता है। महत्तत्त्व को बुद्धि कहते हैं जो प्रकृति से उत्पन्न होता है। सांख्यकारिका में **'प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारः'** (का.सं. 22) इत्यादि रूप में प्रकृति के कार्यों की उत्पत्ति का वर्णन है। मुक्तावस्था में महत्तत्त्व आदि सभी उत्पन्न पदार्थ उत्पत्ति के विपरीत क्रम से अपने कारण में लीन होते हैं, अतः उनका विनाश होता है। किन्तु बुद्धि आदि के [5]धर्मी नित्य गुणों में परिणामक्रम (परिणाम का होता रहना) पर्यवसान को नहीं प्राप्त होता; क्योंकि गुणों का विनाश नहीं होता है।

पुरुष की कूटस्थ नित्यता को बुद्धिगम्य बनाने हेतु मुक्त पुरुषों को दृष्टान्त के रूप में लेकर यह स्पष्ट किया गया है कि जो असम्प्रज्ञात-समाधि में सर्ववृत्ति-निरोध के कारण स्वरूप मात्र में प्रतिष्ठित हैं, जिन्हें प्रकृति एवं पुरुष के भेद (विवेक) का ज्ञान हो चुका है, उनमें मोहकल्पित अवास्तव परिणाम स्वीकार किया जाता है; क्योंकि उनके स्वरूप का अस्तित्व क्रम से ही अनुभूत होता है। किन्तु वहाँ अनुभूयमान अस्तित्व पर्यवसान को नहीं प्राप्त करता, पुरुष की सत्ता का भान सर्वदा होता रहता है। अतः 'घटोऽस्ति' आदि वाक्यों से प्रतीयमान 'अस्तित्व' की तरह पुरुष का अस्तित्व कुछ काल के लिए न होकर सार्वकालिक होता है। किन्तु 'अस्ति' आदि शब्द के प्रयोग के कारण वह शब्द प्रयोग के बाद कल्पित होता है, अतः उसमें काल का सम्बन्ध होने से परिच्छिन्नता या पर्यवसान प्रतीत होता है। बद्ध पुरुषों में चित्त के साथ पुरुष के तादात्म्य या अव्यतिरेक का अभिमान होने से चित्त के परिणाम से पुरुष में भी परिणाम का अध्यास होता है; क्योंकि पुरुष अपने को चित्त से पृथक् या अलग नहीं समझता; किन्तु मुक्त पुरुषों में शब्द के साथ अनुभूयमान परिणाम कल्पित है। आशय यह है कि जो भी अनुभव है उसमें [6]शब्दानुवेध रहता है। अतः जीवन्मुक्त पुरुषों में पुरुष आदि कर्तृपदों के पीछे 'अस्ति' पदबोध्य क्रिया अवश्य कल्पित होगी। किन्तु कालपरिच्छेद्यता का भान नहीं होता; क्योंकि वह अपने को चित्त से अलग समझ चुका है। इस प्रकार पुरुष की अविनाशिता के प्रतिपादन से गुरु की अविनाशिता का प्रतिपादन किया गया।

अस्तु, 'गुरु अविनाशी खेल रचाया' इस मात्रा के अनुरूप सृष्टि की अविनाशिता का विचार यो.सू. 4/33 के ही भाष्य में अग्रिम प्रश्न के द्वारा किया गया है—

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति? इस वाक्य का आशय यह है कि सृष्टिकाल एवं प्रलयकाल दोनों में संसार की स्थिति गुणों में है तो वह सर्वदा रहेगा, ऐसी स्थिति में उसके परिणाम क्रम की समाप्ति होगी या नहीं? यह जिज्ञासा है। कैसे संसार उभय काल में गुणों में रहता है? इसे वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि **'स्थित्या महाप्रलयावस्थायां गत्या सृष्टौ'**—महाप्रलय में गुणों की परिणममानता अवरुद्ध हो जाती है, अतः संसार गुणों में स्थिति के द्वारा रहता है। सृष्टिकाल में गुण गतिशील रहते हैं, अतः संसार गुणों में गतिविशिष्ट होकर रहता है। इस प्रकार संसार सर्वदा रहता है, यह स्पष्ट हो जाता है। महाप्रलय में गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति में संसार स्थित रहता है, अतएव सृष्टिकाल में पुनः उत्पन्न होता है। सृष्टिकाल में गुणों में गतिशीलता रहती है; क्योंकि त्रिगुणात्मक पदार्थ सर्वदा परिणाम को प्राप्त करते हैं। इस काल में गति से पदार्थ गुणों में विद्यमान हैं, यह कहा जाता है।

फलतः यह संसार अविनाशी खेल हो गया, ऐसा खेल जिसका विनाश प्रलय में भी नहीं होता, वहाँ भी सूक्ष्मरूप में संसार की अवस्थिति गुणों में होती है। संसार काल में गुणों का परिणाम क्रम चलता रहता है, गुणों के उपचय/अपचय के कारण स्थूलरूप में संसार अनुभूत होता है। यही भोग देता है।

इस अविनाशी खेल से निगम का अगम्य पन्था (अगम निगम का पन्थ) गुरुदेव बतला रहे हैं, अथवा यह कहा जा सकता है कि निगम के द्वारा प्रतिपादित अगम्य मार्ग गुरुदेव बतला रहे हैं। सांख्यशास्त्र की दृष्टि से सृष्टि में ईश्वर का उपयोग नहीं है, अतः गुरु (परमेश्वर) ने यह खेल रचाया है, यह नहीं कहा जा सकता। अतएव सांख्यकारिका में कहा गया है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

(सां.का. 57)

जैसे गोवत्स (गाय का बछड़ा) की पुष्टि हेतु अचेतन क्षीर (दूध) में भी प्रवृत्ति होती है, स्तन में दूध आ जाता है, उसी प्रकार पुरुष के विमोक्ष (पुनः शरीर को न प्राप्त करना) के निमित्त अचेतन प्रधान में प्रवृत्ति होती है। सांख्य सिद्धान्त का समादर, आचार्यचरण 'सृष्टि' की अविनाशिता के अंश में तो करते हैं; किन्तु ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते, उसे नित्य या अविनाशी कहकर अविनाशी सृष्टिरूपी खेल का नियन्त्रक कहते हैं। इतना ही नहीं, मोक्ष-प्राप्ति हेतु अपरिहार्य रूप से ईश्वर सेवनीय है, यह भी कहते हैं, जो योगशास्त्र में तथा अद्वैतवेदान्त में भी स्वीकृत है। मोक्ष पूर्णतः ईश्वर-कृपा-साध्य है, इसे योगशास्त्र, स्वीकार करता है। क्योंकि योगप्रदीप की प्राप्ति ईश्वरानुग्रह से ही होती है। अतएव **'तस्य भूमिषु विनियोगः'** (3/6) इस योगसूत्र में भाष्यकार ने कहा है—**'ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्त-ज्ञानादिषु संयमो युक्तः कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्'**। ईश्वर की कृपा से जिसने उत्तरभूमि का जय कर लिया है उसको अधर भूमि में नीचे की अवस्थाओं में संयम करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अधरभूमि में संयम के प्रयोजन को वह ईश्वरप्रसाद (अन्यतः) से ही प्राप्त कर लेता है। योग की भूमियाँ अवस्थाविशेष हैं, जिनका वर्णन **'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा'** (यो.सू. 2/27) में मिलता है। यह भूमियाँ सात होती हैं तथा इन भूमियों का साक्षात्कार करने वाला पुरुष कुशल कहलाता है। सप्तभूमि प्रज्ञा को प्राप्त करने वाले कुशल का संसार निवृत्त होता है। अन्य का नहीं, यह रहस्य **'अगम-निगम का पन्थ बताया'** इस मात्रा से सूचित हो रहा है। सबके लिए तो गुणों (सत्त्व-रज-तम) का परिणामक्रम समाप्त नहीं होता किन्तु कुशल का समाप्त होता है, यह तथ्य योगसूत्र (4/33) के भाष्य में भी स्पष्ट किया गया है।

भाष्य में कहा गया है—**'अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्त-वानथवाऽनन्त इति। कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येत्य-न्यतरावधारणेऽदोषः'**। यह संसार अन्तवान् है अथवा अनन्त है? यह प्रश्न, विभाग करके उत्तर के योग्य है, अर्थात् व्यक्तिभेद से इसका उत्तर देना चाहिए। कुशल पुरुष, जिसने सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा को प्राप्त कर लिया है उसके संसार-क्रम की परिसमाप्ति हो जाती है, अन्य की नहीं।

इस प्रकार की सप्तभूमि प्रज्ञा की प्राप्ति ईश्वरानुग्रह से [7]चित्ताधिकार की समाप्ति के द्वारा होती है। चित्ताधिकार की समाप्ति के बाद चित्त, अस्मिता और महत्तत्त्व के क्रम से लीन होता हुआ अन्ततः मूल कारण प्रधान में लीन हो जाता है। इस प्रकार कुशल के संसार का लय ईश्वरानुग्रह से होता है, यह योगशास्त्र स्वीकार करता है।

कुशल का संसार समाप्त होता है, क्योंकि वह प्रत्युदितख्याति होता है, उसे सत्त्व (बुद्धि) एवं पुरुष (चेतन) की अन्यताख्याति, भेद का ज्ञान हो जाता है। अन्य लोग बद्ध ही रहते हैं उनके लिए संसार वही रहता है। उनके भोग के लिए गुण विभिन्न रूपों में परिणत होते रहते हैं।

वेदान्त की दृष्टि से भी वाचस्पति मिश्र के मत में अविद्या जीवाश्रित है तथा जीवों में रहने के कारण जीव भेद से अनन्त है। जिस जीव को ज्ञान हो जाता है उसकी अविद्या निवृत्त हो जाती है तथा अविद्या के निवृत्त होने से उसका कार्य प्रपञ्च भी निवृत्त हो जाता है; किन्तु अन्य जीवों की अविद्या नष्ट न होने से उनका प्रपञ्च बना रहता है, बाधित नहीं होता। इस प्रकार संसाररूपी खेल सर्वदा चलता रहता है।

यद्यपि वेदान्तमत, सांख्यमत अथवा मोक्ष स्वीकार करने वाले अन्य मतों में भी यह शङ्का होती है कि क्रम से भी मोक्ष मानने पर कभी ऐसा समय आयेगा जब सभी जीव मुक्त हो जायेंगे तो संसार का भी उच्छेद हो जायेगा। न भोक्ता रहेगा न भोग्य वस्तुएँ रहेंगी? यद्यपि अब तक ऐसा नहीं हुआ; क्योंकि संसार दिखाई दे रहा है। किन्तु जीवों की संख्या निश्चित होने पर उनकी क्रमशः मुक्ति की दशा में कभी न कभी ऐसा होने की सम्भावना की आशङ्का होती है। वाचस्पति मिश्र ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—क्रम से मोक्ष होने पर सबका मोक्ष होने से संसार का उच्छेद होगा, यह अनुमान है, जो आगम के द्वारा सिद्ध होने वाले मोक्ष का आश्रयण करता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले आगम को प्रमाण मानने वाला अनुमान, उसी आगम को प्रधान विकार की नित्यता के अंश में अप्रमाण कर दे। प्रधान विकारनित्यता का आशय है जीवों के भोग के लिए प्रधान के विभिन्न रूपों में परिणत होने पर भी उसका नित्य होना; क्योंकि प्रकृति परिणाम को प्राप्त करने

पर भी नित्य स्वीकार की जाती है। अतः यह कहना होगा कि प्रधान विकार नित्यता का बाध अनुमान से नहीं होगा, ऐसी स्थिति में **'प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारः'** (सां.का. 22) इत्यादि रूप में वर्णित संसार चलता रहेगा तथा आगम से बाधित होने वाला अनुमान प्रमाण नहीं होगा। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि में सृष्टि एवं प्रलय की अनादि, अनन्त परम्परा का वर्णन मिलता है। अतः इस आगम के विरोध में किया जाने वाला अनुमान प्रमाण नहीं होगा। फलतः यह कहना होगा कि कुशल (ज्ञानी) का संसार समाप्त होगा, अन्य का नहीं। इस प्रकार मोक्ष और सृष्टि दोनों का उपपादन् होगा; क्योंकि दोनों ही आगम से सिद्ध हैं।

श्री मिश्र ने अन्य तर्क यह भी दिया है—सभी लोगों की एक साथ मुक्ति नहीं होगी; क्योंकि बहु जन्म परम्परा के आयास से साध्य विवेक-ख्याति से प्राप्त होने वाला मोक्ष सबका एक साथ नहीं होगा। क्रम से मोक्ष कहें तो भी संसार का उच्छेद नहीं होगा क्योंकि जीव अनन्त हैं। अनन्त कहने का आशय है कि उनका अन्त कभी नहीं होगा। इस प्रकार सृष्टि को उन्होंने अनादि, अनन्त सिद्ध किया है (द्रष्टव्य–तत्त्ववैशारदी, यो.सू. 4/33)। बद्ध जीव रहेगा तो उसके भोग हेतु सृष्टि भी रहेगी, इस तर्क से सृष्टि भी अनन्त हो जायेगी। इस प्रकार यह अविनाशी खेल चलता रहता है किन्तु इसको असंदिग्ध रूप से समझने की योग्यता गुरु के निर्देशों के अनुसार चलने पर ही प्राप्त होती है।

प्रकृत में किये गये वर्णन से मात्राशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों की ओर संक्षिप्त संकेत की प्राप्ति होती है, तथा यह भी सूचित होता है कि मात्रा में प्रतिपादित रहस्यों को जानने हेतु वर्णित साधनों का अनुष्ठान करने वाला साधक ही मात्राशास्त्र का उत्तम अधिकारी हो सकता है।

'गुरु अविनाशी खेल रचाया' इस मात्रा में गुरु शब्द से अपर [6]ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) को लें और अपर ब्रह्म के साथ आचार्यचरण के गुरुप्रवर अविनाशी मुनि का अभेद स्वीकार करें, अर्थात् हिरण्यगर्भ ही अविनाशी मुनि के रूप में अवतरित हैं, यह कहें तो उनकी यह सृष्टि है, इस सृष्टि के द्वारा वे अगम निगम का पन्थ बता रहे हैं यह मात्रा का अर्थ होगा। क्योंकि सृष्टि को देखकर ही यह जिज्ञासा होगी कि नश्वर प्रपञ्च में कोई अनश्वर वस्तु है या नहीं? अर्थात् प्रपञ्च को

देखने वाला नित्य साक्षी है या नहीं? तथा इसकी रचना करने वाला कौन है? जिज्ञासा होने पर जिज्ञासु को, जिज्ञासा के शमन के लिए गुरु एवं शास्त्र के सम्पर्क में आना होगा तथा मानव शरीर से गुरु के निर्देश के अनुसार साधन एवं अनुष्ठान करके वह तत्त्व निश्चय को प्राप्त करेगा।

नानकपूता श्रीचन्द बोले। जुगत पिछाणे, तत्त्व विरोले।।

इस मात्रा में तत्त्व-प्राप्ति को मानव के लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार अविनाशी खेल के द्वारा गुरु, निगम के अगम्य पन्थ या मार्ग को बतलाते हैं। इस तथ्य का उपक्रम जिज्ञासा-बोधक प्रश्न वाक्य—

'कहु रे बाल!
किसने मूड़ा? किसने मुड़ाया? किसका भेजा नगरी आया'?

के आगे वर्णित आध्यात्मिक अर्थ के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ वर्णित है कि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ तथा हमारा शरीर भी माया नगरी के समान मिथ्या है। मिथ्यात्व का यह प्रदर्शन **'स्वरूपव्याक्रियैव पराक्रिया'**–किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बता देने से उसका निराकरण हो जाता है–के सिद्धान्त के अनुसार जागतिक पदार्थों की अप्रशस्ति या निन्दा में पर्यवसन्न होता है। मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार निन्दा, निषेध को बोधित करती है। यह निषेध मिथ्याप्रपंच में आसक्ति का है। अतः जो जीव, विपरीत आस्था के कारण शरीर एवं शरीर से सम्बद्ध सांसारिक भोगों के प्रति ही आस्थावान् हैं, उनके लिए इस शास्त्र का प्रयोजन अत्यल्प है। नश्वर शरीर को ही चिरस्थायी समझने के कारण ऐसे लोग इस प्रकार की विपरीत बुद्धि से ग्रस्त हैं, जो विचारशक्ति के उद्बुद्ध होने में बाधक है। विचारशक्ति का उद्बुद्ध या जागृत होना स्वात्मकल्याण के लिए परमावश्यक है। अतः यह शास्त्र तो उन लोगों का उद्बोधन करता है जो **'प्राप्य वरान् निबोधत'**[9] (काठ.उप. 1/3/14) **'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'**[10] (तै.उप. 3/1) आदि वाक्यों से प्रेरणा प्राप्त कर अथवा अन्य किसी प्रकार से प्रबुद्ध होकर, विवेकशक्ति को क्रियाशील कर चुके हैं तथा मनुष्य देह को सार्थक बनाने का प्रयास कर रहे हैं। जागृत होकर क्रियाशील होने का तात्पर्य है सुविचारित एवं निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप हेय और उपादेय वस्तुओं का निर्धारण तथा इस

निर्धारण के अनुसार उनके वर्जन एवं उपादान हेतु सचेष्ट होना। विवेकशील मानव का चरमलक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है। अतः परमात्म-प्राप्ति के अनुकूल आचरण उसका परमकर्तव्य है। इस कर्तव्य के निर्धारित होते ही लक्ष्य के साधक एवं बाधक का निश्चय कर तदनुरूप विचारों एवं वस्तुओं का उपादान (ग्रहण या संग्रह) तथा बाधक विचारों एवं वस्तुओं का हान (त्याग या निवारण) साधक सहज रूप से करने लगता है। लक्ष्य से अतिरिक्त अथवा लक्ष्य के बाधक विचारों एवं वस्तुओं के त्याग का ही नाम वैराग्य है, जो जागरण के लिए सचेष्ट व्यक्ति की सहज पहचान है। यही कारण है कि उसके प्रत्येक आचरण में परतत्त्व के प्रति राग तथा नश्वर संसार के प्रति औदासीन्य अथवा वैराग्य लक्षित होता है। अतएव गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा[11] ॥

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा 92 के बाद)

इस प्रकार के वैराग्य का उदय होने पर कर्म एवं कर्म से प्राप्त होने वाले सांसारिक भोगों के प्रति आसक्तिरहित होकर जीव शाश्वत सुख की खोज प्रारम्भ करता है। वैराग्य जागृत होने के पहले तो विवेक शक्ति के अर्धजागृत होने के कारण जीव, शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ वैध तरीके से भोगों की प्राप्ति के प्रति आशावान् एवं प्रयत्नवान् होता है। वैराग्य एवं विवेक शक्ति दोनों के अभाव में तो वह वासना एवं तज्जन्य स्वाभाविक रागद्वेष से प्रेरित होकर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए उचित अथवा अनुचित प्रत्येक साधन का प्रयोग करता हुआ केवल लक्ष्य प्राप्ति पर दृष्टि रखता है, साधन पर नहीं। इस प्रकार के जीवों को अत्यन्त मूढ़ या मूढ़तम कहते हैं। यह लोग स्वेच्छाचारी होते हैं, जिन्हें शास्त्रीय विधियों[12] से कोई मतलब नहीं होता है। कर्म से भोग की प्राप्ति का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र भी तो ऐसे लोगों को ही प्रेरित करते हैं जो कर्म करनेवाले जीव को शरीर से पृथक् समझकर कर्मों को ही भोग का साधन मानते हुए, शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। किन्तु अज्ञान या विपरीत बुद्धि से प्रसूत असदाग्रह रखने के कारण वस्तुतः यह लोग भी मूढ़ ही हैं। यद्यपि यह ऊपर वर्णित मूढ़तम लोगों से श्रेष्ठ हैं तथापि वैराग्य का उदय न होने के कारण,

यह भी मात्राशास्त्र के पूर्णरूप से अधिकारी नहीं हैं। मात्राशास्त्र तो भोग से वितृष्ण लोगों के लिए भक्ति, योग एवं ज्ञान के रूप में शाश्वत सुख की प्राप्ति के साधनों का वर्णन करता है, अतः इस शास्त्र के अधिकारी वही लोग हैं जो आत्मकल्याण हेतु तत्परता से मार्ग का अन्वेषण कर रहे हैं तथा भोग से उपरत हैं। कर्म से भोग (क्षणिक सुख) की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले, स्वेच्छाचारिता से अपने अभीष्ट की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं।

यह शाश्वत सुख, जिसकी प्राप्ति हेतु साधनों का उपदेश मात्राशास्त्र में मिलता है, आत्मस्वरूप है। श्रीमद्भगवद्गीता[13] (6/21) में इस सुख को बुद्धि मात्र से गृहीत होने वाला आत्यन्तिक सुख कहा गया है। आत्यन्तिक सुख वह सुख है जिसका अन्त नहीं होता। अतएव इसकी प्राप्ति विषय-इन्द्रिय संयोग के अभाव में ही होती है। इन्द्रियातीत अवस्था में प्राप्त होने से इसे अतीन्द्रिय सुख कहा गया है। आचार्यों ने उपर्युक्त गीतावचन की द्वितीय पंक्ति का व्याख्यान करते हुए इसे आत्मस्वरूप कहा है। यह कथन युक्तिसंगत भी है, क्योंकि ऐसा सुख जो विषय-इन्द्रिय संयोग के अभाव में अनुभूत होता है अर्थात् जो हेतुरहित है, जो अन्तहीन (आत्यन्तिक) है तथा सदैव रहता है, वह वस्तुतः आत्मसुख ही हो सकता है। सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) में भी इसी सुख की अनुभूति होती है। वहाँ भी इन्द्रियों का उपयोग नहीं होता फिर भी सोकर उठने के बाद 'मैं सुखपूर्वक सोता रहा कुछ भी जान नहीं सका' इस प्रकार के सुख की स्मृति अतीन्द्रिय सुख के अनुभव को प्रमाणित करती है, क्योंकि 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस प्रकार का स्मरणरूप ज्ञान, पूर्व अनुभव के बिना सम्भव नहीं है। निद्रा के समय अविद्या वृत्ति से आत्म सुख का ग्रहण होना स्वीकार किया जाता है। उपनिषद् ने भी आत्मा को सुख-स्वरूप बतलाया है। **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ.उप. 3/9/28) **'कं ब्रह्म'**[14] (छा.उप. 4/10/4) इत्यादि वाक्य इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

इस प्रकार सुख के दो स्वरूप, नित्य सुख एवं अनित्य सुख हमारे सम्मुख आते हैं। नित्य सुख आत्मरूप है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए विषय-इन्द्रिय संयोग की अपेक्षा नहीं होती वह तो अचंचल या निरुद्ध[15] मन से गृहीत होता है। यह सुख समाधि में गृहीत होता है। इसी सुख की प्राप्ति के लिए मन को मारकर

उस पर सवारी करने की बात आचार्यचरण ने 'मन को मार करो असवारी' इस मात्रा में की है। विषय सुख, जो इन्द्रिय-विषय संयोग से मन के वासनामय होने पर अभिव्यक्त होता है, यद्यपि अनित्य है तथापि पूर्वजन्मों में अनुभूत होने के कारण सभी प्राणी उसकी प्राप्ति की कामना करते हैं। अतएव कहा गया है[16]—

'सुखन्तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते'।

(न्यायसि.मु., का. 145)

इस वचन में प्रयुक्त 'जगत्' शब्द सभी चेतन प्राणियों का बोधक है; क्योंकि कामना चेतन प्राणी ही करते हैं, अचेतन नहीं। प्राणिमात्र के काम्य (कामना के विषयभूत) इसी सुख की प्राप्ति के साधनों का वर्णन करने के कारण वेद, वेदमूलक स्मृतियाँ, पुराण तथा वेदानुसारी शास्त्र एवं सन्त वचन आदि सार्थक हैं। इन्हीं सुख-साधनों का वर्णन करने के कारण शास्त्र, जीवों के लिए उपयोगी भी हैं; क्योंकि शास्त्रों में नित्य सुख एवं अनित्य सुख दोनों की ही प्राप्ति के उपाय वर्णित हैं।

विषय-इन्द्रिय संयोग से अभिव्यक्त होने वाला अनित्य सुख, विषयों के भेद से नाना प्रकार का होता है, जैसे—स्त्रीसुख, पुत्रसुख, पितृसुख, मातृसुख आदि। अतः इन सुखों की प्राप्ति के साधन भी नाना हैं, जैसे पुत्र के न होने पर पुत्रसुख की प्राप्ति हेतु पुत्रेष्टि याग का विधान है। शत्रुबध के लिए श्येनयाग का विधान है। इसे अभिचार प्रयोग भी कहते हैं। जिसका विधान **'श्येनेनाभिचरन् यजेत'** (द्रष्टव्य–मी.सू. 2/1/1, शा.भाष्य) अभिचार या शत्रुमारण हेतु श्येन याग करना चाहिए, इस वाक्य के द्वारा किया गया है। अथर्ववेद में तो कामनापूर्ति के लिए सैकड़ों उपाय बताए गए हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न सुखों की प्राप्ति के साधन भी भिन्न-भिन्न हैं।

मात्राशास्त्र में अनित्य सुख अथवा विषय सुखों की प्राप्ति के साधनों का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि इनकी प्राप्ति जीवों को बन्धन में डालती है। बन्धन का तात्पर्य अज्ञान-पूर्वक शरीर प्राप्ति अर्थात् जन्म है, जो वैषयिक सुखों की प्राप्ति हेतु अपरिहार्य है। वैषयिक सुख बन्धन के कारण हैं, अतः आचार्यचरण ने इनको उत्कृष्ट सुख न मानकर इनकी उपेक्षा करते हुए, जीवों के उद्धार हेतु, नित्य सुख की प्राप्ति के साधनों का ही वर्णन मात्राशास्त्र में किया है।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के रूप में प्रसिद्ध चार पुरुषार्थ इन्हीं सुखों से सम्बद्ध होने के कारण, पुरुष की कामना के विषय होते हैं। धर्म के द्वारा हम नित्य सुख एवं अनित्य सुख दोनों प्राप्त करते हैं, यथा—पशु, पुत्र आदि की इच्छा होने पर धर्म का आचरण उनकी प्राप्ति कराता हुआ हमें सुख देता है। किन्तु निष्काम होकर, कर्त्तव्य बुद्धि से किया गया धर्म का अनुष्ठान अन्तःकरण की शुद्धि का कारण बनकर ज्ञान के द्वारा परम्परया मोक्ष की प्राप्ति का साधन है[17]। इस प्रकार धर्म अनित्य सुख की प्राप्ति में साक्षात् कारण है तथा नित्य सुख की प्राप्ति में परम्परया कारण है। अर्थ (सुख प्राप्ति के उद्देश्य से संगृहीत सामग्री धन, भूमि आदि) अनित्य सुख की प्राप्ति में साक्षात् साधन है। काम[18] कामना का विषय पदार्थ अथवा रति आदि को विषय करने वाली इच्छा, स्त्रक् (माला) चन्दन, वनिता (स्त्री) आदि से सम्बद्ध सुख का साधन है। मोक्ष रूप चतुर्थ पुरुषार्थ का सम्बन्ध सांसारिक विषयजन्य सुखों से नहीं है। नित्य सुख की अभिव्यक्ति तो दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति से होती है, अतः मोक्ष नित्य सुख से सम्बद्ध है।

मोक्ष को कैवल्य या मुक्ति शब्द से भी बोधित किया जाता है। कैवल्य की अवस्था असंगता की अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद जीवन-काल में भी व्यक्ति सांसारिक पदार्थों के आकर्षण से दूर रहकर आत्मसुख या नित्य सुख की समाधि अवस्था में पूर्ण अनुभूति करता है। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था कही जाती है, जिसका वर्णन आचार्यचरण ने 'मुक्ता फिरै बन्ध नहिं कोई' इस मात्रा में किया है।

कैवल्य की दूसरी अवस्था विदेह-मुक्ति की अवस्था है। यही अवस्था, मोक्ष शब्द से प्रधान रूप से बोधित होती है क्योंकि शरीर के न होने से इस दशा में अनित्य भौतिक वैषयिक सुख या दुःख की अभिव्यक्ति की सम्भावना ही नहीं होती। विदेह कैवल्य या नित्यसुखाभिव्यक्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति, मात्रा-शास्त्र में वर्णित साधनों के अनुष्ठानों से होती है। अतएव मात्रा के अन्त में कहा गया है—

ऐसी मात्रा ले पहिरे कोय।
आवागमन मिटावै सोय॥

आचार्यचरण ने मात्रा को पहनने का परामर्श देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि मात्रा शब्द के विभिन्न अर्थों में से कर्णाभूषण रूप अर्थ विशेष रूप से उन्हें ग्राह्य है। जैसे कर्णाभूषण अन्य आभूषणों की अपेक्षा परिमाण में लघु होता है, उसी प्रकार मात्राशास्त्र का कलेवर भी लघु होने से कर्णाभूषण की समता प्राप्त कर रहा है। स्त्री एवं पुरुष दोनों ही कर्ण का आभूषण धारण करते हैं, जिससे उसकी सर्वग्राह्यता व सर्वोपकारकता सूचित होती है। अतः मानव मात्र का उद्धार करने के कारण मात्रा को कर्णाभूषण मानना उचित है।

'मात्रा' शब्दार्थ विचार

मात्राशास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ पर विचार के पूर्व मात्रा शब्द के विभिन्न सम्भावित अर्थों पर विचार करना तथा प्रकृत शास्त्र में कौन सा अर्थ अधिक समीचीन होगा, इस पर विचार करना प्रासंगिक रूप से अत्यावश्यक है। इससे आचार्यचरण की दृष्टि का औचित्य भी सिद्ध होगा। किसी भी शब्द के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। 'मा' धातु एवं 'त्रा' प्रत्यय के योग से मात्रा शब्द बना है। 'माङ्' माने (जु.आ. अनिट्) धातु से उणादि सूत्र **'हुयामाश्रुभिभ्यस्त्रन्'** (4/168) से 'त्रन्' प्रत्यय करके अथवा **'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्'** (4/159) से 'मा' धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय करके अनित्यः षितां ङीष्—षित्व प्रयुक्त ङीष् के अनित्य होने से स्त्रीलिंगबोधक टाप् प्रत्यय करने पर मात्रा शब्द निष्पन्न होगा, जो मान या परिच्छेदन के कर्म को कहेगा। 'यतः मीयते इति मात्रा' इस कर्म व्युत्पत्ति में मात्रा शब्द सिद्ध हुआ है। यदि माति इति 'मा' इस व्युत्पत्ति में क्विप् प्रत्यय अथवा अच् प्रत्यय करके (पचाद्यच्) मायावाचक मा शब्द की निष्पत्ति की जाय तथा 'मायातस्त्रायते' (जो माया से रक्षा करे) इस व्युत्पत्ति में **'सुपि स्थः'** (पा.सू. 3/2/4) सूत्र में सुपि योग विभाग से अर्थात् 'सुपि' सूत्र से सुबन्त उपपद रहते आदन्त 'त्रा' धातु से 'क'[19] प्रत्यय किया जाय तो धातु के आकार का लोप एवं टाप् करके मात्रा शब्द की सिद्धि होगी, जो मायातरण के साधन को स्पष्टतया अभिहित करेगा।

मात्राशब्द के विभिन्न अर्थों में प्रयोग को कोश निम्न रूप में प्रमाणित करते हैं—

मात्रं त्ववधृतौ स्वार्थे कात्स्न्यें मात्रा परिच्छदे।
अक्षरावयवे द्रव्ये मानेऽल्पे कर्णभूषणे॥
काले वृत्ते च-(हैम-2/459-460)

तथा—

मात्रा कर्णविभूषायां वित्ते माने परिच्छदे।
अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीबं कात्स्न्येंऽवधारणे॥
(मेदिनी कोश)

हैमकोश के अनुसार मात्रा शब्द के परिच्छद, अक्षरावयव, द्रव्य, मान, अल्प, कर्णाभूषण, काल और वृत्त अर्थ प्रसिद्ध हैं। इन अर्थों की मात्राशास्त्र के साथ संगति का विचार किया जाय तो परिच्छद और कर्णाभूषण ऐसे अर्थ हैं जो आचार्यचरण के द्वारा उक्त मात्रा की धार्यता को सुसंगत करते हैं। परिच्छद शब्द 'परितः सर्वतः छादयति' इस विग्रह में निष्पन्न होकर सर्वतः शरीर का वेष्टन करने वाले वस्त्र कवचादिरूप वेष्टन को कहेगा। सम्पूर्ण शरीर का वेष्टन बनकर मात्रा, शीत-वात-औष्ण्य आदि के समान प्रतिकूल परिस्थितियों में साधक को तितिक्षा की सामर्थ्य के द्वारा सहज रूप में सहन की शक्ति देकर शरीर की रक्षा तो करेगा ही, मन का भी वेष्टन बनकर उसकी अशुभ एवं निषिद्ध चिन्तन शक्ति का निरोध करेगा तथा कामादि के प्रतिघातों से उसकी रक्षा कर उसे ध्यान-परायण बनायेगा। मात्रा शब्द का कर्णाभूषण अर्थ भी संगत है; क्योंकि जैसे कर्णाभूषण के धारण से शरीर का सौन्दर्य वृद्धि को प्राप्त करता है और मन को मोद होता है, उसी प्रकार मात्रा के श्रवण से दोनों श्रोत्र सार्थक हो जाते हैं और मात्रा के सूत्राक्षरों का परिशीलन कर तदनुसार वाङ्मनःकाय कर्मों का नियमन करने पर स्वरूपावाप्ति होती है। इस प्रकार मात्राशास्त्र बन्धनभूत माया से तरण का साधन बन जाता है।

मात्रा शब्द का अल्प अर्थ स्वीकार करने पर अत्यल्प शब्दों में निबद्ध यह शास्त्र मात्राशास्त्र कहलायेगा। इस प्रकार अल्प शब्दों में अधिक अर्थों को कहने के कारण मात्राशास्त्र के वाक्यों को सूत्र भी कहते हैं। क्योंकि—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

जो अल्प अक्षरों से बना हो, जिसके प्रतिपाद्य विषय में संशय न रह जाता हो, जो तत्त्व का प्रतिपादन करता हो, जिसके बहुत से प्रयोजन होते हों, जो अस्तोभ (बाधरहित गति वाला) और अनवद्य (अगर्ह्य) अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति करने के कारण निन्दा का विषय नहीं हो उसे, सूत्र-लक्षण को जानने वाले सूत्र शब्द से अभिहित करते हैं। यह सूत्र का लक्षण मात्रा में घटता है। स्तोभ शब्द गति-निरोध को कहता है, अतः अस्तोभ शब्द से यह अर्थ प्रतिपादित होगा कि जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए सूत्र का प्रयोग किया जा रहा है उसके निष्पादन की उसकी सामर्थ्य विघ्नित या विलम्बित न हो सके। इस प्रकार सूत्र, स्तोभरहित होता है। परिच्छद अर्थ भी पहनने के अर्थ में संगत हो सकता है किन्तु कर्णाभूषण विशेष संगत अर्थ है।

मात्रा शब्द का अपर अर्थ जो उसमें वर्णित विषयों के अनुरूप कहा जा सकता है—**'मायातस्त्रायते इति मात्रा'** इस व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति में पूर्व प्रदर्शित रीति से प्राप्त होता है। इसके अनुसार मा (माया) से जो रक्षा (त्राण) करे वह मात्रा है। माया से उत्पन्न यह सम्पूर्ण संसार, प्रकृत प्रसंग में माया शब्द से कहा जा रहा है। इसी दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन्द्रियों के विषयों के साथ-साथ इन्द्रियों को भी माया[20] कहा है।

गो गोचर जंह लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥

(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा 14 के बाद)

किन्तु मात्रा शब्द का यह अर्थ स्वीकार करने पर कई प्रश्न मन में उठने लगते हैं। चेतन प्राणियों के शरीर के अवयव के रूप में प्रसिद्ध ज्ञानेन्द्रियों (चक्षु, श्रोत्र, त्वग्, रसन, घ्राण) तथा कर्मेन्द्रियों (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, जो मायाशब्द वाच्य हैं,) से किसकी रक्षा मात्रा के द्वारा की जा रही है। रक्षा का तात्पर्य क्या है? तथा शरीर जो इन्द्रियों का आश्रय है, सभी साधनों के अनुष्ठान का साधन है, उसकी माया से रक्षा का अभिप्राय क्या है? विषय, जो आहार के रूप में शरीर एवं इन्द्रियों का पोषण कर रहे हैं, विभिन्न सुख-साधनों के रूप में शरीर को सुख देते प्रतीत होते हैं, वे किस रूप में पीड़ा दे रहे हैं कि उन्हें अहितकर मानकर उनसे रक्षा की बात की जा रही है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर

मात्राशास्त्र में मिलता है, जिससे हमारी जिज्ञासाओं का शमन तो होता ही है, मात्राशास्त्र किस प्रकार माया से जीवों की रक्षा करता है, यह भी स्पष्ट होता जाता है।

इन जिज्ञासाओं का समाधान मात्राशास्त्र के व्याख्यान के प्रसंग में विस्तार से होगा किन्तु प्रकृत में सूक्ष्म रूप में केवल इतना ही कहना प्रसंगानुकूल लगता है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान) तथा मन, बुद्धि से युक्त चेतन, जिसे जीव कहा जाता है, की ही संसार से रक्षा या त्राण का उपाय मात्राशास्त्र बतलाता है। यह उपाय दो प्रकार के हैं।

मनुष्य आदि शरीर प्राप्त करने वाले उक्त चेतन (जीव) की संसार से रक्षा के उपाय तथा मनुष्यादि शरीर की प्राप्ति को रोकने वाले उपाय, जिससे आगे चलकर पुनः जन्म न हो। चेतन की संसार से रक्षा का उद्देश्य उसे विषय-चिन्तन से बचाना है; क्योंकि विषयों का ध्यान करते-करते अन्त में वह नष्ट हो जाता है[21]। श्रीमद्भगवद्गीता (2/62-63) में यह स्पष्ट किया गया है कि विषयों का चिन्तन पुरुष को विवेकशून्य बनाकर उसे पुरुषार्थ-प्राप्ति के अयोग्य कर देता है; क्योंकि विहित कर्मों का अनुष्ठान अथवा आत्मतत्त्व का चिन्तन न कर पाने के कारण वह धर्म अथवा मोक्ष कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता। यह सब कुछ मन की विषयपरायणता में होता है। नष्ट होने का तात्पर्य वस्तुतः परम पुरुषार्थ प्राप्त करने की योग्यता का न रह जाना है। जब तक अन्तःकरण में कार्य एवं अकार्य का विवेक रहता है, अर्थात् क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए, इस रूप में कर्तव्य एवं अकर्तव्य में भेद करने की क्षमता होती है, तब तक ही मनुष्य पुरुषार्थ प्राप्ति के योग्य होता है; क्योंकि वह विधि[22] का पालन तथा निषेध का परिवर्जन करता हुआ अपनी इच्छा के अनुरूप फल की प्राप्ति ईश्वरानुग्रह से करता है। अतएव जब मुमुक्षु सांसारिक भोगों को कष्टदायक तथा संसार को अनित्य समझ लेता है तो वह अनित्य फल की कामना नहीं करता; किन्तु सुख-रूप मोक्ष के प्रति आसक्त हो जाता है तथा अनासक्त भाव से मोक्ष-प्राप्ति-हेतुभूत साधनों का अनुष्ठान करता है।

मात्राशास्त्र में मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले साधनों का प्राधान्यतः वर्णन है[23]। मोक्ष का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में होने के कारण इसका अध्ययन वही करेगा जो मोक्षविषयक जिज्ञासा रखता है। अतः मुमुक्षुजन इसके अधिकारी हैं। ग्रन्थ के अध्ययन का फल मोक्ष एवं मोक्ष-साधनों का ज्ञान है। ग्रन्थ का अपने विषय के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध होता है, जो प्रकृत में भी मात्राशास्त्र एवं मोक्षरूप विषय का है। इस प्रकार विषय, अधिकारी तथा सम्बन्ध एवं प्रयोजन का प्रतिपादन होने से अनुबन्ध-चतुष्टय की उपपत्ति हो जाती है।

मायारूपी मल के सम्बन्ध से रहित निर्मल सुखस्वरूप स्वतन्त्र चेतन माया सम्बन्ध को प्राप्त कर दुःखी होता हुआ परतन्त्रता का अनुभव किस कारण करने लगा, यह आशय प्रारम्भिक प्रश्न-वाक्य से स्पष्टतया संकेतित होता है, जिसकी चर्चा यथावसर मात्रा के अर्थ-विचार के प्रसंग में की जायेगी। मात्रा के अन्तिम वाक्य में बन्धन से मुक्ति का प्रतिपादन है। अतः उपक्रम एवं उपसंहार रूप ज्ञापक कारण (लिंग) से यह सिद्ध होता है कि मात्राशास्त्र का प्रतिपाद्य अर्थ वस्तुतः मोक्ष एवं मोक्ष के साधन ही हैं।

स्पष्ट ही है कि मोक्ष के साधन क्या हैं? अथवा मोक्ष का स्वरूप क्या है? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के पहले बन्धन का कारण क्या है? तथा उसका स्वरूप क्या है? यह जानना आवश्यक है; क्योंकि बन्धन के कारणों की निवृत्ति या अभाव होने पर बन्धन का अभाव सुनिश्चित होगा और बन्धन के अभाव में मोक्ष सुख की अनुभूति अवश्य होगी। बन्धन दुःख का सूचक है; क्योंकि बन्धन-काल में दुःख की अनुभूति होती है। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त है कि दुःख के कारणों की निवृत्ति होने पर सुख की प्राप्ति वैसे ही अवर्जनीय है, जैसे भार (बोझ) के निवृत्त होने पर भारवाहक की सुख-प्राप्ति। इसी दृष्टि को रखते हुए आचार्यचरण ने बन्धन या दुःख की प्राप्ति के कारण को सर्वप्रथम जिज्ञासा के माध्यम से व्यक्त किया है, जिसे हम इस मात्रा का व्याख्यान करते समय स्पष्ट करेंगे। किन्तु मात्रा का व्याख्यान प्रारम्भ करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मात्रा में जितने भी वाक्य हैं, उनके अर्थ प्रायः प्रसंगानुकूल होने के कारण संगत या समीचीन (उपयुक्त) तो होते हैं; किन्तु उपदेष्टा का तात्पर्य आध्यात्मिक अर्थों में ही है लौकिक अर्थों के वर्णन में नहीं, यतः लौकिक अर्थ

तो मात्राशास्त्र के अध्ययन के बिना ही पहले से ही ज्ञात हैं अथवा अज्ञात भी हों तो उनको जान लेने से मुमुक्षु जिज्ञासुओं का कोई उपकार नहीं होता है। संसार से विरक्त मुमुक्षु जिज्ञासुओं का उपकार तो आध्यात्मिक अर्थ से ही होता है। अतः यही कहना उचित है कि इनका प्रयोग दृष्टान्त के रूप में आध्यात्मिक अर्थों के अवबोधन के लिए ही होता है।

मात्राशास्त्र के अध्ययन के समय यह भी अवधेय है कि इसमें जिज्ञासासूचक प्रश्नवाक्य अत्यल्प हैं। अधिकांश जिज्ञासाओं का मूल तो उत्तर-वाक्य में ही मिलता है। गणनापूर्वक यदि वाक्यों का उल्लेख किया जाय तो प्रथम सम्बोधन वाक्य के अनन्तर आने वाले केवल तीन वाक्य ही जिज्ञासा-सूचक हैं, शेष सभी उत्तर-वाक्य हैं, जिनके अनुसार प्रश्नों की कल्पना की जा सकती है। प्रश्नों की कल्पना भी उत्तर-वाक्यों के तारतम्य को द्योतित करने के लिए आवश्यक है; क्योंकि वे जिज्ञासा को सूचित करते हैं।

मात्रा में उल्लिखित सम्बोधन वाक्य तथा तीन प्रश्न वाक्य—

कहु रे बाल!

किसने मूँडा? किसने मुँडाया? किसका भेजा नगरी आया?

के रूप में व्यवस्थित हैं। इनमें प्रथम वाक्य से बाल संन्यासी को जिज्ञासुगण अपनी ओर अभिमुख करते हैं; क्योंकि जिज्ञासुओं की ओर ध्यान न देने वाला समाधानकर्ता प्रायः समुचित उत्तर नहीं दे पाता तथा अपनी ओर उन्मुख न होने वाले व्यक्ति के उत्तर से जिज्ञासुओं को सन्तुष्टि भी नहीं होती। अतः बालयति को अपनी ओर उन्मुख करना तो आवश्यक है; किन्तु अभिमुखीकरण हेतु प्रयुक्त वाक्य प्राथमिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं प्रतीत होता; क्योंकि यह 'रे' सम्बोधन से घटित है। मात्राशास्त्र में बन्ध, मोक्ष, जीव, ब्रह्म, माया, योग, भक्ति आदि के जिन गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया गया है, उनका चिन्तन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिन जिज्ञासुओं को आध्यात्मिक रहस्य समझाने के लिए मात्राशास्त्र के उपदेश वाक्यों का उच्चारण भगवान् श्री श्रीचन्द्र ने किया है उनका बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा है कि वे उपदेश को धारण कर उसे आचरण में लाने में समर्थ हैं। इतना ही नहीं, वे परम वैराग्य सम्पन्न आग्रहहीन यतिगण हैं, जो संसार का त्याग कर परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयास कर रहे हैं। अतः ऐसे

यतियों के द्वारा बाल संन्यासी के लिए 'रे' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है? इस पर विचार प्रारम्भ करते हुए उस परिस्थिति का आकलन करना प्रासंगिक है, जिसमें यह प्रश्न हो रहा है; क्योंकि सम्बोधनार्थक वाक्य भी अन्य वाक्यों की तरह प्रयोग करनेवाले के मनोभाव से नियन्त्रित होते हैं।

प्रकृत प्रसंग में अत्यन्त कम उम्रवाले बालयति के प्रति अवज्ञा या तिरस्कार का भाव यतियों के मन में है; क्योंकि वे ज्ञानमार्ग की कठिनाइयों से परिचित हैं। ज्ञान मार्ग की दुर्गमता का संकेत श्रीमद्भागवत में करते हुए जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः न्यासिनामिह कर्मसु'।

(श्रीमद्भाग. 11/20/7)

ज्ञान का मार्ग केवल उन लोगों के लिए विहित है जो कार्य-कारणात्मक संसार से, अर्थात् अत्यन्त दुस्त्यज अभीष्ट फल की इच्छा तथा तदनुकूल कार्य-सम्पादनार्थ उपायानुष्ठान से सर्वथा विरत होकर विधिपूर्वक कर्म का त्याग कर चुके हैं। फलाकांक्षा को सर्वथा छोड़कर उसकी प्राप्ति हेतु विहित कर्म का त्याग करने वाला कोई अत्यन्त विरला व्यक्ति ही ज्ञानमार्ग का पथिक हो सकता है। सर्वसाधारण के लिए यह मार्ग तो स्वप्न मनोरथ तुल्य ही है। यह भगवान् का आशय है, इससे ज्ञानमार्ग की दुर्गमता स्पष्ट है। यतिगण यह भी जानते हैं कि अवस्था की परिपक्वता के बिना संन्यास धर्मों का पालन सामान्य मनुष्य से सम्भव नहीं है। यतः अपरिपक्वता में पतन की संभावना अधिक है। इन्हीं मनोभावों से उद्वेलित होकर बालक को संन्यास का अधिकारी न मानते हुए तिरस्कारपूर्वक बोल पड़े—अरे बालक! बताओ, तुमको संन्यास किसने दिया। यद्यपि क्रियावाचक शब्द 'कहु' का पूर्व प्रयोग नहीं होना चाहिए; क्योंकि वाक्य में क्रिया का प्रयोग प्रायः बाद में ही होता है। तथापि उसका पूर्व प्रयोग यतियों की उत्तर सुनने की त्वरा को सूचित कर रहा है, यह मान लेने पर असंगति दूर हो जाती है। ऐसा देखा जाता है कि विधेय अर्थ को असंदिग्ध रूप में झटिति बोधगम्य बनाने हेतु भी वक्ता क्रिया शब्द का प्रायः पूर्व प्रयोग किया करते हैं। श्रीमद्भागवत के पृथु चरित को देखने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। राजा पृथु

ने पृथ्वी का वध करने का संकल्प लेते हुए कहा—**'वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम्'** (4/17/22) वसुधे! मैं तुम्हारा वध करूँगा; क्योंकि तुम मेरी आज्ञा का पालन नहीं कर रही हो। इसके अनन्तर पृथ्वी के उत्तरवाक्यों **'सन्नियच्छाभितो मन्युं निबोध श्रावितं च मे'** (4/18/2) में दो बार क्रियावाचक पद का पूर्व प्रयोग हुआ है, जिसके द्वारा उद्यतासि पृथु के क्रोध-संहरण तथा धरित्री के उच्चरित वचनों के श्रवण पर बल दिया जा रहा है। इसी प्रकार 'कहु' के पूर्व प्रयोग से बालक के द्वारा उत्तर के रूप में उच्चरित वाक्यों के श्रवण की उत्कण्ठा का ध्वनन हो रहा है।

'बाल' शब्द आगे वर्णित रीति से ब्रह्म का वाचक है; किन्तु लौकिक दृष्टि से अज्ञता का सूचक है; क्योंकि बालक विवेकहीन होते हैं। ऐसी ऐतिहासिक प्रसिद्धि है कि आचार्य श्रीचन्द्र जी के पांचभौतिक शरीर पर अवस्था का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता था। 125 वर्ष की परिपक्व आयु में भी वे बालक की तरह प्रतीत होते थे। यह उनकी योगचर्या का परिणाम था। यौगिक प्रक्रियाओं के द्वारा अवस्था के प्रभाव को दूर करने के अन्य भी उदाहरण पुराणों में मिलते हैं। ब्रह्मा जी के मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार सदा पाँच वर्ष की अवस्था वाले बालकों के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। शुकदेव जी द्वापर के प्रारम्भ में अपने पिता एवं गुरु व्यास जी से भागवत का अध्ययन किये थे; किन्तु द्वापर के अन्त में भी उनके शरीर की ऐसी आकर्षक स्थिति थी कि परीक्षित को उपदेश देने के लिए जब वह गंगा के तट पर पहुँचे हैं तो स्त्रियाँ और बालक समूह में आकृष्ट होकर उनके पीछे चल रहे थे[24]। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अवस्था का प्रभाव शरीर पर अवश्य दिखाई ही देगा। यही कारण है कि प्रश्न करने वाले महात्माओं ने आचार्यचरण को 'बाल' शब्द से सम्बोधित किया। सोलह[25] वर्ष की अवस्था तक बाल्यावस्था स्वीकार की जाती है। किन्तु 'रे' शब्द का प्रयोग अत्यधिक तिरस्कार को सूचित करता हुआ अवस्था की अति न्यूनता को भी द्योतित करता है। इसी से यह मालूम पड़ता है कि यतियों को आचार्यचरण की आयु बहुत कम मालूम हो रही है। इस सम्बोधन में प्रयुक्त बाल शब्द का आध्यात्मिक दृष्टि से युक्तिसंगत अर्थ **'वम् अमृतम् अलं पर्याप्तं यस्य असौ बालः'** अथवा **'वम् अमृतम् अलं भूषणं यस्य असौ'** इस व्याकरणसम्मत समास के द्वारा अमृत या विनाशरहित है, जिसका उपयोग आगे

प्रश्न-वाक्य के आध्यात्मिक अर्थ के विचार के समय विशेष रूप से होता है। अथवा बाल शब्द का अर्थ विकार को प्राप्त करने वाला हो सकता है[26]। **वल सञ्चरणे धातु से कर्म अर्थ में घञ्-प्रत्यय अथवा कर्ता अर्थ में ण-प्रत्यय करके (ज्वलति कसन्तेभ्यो णः)** बाल शब्द की सिद्धि अमरकोश (2/6/95) की व्याख्या में दी गयी है। **'वालस्तु स्यान्माणवकः'** (अमरकोश 2/6/42) में 'बाल' शब्द की यही व्युत्पत्ति मिलती है। अतः वल संचलने (आ. सेट्) धातु से घञ् (**'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'** 3/3/19) करके **'वल्यते इति वालः'** इस कर्म व्युत्पत्ति में 'वाल' शब्द बनेगा अथवा **'वलते संचरति इति वालः'** जो संचरण करे वह वाल है। इस कर्तृ व्युत्पत्ति में 'ण' प्रत्यय करके 'वाल' शब्द सिद्ध होगा। यह संचरण करने वाले या नाना रूपों में वृद्धि करने वाले 'ब्रह्म' का बोधक होगा। यह वकारादि रूप है, अर्थात् 'बाल' के आदि में 'व' है।

'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' (2/6/95) में बल प्राणने धातु से पूर्व की तरह ही ण और घञ् प्रत्यय करके, **'बलति बल्यते वा बालः'** इस रूप में 'बाल' शब्द की सिद्धि दी गयी है। यह पवर्गीयादि 'बाल' शब्द है। अतएव रामाश्रमी टीका में लिखा है—

'बालो ना कुन्तलेऽश्वस्य गजस्यापि च बालधौ, नारिकेरे हरिद्रायां मल्लिकाभिद्यपि स्त्रियाम्। वाच्यलिङ्गोऽर्भके मूर्खे ह्रीवेरे पुंनपुंसकम्। अलंकारान्तरे मेध्ये बाली बाला त्रुटिस्त्रियोः इति पवर्गीयादौ' मेदिनी। इस प्रकार वकारादि तथा बकारादि दोनों प्रकार के 'बाल' शब्द की सिद्धि बोधित होती है। इस कोश के अनुसार बाल भी बालक का बोधक है।

सञ्चलन शब्द से यदि स्वरूप से गिरना अथवा विकार को प्राप्त होने का भाव लिया जाय तो ब्रह्म अपने स्वरूप से प्रच्युत होता है या विकार को प्राप्त होता है, यह अर्थ कर्ता अर्थ में निष्पन्न 'बाल' शब्द से तथा विकार का कर्म, यह अर्थ, कर्म अर्थ में निष्पन्न 'वाल' शब्द से लिया जा सकता है; क्योंकि **'सच्च त्यच्चाभवत्'**—वह ब्रह्म मूर्त और अमूर्त सभी रूपों में हुआ (तै.उप., ब्र.व., अनु. 6) यह श्रुति ब्रह्म को मूर्त या विकारी रूप में विवृत होना बताती है। **'वम् अमृतम् अलं पर्याप्तं यस्य असौ वालः'** इस समास में भी 'वाल' शब्द

वकारादि सिद्ध होगा। अतः 'वाल' शब्द के आदि में 'ब' होने पर 'बल सञ्चलने' धातु से तथा 'व' आदि में होने पर उसे अमृतबीज 'व' से भी सिद्ध किया जा सकता है। यह अवधेय है कि **'बवयोरैक्यम्'** (द्र.–उणा.सू. 561, सि.कौ.) इस प्रमाण से ववर्ण तथा बवर्ण में परस्पर एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग साधुत्वेन स्वीकृत है। यह अभेद 'व' और 'ब' के उच्चारण सांकर्य को देखते हुए प्रसिद्धि को प्राप्त है। विश्वविश्रुत योगीश्वर श्री गोरखनाथ जी ने 'बाल' शब्द का ब्रह्म अर्थ में प्रयोग किया है। **'बाल बासंत तहां प्रगट्या षेलं, द्वादशअंगुल गगनघरि मेलं** (द्र. गोरखबानी, सबदी 117, पृ. 61)। प्रकृत प्रसंग में 'बाल' शब्द अमृतस्वरूप ब्रह्म, जो विकृत होता है तथा बालक दोनों का बोधक हो सकता है; क्योंकि रहस्य प्रतिपादन की दृष्टि से आचार्यचरण को अभीष्ट 'ब्रह्म' अर्थ तथा यतियों की दृष्टि से, बालक या शिशु अर्थ दोनों ही संगत है। यह विकार-प्राप्ति बृंहण करने के कारण ब्रह्म में ही प्रतीत होती देखी जाती है। अतः बाल शब्द अमृतस्वरूप ब्रह्म का बोधक होगा।

'बाल' शब्द का यह आध्यात्मिक अर्थ यतियों की दृष्टि में भी था; क्योंकि यतिगण भगवान् श्रीचन्द्र के देदीप्यमान अंगलक्ष्मीयुक्त अपीच्यवय के दर्शन से अभिभूत होने पर भी प्रातीतिक अल्पायु की दृष्टि से सन्देह निवृत्त न होने के कारण द्व्यर्थक 'बाल' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि यह है कि यदि यह सामान्य बालक मात्र हैं तो हमारे प्रश्नों का गूढ़ाशय न समझने के कारण बालबुद्धि के अनुरूप उत्तर देंगे। यदि यह बाल शब्द के आध्यात्मिक अर्थ को हृदयंगम कर तदनुरूप उत्तर प्रदान करेंगे तो अवश्य ही इनकी अलौकिकता प्रमाणित हो जायेगी और वे हमारे वन्दनीय, जिज्ञासानिवर्तक एवं मार्गदर्शक बनेंगे। वाक्य में प्रयुक्त 'रे' शब्द लौकिक अर्थ की दृष्टि से तिरस्कारसूचक है; किन्तु आध्यात्मिक अर्थ में इसका प्रयोजन अभिमुखीकरण मात्र है। आचार्यचरण को द्व्यर्थक बालशब्द के द्वारा अपनी ओर अभिमुख करने का आशय यह प्रतीत होता है।

किसने मूँडा

सन्त परम्परा में गुरु से दीक्षा प्राप्ति को सूचित करने हेतु 'मुण्डन' शब्द का प्रयोग होता रहा है। अतएव गोरखबानी में कहा गया है—

गुरु का मुंड्या गुंण मैं रहै। निगुरा भ्रमै औगुण गहै ॥

(सबदी 150, पृ. 71)

जो गुरु का शिष्य है, (गुरु का मुंड्या), जिसको गुरु ने मूँडा है, वह गुण में रहता है, उसे गुण प्राप्त होता है। जो गुरुहीन होकर भ्रमण करता है, वह अवगुण प्राप्त करता है। अतः किसने मूँडा? इस प्रश्न का सामान्य अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि 'यति के रूप में तुमको किसने दीक्षित किया?' किन्तु विज्ञ यतियों के प्रश्न का आशय यथार्थतः यह नहीं है कि बाल संन्यासी अपने गुरु का नाम बतायें? वे इस प्रश्न के माध्यम से बालसूर्य के समान देदीप्यमान बालयति के मानसिक स्तर तथा आध्यात्मिक प्रौढ़ि का मूल्यांकन करना चाहते हैं।

सिद्धों की भाषा में 'बाल' शब्द 'मन' का भी द्योतक है, जो बन्ध एवं मोक्ष का कारण तथा अत्यन्त सन्निकृष्ट होने से अत्यन्त आत्मीय एवं प्रिय है। अत्यन्त आत्मीय में उपचार न होने के कारण स्नेह सूचक 'रे' का प्रयोग प्रायः देखा जाता है। आचार्यचरण एकान्त क्षणों में आत्मवृत्ति के उल्लसित होने पर आनन्दोद्रेक की अवस्था में अपने मन को ही अत्यन्त प्रिय शिष्य के रूप में उद्‌बोधित करते हुए प्रियता के सूचक 'रे' शब्द का सम्बोधन रूप में उच्चारण करते हैं। इस प्रकार 'रे' तिरस्कार का द्योतक न होकर अत्यन्त आत्मीयता का सूचक हो जाता है।

किसने मुँडाया

जिज्ञासा सूचक 'कहु रे बाल' तथा 'किसने मूँडा' इन दोनों वाक्यों के अर्थ विचार के अनन्तर किसने मुँडाया? इस वाक्य के अर्थ विचार का अवसर आता है। कहु रे बाल! यह सम्बोधन वाक्य है। द्वितीय वाक्य किसने मूँडा, प्रथम प्रश्न वाक्य है। इसके अनन्तर तृतीय वाक्य अर्थात् द्वितीय प्रश्न वाक्य के अर्थ का विचार करने पर, आध्यात्मिक अर्थ के अतिरिक्त उसका कोई लौकिक प्रयोजन उचित नहीं प्रतीत होता। यतः 'किसने मुँडाया' इस वाक्य का अर्थ तो यही होगा 'तुमको निवृत्ति की प्रेरणा किसने दी'; किन्तु यह अर्थ ऐसी किसी बात की जानकारी नहीं देता जिससे यतियों का कोई प्रयोजन सिद्ध हो। विचारणीय है कि जब प्रथम वाक्य के द्वारा यतिभाव की दीक्षा किसने दी? यह जिज्ञासा हो गई,

तो उसके अनन्तर यतिभाव के लिए किसने प्रेरित किया? यह जिज्ञासा कहाँ तक उचित है? यह भी आक्षेप हो सकता है कि मात्राशास्त्र जैसे अतिगम्भीर आध्यात्मिक रहस्यों के प्रतिपादक अत्यन्त लघुकाय ग्रन्थ में ऐसी जिज्ञासाओं को स्थान ही नहीं मिलना चाहिए। इतना ही नहीं लौकिक अर्थ की दृष्टि से वीतराग संतों की ओर से 'अन्त्याश्रम के लिए किसने प्रेरित किया?' यह जिज्ञासा अनुचित है; क्योंकि उन्होंने स्वयं ही गृह का परित्याग कर निवृत्ति मार्ग स्वीकार किया है। उन्हें यह मालूम है कि घर छोड़ने के लिए यति के संस्कार उसे बार-बार प्रेरित करते हैं। गौतम बुद्ध के महापरिनिष्क्रमण के प्रसंग को देखने से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है। अविकल राज्य, सौन्दर्य-मूर्ति नारी का आकर्षण, नवजात शिशु का मोहक मुखमण्डल, स्वस्थ नीरोग एवं नवयौवन-युक्त शरीर, सबके रहने पर भी कौन सी ऐसी चीज थी जिसने उन्हें गृहत्याग के लिए विवश किया? सब का उत्तर तो नहीं में ही मिलता है। तो क्या यतिगण यह नहीं जानते कि अनादिकाल से वैराग्य एवं विवेक के संस्कार ही जीवों को निवृत्ति हेतु प्रेरित करते रहे हैं? क्या उन्हें यह नहीं मालूम है कि जिस वैराग्य एवं विवेक के संस्कार से प्रेरित होकर उन्होंने स्वयं घर छोड़ा है उसी वैराग्य एवं विवेक की प्रेरणा प्राप्त कर यह बाल भी चतुर्थाश्रम में आया है? किन्तु इतनी जानकारी के होने पर भी यदि विवेकशील यतिगण की ओर से प्रश्न हो रहा है तो उसकी संगति विचारणीय हो जाती है। अतः इस प्रश्न की सार्थकता हेतु आध्यात्मिक अर्थ पर विचार अपरिहार्य है, जिसके अनुसार मुण्डन शब्द का तात्पर्यार्थ विरूपकरण ही सम्भव है।

आध्यात्मिक अर्थ

यह रहस्यार्थ है जो गूढ़ होने के कारण सामान्यतः प्रतीत नहीं होगा; किन्तु लौकिक संकेतों से द्योतित होता है। अतएव सामान्य अर्थ के अतिरिक्त गूढ़ार्थ को अवश्य विचारणीय बताते हुए गोरखबानी में कहा गया है—

येकै कहि दूसरै मानी, गोरष कहै वो बड़ों ग्यानी।

(243, गो.बानी, पृ. 96)

जो एक बात कहता है, पर उसे प्रतीक मानकर दूसरा अर्थ समझाना चाहता है, 'गोरख' कहते हैं कि वह बड़ा ज्ञानी है।

अलंकारभूत शिर के बाल का मुण्डन कराने पर सामान्यतः पुरुष विरूप लगने लगते हैं। अतः 'किसने मूँडा' इस मात्रा में प्रयुक्त 'मूँडा' शब्द मुण्डन से होने वाली विरूपता को इंगित करता है। 'बाल' का मुण्डन हुआ है। 'बाल' को यतिवेश दिया गया है। अतः 'बाल' शब्द के ऊपर प्रदर्शित किये गये आध्यात्मिक अर्थ 'अमृतस्वरूप ब्रह्म' को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना चाहिए कि यतिगण यह प्रश्न कर रहे हैं कि अरे! अमृतमय नित्य अविकारी ब्रह्मस्वरूप वाले बाल ! तुम यह तो बताओ कि तुमको मरणधर्मा अनित्य एवं सविकार बनाकर किसने विरूप या स्वरूपच्युत कर दिया? किसने तुम्हें मूड़ दिया? 'मूँडा' शब्द लोक में वञ्चना (ठगाई) के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यथा यदि कोई व्यक्ति कहीं ठगा गया हो तो उससे व्यंग्यात्मक प्रश्न किया जाता है 'तुम कहाँ मुड़ा गये? किसने तुम्हें मूड़ दिया' आदि। इसका तात्पर्य यह है कि तुम्हारे जैसे समझदार व्यक्ति को कौन तुमसे चतुर व्यक्ति मिला जिसकी प्रवञ्चना को तुम भी नहीं समझ सके और ठगे गये? इसी प्रकार यतिगण बालयति से नित्य अविकारी ब्रह्म की अनित्य सविकार जीवभावापत्तिविषयक शाश्वत जिज्ञासा कर रहे हैं।

ब्रह्म की जीवभावापत्ति (जीव रूप में होना) का वर्णन **'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'** (ब्र.सू. 1/1/1) के भाष्य में द्रष्टव्य है। जीवात्मा के स्वरूप के बारे में विचार करते हुए विभिन्न मतों के विचार के प्रसंग में प्रयुक्त **'आत्मा स भोक्तुरित्यपरे'** यह अद्वैतमतपोषक वाक्य, जीव की ईश्वर से अभिन्नता बतलाता है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकर (भामतीकार) ने कहा है— **'भोक्तुर्जीवात्मनोऽविद्योपाधिकस्य स ईश्वरस्तत्पदार्थ आत्मा तत ईश्वरादभिन्नो जीवात्मा। परमाकाशादिव घटाकाशादय इत्यर्थ इति'**। भोक्ता जीवात्मा जो अविद्यारूप उपाधि से युक्त है उसका स्वरूप (आत्मा) वह ईश्वर है, जो 'तत्त्वमसि'–'वह ब्रह्म तुम हो' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तत्पद' से कहा जा रहा है। अतः तत्पदवाच्य जगत्कारण ईश्वर से जीवात्मा उसी प्रकार अभिन्न है जैसे उपाधिरहित परमाकाश घटाकाश आदि से अभिन्न है।

दूसरा प्रश्न वाक्य 'किसने मुँडाया'? मुण्डन में सहायता करने वाला कौन है? अर्थात् मुण्डन के लिए किसने प्रेरित किया? इस जिज्ञासा की ओर संकेत कर रहा है; क्योंकि सहायक के बिना 'बाल' (बालक) का मुण्डन नहीं हो

सकता। यह देखा जाता है कि सहायता करने वाला ही बालक को समझाकर मुण्डन के लिए तैयार करता है। अतः सुखमय ब्रह्म को विरूप कर जीवरूप की प्राप्ति में सहायक या निमित्त कौन है? यही इस वाक्य से जिज्ञास्य है।

यह जिज्ञासा समीचीन है क्योंकि सुखमय या सुखस्वरूप ब्रह्म ही यदि जीवरूप में आकर नाना प्रकार के क्लेशों का भाजन बन रहा है तो उसको अपने स्वरूप से च्युत करनेवाला (हटानेवाला) कोई कारण अवश्य स्वीकार करना होगा। आस्तिक दार्शनिक चिन्तन परम्परा में यह स्वीकार किया जाता है कि धर्म एवं अधर्म या पुण्य तथा पाप के रूप में प्रसिद्ध 'अदृष्ट' ही वह कारण है जो विरूपता या कार्य मात्र में निमित्त हेतु बनता है। रज्जु का अज्ञान जैसे अदृष्टवशात् सर्प का उद्भावन कर उसकी विरूपता (रज्जु के विरुद्धरूप में प्रतीत होने) में कारण बनता है, उसी प्रकार ब्रह्म का अज्ञान भी, उसे नाना रूपों में अदृष्टानुसार प्रतीत कराता है। मात्रा-शास्त्र में भी, 'लेख मुड़ाया' इस उत्तर वाक्य में 'लेख' शब्द से इसका अभिधान किया गया है। यह अदृष्ट किस प्रकार शिव को जीव (प्राणधारी) बना देता है, सुखस्वरूप ब्रह्म इसके कारण कैसे विरूप होकर दुखी हो जाता है? इस तथ्य की चर्चा अग्रिम उत्तर वाक्यों के अर्थ विचार प्रसंग में की जायेगी। उसके पहले तीसरे प्रश्न वाक्य 'किसका भेजा नगरी आया'? के अर्थ का विचार प्रस्तुत है।

किसका भेजा नगरी आया

इस मात्रा में नगरी शब्द स्थूल शरीर[27] का बोधक है जिसे अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ जीव प्राप्त करता रहता है तथा मनुष्य, पशु-पक्षी, सरीसृप आदि के रूप में उन शरीरों से नाना प्रकार के भोग प्राप्त करके कर्मक्षय करता हुआ मोक्ष पथ पर अग्रसर होता है। गोरखबानी में भी—

भणंत गोरषनाथ रूड़ा, राषौं नगरी चोर मलाया।

(पद रागरामग्री, पृ. 115)

शरीर को 'नगरी' शब्द से कहा गया है। अर्थ स्पष्ट है—गोरखनाथ कहते हैं कि अच्छी तरह से इसकी रक्षा करो; क्योंकि 'नगरी' में चोर प्रविष्ट हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से इस मात्रा का अर्थ यही है कि किसकी प्रेरणा या आज्ञा से तुमने इस मानव शरीर को प्राप्त किया है? यदि नगरी शब्द का सामान्य अर्थ

नगर या शहर स्वीकार कर यह कहा जाय कि प्रकृत मात्रा के माध्यम से यतिगण यह जानना चाहते हैं कि तुम किसकी आज्ञा से नगर में आये हो? किसने तुम्हें यहाँ भेजा है? तो इस जिज्ञासा में मूल रूप से दया के भाव को प्रेरक कहना होगा, जिसके कारण यतिगण यह सोच रहे हैं कि बालक यति नगर निवास करता है, तो उसके पतन की अधिक संभावना है। पतन न भी हो तो गुरु के नियन्त्रण में रहकर अध्यात्मविद्या के जिन रहस्यों को यह प्राप्त कर सकता है उससे तो वंचित अवश्य हो जायेगा तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों से वंचित रहने पर पुनः संसार में आसक्ति भी संभव है जिससे पतन अवश्यम्भावी हो जायेगा।

अतः दयार्द्र यतिगण यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारे गुरु ने प्रातीतिक रूप से नगर प्रेषण रूप अविवेकपूर्ण कार्य कैसे किया? क्योंकि न्यूनवय में संन्यास के बाद गुरु की सन्निधि में ही विशेष नियोग प्राप्त होते हैं, जो यति के लक्ष्यभूत ब्रह्म दर्शन में अपरिहार्य रूप से अपेक्षित होते हैं। गुरु का यह दायित्व होता है कि वह शिष्य को अध्यात्म-पथ की शिक्षा शास्त्रों से दें तथा आचरण से प्रेरणा देकर संसार से उसका उद्धार करे[28]। तुम्हारे गुरु ने ऐसा क्यों नहीं किया?

किन्तु यह सब सम्भावनाएँ उस समय असंगत हो जाती हैं जब 'चेतहु नगरी तारहु गाँव' इस मात्रा से विरोध परिलक्षित होने लगता है। विरोध का कारण स्पष्ट है। बाल संन्यासी दृढ़ता से यह उत्तर देते हैं कि मेरे गुरु ने गाँव और नगरी के उद्धार के लिए मुझे भेजा है। मैं गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। उत्तर वाक्य से स्पष्ट रूप से सूचित हो रहा है कि बालयति चरम आध्यात्मिक लक्ष्य आत्मज्ञान को प्राप्त कर चुका है। अन्यथा गाँव और नगरी को तारने की सामर्थ्य उसमें न आती। वह गुरु का कृपाभाजन है जिससे उसके पतन की सम्भावना भी नहीं है। अतः उपर्युक्त मात्रा का प्रकृत अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता। फलतः नगरी शब्द का स्थूल शरीर अर्थ स्वीकार करके जिज्ञासा का आशय यह कहना चाहिए कि किसकी प्रेरणा से तुमने मानव शरीर को प्राप्त किया है? अथवा किसकी आज्ञा से तुम इस शरीर रूप नगर में आये हो। यदि किसका भेजा नगरी आया? इस जिज्ञासा बोधक वाक्य को जीवों को मनुष्यादि शरीरों में भेजने वाले चेतन (गुरु) की जिज्ञासा में पर्यवसन्न कहा जाय तो, पहले सम्बोधन वाक्य तथा तीन प्रश्न वाक्यों से निम्न जिज्ञासाएँ स्फुट प्रतीत होती हैं—

1. अरे! कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि रहित स्वरूप वाले नित्यशुद्धबुद्ध बाल (ब्रह्म) किसने तुम्हें अनित्य अशुद्ध अबुद्ध तथा कर्ता भोक्ता बनाकर वंचित या विरूप कर दिया, मूड़ दिया? यह ब्रह्मरूप निरुपाधिक चेतन कारण विषयक जिज्ञासा है; क्योंकि उत्तरवाक्य में सद्‌गुरु को मुण्डन का कर्ता कहा गया है।
2. जीवभाव की प्राप्ति में निमित्त कारण कौन है? यह अचेतन कारण विषयक जिज्ञासा है क्योंकि इसको 'लेख' शब्द से उत्तर वाक्य में कहा गया है।
3. तथा विरूप होकर किसकी प्रेरणा से तुम इस शरीररूप नगरी में आये हो (वास कर रहे हो)? यह सोपाधिक चेतन कारण विषयक जिज्ञासा है; क्योंकि 'गुरु का भेजा नगरी आया' इस उत्तर वाक्य में गुरु को ही नगरी में भेजने वाला बताया गया है।

जिज्ञासाओं को देखने से इनसे सम्बद्ध एक प्रश्न यह भी उठता है—क्या जीव सर्वदा स्थूल शरीर में नहीं रहता है? यह अवधेय है कि इन जिज्ञासाओं के उत्तर वाक्य में सद्‌गुरु को मुण्डन का कर्ता कहा गया है। मुण्डन उपाधि का सम्बन्ध है, जिससे ब्रह्म, जीव और ईश्वर दो सोपाधिक रूपों में व्यवहृत होता है। उत्तर वाक्य में ही ईश्वर (ब्रह्मा) को 'गुरु' शब्द से तथा ब्रह्मरूप निरुपाधिक चेतन को 'सद्‌गुरु' शब्द से कहा गया है। 'गुरु' शब्द, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान प्रदान करने वाले का बोध कराता है। अतः सद्‌गुरु रूप निरुपाधिक चेतन का ईश्वर और जीव दो रूपों में आना तथा गुरु के द्वारा जीव की मनुष्य आदि शरीर रूपी नगरी की प्राप्ति दोनों ज्ञान प्राप्ति के निमित्त हो रहा है, यह सूचित होता है, अर्थात् ज्ञान के द्वारा जीवों की मुक्ति के लिए भोक्ता, भोग्य आदि के रूप में सृष्टि हुई है, यह तथ्य 'सद्‌गुरु' और 'गुरु' शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट हो रहा है। अस्तु, इन जिज्ञासाओं का समाधान अग्रिम तीन उत्तर वाक्यों—

सद्‌गुरु मूड़ा, लेख मुड़ाया। गुरु का भेजा नगरी आया॥

से किया गया है; किन्तु इनके अर्थ पर विचार करने से पूर्व जिज्ञासाओं को और अधिक स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। ऊपर जो तीन जिज्ञासाएँ प्रकट की

गयी हैं, वे क्रमशः ब्रह्म, जीव, अदृष्ट तथा स्थूल शरीर की प्राप्ति से सम्बन्ध रखती हैं। अतः उनका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्म का स्वरूप क्या है? वह किस परिस्थिति में जीव भाव को प्राप्त करता है? अदृष्ट क्या है? वह किस तरह ब्रह्म को जीव बनाने में हेतु है? इस जड़ अदृष्ट का उपयोग कौन करता है? इत्यादि का स्पष्ट रूप से ज्ञान आवश्यक है, अतः इन पर विचार किया जा रहा है।

किसी भी वस्तु का परिचय प्राप्त करने की दो विधाएँ सम्भव हैं—1. हम उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करें, अर्थात् उसके गुण एवं धर्मों को जानें। 2. उसके कार्यों की समीक्षा करें। दोनों प्रकार से उसका परिचय प्राप्त हो सकता है। वस्तु का जो स्वरूप बतलाया गया है, उसके जो गुण बतलाए जाते हैं उनकी प्राप्ति उससे उत्पन्न वस्तुओं में भी होती है। जैसे यदि तन्तु (डोरा) लाल है तो पट भी लाल बनेगा। अतः रक्त तन्तु (लाल डोरा) को देखकर भविष्य में बनने वाले लाल पटस्वरूप कार्य का परिचय प्राप्त होगा तथा बना हुआ वस्त्र भी सर्वदा अपने कारण तन्तु का परिचय देता रहेगा। पिता-पुत्र में यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। वे दोनों एक-दूसरे का परिचय कराते हैं। इसका तात्पर्य है कि कारण से कार्य का तथा कार्य से कारण का परिचय प्राप्त हो सकता है। परिचय प्राप्त कराने की यह शैली अत्यन्त प्राचीन है, अतएव संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद में दो प्रकार के वाक्यों के माध्यम से ब्रह्म के निरूपण (परिचय कराने) का प्रयास दृष्ट होता है। परिचायक वाक्यों को स्वरूप लक्षण वाक्य तथा तटस्थ लक्षण वाक्य कहते हैं।

ब्रह्म के स्वरूप लक्षण पर विचार

(1) **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै.उप., ब्र.व., अनु. 1) तथा **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ.उप. 3/9/28) इत्यादि ऐसे वाक्य हैं जो ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराते हैं। अर्थात् इनसे यह परिचय मिलता है कि ब्रह्म सत् चित् आनन्दस्वरूप तथा विज्ञानस्वरूप है। स्वरूप लक्षण वाक्य समान आकृति वाले अथवा समान धर्मवाले अन्य पदार्थों से भिन्न रूप में केवल लक्ष्य मात्र के बोधक होते हैं। जैसे जिसने गाय नहीं देखी है उसे गाय का परिचय बताने के लिए यह वाक्य कहा जाता है—जिस पशु के भैंस की तरह पूँछ, सींग, चार पैर सब कुछ

हो तथा गले में चमड़ा लटक रहा हो उसे गाय कहते हैं। इस वाक्य से गाय के स्वरूप की जानकारी हो जाने से उसको देखने पर सहज पहचान हो जाती है। प्रकृत वाक्य में पूँछ सींग तथा चार पैर गाय के लक्षण नहीं हैं; क्योंकि वह अन्य पशुओं में भी पाये जाते हैं, केवल गलकम्बल (गले में लटकने वाला चमड़ा) ही (असाधारण धर्म होने से) लक्षण है। शेष गुण परिचय कराने के लिए कहे गये हैं, उनसे गाय की पहचान एक पशु के रूप में होगी; किन्तु अन्य पशुओं से भी उसे अलग बताने वाला गलकम्बल ही है जो स्वरूप लक्षण है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.उप., ब्र.व., अनु.-1) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ.उप., अ.3, ब्रा.9, म. 28) इत्यादि वाक्यों को स्वरूप का परिचय कराने के कारण स्वरूप लक्षण वाक्य कहते हैं। किन्तु इन वाक्यों से ब्रह्म का झटिति (जल्दी से) बोध नहीं हो पाता क्योंकि लोक में सत्, चित् एवं आनन्द को हम धर्म के रूप में अनुभूत करते हैं, स्वतन्त्र वस्तु धर्मी के रूप में नहीं। अतः लोकानुभवविरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने के कारण इन वाक्यों के प्रतिपाद्य ब्रह्म का स्वरूप तत्काल बुद्धिगम्य नहीं होता। फलतः श्रुति ने ब्रह्म के कार्यभूत जगत् को ब्रह्म का ज्ञापक बतलाते हुए 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (तै.उप. 3/1) जिससे सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है, जिसमें सभी उत्पन्न होकर स्थिति प्राप्त करते हैं (जहाँ सभी रहते हैं) तथा जिसमें लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है, उसको जानने का प्रयास करो— इस वाक्य के द्वारा जगत् के उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारण को ब्रह्मस्वरूप में प्रतिपादित किया है।

इस श्रुतिवाक्य में ब्रह्म को विशेष रूप से जिज्ञास्य बताने से उसे जानने की प्रेरणा प्राप्त हो रही है। किन्तु इस वाक्य से ब्रह्म का बोध (सामान्य ज्ञान) होने के साथ ही एक जिज्ञासा भी होती है कि ब्रह्म को जानने से, अथवा यह कहें जगत् कारण ब्रह्म को जानने से क्या लाभ है? श्रुति के द्वारा इसको जानने की प्रेरणा क्यों दी गई है? क्योंकि जब तक यह नहीं बताया जाय कि ब्रह्म को जानने से क्या लाभ होगा अथवा इसके अज्ञान से क्या हानि है, तब तक व्यक्ति उसके ज्ञान के लिए प्रयास ही क्यों करेगा? इस प्रश्न का उत्तर—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति
नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा-
ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥

(मु.उप. 3 खं. 2, म. 9)

जो व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, अर्थात् 'यह जान लेता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ' वह अन्य गति को प्राप्त न होकर ब्रह्म ही होता है। उसके कुल में अब्रह्मवित् नहीं होता। वह अनेक इष्टवैकल्य निमित्तकमानसताप का जीवनकाल में ही अतिक्रमण कर जाता है। धर्म एवं अधर्मरूप पाप का भी वह तरण कर जाता है। वह हृदय की अविद्या ग्रन्थि, जिससे अहन्ता ममता का व्यवहार हो रहा है, से भी विमुक्त हो जाता है। तथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः'
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मु.उप. 3, खं. 2, म. 8)

जैसे बहती हुई गंगा आदि नदियाँ समुद्र प्राप्त होने पर, उसमें मिलकर अपने गंगा आदि नाम तथा धवल (स्वच्छ) स्वरूप दोनों को छोड़कर अविशेष जल भाव को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार अविद्याकृत नाम और रूप से विमुक्त होकर विद्वान् (ब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में साक्षात् देखने वाला) जगदुत्पत्ति के कारण भूत अक्षर ब्रह्म से भी श्रेष्ठ निरूपाधिक दिव्यपुरुष को प्राप्त करता है, इन श्रुति वाक्यों में मिलता है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रथम श्रुति वाक्य में ब्रह्मवेदन या आत्मज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) का फल शोक (अविद्या एवं अविद्यामूलक संसार) का तरण कहा गया है, जबकि **'यतो वा इमानि'** (तै.उप. 3/1) इस श्रुति में ब्रह्म को जिज्ञास्य बताते हुए ब्रह्मजिज्ञासा को सप्रयोजन बताया गया है। अतः यदि आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान दोनों एक हों अर्थात् आत्मा और ब्रह्म दोनों एक हों तब तो ब्रह्म-जिज्ञासा सार्थक हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस सम्बन्ध में

विचार करने हेतु यह अवधेय है कि शोक शब्द से अविद्या एवं अविद्यामूलक संसार लिया जाता है; क्योंकि अविद्या के रहते अविद्यामूलक संसार ही शोक का निमित्त बनता है। अविद्या या अज्ञान के रहने पर 'मैं' और 'मेरा' दो शब्दों का प्रयोग अनुभूत पदार्थों के बोध के लिए होता रहता है। सभी क्रियाओं में 'मैं' का सम्बन्ध होता है, मैं जा रहा हूँ, मैं खा रहा हूँ, आदि प्रयोग इसको सूचित कर रहे हैं। 'मेरा' यह शब्द जगत् के जड़ पदार्थों को असंग आत्मा का सम्बन्धी बताता है। इस प्रकार हम मिथ्या प्रत्ययजन्य आसक्ति के कारण कष्ट में पड़े रहते हैं; क्योंकि क्रिया से पुण्य-पाप तथा पुण्य-पाप से शरीर प्राप्ति के द्वारा क्रिया या कर्म का यह क्रम चलता रहता है। स्पष्ट है कि अपने को सुख-दुःख से सम्बद्ध करने के कारण जीव शोक प्राप्त करता है। अविद्या या अज्ञान के पूर्णतः नष्ट होने से शरीर की प्राप्ति रुक जाती है, अर्थात् उसे भोगायतन शरीर नहीं प्राप्त होता है और भोगायतन शरीर के अभाव में उसे शोक नहीं होता। ब्रह्म हमारे स्वरूप से पृथक् नहीं है किन्तु हम उसे अपने स्वरूप से पृथक् समझते हैं, यही अज्ञान, जन्म का प्रयोजक होकर शोक का मूल है।

श्रुति ने यदि ब्रह्म-जिज्ञासा करने को कहा है तो ब्रह्म-जिज्ञासा का कोई फल अवश्य होगा क्योंकि वेद के द्वारा निष्फल कर्म का विधान नहीं होता। किसने मूड़ा? इस प्रश्न के द्वारा भी ब्रह्म-जिज्ञासा ही की जा रही है। इस प्रकार **'तद् विजिज्ञासस्व'** (तै.उप. 3/1) 'उस जगत्कारण ब्रह्म को विशेष रूप से जानो' इस श्रुति के द्वारा जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की गयी है, वही ब्रह्म प्रकृत-मात्रा में भी जिज्ञास्य है।

आत्मस्वरूप विचार

आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही तत्त्व हैं, इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले **'बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च आत्मा ब्रह्मेति गीयते'** (ब्र.सू., भामती, सू. 1) आदि अनेक वचन श्रुत हैं। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से भी जीव (आत्मा) एवं ब्रह्म की एकता प्रतिपादित होती है। पूर्व वाक्य का अर्थ स्पष्ट है—बृहत् होने के कारण तथा वृद्धि (बृंहण) करने के कारण आत्मा को ही ब्रह्म कहा जाता है। सर्वदा विद्यमान रहने वाले चेतन को आत्मा कहते हैं। **'अतति सततं गच्छति—इति आत्मा'** इस व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति (प्रक्रिया) के द्वारा 'अत

सातत्य गमने' धातु से **'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ'** (उणा.सू. 4/153) से मनिण् प्रत्यय करके 'आत्म' शब्द बनता है। शांकरभाष्य में—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

(शां.भा., काठ.उप. 2/1/1)

यह व्युत्पत्ति सूचक श्लोक दिया हुआ है। इस व्युत्पत्ति में धातु के अर्थ (सातत्य गमन-सर्वदा चलना या गतिशील होना) का अन्वय या सम्बन्ध आत्मा में स्वीकार करने पर आत्मा को सर्वदा गतिशील कहना होगा, जो सम्भव नहीं है; क्योंकि आत्मा अमूर्त तथा सर्वव्यापक पदार्थ है। यदि समान युक्ति से गतिशीलता के कारण उसे मूर्त तथा अव्यापक ही कहा जाय तो उसकी सर्वदा गतिशीलता उपपन्न हो सकती है; किन्तु आत्मपरिमाण का विचार करने पर गतिशीलता सम्भव नहीं हो पाती। आत्मा के परिमाण से सम्बद्ध तीन पक्ष प्रसिद्ध हैं—

1. अद्वैत-वेदान्ती नैयायिक आदि आत्मा के परममहत् परिमाण को स्वीकार करते हैं।

2. जैन दार्शनिक आत्मा को देह परिमाण वाला स्वीकार करते हुए उसे मध्यम परिमाण वाला मानते हैं, साथ ही उसमें शरीर के अनुसार वृद्धि और ह्रास भी स्वीकार करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य आदि आत्मा को अणु परिमाण वाला स्वीकार करते हैं। जैन मत के अनुसार हाथी का शरीर बड़ा होने से उसकी आत्मा बड़ी होगी तथा चींटी के शरीर को प्राप्त करने पर वही आत्मा संकुचित होकर लघुरूप में आयेगी। इस दर्शन में आत्मा को ज्ञान से भिन्न नहीं माना जाता। उनका कथन है कि आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानने पर हमें अपने ज्ञान से अपनी आत्मा का भान नहीं हो सकेगा। आत्मा को व्यापक नहीं माना जा सकता; क्योंकि वैशेषिक की तरह आत्मा को व्यापक मानने पर एक आत्मा में ज्ञान होने पर सभी आत्मा में घटादि का ज्ञान हो जाना चाहिए, जो नहीं होता। अतः आत्मा को व्यापक नहीं, देह परिमाण वाला मानना चाहिए; क्योंकि देह में ही आत्मा के चैतन्य आदि गुणों की उपलब्धि होती है। अतएव स्याद्वादमंजरी में कहा गया है—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवद् निष्प्रतिपक्षमेतत्।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति॥

यह निर्विवाद तथ्य है कि जिस पदार्थ के गुण जिस स्थान में देखे जाते हैं वह पदार्थ उसी स्थान में रहता है। जैसे घट के रूपादि गुण जहाँ कपालादि में रहते हैं वहीं घट रहता है। तथापि अतात्त्विक वाद का आश्रयण कर कुवादी लोग देह के बाहर आत्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं। यद्यपि पुष्प आदि की सुगन्ध जहाँ पुष्प नहीं है वहाँ भी जाती है, अतः जो वस्तु जहाँ है वहीं उसके गुण प्रतीत होते हैं, यह कथन सत्य नहीं प्रतीत होता, तथापि पुष्प के भीतर रहने वाले गन्ध पुद्गल के अन्यत्र गमन करने के कारण यह दोष दूर हो जाता है। जैन मत में आत्मा को सावयव तथा कार्य स्वीकार किया जाता है। आत्मा को नाशवान् भी माना जाता है। तलवार से शरीर के कटने पर कटे हुए अवयव में कम्पन आदि के दृष्टिगोचर होने से यह माना जाता है कि आत्मा का कुछ अंश कटे भाग के साथ गया है अतः वहाँ कम्पन हो रहा है। किन्तु खण्डित भाग में रहने वाला आत्मा का अंश पुनः उसी शरीर में आ जाता है जहाँ से वह गया है। जैसे कमल की नाल के टुकड़े कटने पर पुनः आकर कमलनाल में मिल जाते हैं उसी प्रकार आत्मा का अंश भी आकर मिल जाता है। चेतन होने से भी आत्मा व्यापक नहीं है। जो व्यापक है वह चेतन नहीं है, जैसे आकाश।

यद्यपि केवल समुद्घात दशा, ऐसी दशा जिसमें आर्हतों की आत्मा मूल शरीर को न छोड़कर भी बाहर निकलती है, में आर्हतों की आत्मा में सर्वव्यापकता स्वीकार की जाती है, तथापि अर्हत् दशा में होने से आत्मा को सर्वदा व्यापक कहना उचित नहीं है। क्योंकि तीव्र वेदना, तीव्र कषाय आदि आठ कारणों से यह समुद्घात होते हैं, जो सार्वकालिक नहीं होते।

3. रामानुज मत के अनुयायी दार्शनिक तथा कुछ अन्य दार्शनिक भी **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'** (मु.उप. 3/1/9) 'इस अणु आत्मा को बुद्धि से समझना चाहिए'—इत्यादि श्रुति प्रमाण के आधार पर अणु परिमाण वाला मानते हैं। यह आत्म-परिमाण सम्बन्धी तृतीय पक्ष है।

सर्वदा गतिशीलता की सम्भावना का निराकरण इन तीनों पक्षों पर दृष्टिनिक्षेप मात्र से हो जाता है। परममहत् परिमाण पक्ष में आत्मा के सर्वत्र व्याप्त

होने के कारण गति शक्य ही नहीं है। यतः गति के द्वारा कोई भी वस्तु उस स्थान पर पहुँचती है, जहाँ वह नहीं है; किन्तु जो वस्तु सब जगह है वह कहाँ जायेगी गमन से किसे प्राप्त करेगी?

आत्मा को देह परिमाण वाला मानने के पक्ष में भी उसमें सर्वदा गतिशीलता की सम्भावना नहीं है। क्योंकि देह की विद्यमानता दशा में यदि आत्मा में गति होती है तो उसके शरीर से बाहर निकलने की सम्भावना होगी, जिससे शरीर अचेतन हो जायेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः यह कहना होगा कि आत्मा में सर्वदा गति नहीं होती।

आत्मा को अणुपरिमाण स्वीकार करने पर भी उसमें गति की संभावना का इसी प्रकार निराकरण हो जायेगा क्योंकि शरीर के रहने पर आत्मा में गति मानने पर उसके कथंचित् शरीर से बहिर्गमन करने पर शरीर में अचेतनता की संभावना होगी। इस प्रकार आत्मा सर्वदा गतिशील सिद्ध नहीं होती। अतः गतिरूप धात्वर्थ का अन्वय सम्भव बनाने हेतु 'गति' का अर्थ ज्ञान स्वीकार करना अपरिहार्य है। जैसे अवगति शब्द में गति का अर्थ ज्ञान है। उसी तरह यहाँ भी मान लेने पर **'अतति सर्वदा अवगच्छति इति आत्मा'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न होने वाला आत्मशब्द आत्मा को ज्ञाता या साक्षी के रूप में बोधित करेगा। व्याकरण की दृष्टि से गति अर्थवाली सभी धातुएँ ज्ञानार्थक होती ही हैं। अतः अत् धातु को ज्ञानार्थक मानने पर व्याकरण सिद्धान्त का विरोध नहीं है। पूर्व प्रदर्शित आत्मा के शरीर से बहिर्गमनरूप आपत्ति का वारण, अदृष्ट अथवा ईश्वरेच्छा को नियामक मानकर किया जा सकता है। तथापि तीनों पक्षों में समानता की दृष्टि से गतिहीन कहना ही उचित है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि **'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे'** (बृ.उप. 2/3/1) इस श्रुति प्रमाण के अनुसार आत्मा को मूर्त भी माना जा सकता है तथा अमूर्त भी; क्योंकि मूर्त एवं अमूर्त दोनों रूपों में श्रुति उसे बतलाती है। अतः क्रिया होने से उसे मूर्त माना जाय तो क्या आपत्ति है? तथापि आत्मा को मूर्त मानने के पूर्व यह विचार करना होगा कि एक ही आत्मा के परस्पर विरुद्ध स्वरूप कैसे हो सकते हैं? यह सम्भव नहीं है कि एक ही वस्तु एक समय में परस्पर विरुद्ध स्वरूप में रहे। इसके लिए उपाधि का सम्बन्ध कहना होगा जिससे उपाधि के कारण मूर्तता का व्यवहार होगा। हम जानते हैं कि कोई भी

औपाधिक प्रत्यय वास्तविक नहीं होता। जैसे एक आकाश में घट, मठ आदि उपाधियों के कारण होने वाला घटाकाश, मठाकाश आदि व्यवहार। इसी प्रकार आत्मा का मूर्तत्व भी औपाधिक है वास्तव नहीं। **'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** (ईश.उप., मं. 5) इस श्रुति के प्रामाण्य से आत्मा में गति का प्रतिपादन भी किया जा सकता है; किन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने पर श्रुतिघटक उत्तर अंश **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** से प्रतिपादित होने वाले गत्यभाव से गति का विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रकृत अंश आत्मा को प्रपंच के अन्दर एवं बाहर प्रतिपादित करके उसे सर्वव्यापक सिद्ध करते हुए गति के अभाव को ही बतलाता है; क्योंकि व्यापक में गति सम्भव नहीं है। श्रुति में एजन या गति उपाधि सम्बन्ध से प्रतिपादित की जा रही है। फलतः आत्मा में सोपाधिक निरुपाधिक भेद से एजन ओर अनेजन का समन्वय हो जाता है। आशय यह है कि आत्मा की उपाधि में गति के होने से आत्मा में गति का प्रतिपादन होगा किन्तु उपाधिरहित आत्मा गतिहीन होगी।

इस आत्मतत्त्व के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि किसी भी व्यक्ति को इसके बारे में सन्देह नहीं होता। सभी लोग आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति करते हैं। 'मैं नहीं हूँ', इस प्रकार का अनुभव किसी को नहीं होता। यदि आत्मा के अस्तित्व की प्रसिद्धि न होती अर्थात् सबको आत्मा का अनुभव न होता तो सभी लोगों को 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार का अनुभव होना चाहिए, जो किसी को नहीं होता। आत्मा के अभाव का ग्रहण करने वाला कोई नहीं है, इसलिए भी आत्मा के सर्वदा अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि यदि आत्मा नहीं है तो उसके अभाव का ग्रहण करने के लिए कोई प्रमाण कहना होगा। चूँकि चेतन से अधिष्ठित हुए बिना कोई भी प्रमाण किसी वस्तु का ज्ञान नहीं करा पाता, अतः आत्माभाव का ग्रहण करने वाले प्रमाण को अन्य चेतन का अवलम्ब लेना होगा। फलतः आत्माभाव का ग्रहण करने के लिए चेतन को स्वीकार करने की बाध्यता प्रकारान्तर से आत्मा के अस्तित्व को ही सिद्ध कर देती है। अतः आत्मा को अस्वीकार करना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हो पाता।

किन्तु इस रूप में आत्मा के अस्तित्व की प्रसिद्धि स्वीकार करने पर यह आपत्ति होगी कि आत्मा और ब्रह्म के एक होने से ब्रह्म भी सबको ज्ञात ही हो जायेगा तो ब्रह्म के विषय में जिज्ञासाविषयक प्रश्‍न उचित नहीं होगा; क्योंकि जानने की इच्छा (जिज्ञासा) अज्ञात वस्तु से सम्बन्ध रखती है ज्ञात से नहीं। फलतः उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता आदि ग्रन्थों में ब्रह्म को अज्ञात मानकर उसे समझाने के लिए जो भी प्रयास किया गया है वह व्यर्थ सिद्ध होगा। **'तद्विजिज्ञासस्व'** (तै.उप. 3/1) यह उपनिषद्वाक्य ब्रह्म को जिज्ञास्य रूप में प्रतिपादित करता है। ब्रह्मसूत्र में **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (ब्र.सू. 1/1/1) यह प्रथम सूत्र ब्रह्म को जिज्ञास्य बतला रहा है तथा यह सूचित कर रहा है कि ब्रह्मविषयक जिज्ञासा की शान्ति ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (4/34)

यह श्लोक प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवा को तत्त्वजिज्ञासा का शमन करने वाला बता रहा है। ब्रह्म के प्रसिद्ध हो जाने पर यह सभी प्रयास व्यर्थ हो जायेंगे।

इस आपत्ति का निराकरण करने हेतु यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः आत्मा के रूप में ब्रह्म की प्रसिद्धि (निश्चय) होने पर भी उसके विशेष रूप से ज्ञात न होने के कारण उस स्वरूप को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) हो ही सकती है। क्योंकि सामान्यरूप से ज्ञात वस्तु को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा लोक में भी देखी जाती है। कम अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी की टेढ़ी-मेढ़ी आकृति के रूप में सर्प भी हो सकता है तथा रस्सी और टूटी माला आदि भी। ऐसी स्थिति में उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा होती है; क्योंकि विशेष रूप से जाने बिना सर्प आदि की सम्भावना समाप्त नहीं होगी। यदि इतना घना अंधकार हो कि कुछ भी दिखाई न पड़े तो सामान्य रूप से ज्ञान न होने के कारण विशेष की जिज्ञासा ही नहीं होगी। इसी प्रकार भास्वर प्रकाश में वस्तु के असंदिग्ध दर्शन के अनन्तर भी जिज्ञासा सम्भव नहीं है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा होती है।

पूर्व में आत्मतत्त्व की सामान्य रूप से जानकारी की चर्चा की गई है; किन्तु वह किस रूप में होती है यह जिज्ञास्य है? अतः विचार करें तो आत्मतत्त्व का सामान्यतः भान (अहम् अहम्–मैं मैं) इस रूप में कहा जा सकता है। 'अहं गच्छामि' (मैं जा रहा हूँ) 'अहं पश्यामि' (मैं देख रहा हूँ) आदि वाक्यों में 'अहम्' शब्दार्थ आत्मा ही है। किन्तु इन वाक्यों के अर्थ पर विचार करने के अनन्तर यह शंका होने लगती है कि 'मैं जा रहा हूँ' इस वाक्य से बोधित होने वाले 'गमन' का कर्त्ता शरीर है, 'मैं देख रहा हूँ' इस वाक्य में दर्शन का कर्त्ता 'नेत्र' है। 'मैं सुन रहा हूँ' (अहं शृणोमि) इस वाक्य से प्रतिपादित श्रवण का कर्त्ता 'कान' को कहा जा सकता है तो क्या अहम् शब्द का अर्थ इन्द्रिय, शरीर, आत्मा आदि भिन्न-भिन्न होते हैं अथवा शरीर, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा कहा जाता है; क्योंकि इनसे भिन्न रूप में आत्मा का भान नहीं होता। किन्तु यह शंका निर्मूल होने के कारण अग्राह्य है, यतः मेरे कान में दर्द है, मेरी आँख की रोशनी कम हो गयी या चली गई, मेरा शरीर स्थूल है आदि वाक्यों में 'मेरा' शब्द पृथक् आत्मतत्त्व की ओर संकेत करता हुआ उसे शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न बतलाता है। यतः मेरा शब्द का प्रयोग जहाँ भी होता है वहाँ प्रतिपाद्य वस्तु से पृथक् रूप में स्वामी का बोध होता है। शरीर; इन्द्रिय आदि के विनाशशील होने के कारण भी उन्हें नित्य आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अहम्' शब्द के अर्थ को 'आत्मा'–अपना स्वरूप, मानने के अनन्तर सामान्य रूप से प्रतीत होने वाले आत्मतत्त्व को विशेष रूप से जानने की इच्छा होती है। यही विशेष जिज्ञासा हमें आत्मतत्त्व के विषय में विचार करने हेतु प्रेरित करती है। दर्शनों में आत्मतत्त्वविषयक परस्पर मतभेद इसी विचार या चिन्तन का फल है। प्रत्येक दार्शनिक दूसरे के मत का खण्डन करता हुआ अपने पक्ष की पुष्टि करता है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा का स्वरूप विशेष रूप से जिज्ञास्य है[29]। सरलतया लौकिक उपायों से उसे जाना भी नहीं जा सकता; क्योंकि आत्मा के स्वरूप का ज्ञान (साक्षात्कार) यदि अल्प प्रयास से आसानी से हो जाता तो विचारक लोग उसे जानकर अपना यह मतभेद समाप्त कर लेते। किन्तु ऐसा आज तक नहीं हुआ। अधिकारी की दृष्टि से दार्शनिकों का यह मतभेद है, ऐसा स्वीकार करें तो भी आत्मतत्त्व की दुर्ज्ञेयता स्पष्ट हो रही है। किन्तु यह दुर्ज्ञेयता

आत्मा के स्वरूप की है न कि आत्मा के अस्तित्व की। यदि आत्मा का अस्तित्व सामान्यतः ज्ञात न हो तो लोगों को 'मैं नहीं हूँ' यह प्रतीति होनी चाहिए, जो नहीं होती।

अज्ञान की कारणता

आत्मा के स्वरूप का अज्ञान ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है[30]। पूर्व प्रदत्त रस्सी (रज्जु) के दृष्टांत से इसे हम पुष्ट कर सकते हैं। अँधेरे में पड़ी रस्सी के विशेष रूप से अज्ञात होने के कारण ही सर्प आदि की प्रतीति होती है तथा प्रतीयमान सर्प आदि हमें तब तक त्रस्त किये रहते हैं जब तक हम प्रकाश में रस्सी को स्पष्ट रूप से देखकर सन्देहरहित नहीं हो जाते। इस विषय पर विचार करें तो कुछ तथ्य सामने आते हैं। सर्प की प्रतीति का कारण रस्सी का अज्ञान है। रस्सी जब तक अज्ञात है सर्प की प्रतीति हो रही है तथा सर्प की वास्तविकता का बोध होने के कारण हम भयभीत रहते हैं। इस प्रकार रज्जु के अज्ञान (रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञान) ने दो कार्य किया—रज्जु का आवरण तथा सर्प का प्रकाशन। यह दोनों कार्य एक साथ हो रहे हैं। रज्जु के आवरण का भान उस समय नहीं होता बाद में प्रकाश पड़ने पर हमें रस्सी दिखाई पड़ती है तथा हम यह कहते हैं कि यह रस्सी ही सर्प के रूप में प्रतीत हो रही थी। रस्सी की इस समय होने वाली प्रतीति, पूर्व में उसके अज्ञान को सूचित कर रही है तथा अज्ञान ही सर्प के रूप में परिणत होकर चक्षुगोचर हो रहा है, यह भी बता रही है। यदि रस्सी ही सर्प रूप में बदल गई होती तो प्रकाश में उसका रस्सी के रूप में पुनः परिवर्तन शक्य नहीं होता। इसी तथ्य को शास्त्रीय दृष्टि से इस रूप में अभिव्यक्त किया जाता है—अज्ञान के द्वारा रज्जु का आवरण हुआ तथा आवृत रज्जु ही सर्प के रूप में प्रतीत होने लगी। आवृत रज्जु का सर्प के रूप में भान ही उसकी विरुद्ध प्रतीति या विरूपकरण है। इसी प्रकार अज्ञान के द्वारा आवृत (ढँकी हुई) अन्य वस्तुएँ भी विरुद्ध रूप में प्रतीत होती हैं जैसे सीपी चाँदी के रूप में। रस्सी आदि की तरह आत्मविषयक अज्ञान भी आत्मा का आवरण करता है, यह मानना होगा। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होना ही उसके आवरण को सूचित करता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा स्वप्रकाश है तो उसका आवरण कैसे हुआ? इस आवरण के कारण आत्मा ही सांसारिक पदार्थों

के रूप में दिखाई पड़ता है। यही अज्ञानमूलक सृष्टि है, जो जीवों को मोह के द्वारा नाना प्रकार के कष्ट दे रही है। अतएव गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। (5/15)

अज्ञान के द्वारा ज्ञान का आवरण हुआ है। अतः जन्तु (सभी प्राणी) मोह को प्राप्त हो रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
तेहि ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा 120 के बाद)

इन भगवदीय वचनों पर विचार करने पर सृष्टि का रहस्य स्पष्ट होने लगता है। मात्राशास्त्र की प्रारम्भिक जिज्ञासा का संकेत भी इसी ओर है। पूर्व उद्धृत गीतावाक्य में ज्ञान शब्द आत्मा का वाचक है; क्योंकि आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है, जिसका अज्ञान के द्वारा आवरण हो रहा है, अर्थात् अज्ञान[31] ज्ञान को तिरोहित कर रहा है, जिससे प्राणियों को मोह हो रहा है। इस प्रकार मोह का कारण आत्मा का (ज्ञान का) आवृत होना, ढंक जाना या तिरोहित होना है। आत्मा का यह तिरोधान, पूर्णरूप से अप्रकाशन ही उसके विशेष रूप से ज्ञात न होने को सूचित कर रहा है। यह अवधेय है कि जैसे केवल रज्जु के ढँकने के कारण हमें भय कम्प नहीं होता; किन्तु ढँकी हुई रस्सी की सर्प रूप में प्रतीति ही भय का कारण बनती है। उसी प्रकार आत्मा का आवृत्त होना मात्र मोह एवं दुःख का कारण नहीं है, प्रत्युत आत्मा के आवृत होने पर शरीर आदि के रूप में आत्मतत्त्व की प्रतीति ही मोह[32] का कारण है, ऐसा समझना चाहिए। किन्तु शंका यह होती है कि रस्सी का तो एक आकार है, अतः वह अन्धकार से आवृत होने पर अपने समान आकार वाले सर्प के रूप में दिखाई पड़ती है। शुक्ति (सीपी) में उज्ज्वलता (सफेदी) है, अतः वह अपने सदृश चाँदी (रजत) के रूप में भासित होती है। किन्तु आत्मा तो आकाररहित तथा गुणरहित (लाल, पीला, हरा, सफेद आदि गुणों से रहित) है तो उसका जगत् के रूप में भान कैसे कहा जाय? अर्थात् गुणहीन एवं आकारहीन एक आत्मा अनेक विचित्र सांसारिक पदार्थों के रूप में कैसे भासित होने लगता है[33]? इसकी उपपत्ति की जानी चाहिए; क्योंकि लोक

में ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखाई पड़ती जो सभी रूपों में प्रतीत हो सके। यदि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति हुई है तो ब्रह्म को विकारवान् स्वीकार करना होगा, जैसे मिट्टी के उपमर्दन (विकृति) के बिना घट नहीं उत्पन्न होता, जैसे स्वर्ण के उपमर्दन के बिना आभूषण नहीं बनते, उसी प्रकार ब्रह्म के उपमर्दन के बिना जगत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव है; किन्तु इसका विपरीत प्रभाव भी सोचना होगा। ब्रह्म में विकार स्वीकार करने पर उसकी नित्यता, एकरूपता आदि का बाध होगा। परिणामतः ब्रह्म के अभाव क्षण में समस्त व्यवहार असाक्षिक होंगे; जो सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञान के बिना व्यवहार नहीं होता। अतः ब्रह्म के अविकृत रहते हुए ही सृष्टि होती है, यह स्वीकार करना होगा। ब्रह्म के विकृत हुए बिना सृष्टि का अनुभव स्वप्न में सर्वजनानुभूति-सिद्ध है। उदाहरणार्थ स्वप्न में यह दिखाई पड़ता है कि मैं अश्वयुक्त रथ में सवार होकर जा रहा हूँ, अथवा कोई अन्य रथ में जा रहा है। रथगमन के इस दृष्टान्त पर विचार करें तो वहाँ न रथ है न घोड़े हैं, न रथ पर सवार होने वाला पुरुष है, कुछ भी नहीं है, यहाँ तक कि रास्ता भी नहीं है जिस पर रथ चल रहा है। किन्तु किसी के न रहने पर भी वहाँ सब की सृष्टि होती है। रथ भी बनता है, घोड़े भी बनते हैं, सवार भी बनता है तथा रास्ते की भी सृष्टि होती है। किन्तु सबकी सृष्टि के बाद भी आत्मा में कोई विकार नहीं देखा जाता।

यह तो स्वप्न की चर्चा है। जाग्रत अवस्था में भी यह देखा जाता है कि कोई माया का प्रदर्शन करने वाला मायावी किसी भी व्यक्ति को हस्ती या अश्व आदि के रूप में परिवर्तित रूप में दिखाकर पुनः पूर्वरूप में (मनुष्य रूप में) कर देता है। पिशाच गुह्यक सिद्ध तथा भूत आदि देवयोनियों में तो यह सामर्थ्य सर्वत्र देखी जाती है। इन देवयोनियों के सत्त्व (प्राणी) अपने को एक-एक क्षण में अन्य रूपों में परिवर्तित करते हैं किन्तु उनका अपना मूल स्वरूप अविकृत रहता है। जैसे श्रीमद्भागवत-माहात्म्य में धुन्धुकारी की कथा के प्रसंग में यह देखने को मिलता है कि धुन्धुकारी[34] प्रेत रूप में जब रात में गोकर्ण के सम्मुख आता है तो वह भेड़ा (मेष), हाथी, भैंसा, इन्द्र, अग्नि आदि का रूप बदलते हुए अन्त में पुरुष की आकृति धारण करता है। इस रूप में परिवर्तन को देखकर गोकर्ण यह समझ जाते हैं कि यह दुर्गति-प्राप्त जीव है।

अस्तु, इन घटनाओं पर विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थ आत्मा में प्रतीत होकर स्वप्न समाप्त होने पर आत्मा में ही लीन हो जाते हैं फिर भी उसमें कोई विकार नहीं आता। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा में विचित्र जगत् की प्रतीति होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं आता। जाग्रत अवस्था में प्रतीत होने वाला संसार भी आत्मा से ही उत्पन्न होकर उसी में रहता है, तथापि उसमें कोई विकार नहीं आता; इसे भी स्वीकार करना चाहिए क्योंकि सांसारिक पदार्थों की सत्ता कुछ काल तक ही रहने के कारण उन्हें भी सत् नहीं कहा जा सकता। उनकी सद्रूपता आत्मा की ही सत्ता के कारण है। मायावी अपने को नानारूपों में बदलते हुए भी अविक्रिय रहते हैं, योगी अपनी योगज सामर्थ्य से अपनी इच्छानुसार कई शरीर एक साथ बना लेते हैं, इन शरीरों को 'कायव्यूह' नाम से अभिहित किया जाता है। यह 'कायव्यूह' भोगक्षय के साधन हैं। इसकी चर्चा प्रकृत प्रसंग में साभिप्राय है; क्योंकि कायव्यूह[35] के द्वारा जैसे सुख दुःख आदि को प्राप्त करता हुआ अपने कर्मों का क्षय करने वाला योगी उनके बन्धन से कम समय में मुक्त होता है, उसी प्रकार सामान्य जीव भी नाना योनियों में मिलने वाले शरीरों से कर्मों का क्षय करते हैं; किन्तु उन्हें समय अधिक लगता है। क्योंकि उन्हें एक जन्म में एक ही शरीर प्राप्त होगा, इसके अनन्तर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिए अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी होगी। किन्तु योगी एक साथ जितने शरीरों की अपेक्षा है उनका निर्माण कर लेता है, जिससे भोग के द्वारा कर्म-बन्धन को क्षीण करने में उसे अत्यल्प समय लगता है। यह वस्तुस्थिति है। योगी के द्वारा धारण किए गए शरीर तथा माता के उदर से मिलने वाले शरीर में अन्तर केवल इतना है कि माता से प्राप्त शरीर के लिए रज और वीर्य का संयोग आदि आवश्यक है, जबकि योगी के संकल्पित शरीर का निर्माण केवल उसके संकल्प से होता है उसमें रज-वीर्य आदि की आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार ब्रह्म के संकल्प मात्र से माया के द्वारा सम्पूर्ण प्रपंच की सृष्टि होती है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जैसे मायावी तथा भूत आदि योनियों में यह सामर्थ्य होती है कि वे अपने को नाना रूपों में बदल लेते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी सृष्टि हेतु शक्तियुक्त मानना होगा; किन्तु अद्वैत-सिद्धान्त में आत्मा

को निर्धर्मक स्वीकार करने के कारण शक्तियुक्त स्वीकार करने में सिद्धान्त-विरोध होगा। तथापि **'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'** (ब्र.सू. 2/1/30) के **'एकस्याऽपि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्'**— इस शांकर-भाष्य के अनुसार आत्मा को विचित्र शक्तियुक्त स्वीकार कर नानारूपात्मक सृष्टि का आधार मानने में कोई आपत्ति नहीं होती। यह अवधेय है कि आत्मा में स्वीकार की जाने वाली शक्तियाँ शक्तिमान् (आत्मा) से अभिन्न होती हैं। अतः उसकी निर्धर्मकता से कोई विरोध नहीं होता, काल्पनिक शक्तियों के रूप में इन्हें स्वीकार करने पर, तो विरोध की सम्भावना ही नहीं रह जाती।

पहले यह कहा जा चुका है कि आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही हैं, अतः ब्रह्म ही अज्ञान से आच्छादित होने के कारण नाना रूपों में जागतिक पदार्थों के रूप में प्रतीत हो रहा है। यह तथ्य भी पूर्व में प्रदर्शित की गई श्रुति **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** (तै.उप. 3/1) के आधार पर प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है। श्रुति से प्रतिपादित इसी आशय को 'कहु रे बाल!' इस वाक्य के बाद आने वाले 'किसने मूड़ा'? इस प्रथम जिज्ञासा वाक्य से गूढ़ रूप में अभिहित करते हुए यतिगण सृष्टिकर्त्ता और उसकी सृष्टि के बारे में जानना चाहते हैं।

'किसने मुड़ाया'? यह द्वितीय जिज्ञासा वाक्य लौकिक अर्थ की दृष्टि से 'इस बाल्यावस्था में तुर्याश्रम ग्रहण करने की किसने प्रेरणा दी' केवल इस तथ्य को जिज्ञास्य बतलाता है; किन्तु आध्यात्मिक अर्थ तो ब्रह्म के विरूपकरण के द्वारा जीवभाव की प्राप्ति में तथा जगत् के रूप में प्रतीत होने में निमित्तकारण क्या है? इस जिज्ञासा से सम्बद्ध है।

प्रश्न का आशय समझने के लिए हम यतियों की मनोदशा के साथ सात्म्य स्थापित करें तो कठिनाई कम होगी; क्योंकि यह जिज्ञासा किसी सामान्य व्यक्ति की नहीं है। यतिगण तो स्वयं ही शम-दम-उपरति-तितिक्षा आदि ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए योगांगों का अनुष्ठान कर रहे हैं। उनकी इच्छा का विषय लौकिक चर्चा भी नहीं है, फिर उनकी जिज्ञासा का सम्बन्ध लौकिक वस्तु से कहना कहाँ तक उचित होगा? अतः जो आध्यात्मिक

जिज्ञासा उन्होंने प्रकट की है उसका आशय यह है कि ब्रह्म जब व्यापक निर्गुण निष्क्रिय तथा आप्तकाम एवं असंग है, तो उससे सृष्टि कैसे हो सकती है? ब्रह्म का विरूपीकरण ही सृष्टि है यह ऊपर कहा गया है; किन्तु विरूप होना या विरुद्ध रूप में प्रतीत होना किसी दूसरी वस्तु से सम्बन्ध के बिना सम्भव नहीं है और असंग या सभी सम्बन्धों से रहित ब्रह्म का किसी से सम्बन्ध होना असंगता का बाधक है।

दूसरी समस्या यह है कि यदि हम कथंचित् असंग का भी[36] सम्बन्ध स्वीकार कर लें तो भी यह जानने की उत्कण्ठा रहती है कि वह कौन-सी वस्तु है जो ब्रह्म को विरूप करती है या विरुद्ध रूप में प्रतीति का विषय बनाती है। अदृष्ट (धर्म-अधर्म) अथवा अविद्या या दोनों ही।

अविद्या एवं अदृष्ट की चर्चा निमित्त के रूप में करने में हेतु उनकी निमित्त बनने की सम्भावना है; क्योंकि लौकिक उदाहरणों में प्रत्येक स्थल में हम यह देखते हैं कि जहाँ भी विरुद्ध या विपरीत स्वरूप का भान होता है चाहे रज्जु में सर्प का या सीपी में चांदी का, अज्ञान का आवरण रहता है। अतः अविद्या या अज्ञान में अन्यथाबुद्धिकारित्व (उल्टी बुद्धि कराने) की क्षमता होने के कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीव के रूप में तथा जड़ जगत् के रूप में प्रतीत होने में उपादानता तो मानी जा सकती है; किन्तु अदृष्ट (पूर्व-कर्मजन्य शुभ एवं अशुभ) की निमित्तता की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि अदृष्ट को निमित्त रूप में स्वीकार किए बिना अविद्या या अज्ञान भी वस्तु को विपरीत रूप में प्रतीत नहीं करा सकता; यतः अदृष्ट को नियामक के रूप में किसी चेतन के द्वारा व्यवस्थित नहीं किया गया तो अव्यवस्था होगी। इस तथ्य को रज्जु-सर्प के दृष्टांत से ही स्पष्ट किया जा सकता है। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी का सर्परूप में प्रतीत होना (सर्पाकार वृत्ति), रज्जु के अज्ञान, अज्ञानजन्य सर्प की अनिर्वचनीय उत्पत्ति तथा सर्पज्ञानजन्य भय, कम्प आदि सबका हेतु द्रष्टा का अशुभ कर्म या अदृष्ट ही है। यदि अशुभ कर्म निमित्त न बनता तो द्रष्टा को टूटी माला, तेल की धार, धरती की दरार आदि अथवा कुछ अन्य भी प्रतीत हो सकता था या दृष्टि में न आने से कुछ भी नहीं प्रतीत होता। फलतः भय-कम्पादि की सम्भावना ही नहीं होती।

अतः यह कहना चाहिए कि जैसे रज्जु के सर्परूप में प्रतीत होने में रज्जुविषयक अज्ञान तथा जीव का अदृष्ट दोनों ही कारण हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के भी जड़ एवं चेतन प्राणिवर्ग के रूप में प्रतीत होने में ब्रह्मविषयक अज्ञान, जिसे 'अविद्या'[37] कहते हैं, के साथ जीवों का शुभ एवं अशुभ कर्मरूप अदृष्ट भी कारण है। किन्तु दोनों की कारणता अपरिहार्य होने पर भी जड़चेतनात्मक सृष्टि में अदृष्ट ही सहकारी कारण है, जिसे 'लेख' शब्द से उत्तर वाक्य में कहा गया है। अविद्या तो उपादान कारण है; क्योंकि अविद्या रूप उपाधि वाले ब्रह्म को ही सृष्टि के प्रति निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों कहा जाता है। इसे बुद्धिगम्य बनाने हेतु लूता-तन्तु (मकड़ी का जाला) को दृष्टान्त के रूप में ले सकते हैं। जैसे मकड़ी अपने लार से बनने वाले जाल के लिए चेतन जीव के रूप में निमित्त कारण है तथा मुंह से निकले लार की दृष्टि से उपादान कारण है, उसी प्रकार अविद्यारूप उपाधि वाला ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि में चैतन्य प्राधान्य रूप से निमित्त कारण तथा अविद्या प्राधान्य से उपादान कारण है। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन उत्तरवाक्य पर विचार के समय सृष्टिनिरूपण के प्रसंग में किया गया है। किन्तु कार्य की उत्पत्ति में अदृष्ट की सहकारी रूप में होने वाली कारणता को यतिगण जानना चाहते हैं।

तीसरा जिज्ञासाबोधक वाक्य **'किसका भेजा नगरी आया?'** भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि इस वाक्य के द्वारा यतिगण यह जानना चाहते हैं कि किसकी प्रेरणा से तुमने (बालयति ने) शरीररूपी नगरी में प्रवेश किया है। शरीर को नवद्वारों वाला पुर या नगर कहा जाता है। अतः यह भी जिज्ञासा होती है कि इन 'नौ द्वारों' में से किसी एक द्वार से जीव शरीर में प्रवेश करता है अथवा उसके प्रवेश का मार्ग कोई अन्य है।

श्रीमद्भागवत पुराण में पुरंजनोपाख्यान के माध्यम से शरीररूपी पुर एवं उसके अवयवों का बड़ा सजीव वर्णन रूपक के व्याज से किया गया है। यह पुरंजनोपाख्यान आध्यात्मिक गाथा है, जिसमें कथा के माध्यम से आध्यात्मिक तथ्यों को वर्णित किया गया है। इस उपाख्यान में पुरंजन शब्द का अर्थ जीव है; क्योंकि **'पुरं जनयति पुरंजनः'** यह व्युत्पत्ति पुरंजन शब्द से जीव को बोधित करती है। इस प्रकार पुर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त कारण के रूप में स्वीकार

किया गया है; क्योंकि जीव अपने कर्म से ही पुर की उत्पत्ति में निमित्त बनता है। **'पॄ पालनपूरणयोः'** इस धातु से **'पिपर्ति इति पूः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार मूल विभुजादित्वात् 'क' प्रत्यय करके 'पुर्' शब्द की सिद्धि करें, तो योगार्थ की दृष्टि से 'पुर्' शब्द पालन करने वाले तथा पूर्ण करने वाले का बोधक होता है। शरीररूपी पुर कामनाओं की पूर्ति तो करता ही है, कामना-त्याग के द्वारा ब्रह्मसम्पत्तिरूप पूर्णता की प्राप्ति इसका वास्तविक प्रयोजन है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए गुरु ने इस नगरी में भेजा है। इस प्रकार अल्पज्ञ जीव की सर्वज्ञत्व प्राप्ति या परिच्छिन्न प्रतीत होने वाले की सर्वव्यापक स्वरूपावाप्ति ही पूर्णता की प्राप्ति है, जो इस शरीररूपी पुर से होती है। पालनरूप धात्वर्थ की संगति भी शरीररूपी पुर में होती है; क्योंकि शरीर से सम्बद्ध प्रत्यगात्मा का पालन वासनाओं के त्याग के द्वारा **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः (पालयेथाः)'** (ईश.उप., म. 1) इस औपनिषद् मन्त्र के संकेतानुसार शरीर ही करता है।

इस उपाख्यान में यह स्पष्ट किया गया है कि इस शरीररूपी पुर में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि पाँच विषय ही आराम या उपवन हैं। जहाँ यह जीव, विहार या क्रीडा करता है। इसमें नव द्वार हैं, इनमें से किसी से भी प्राण बाहर निकल सकता है। एक प्राण ही इस शरीर का पालन करने वाला या रक्षक है; क्योंकि प्राण जब तक रहता है शरीर में विकार नहीं आता। इसमें तीन प्राकार या दीवार है, जो पृथिवी, जल एवं तेज से बनी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन यह छः शरीर के कुल हैं, अर्थात् कुल की तरह अभीष्ट विषयों का समर्पण करने वाले वणिक् हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ) बाजार या आपण हैं। पाँच भूत इसकी प्रकृति अर्थात् उपादान कारण हैं। बुद्धिरूपी स्त्री ही यहाँ स्वामिनी है। बुद्धि का शरीर के नष्ट होने पर भी नाश नहीं होता, वह बोधपर्यन्त स्थायी रहती है। अतः यह अव्यया शक्ति (बुद्धि) ही पुरुष का शरीर नियन्त्रण में करती है। इस नियन्त्रण का ही फल है कि बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि में अहन्ता ममता के अध्यास के कारण वह जीव अपने स्वरूप (आत्मा) को नहीं जान पाता।

इस शरीररूपी पुर का जो वर्णन किया गया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि शरीररूपी पुर में प्रविष्ट होकर पुरंजन (पुर-शरीर को अपने कर्मों से

उत्पन्न करने वाला पुरुष) बुद्धि (अन्तःकरण) के नियन्त्रण में रहकर विषय भोग करने के कारण अपने स्वरूप को अर्थात् आत्म-तत्त्व को नहीं जान पाता। जबकि शरीर प्राप्ति का परम प्रयोजन तो शरीर रहते आत्मज्ञान को प्राप्त करना ही है। प्रकृत जिज्ञासा वाक्य से यतिगण यह जानना चाहते हैं कि किसके भेजने से इस शरीररूपी पुर में तुम्हारा प्रवेश हुआ है। अर्थात् किसकी अनुग्रह दृष्टि से तुमने मनुष्य शरीर प्राप्त किया है? प्रश्न का आशय स्पष्ट करने हेतु यह निर्णीत करना आवश्यक है कि कर्म के अनुसार मिलने वाले शरीरों के द्वारा कर्मफल का भोग करता हुआ जीव एक योनि से दूसरी योनि में अथवा एक ही योनि में विभिन्न शरीरों में स्थित होकर कर्मक्षय कर सकता है तो सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर का उपयोग क्या है? क्यों माना जाय कि ईश्वर ही हमें विभिन्न शरीर देता है, जिनके द्वारा जीव सुख, दुःख का भोग कर कर्मक्षय करते हैं।

अस्तु, इस तृतीय जिज्ञासा के शमन के प्रसंग में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जीवभाव की प्राप्ति तथा स्थूल शरीर की प्राप्ति दोनों एक साथ होते हैं, अथवा क्रम से, पहले जीव भाव की प्राप्ति तदनन्तर शरीर की प्राप्ति? जीव भाव की प्राप्ति का आशय सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति या चेतन का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होना है। सूक्ष्म शरीर अनादि अविद्या का कार्य है। अनादि अविद्या के कार्य भी अनादि ही हैं; क्योंकि अविद्या कार्यरूप में परिणत होकर ही स्थित रहती है। जैसे मृत्तिका एवं घट कारण और कार्य के रूप में पृथक् अवस्थित अनुभूत होते हैं, यह स्थिति अविद्या में नहीं होती। यतः उसकी आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ अनवरत कार्य करती रहती हैं। आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के क्रियाशील रहने पर कार्यरूप में ही अविद्या रहती है। शक्ति एवं शक्तिमान् का सदा अभेद सम्बन्ध होने के कारण जब तक अविद्या रहेगी, तब तक उसकी स्वरूपभूता शक्तियाँ जो आवरण एवं विक्षेप-रूपा हैं, सदा रहेंगी ही। आवरण और विक्षेप शक्तियों के रहते हुए सृष्टि न हो यह सम्भव ही नहीं है; क्योंकि विक्षेप को ही सृष्टि कहते हैं। इसी विक्षेप अथवा विरुद्ध प्रतीतिजनक सामर्थ्य के कारण ही अकर्ता अभोक्ता असंग ब्रह्मतत्त्व, कर्ता भोक्ता एवं ससंग जीव के रूप में विरूप होता है।

सूक्ष्म शरीर, अविद्या का विक्षेप या कार्य है, इसके साथ सम्बद्ध होने पर असंग चेतन में कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्म उसी प्रकार आते हैं, जैसे अग्नि के सम्पर्क में दाहकत्व धर्म या जलाने की शक्ति लोहे में आती है। अविद्या के विक्षेपरूपा सृष्टि या प्रपंच के स्थूल एवं सूक्ष्म दो भेद दृष्ट होते हैं। सृष्टिकाल में प्रधानतः स्थूल प्रपंच के रूप में तथा प्रलयकाल में सूक्ष्म रूप में सूक्ष्म शरीर तथा धर्माऽधर्मादिरूप अविद्या कार्य भी रहते हैं। स्थूल कार्यों का सूक्ष्म स्वरूप में जाना ही प्रलय है। स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत या 'तन्मात्रा' के रूप में हो जाते हैं। इस समय स्थूल शरीरों के अभाव में चेतन, मन बुद्धि पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण रूप सूक्ष्म शरीर से उपहित होकर रहता है। इसी की जीव संज्ञा है। यही कर्ता, भोक्ता तथा अदृष्टानुसार भिन्न-भिन्न शरीरों एवं लोकों को प्राप्त करने वाला है। अब तक के वर्णन से यह स्पष्ट है कि सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति ही चेतन का विरूप होना है। यही बाल का मुण्डन है। यह सूक्ष्म शरीर क्या है? कब तक रहता है? इसे स्पष्ट करते हुए वेदान्तपरिभाषा में (निर्णयसागर प्रकाशन के पृ. 318 पर कहा गया है)—**'तैश्चापञ्चीकृतभूतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रा-निर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रियपञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चकप्राणादिपञ्चकसंयुक्तं जायते'**—अपञ्चीकृतभूतों (पञ्चतन्मात्रा) से मोक्षपर्यन्त स्थिर रहने वाले लिङ्ग शरीर की उत्पत्ति होती है, जो परलोक यात्रा का निर्वाहक होता है, अर्थात् स्थूल शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर परलोक गमन सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव होते हैं—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥

वेदान्तपरिभाषा में उद्धृत यह वचन पाँच प्राण, दश इन्द्रियाँ (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय), मन एवं बुद्धि को सूक्ष्म शरीर के अवयव के रूप में बतलाता है; क्योंकि सूक्ष्म शरीर इनसे युक्त है।

सूक्ष्म शरीर को मोक्षपर्यन्त स्थायी कहा गया है। इस शब्द की व्याख्या शिखामणि टीका में **'प्राकृतप्रलयपर्यन्तम्'** यह की गयी है। अर्थात् प्राकृत प्रलय होने तक सूक्ष्म शरीर रहता है। प्राकृत प्रलय चतुर्विध प्रलय में से एक है, जो ब्रह्मा जी (कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ) के अधिकार से च्युत होने पर उनके नाश

के साथ होने वाले सकल कार्यनाश से होता है[38] (द्र.–वे.परि., पृ. 318)। इसका तात्पर्य है कि सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम ब्रह्मा जी की उत्पत्ति होती है। यह पहले शरीरधारी होते हैं जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं। इन्हें परमेश्वर स्वयं बनाते हैं। अतएव कहा गया है कि पञ्चतन्मात्रा (सूक्ष्मभूत), सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर तथा ब्रह्मा जी के स्थूल शरीर की रचना परमेश्वर स्वयं करते हैं। इससे भिन्न प्रपञ्च की रचना हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि के द्वारा परमेश्वर करते हैं। (वे.परि., पृ. 320)। ब्रह्मा जी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की, प्राणियों के भोगायतन शरीर की तथा अन्न-पानादि सकल भोज्य पदार्थों की भी सृष्टि करते हैं। सृष्टि का प्रयोजन जीवों का परम कल्याण या मोक्ष है। ब्रह्माजी का जीवन या कार्यकाल 100 वर्ष का होता है। यह दिव्य वर्ष है, जिसके एक दिन में हम लोगों के चतुर्युगी (सतयुग त्रेता द्वापर कलियुग का समूह) की एक हजार आवृत्ति हो जाती है, अर्थात् चारों युग क्रम से एक हजार बार आते हैं। इस सौ वर्ष की आयु के बीतने के बाद ब्रह्मा जी का उपरम होता है, अर्थात् वे स्थूल शरीर छोड़कर ब्रह्मलीन होते हैं; क्योंकि वे पहले से ही ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्पन्न होते हैं। अतः अधिकार-समाप्ति के बाद विदेह-कैवल्य प्राप्त करते हैं। ब्रह्माजी की कैवल्य-प्राप्ति के साथ ही सम्पूर्ण कार्य प्रपञ्च (सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों) का विनाश होता है। यही प्राकृत प्रलय कहलाता है। यतः सूक्ष्म शरीर भी परमेश्वर के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं, अतः उनके भी विशिष्ट स्वरूप का नाश होता है। ब्रह्माजी के मोक्ष के साथ उनके सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर तथा अज्ञानसंस्काररूप कारण शरीर तीनों का नाश होगा। सभी सूक्ष्म शरीरों की समष्टि-समूह से ब्रह्माजी का सूक्ष्म शरीर बनता है। प्राकृत प्रलयपर्यन्त ब्रह्माजी का स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीर रहता है। प्राकृत प्रलय में सूक्ष्म शरीर का नाश होता है। अर्थात् सभी सूक्ष्म शरीरों की समष्टि बुद्धि विषयता समाप्त हो जाती है। ब्रह्माजी के मुक्त होने से, वे व्यष्टि सूक्ष्म शरीर, समष्टि बुद्धि के विषय नहीं होते। इस प्रकार एक समूह घटकत्व उनमें नहीं रह जाता और उनके विशिष्ट स्वरूप का नाश होता है। इसके अनन्तर अगले ब्रह्मा कार्य प्रारम्भ करते हैं। अतः सकल कार्य नाश ब्रह्माजी के सम्बन्ध से होने वाले, अथवा उनसे उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों के नाश होने से हो जाता है। अन्यथा सकल कार्यनाश न होने से उसे प्राकृत प्रलय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'यस्तु

कार्यब्रह्म-विनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः'—'कार्य ब्रह्म (ब्रह्मा) के विनाशनिमित्तक सम्पूर्ण कार्य (उत्पन्न पदार्थ) के नाश को ही प्राकृत प्रलय कहा जाता है' यह प्राकृत प्रलय का लक्षण है। ब्रह्मा जी की कैवल्य-प्राप्ति के साथ उनके सत्यलोक में निवास करने वाले ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न जीव भी कैवल्य प्राप्त करते हैं। अतएव वेदान्तपरिभाषा के विषय परिच्छेद में कहा गया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

(कूर्मपुराण 1/12/273)

प्रलयकाल के प्राप्त होने पर (सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे) सभी ज्ञानी लोग (कृतात्मानः) ब्रह्मा जी के साथ ही परं पद (ब्रह्म पद) को प्राप्त करते हैं, जीव-ब्रह्मैक्य की स्थिति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इन ज्ञानियों के सूक्ष्म शरीर का लय, ज्ञानोदय होने के कारण होता है। अज्ञानी जीवों का भी स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही शरीर विनष्ट होता है; किन्तु इस विनाश का निमित्त कर्म का उपरम (कर्म का भोगार्थ शेष रह जाना) होता है। यह दोनों ही शरीर (माया) के कार्य हैं, अतः इनका लय माया में होता है। माया में लय होने के कारण यह सूक्ष्म शरीर पुनः सर्ग के आरम्भ में परमेश्वर द्वारा सृष्ट होते हैं। ज्ञानियों का सूक्ष्म शरीर और उसका कारणभूत अज्ञान दोनों ही निवृत्त होते हैं। अतः वे अधिष्ठान ब्रह्मरूपता को प्राप्त करते हैं। **'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'** (कल्पित वस्तु का नाश अधिष्ठानस्वरूप ही होता है) इस सिद्धात के अनुसार ब्रह्म में कल्पित अविद्या और अविद्या के कार्य (अन्तःकरण) आदि का नाश अधिष्ठान ब्रह्मरूप ही होता है।

इस सूक्ष्म शरीररूप उपाधि के कारण ही जीव संज्ञा होती है। अन्यथा 'चेतन' ब्रह्म ही है। विदेह-कैवल्य के समय यह उपाधि भी नहीं रह जाती, अतः जीव, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

ज्ञान-निमित्तक प्रलय को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। यही तुरीय प्रलय है। शेष तीन प्रलय कर्मोपरम-निमित्तक होते हैं। कर्मोपरम-निमित्तक प्रलय का तात्पर्य है ऐसा प्रलय जो भोग देने वाले कर्मों के शेष न रहने से होता है। कल्प के आदि

में सृष्टि के समय प्राणियों के कर्मों का आकलन करके परमेश्वर तदनुसार सृष्टि करते हैं। अनन्त जन्मों के अनन्त कर्मों का कौन भाग सृष्टि के उद्देश्य से परमेश्वर ने आकलित किया है तथा कौन भाग अवशिष्ट है, यह असर्वज्ञ दुर्ज्ञेय होने से चिन्तनीय नहीं है। किन्तु प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि होने से, कर्म शेष रहते हैं, यह अवश्य सिद्ध होता है। अन्यथा आगे सृष्टि ही नहीं हो पायेगी। यह अवशिष्ट कर्म ही सृष्टि के प्रारम्भ में सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति में सहायक बनते हैं। सृष्टि को अनादि स्वीकार किया जाता है। अतः यह आपत्ति नहीं दी जा सकती है कि पहली बार होने वाली सृष्टि में अदृष्ट कारण नहीं था। वह तो दूसरी बार से सृष्टि में कारण बन सकता है; क्योंकि उसके पहले की सृष्टि में कर्म हुआ है। सृष्टिकाल में भोग के लिए स्थूल शरीर एवं अन्य भोग-साधनों की भी सृष्टि होती है। प्रकृति में लय होने से यह प्रलय, प्राकृत प्रलय कहलाता है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

(गीता 9/7)

यहाँ यह अवश्य अवधेय है कि दैनन्दिन प्रलयरूप सुषुप्ति में अन्तःकरण अविद्या में संस्कारात्मना (संस्कार रूप से) रहता है, ऐसा मानने पर सुप्त पुरुष में श्वासादि क्रिया की अनुपपत्ति होगी। अतः यह कहना चाहिए कि ज्ञानशक्ति-विशिष्ट अन्तःकरण का सुषुप्ति में नाश होता है, क्रियाशक्तिविशिष्ट का नहीं। ऐसा स्वीकार करने पर अनुपपत्ति का वारण हो जायेगा।

अन्तःकरण या मन में ज्ञानशक्ति रहती है क्योंकि किसी भी वस्तु का ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियों से मन का सम्पर्क होने पर ही होता है। क्रिया शक्ति भी मन में रहती है। अतएव किसी वस्तु के ज्ञान के अनन्तर मन उसको प्राप्त करने या छोड़ने के लिए क्रिया में प्रवृत्ति कराता है। सुषुप्ति में कोई ज्ञान न होने से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानशक्ति उस समय काम नहीं कर रही है।

प्राकृत प्रलय में भी सभी सूक्ष्म शरीर अविद्यारूप में (अविद्यात्मना) अवस्थित होते हैं, धर्म-अधर्म आदि भी उस समय कारणात्मना (अपने कारण अविद्या के रूप में) ही रहते हैं। अविद्या, कार्यमात्र की उत्पत्ति के प्रति कारण

होने से धर्म, अधर्म एवं संस्कार के प्रति भी कारण है। अतः धर्म, अधर्म भी अपने कारण अविद्या के रूप में रहते हैं, इन्हीं की निमित्तता से आगे सृष्टिकाल में अन्तःकरण आदि की सृष्टि होती है।

'किसका भेजा नगरी आया' इस प्रश्नवाक्य से भी तो यही निश्चित होता है कि जीव पहले से है, उसे कर्मानुसार विभिन्न शरीरों में भेजा जाता है। यह पक्ष समीचीन भी है; क्योंकि जीव के अनादि होने के कारण मुक्ति के पहले तक सृष्टि के काल में तथा प्रलयकाल में भी जीव-भाव रहता है; किन्तु शरीर (स्थूल शरीर) तो सृष्टिकाल में ही मिलते हैं क्योंकि भोग के लिए शरीर मिलता है तथा विषयों से भोग प्राप्त करने के लिए उनकी सृष्टि की आवश्यकता होती है। प्रलयकाल में जब भोग के साधन ही नहीं हैं, तो उस समय स्थूल शरीर की उपयोगिता क्या है?

यह तो अद्वैतमत के अनुसार मुक्ति में जीवभाव की समाप्ति को स्वीकार करके शरीर प्राप्ति का विवेचन है। किन्तु द्वैत को स्वीकार करने वाले लोग जो मुक्ति में भी जीव भाव को स्वीकार करते हैं, उनके मत में भी मुक्तिकाल में स्थूल शरीर नहीं होता; क्योंकि नैयायिकगण द्वैत का समर्थन करते हुए भी **'एकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्षः'** कहते हुए 21 दुःखों[39] के ध्वंस को (नाश को) मोक्ष बताते हैं तथा शरीररूप दुःख का भी मुक्तिकाल में अभाव मानते हैं। योगदर्शन में **'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वंविवेकिनः'** (यो.सू. 2/15) के द्वारा सभी पदार्थों को दुःखरूप स्वीकार किया गया है। अर्थात् सभी पदार्थ गुणों के परिणाम क्रम की जब तक समाप्ति नहीं होती; तब तक सुख या दुःख देते हैं। विवेक ख्याति के पश्चात् गुणों का प्रतिसर्ग या कारण क्रम से प्रधान में लय हो जाता है, जिससे कुशल पुरुष का संसार समाप्त हो जाता है।

मुक्ति-काल में ही नहीं, प्रलयकाल में भी स्थूल शरीर नहीं होता, जीव अपनी उपाधि के साथ ईश्वरीय संकल्प के कारण उन्हीं की उपाधि से सात्म्य स्थापित कर पड़ा रहता है। प्रलयकाल में जीव की अवस्थिति को हम सुषुप्ति के दृष्टान्त से समझ सकते हैं। सोते समय हमारा यह पाँचभौतिक शरीर कोई क्रिया नहीं करता। स्वप्न में अनेक प्रकार के सुख-दुःख होने पर भी इस भौतिक शरीर

का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिन पदार्थों को उस समय हम अपने उपयोग में लाते हैं, वे सभी जाग्रत अवस्था के पदार्थों के सदृश होने के कारण अलग नहीं जान पड़ते तथा स्वप्न के सर्वथा भिन्न जगत् को अपना पूर्व का (जाग्रत अवस्था का) संसार मानते हुए हम उसमें ही लीन हो जाते हैं। स्वप्नकाल का हमारा शरीर जाग्रतकाल के शरीर से भिन्न होता है; किन्तु **'सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्'** (सूक्ष्म शरीर ही भोग का साधन है) इस उक्ति के अनुरूप सूक्ष्म शरीर का ही रूपान्तर (कार्यान्तर) होता हुआ, भोगसाधन बनता है। जाग्रत अवस्था के शरीर का स्वप्नकालीन भोग से सामान्यतः कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार जाग्रदवस्था में स्थूल शरीर तथा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर (मन) से उत्पन्न शरीर भोग के लिए अपेक्षित है; किन्तु सुषुप्ति सुख की (प्राप्ति में मन की) अपेक्षा नहीं होती। निद्रा का सुख तो मन के लीन होने से ही प्राप्त होता है। अतः जैसे सुषुप्ति में भोगों के अभाव में शरीर की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही प्रलयकाल में भी भोगायतन शरीर की अपेक्षा नहीं होती। इसी कारण विद्वज्जनों की उक्ति में प्रगाढ़ निद्रा या सुषुप्ति को दैनन्दिन प्रलय कहा जाता है।

शरीर भोगायतन है जिसकी उपयोगिता प्राधान्यतः भोग के लिए है। यदि भोग नहीं है तो भोगायतन शरीर का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। इसका आशय यह हुआ कि नगरी में प्रवेश रूप स्थूल शरीर की प्राप्ति सप्रयोजन है। इससे किसी उद्देश्य-विशेष की पूर्ति अभीष्ट है। चूँकि यह शरीर भी स्वयंप्राप्त नहीं है, किसी की कृपा से ही इसकी प्राप्ति हुई है। अतः इस सप्रयोजन शरीर को प्रदान करते समय शरीर-प्रदाता का क्या उद्देश्य हो सकता है? यह जिज्ञासा का विषय है। यही जिज्ञासा यतिगण को 'किसका भेजा नगरी आया' यह प्रश्न करने हेतु उद्वेलित कर रही है। यहाँ यह अवधेय है कि यद्यपि पशु-पक्षी आदि सभी शरीर प्रारब्धवशात् ही प्राप्त होते हैं, ईश्वर उसमें केवल साक्षी रूप में निमित्त बनता है; किन्तु मनुष्य शरीर की प्राप्ति प्रारब्ध कर्म के रहते हुए भी ईश्वर के विशेष अनुग्रह से होती है, कहा भी है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥ (विवेकचूड़ामणि)

ईश्वर के अनुग्रह से मनुष्यत्व (मनुष्य होना), मुमुक्षुत्व (मोक्ष की इच्छा का होना) और महापुरुष संश्रय (महापुरुष की कृपा प्राप्त होना) रूप तीन दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। अतः विरूपीकृत जीव किसी के भेजने से नगरी (शरीर में) में प्रवेश किया है स्वतः नहीं, ऐसा स्वीकार करने पर भेजने वाले का अनुग्रह तथा अपेक्षा दोनों का द्योतन होता है। यद्यपि सभी स्थूल शरीर नगरी शब्द से द्योतित किये जाते हैं, तथापि प्रकरण-संगति के अनुरूप यतिगण का प्रश्न विशेष रूप से बालयति के मनुष्य शरीर से सम्बद्ध है। वस्तुतः यतिगण आचार्य जी के शरीर को उपलक्षण बनाकर सभी मनुष्य शरीरों की प्राप्ति के प्रयोजन की जिज्ञासा कर रहे हैं। ग्रन्थ-रूप में निबद्ध उपदेश की सार्वजनीनता (सबके लिए उपयोगी होना) भी इसी में है। बालक आचार्य का मनुष्य शरीर प्रतीक है, जिज्ञासा तो सभी शरीरों से सम्बन्ध रखती है; क्योंकि सृष्टि में नाना प्रकार के शरीर हैं।

इस प्रकार तीन जिज्ञासाओं से सम्बद्ध वाक्यों के आध्यात्मिक अर्थ का तथा उनसे सम्बद्ध प्रयोजन का विचार किया गया। जिज्ञासाएँ मूलतः अज्ञान के कारण होने वाली सृष्टि तथा सृष्टिरूपी बन्धन से मुक्ति दिलाने वाले शरीरों से सम्बन्ध रखती हैं। ब्रह्म या ईश्वर से भी उनका सम्बन्ध है; क्योंकि जिसके स्वरूप के अज्ञान[40] से बन्धन हुआ वही यदि बन्धन से मुक्ति में भी सहायक हो तो बन्धन का शिथिल होना या नष्ट होना सहज हो जाता है[41]। बन्धन की दो अवस्थाओं की ओर संकेत भी किया गया है, जिन्हें सृष्टि एवं प्रलय की अवस्थाएँ कह सकते हैं, जो शरीर भाव एवं अशरीरभाव से सम्बन्ध रखती हुई जीवों की मुक्ति या विदेह कैवल्य में शरीर की उपयोगिता पर बल देती हैं।

पूर्व में रज्जु-सर्प के दृष्टांत से सृष्टि को समझाने का उपक्रम किया जा चुका है। अब **'किसने मूड़ा'** इस प्रश्न-वाक्य के समाधान में प्रस्तुत उत्तर-वाक्य **'सद्गुरु मूड़ा'** के अर्थ का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। इस उत्तर-वाक्य का लौकिक अर्थ 'सद्गुरुदेव ने हमें मुण्डनपूर्वक निवृत्ति मार्ग की दीक्षा दी' है। किसी विशेष जिज्ञासा को शान्त नहीं करता; क्योंकि इसमें गुरुदेव के नाम का भी संकेत नहीं है। इस प्रकार 'सद्गुरुदेव ने हमें दीक्षा दी' इतना कहना अपर्याप्त है। इतना तो हर व्यक्ति जानता है कि दीक्षा यदि मिली है तो कोई गुरु अवश्य मिले होंगे। उत्तर-वाक्य से इतनी सामान्य जानकारी की नहीं विशिष्ट जानकरी

की अपेक्षा है, अतः उसका आध्यात्मिक अर्थ 'सद्गुरुदेवस्वरूप परब्रह्म ने हमें अपने स्वरूप से च्युत करके जीवभाव में स्थापित किया है' स्वीकार करना चाहिए। प्रकृत में मुण्डन या विरूपकरण के द्वारा ब्रह्मभाव का त्याग एवं जीवभाव की प्राप्ति दोनों विवक्षित हैं; क्योंकि मुण्डन के पूर्व का स्वरूप एवं बाद का स्वरूप दोनों जब बुद्धि में होते हैं, तो वैरूप्य का स्पष्ट रूप से भान होता है।

किन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने पर यह शंका होती है कि अपने को विरूप करने में ब्रह्म ही निमित्त क्यों बना? प्रायः लोग अपने को सुरूप (सुन्दररूपवाला) बनाने हेतु नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं, विरूप होना तो कोई चाहता ही नहीं। फिर 'ब्रह्म' रूप निर्विकार स्वरूपवाले चेतन ने अपने को सविकार या विरूप क्यों बनाया? ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रह्म की विरूपता ही सृष्टि है, अतः सृष्टि का उपपादन करते हुए इस प्रश्न के उत्तर पर विचार किया जा रहा है।

सृष्टि शब्द को सुनते ही हमारे मन में नूतन या अपूर्व संसार की प्रथम बार रचना का भाव आने लगता है, जो सृष्टि की प्रक्रिया को तार्किक दृष्टि से जटिल ही नहीं असम्भव बना देता है; क्योंकि संसार की रचना के पहले प्राणियों के शुभ एवं अशुभ कर्मों से उत्पन्न पुण्य तथा पाप (अदृष्ट) की आवश्यकता होगी तथा [42]अदृष्ट की उत्पत्ति के लिए शरीर एवं अन्य सांसारिक पदार्थों की आवश्यकता भी होगी। इस प्रकार सृष्टि एवं अदृष्ट एक-दूसरे की अपेक्षा करने के कारण परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं, जिससे दोनों की ही उत्पत्ति बाधित प्रतीत होती है। किन्तु सृष्टि को हम देख रहे हैं, उसका अनुभव कर रहे हैं, सृष्टि के भोग साधनों से आनन्द प्राप्त करते हैं तथा दुःख के साधन न चाहते हुए भी हमें कष्ट दे रहे हैं, अतः सृष्टि नहीं हुई है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता, तथापि सृष्टि के पहले अदृष्ट की सत्ता को स्वीकार करने के लिए हम यह कह सकते हैं कि कोई भी सृष्टि पहली सृष्टि नहीं है, प्रत्येक सृष्टि प्रलय के बाद होती है और प्रलय के पहले की सृष्टि में प्राणियों के द्वारा किए गए शुभ अथवा अशुभ कर्म अगली सृष्टि में निमित्त बन जाते हैं।

अज्ञान या अविद्या ही वह मूल कारण है जिसके कारण सृष्टि होती है, अतएव वेदान्तसार में कहा गया है, अज्ञान की आवरण, विक्षेप नाम की दो

शक्तियाँ हैं। आवरण शक्ति को घन (बादल) के दृष्टान्त से बुद्धिगम्य बनाते हुए आगे ग्रन्थकार कहते हैं—जैसे सूर्य की तुलना में अत्यन्त छोटे आकार वाला बादल का टुकड़ा, देखने वाले व्यक्ति के नेत्रों को ढँककर उसे सूर्य के दर्शन से वंचित कर देता है तथा लोग यह कहते हैं कि सूर्य बादलों में ढँक गया है, उसी प्रकार 'अज्ञान' की आवरण शक्ति से व्यापक एवं स्वप्रकाश ब्रह्म का आच्छादन प्रतीत होता है। इस वाक्य में 'प्रतीत' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि वस्तुतः ब्रह्म ढँका नहीं है। सूर्य भी बादलों से ढँका नहीं जा सकता, क्योंकि दोनों के परिमाण में बहुत अधिक अन्तर है। सूर्य अनेक कोटि योजनों के विस्तार वाला है, यह तथ्य आगम से प्रमाणित है, अतः बादल से उसका ढँकना असम्भव है, फिर भी जैसे यह व्यवहार होता है कि सूर्य ढँक गया है, उसी प्रकार अज्ञान भी नित्य अपरोक्ष एवं स्वप्रकाश ब्रह्म का आवरण करता है, ऐसी सामर्थ्य उसमें है। यही सामर्थ्य आवरण शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इसी शक्ति से पुरुष की बुद्धि का आच्छादन होता है, जिससे वह अकर्ता, अभोक्ता एवं असंग आत्मा को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी तथा अज्ञानी समझता है। आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता आदि रूप में समझने का आशय है अपने को कर्त्ता, भोक्ता आदि समझना; क्योंकि 'आत्मा' अपना स्वरूप ही है। यह बुद्धि तब तक होती रहती है, जब तक उसका प्रत्यक्ष (अपरोक्ष साक्षात्कार) न होने से स्वरूप तिरोहित रहता है। अतः अज्ञान का यह स्वभाव है कि वह विपरीत बुद्धि कराता है। अतएव कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के सम्बन्ध से रहित अकर्ता, अभोक्ता आत्मा को भी कर्त्ता, भोक्ता के रूप में प्रतीत कराने लगता है[43] तथा हम सर्वदा आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता ही समझते हैं। **'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला'** (सं.शा.) निर्विभागचितिः–शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनो हैं। इस मत में अविद्या से कल्पित जीव, अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है; क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है। अविद्या जीव में आश्रित हो जाय, जीवरूप आश्रय को प्राप्त कर ले, तो उससे जीवत्व की कल्पना हो, तथा जीवत्व कल्पित हो जाय तब अविद्या में जीवाश्रितत्व आवे; क्योंकि निराश्रय वस्तु कुछ करने में समर्थ नहीं होगी। इस अन्योन्याश्रय दोष से अविद्या को जीवाश्रित नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'शुद्ध चैतन्य ही अविद्या का आश्रय है' यह स्वीकार करने पर **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्'** (पञ्चदशी 6/123 तथा श्वे.उप. 4/10) माया को प्रकृति (जिससे सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं) रूप में जानना चाहिए तथा महेश्वर (सोपाधिक ब्रह्म) को मायी (मायावाला) समझना चाहिए, इस वचन की प्रामाणिकता नहीं होगी; क्योंकि यह सोपाधिक को माया का आश्रय बतला रहा है। ऐसा मानने पर यह जिज्ञासा होगी कि माया के अतिरिक्त दूसरी कौन उपाधि है, जिससे युक्त चेतन 'माया' का आश्रय हो रहा है। यदि 'माया' ही वह उपाधि है, तो यह पक्ष अन्योन्याश्रयदोषग्रस्त है; क्योंकि माया का सम्बन्ध हो जाय तो ब्रह्म उपाधियुक्त (सोपाधिक) बने तथा सोपाधिक बन जाय तब माया का आश्रय बने, माया से सम्बन्ध को प्राप्त करें। इस प्रकार सोपाधिक बनने और माया का आश्रय बनने में अन्योन्याश्रय (परस्पर एक पर दूसरे का आश्रित होना) होता है, जिसका वारण अज्ञान (माया अविद्या) तथा चित् के सम्बन्ध को अनादि मानकर अद्वैत सम्प्रदाय में किया जाता है। किन्तु विचार करने पर यह शङ्का निर्मूल हो जाती है; क्योंकि मायी (माया इन्) शब्द में प्रयुक्त इन् प्रत्यय, मायोपाधिक बिम्बत्वरूप सम्बन्ध-विशेष का बोधन करता है। जैसे धनी शब्द में प्रयुक्त इन् प्रत्यय स्वामित्वरूप सम्बन्ध-विशेष का बोधक है। व्याकरण के नियम के अनुसार सम्बन्ध अर्थ में भी इन् प्रत्यय होता है, अतः इन् प्रत्यय का सम्बन्ध-विशेष अर्थ किया गया है। मायोपाधि में बिम्बभूत शुद्ध चैतन्य ही है। शुद्ध चैतन्य असंग है, माया के साथ उसका आध्यासिक सम्बन्ध है। अतः मायी शब्द शुद्ध चैतन्य का बोधक है।

अविद्या को शुद्ध चैतन्य में आश्रित मानने पर यह भी आपत्ति दी जा सकती है कि जीव में अज्ञता का व्यवहार नहीं होगा; क्योंकि अविद्या जीव में नहीं रहती। इस आपत्ति का वारण करने के लिए यह कहा जा सकता है कि यतः अविद्या एवं जीव दोनों एक ही शुद्धचित् में अध्यस्त हैं, अतः अविद्याश्रय ब्रह्म के साथ तादात्म्यापन्न जीव में भी अविद्याप्रयुक्त 'अहमज्ञः' यह व्यवहार हो जायेगा, जैसे वह्नि के साथ (तादात्म्यापन्न वह्निस्वरूपता को प्राप्त) अयोगोलक (लोह गोल) में दाहकत्व व्यवहार होता है। यद्यपि ऐसा मानने पर यह भी आपत्ति

दी जा सकती है कि शुद्धचित् में ही ईश्वर भी अध्यस्त है तो उसमें भी अज्ञत्व व्यवहार होना चाहिए, तथापि इसके समाधान के लिए यह कहा जा सकता है कि माया के ईश्वराधीन होने के कारण उसमें अज्ञान कार्य आवरण तथा अज्ञानप्रयुक्त भ्रम आदि के सम्भव न होने से यह आपत्ति नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त ईश्वर को सभी आस्तिकों द्वारा सर्वज्ञ तथा भ्रमादि दोषरहित स्वीकार किया जाता है, अतः आस्तिकों के द्वारा तो इस स्वीकृति के विरुद्ध आपत्ति नहीं दी जा सकती, किन्तु नास्तिक इसे स्वीकार नहीं करेंगे। उनके द्वारा जिन, बुद्ध आदि को भी भ्रमादि रूप दोषरहित स्वीकार करने पर अन्य लोगों को आपत्ति हो सकती है। तथापि आगम प्रामाण्य के आधार पर निर्विचिकित्सरूप से सर्वज्ञत्व की स्वीकृति हो जाती है।

इसी प्रकार शुद्ध चैतन्य में भी अज्ञत्व आदि व्यवहार की आपत्ति नहीं दी जा सकती; क्योंकि वहाँ भी अज्ञत्व व्यवहार नहीं होता। जगत् के कारण को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान न स्वीकार करने पर वह विचित्र जगत् का कर्ता नहीं हो सकता।

वाचस्पति मिश्र के मत में जीव को ही अविद्या का आश्रय स्वीकार किया जाता है; क्योंकि उसमें ही अज्ञत्व का व्यवहार होता है। इस मत में पूर्व प्रदर्शित अन्योन्याश्रय का वारण करने वाले निम्न तर्क दिये जाते हैं—

अन्योन्याश्रय तीन रूपों में स्वीकार किया जाता है—1. उत्पत्ति में, 2. ज्ञप्ति में, 3. स्थिति में। अर्थात् 1. तदुत्पत्त्यधीनोत्पत्तिकत्व (एक की उत्पत्ति के अधीन दूसरे की उत्पत्ति का होना), 2. तज्ज्ञप्त्यधीनज्ञप्तिकत्व (एक का ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान होना) तथा 3. तत्स्थित्यधीनस्थितिकत्व (एक के रहने पर दूसरे का रहना)। इनमें से कौन अन्योन्याश्रय अभीष्ट है, इसे अन्योन्याश्रय दोष स्वीकार करने वाले को स्पष्ट करना होगा; क्योंकि सिद्धान्त में किसी प्रकार का अन्योन्याश्रय यहाँ नहीं है। यतः जीव और अविद्या दोनों के ही अनादित्वेन कल्पित होने से किसी की भी उत्पत्ति न होने के कारण उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनादि होने से जीव की उत्पत्ति अविद्या के अधीन नहीं है तथा अविद्या की उत्पत्ति भी जीव के अधीन नही है।

चिद्रूप ब्रह्म से अभिन्न जीव स्वतः प्रकाश है, अविद्या चिद्रूप साक्षी से भाष्य है। अतः ज्ञप्ति (प्रकाशन) में परस्पर सापेक्षता न होने से ज्ञप्ति में भी अन्योन्याश्रय नहीं कहा जा सकता।

जीव को ही अविद्या के आश्रय के रूप में कल्पित किया गया है, जीव और अविद्या दोनों ही अनादि हैं। अतः सादि पदार्थों की तरह एक के कारण दूसरे की स्थिति है, यह कहना सम्भव नहीं है। इस मत में नाना जीवों में रहने वाली अविद्या भी नाना है तथा जीव को कर्ता, भोक्ता स्वीकार किया जाता है।

किन्तु कर्म के बिना वह कर्त्ता नहीं हो सकता, भोग-साधन विषय के अभाव में कोई भोक्ता नहीं बन सकता। अतः भोग-साधन घट-पट आदि वैषयिक प्रपंच तथा भोगायतन शरीर आदि की सृष्टि 'अज्ञान की विक्षेप' शक्ति से होती है, जिससे जीव के शरीररूपी नगरी में आने का प्रयोजन (भोगक्षय के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति) सिद्ध हो सके। सृष्टि कैसे होती है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि-ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्।

(वाक्यसुधा 13)

विक्षेप शक्ति, लिंगशरीर[44] की प्रारम्भ में सृष्टि कर ब्रह्माण्डपर्यन्त स्थूल भूतों की भी रचना करती है। यहाँ यह अवधेय है कि लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर दोनों एक ही हैं। इस लिंग शरीर की प्राप्ति से ही ब्रह्म को जीवभाव प्राप्त होता है। 'किसने मूड़ा' इस मात्रा में प्रधान रूप से जीवभाव की प्राप्ति की ओर संकेत किया गया है। जीवभाव की प्राप्ति के अनन्तर इसके भोग के निमित्त अन्य पदार्थों की रचना होती है। जीवभाव प्राप्त कराने वाला यह सूक्ष्म शरीर अनादिकाल से प्राप्त है, अतः जीव अनादि है। सूक्ष्म शरीर युक्त इसी चेतन की स्थूल शरीर प्राप्ति, नगरी में प्रवेश है। स्पष्ट है कि स्थूल सृष्टि का मूल पदार्थ 'जीव' है, जिसके भोगादि के निमित्त अन्य वस्तुओं की सृष्टि होती है। रज्जु के अज्ञान को ही दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत कर वेदान्तसार में यह प्रतिपादित किया गया है कि जैसे रज्जु का अज्ञान, अपने द्वारा आवृत रज्जु में सर्प आदि का उद्भावन

करता है, उसी प्रकार आत्म-विषयक अज्ञान भी अपने द्वारा आवृत आत्मा में विक्षेप शक्ति के द्वारा आकाश आदि प्रपंच का उद्भावन करता है।

इस प्रकार प्रतिपादित किया जा रहा है कि सृष्टि के लिए दो तत्त्वों की अपेक्षा हो रही है—आत्मा और उसका अज्ञान। जैसे बिना रज्जु के सर्प की उद्भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार चेतन आत्मा के बिना सृष्टि सम्भव नहीं है; क्योंकि अधिष्ठान के बिना भ्रम नहीं होता। किन्तु भ्रम के लिए अधिष्ठान का अज्ञान (ज्ञान न होना) भी आवश्यक है। अतः अज्ञान ही अविद्या या प्रकृति शब्द से बोधित होता है, जो सबकी उत्पत्ति में उपादान है तथा अनादि है। प्रपंच को सत्य स्वीकार करने वाले भेदवादी नैयायिक भी मिथ्या ज्ञान के अभाव में **'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'** गौतमसूत्र (1/1/2) के अनुसार मोक्ष को स्वीकार करते हुए जन्म में मिथ्याज्ञान को कारण स्वीकार करते हैं। साथ ही अदृष्ट शब्द से वाच्य, प्राणियों के कर्मजन्य पुण्य एवं पाप को पदार्थों की उत्पत्ति में साधारण कारण मानते हैं। योगशास्त्र में भी क्लेश के रूप में अविद्या स्वीकार की जाती है। बौद्ध दार्शनिक भी उसे स्वीकार करते हैं। किन्तु आचार्यचरण प्रायः अद्वैतदर्शन एवं योग की प्रक्रिया का ही अनुसरण करते हैं। अतः उनके अनुसार रज्जु-सर्प आदि दृष्टांत को प्रदर्शित कर सृष्टि की प्रक्रिया को बोधगम्य कराते हुए मात्रा को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

आत्मा को पुरुष[45] शब्द से व्यवहृत किया जाता है; क्योंकि वह पुर या शरीर में शयन करता है, अर्थात् शरीर से सम्बन्ध रखता है। शरीर से सम्बन्ध के अभाव में आत्मा, भोक्ता (भोग करने वाला) नहीं बन पाता। किन्तु यह शरीर सम्बन्ध कैसे होता है, यह रहस्य होने के कारण जिज्ञासा का विषय है। अतएव 'किसका भेजा नगरी आया' इस मात्रा में आत्मा के शरीर में प्रवेश सम्बन्धी जिज्ञासा की गयी है। शरीर से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष शब्द वाच्य आत्मा भी अनादि या कारणरहित है। अतएव गीता में दोनों को अनादि बताते हुए कहा गया है[46]—हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि समझना चाहिए तथा विकारों एवं गुणों को प्रकृति से उत्पन्न समझना चाहिए। यहाँ विकार शब्द से अन्तःकरण (बुद्धि) देह, इन्द्रिय का ग्रहण किया गया है तथा गुण शब्द से सुख-

दुःख एवं अपने सम्पर्क से जीव को मोह प्रदान करने वाले भोग्य विषयों का ग्रहण[47] किया गया है। यह विभाग देह में स्थित पुरुष के भोक्तृत्व तथा विषयों की भोग्यता (सुख-दुःख प्रदान करने की योग्यता) को प्रकट करता है। इस प्रकार सृष्टि के प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया गया है; क्योंकि सांसारिक पदार्थों से सुख-दुःख प्राप्त करते हुए मोक्ष के निमित्त अदृष्ट का क्षय करना ही सृष्टि का प्रयोजन है। आगे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा[48]—यह विकार एवं गुण जो प्रकृति से उत्पन्न हैं, उन्हें कार्य एवं कारणरूप से व्यक्त किया जाय तो एकादश इन्द्रियाँ (ग्यारह इन्द्रियाँ) तथा 5 विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) यह सोलह कार्य हैं तथा महान् अहंकार तथा पृथ्वी जल तेज वायु एवं आकाश की तन्मात्रा यह सात कारण हैं; क्योंकि इन्हीं से 16 संख्या में परिगणित कार्यों की उत्पत्ति होती है। किन्तु इन सोलह की उत्पत्ति प्रकृति से होती है। अतः कार्य एवं कारण के रूप में विभक्त सम्पूर्ण प्रपंच का हेतु (उत्पन्न करने वाला कारण) प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया या अविद्या है। पुरुष तो कार्य-कारण रूप में परिणत अविद्यारूपी प्रकृति में स्थित होकर, अविद्या को उपाधि रूप में गृहीत कर, शरीर में अहं भाव के द्वारा प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करता है। इस प्रकार शरीर में रहने पर विद्वान् (ज्ञानी) एवं अविद्वान् (अज्ञानी) सभी समान रूप से विषयों का भोग करते हैं, तथापि विद्वान् के द्वारा किये जाने वाले कर्म, जन्मरूपी बन्धन के प्रयोजक नहीं होते; क्योंकि उसकी कहीं आसक्ति नहीं होती। किन्तु आसक्ति के कारण अज्ञानी का कर्म, बन्धन का कारण बनता है। इसे स्पष्ट करते हुए गीता (13/21)[49] में कहा गया है कि 'अविद्या' जिसे प्रकृति नाम से अभिहित किया जा रहा है तथा 'काम' जिसे विषयों में संग के नाम से कहा गया है, यह दोनों ही संसार के कारण हैं, अज्ञानी पुरुष में यह दोनों हैं, अतः वह विषयासक्ति के कारण जन्म प्राप्त करता है। विद्वान् की अविद्या नष्ट हो जाती है, अतः विषयासक्ति से उसका मनुष्य आदि योनियों में कर्माधीन जन्म नहीं होता।

'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्' (गीता 13/21) इस गीता वचन में पुरुष को प्रकृति में स्थित होकर प्रकृतिजन्य गुणों का भोक्ता बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञान की अवस्था में अन्तःकरण के तादात्म्य भाव को प्राप्त चेतन, स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध की दशा में विषयों का भोग करता है; क्योंकि 'इन्द्रिय एवं मन'[50] युक्त आत्मा ही भोक्ता है, यह

तथ्य स्वीकार किया जाता है। भोक्ता चेतन की एक अशरीरावस्था भी होती है; जिसमें स्थूल शरीर के अभाव में भोग नहीं होता। भोक्ता चेतन की नाना योनियों में स्थूल शरीर प्राप्त करने के पूर्व की अशरीरावस्था, जिसमें अन्तःकरण सम्बन्ध है, ही जीवत्व प्राप्ति है। इसको स्पष्ट करने से पहली जिज्ञासा 'किसने मूड़ा' का समाधान हो सकेगा। भोक्ता की सशरीर अवस्था के निरूपण से तीसरी जिज्ञासा 'किसका भेजा नगरी आया' का समाधान होगा। अतः यह विचार प्रस्तुत है कि अविद्या के सम्बन्ध से कैसे यह दोनों अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। इस विचार के पूर्व प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध से होने वाले भोग की प्रक्रिया पर विचार आवश्यक है, जिसे पूर्व में संकेतित किया गया है। प्रकृति में स्थित होकर पुरुष, प्रकृति से उत्पन्न गुणों (विषयों) का भोग करता है, इसी भोग के निमित्त पुरुष का नाना योनियों में जन्म होता है। पुरुष किस रूप से प्रकृति में स्थित होता है? इसे स्पष्ट करते हुए भगवत्पाद शंकराचार्य ने कहा है—'**प्रकृतावविद्यालक्षणायां कार्यकारण-रूपेण परिणतायां स्थितः प्रकृतिस्थः प्रकृतिमात्मत्वेन गतः इत्येतद्धि यस्मात् तस्माद् भुङ्क्ते उपलभते इत्यर्थः**'।

प्रकृति, कार्य-कारण रूप में परिणत है। कार्य एवं कारण दोनों ही वस्तुतः प्रकृति के ही परिणाम हैं। अतः यह कहा जाता है कि प्रकृति कार्य-कारण के रूप में परिणत है, अर्थात् विकारभाव को प्राप्त है। उसमें पुरुष के स्थित होने का आशय है, प्रकृति को अपने स्वरूप के रूप में समझना। यही कारण है कि प्रकृति के गुणों (सुख-दुःख एवं मोह स्वरूपता) को पुरुष प्राप्त करता है तथा 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' इस रूप में सुख-दुःख का अनुभव करता है।

इस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष का सम्बन्ध बताकर प्रकृति के गुणों का पुरुष में भान होता है, इसे बुद्धिगम्य किया जा सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैसे सीपी को रजत के रूप में तब तक व्यक्ति गृहीत करता है जब तक उसे सीपी (शुक्ति) का ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार जब तक प्रकृति को अपने स्वरूप से भिन्न रूप में जीव नहीं जान लेता तब तक वह प्रकृति को अपने स्वरूप से अभिन्न समझता हुआ, प्रकृति के गुणों का भोक्ता बनेगा। इसका आशय यह है कि अपने स्वरूप को प्रकृति से विविक्त रूप में समझने के अनन्तर अर्थात् आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार होने के बाद तथा योगशास्त्र के

अनुसार प्रकृति-पुरुष की अन्यता ख्याति के बाद वह प्रकृति के गुणों का भोक्ता नहीं होता, वस्तुतः अदृष्टानुसार उपलब्ध भोगों को भोगते हुए भी अपने को भोक्ता नहीं समझता। शरीर के साथ सम्बन्ध होने से उसे सुख-दुःख तो होता है; किन्तु प्रकृति का कार्य मानकर उससे वह अपने को असम्पृक्त रखता है।

यद्यपि इस प्रकार का विवेचन स्वीकार करने पर शंका होती है कि प्रकृति को अपने स्वरूप से अलग न जानने पर भी सोते समय सुख-दुःख आदि की उपलब्धि न होने के कारण, अनुपलब्धि का कारण आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के अभाव अथवा प्रकृति-पुरुष की अन्यता के ज्ञान के अभाव से भिन्न ही है, यह कहना चाहिए। तथापि इस शंका का प्रकारान्तर से समाधान हो जाने से अन्य कारण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसे आगे स्पष्ट किया गया है। प्रकृत में अविद्या को कार्य-कारणरूप में परिणत बताया गया है तथा यह कहा गया है कि कार्य-कारणरूप में परिणत अविद्या को पुरुष अपने स्वरूप से अभिन्न समझता है, अतः यह कहना होगा कि अविद्या के कार्य अन्तःकरण के साथ पुरुष का तादात्म्य ही अविद्या एवं पुरुष का सम्बन्ध है। अर्थात् अन्तःकरण को पुरुष अपने से अलग नहीं समझ पाता, जिसके कारण वह अपने को ही सुख-दुःख का अनुभविता अनुभव करने वाला समझता है, अर्थात् अन्तःकरण का सम्बन्ध जब तक है तब तक अन्तःकरण के धर्म सुख-दुःख की प्राप्ति या अनुभूति होगी।

सुषुप्ति में अन्तःकरण नहीं रहता, वह अपने कारणभूत अविद्या में लीन हो जाता है, अतः सुषुप्ति में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। यही स्थिति मूर्च्छा में भी होती है।

'निर्विकल्प' समाधि की अवस्था में भी अन्तःकरणवृत्ति के लीन हो जाने के कारण किसी प्रकार के सुख-दुःख आदि की उपलब्धि नहीं होती; किन्तु जीवन्मुक्त पुरुष के समाधि से व्युत्थान की स्थिति में अन्तःकरण की विद्यमानता के कारण सुख-दुःखादि की प्राप्ति भी होती रहती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तःकरण के रूप में परिणत अविद्या के साथ जब तक जीव अपने को तादात्म्यापन्न समझता है, तब तक उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का अनुभव होता रहता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व (कर्तापन

भोक्तापन) आदि यद्यपि अन्तःकरण के धर्म हैं, तथापि तादात्म्याध्यास के द्वारा आत्मा में प्रतीत होते हैं जैसे, आग में रहने वाली दाहकता शक्ति अग्नि के सम्पर्क में लाल हुए लोहे में प्रतीत होती है। सुषुप्ति तथा मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में सुख-दुःख के ज्ञात न होने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अन्तःकरण वृत्ति के अभाव में सुख-दुःख आदि भी नहीं ज्ञात होते।

भोक्ता चेतन की सशरीर अवस्था तथा अशरीर भाव की अवस्था दोनों ही अविद्या के सम्बन्ध के कारण ही होती हैं। अन्तःकरण अविद्या का कार्य है तथा स्थूल शरीर अविद्या के कार्यभूत सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न पंचीकृत भूतों से निर्मित है। केवल अन्तःकरण से सम्बन्ध की अवस्था, अशरीरावस्था है तथा अन्तःकरण एवं स्थूल शरीर दोनों से सम्बन्ध की अवस्था शरीरावस्था है। स्पष्ट है कि दोनों अवस्थाओं में अविद्या के कार्यों का सम्बन्ध बना हुआ है। अतएव वेदान्तसार में कहा गया है—इसी आवरण शक्ति से अवच्छिन्न आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व सुख-दुःख-मोहात्मक तुच्छ संसार की भावना भी सम्भावित होती है। आवरण शक्ति से अवच्छिन्न आत्मा, अविद्या के कार्य अन्तःकरण से सम्बद्ध आत्मा ही है, जो अन्तःकरण के साथ तादात्म्यापन्न होकर अग्नि में तपाए गये लोहे की भाँति, अन्तःकरण के धर्मों, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि को अपने में आरोपित कर लेती है। ज्ञानानन्तर, अन्तःकरण के आत्मा में तादात्म्य में प्रमितत्व के न रहने पर आत्मा को 'असंग' या सभी पदार्थों के सम्बन्ध से रहित समझ लेने पर कर्तृत्वादि का भान नहीं रह जाता। उदयनाचार्य ने कुसुमांजलि में इस अविद्या को सहकारि शक्ति के रूप में वर्णित करते हुए कहा है—

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम॥

(न्यायकुसुमाञ्जलि 1/20)

ईश्वर की जिस असमा या विलक्षणा सहकारि शक्ति (सहायता करने वाली शक्ति) को हम नैयायिक अदृष्ट शब्द से कहते हैं, उसे ही इन्द्रजाल के समान दुर्ज्ञेय होने के कारण बौद्ध दार्शनिक 'माया' शब्द से अभिहित करते हैं।

सांख्याचार्यगण सम्पूर्ण प्रपंच का मूल कारण होने से प्रकृति कहते हैं। प्रबोध से भयभीत होने वाली वही शक्ति वेदान्त सम्प्रदाय में अविद्या शब्द का वाच्य होती है। इस प्रकार प्रायः सभी दार्शनिक चेतन ईश्वर की सहकारिणी शक्ति के रूप में भिन्न-भिन्न नामों से जिसे स्वीकार कर रहे हैं, उस अविद्या शक्ति को वेदान्ती लोग **'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्'** (श्वे.उप., मं. 3) इस श्रुति से प्रमाणित करते हैं। इस श्रुति में अविद्या तथा माया शब्दों का उल्लेख तो नहीं है; किन्तु आत्मशक्ति शब्द से यह स्पष्ट होता है कि यह स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप आत्मा की शक्ति है, जो अपने गुणों के कारण निगूढ़ (छिपी हुई) है। अज्ञोऽहम्–मैं अज्ञानी हूँ, यह अनुभव भी अज्ञान को प्रमाणित करता है। इस अज्ञान का चेतन के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध है; क्योंकि अनादि काल से आज तक हम आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सके हैं, अतः वेदान्त सम्प्रदाय में अविद्या एवं चित् के सम्बन्ध को अनादि कहा जाता है। अविद्या को भी अनादि या कारणरहित स्वीकार कर उसकी उत्पत्ति का बाध तो किया जाता है। किन्तु अनादि होते हुए भी वह सान्त है, अतएव तत्त्वज्ञान या आत्मा का[51] अपरोक्ष साक्षात्कार होने के बाद अविद्या नहीं रहती, यह वेदान्त परम्परा की मान्यता है। किन्तु अविद्या के सम्बन्ध में विचार करते समय यह अवश्य विचारणीय है कि अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी सभी को सर्परूप में क्यों नहीं दिखाई देती। किसी को वह जल की धारा के रूप में प्रतीत होती है, कोई उसे टूटी हुई माला समझता है। रस्सी यदि बहुत मुड़ी हुई नहीं है तो कोई उसे दण्ड समझ लेता है। आवरणशक्ति तो एक ही है फिर विक्षेप (कार्य) भिन्न-भिन्न क्यों हो रहे हैं? इसका समाधान 'अदृष्ट' या पूर्व जन्मों में कृत कर्मों को सहकारि कारण स्वीकार करके किया जा सकता है। जैसा पूर्व में भी कहा जा चुका है कि हमारा मृत्युकारक अदृष्ट यदि सर्परूप में परिणत होने में सहायक है तो वही रस्सी रूपी सर्प हमारी मृत्यु का कारण होता है। यदि अदृष्टवशाद् बिल्कुल कष्ट नहीं होना है, तो हम उसे अपनी अभीष्ट वस्तु माला, धारा, दण्ड आदि के रूप में देखते हैं।

अस्तु 'अदृष्ट' को सहकारि कारण मान लेने पर पूर्व में उठायी गई समस्या, जो सृष्टि के पूर्व अदृष्ट की सत्ता से सम्बन्ध रखती है, विचारणीय हो जाती है। अतः सृष्टि को अनादि मानकर किस प्रकार चिन्तक इसका समाधान करते हैं, उसे प्रस्तुत किया जा रहा है।

सृष्टिकर्ता ईश्वर, अदृष्टानुसार सृष्टि के पदार्थों का भोग करने वाले (भोक्ता) जीव तथा इन दोनों के आधारभूत अनुपहित चेतन, जिसे विशुद्ध चित् कहते हैं, के माध्यम से ही सृष्टि के उपक्रम आदि का विचार किया जा सकता है। विशुद्ध चित् शब्द से वह चेतन लिया जाता है, जिसकी कोई उपाधि या व्यावर्तक नहीं है। ईश्वर एवं जीव यह दोनों विभाग उपाधि के कारण होते हैं। जैसे एक ही राजा, परिवेश के अनुसार राजसभा में सिंहासनारूढ़ होकर राजा कहलाता है; किन्तु परिवेश बदलने पर मुकुट आदि का त्याग होने के कारण घर में वही पति/पुत्र तथा भाई आदि के रूप में व्यवहृत होता है। उसी प्रकार आत्मा भी उपाधि-रहित होने पर शुद्ध चित् तथा उपाधि का योग होने पर ईश्वर एवं जीव के रूप में व्यवहृत होता है। शुद्ध सत्त्व प्रधान अविद्या के उपाधि होने पर उसे 'ईश' कहा जाता है तथा मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या के उपाधि होने पर उसे जीव कहते हैं। अविद्या त्रिगुणात्मिका है। इसमें सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुण हैं। सत्त्व से ज्ञान की उत्पत्ति होती है यह गीता में कहा गया है। सत्त्व गुण का भी दो भेद स्वीकार किया गया है—1. शुद्ध सत्त्व एवं 2. मलिन सत्त्व। शुद्ध सत्त्व प्रधान त्रिगुणात्मक अविद्या ईश्वर की उपाधि है। अतः वह सर्वज्ञ होता है। मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या जीव की उपाधि है, अतः वह अल्पज्ञ होता है; किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर यह प्रश्न होता है कि वह कौन सा कारण है जिससे ईश्वरोपाधि अविद्या में शुद्ध सत्त्व का प्राधान्य होता है? विचार करें तो ईश्वरेच्छा को इसका कारण मान लेने पर यह शंका समाहित हो जाती है अथवा इसका समाधान **'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'** (नृ.ता.उप. 9, जिसका उल्लेख सिद्धान्तलेशसंग्रह के जीवेश्वरस्वरूपनिरूपण में– **'तत्त्वविवेके तु त्रिगुणात्मिकाया मूलप्रकृतेर्जीवेशावाभासेन करोति माया च अविद्या च स्वयमेव भवति इति श्रुतिसिद्धौ द्वौ रूपभेदौ.....'** इस रूप में है) के अर्थ के आधार पर भी हो जाता है; क्योंकि श्रुति में यह प्रतिपादित है कि ईश्वर की उपाधि स्वयं माया एवं अविद्यारूप में होकर माया में प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर नाम से तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन को जीव नाम से व्यवहृत कराती है। इस प्रकार यह स्वीकार कर लिया गया है कि विचित्र अचिन्त्य[52] अनेक शक्तियों से सम्पन्न ईश्वर की उपाधि ही स्वयं अपना दो विभाग

करती है तथा इन्हीं दोनों[53] उपाधियों में प्रतिबिम्बित चेतन का नाम ईश्वर एवं जीव होता है। यद्यपि ईश्वर एवं जीव दोनों के अनादि होने के कारण इस विवाद में उलझना बहुत समीचीन नहीं है। क्योंकि अनादि पदार्थों का कोई कारण नहीं होता, तथापि इस विचार को तार्किक दृष्टि का समुन्मीलन मात्र स्वीकार करना उचित होगा। ईश्वर की उपाधि ईश्वर के अधीन होती है[54]। वह स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य नहीं करती अपितु ईश्वरेच्छा से ही जगत् की सृष्टि करती है। अतः ईश्वर की इच्छा ही जीवभाव का नियमन करती है। यह पक्ष कारणविषयक जिज्ञासा अर्थात् अविकृत ब्रह्म विकृत होकर जीव रूप में क्यों और कैसे आया? वह कैसे मूड़ा गया? या क्यों विरूप हुआ? इस जिज्ञासा को शान्त करता है। अतएव गीता में भगवान् कृष्ण ने प्रकृति के द्वारा सृष्टि की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा है—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥ (9/10)

त्रिगुणात्मिका प्रकृति मेरी प्रेरणा से चराचर जगत् की उत्पत्ति उसी प्रकार करती है जैसे मायावी के द्वारा नियन्त्रित माया काल्पनिक गज, रथ, तुरग (घोड़ा) आदि की सृष्टि करती है। इस प्रकार मुझ चेतन की प्रेरणा के कारण ही यह चराचर जगत् विविध रूपों में परिवर्तित होता हुआ जन्म आदि 6 विकारों को प्राप्त करता रहता है।

किन्तु इस पक्ष में यह दोष आने की शंका होती है कि उपाधि (अविद्या) के एक होने से प्रतिबिम्ब का भेद नहीं होगा। अर्थात् ईश्वर और जीव एक हो जायेंगे। अतः माया को ईश्वर की उपाधि स्वीकार करके उपाधियों के भेद के कारण प्रतिबिम्ब के भेद की उपपत्ति की जाती है। इस पक्ष का पोषण **'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'** इस वाक्य से होता है। सिद्धान्तलेशसंग्रह के प्रथम परिच्छेद, जीवेश्वरस्वरूपनिरूपण में– **'संक्षेपशारीरके तु कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वर इति श्रुतिमनुसृत्य अविद्यायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः अन्तःकरणे चित्-प्रतिबिम्बो जीवः'** यह उल्लेख है। श्रुति का अर्थ स्पष्ट है। अविद्या का कार्य अन्तःकरण, जीव की उपाधि है तथा कारणरूप में विद्यमान अविद्या ईश्वर की

उपाधि है। अन्तःकरणों के भिन्न-भिन्न होने से उपाधि-भेद के आधार पर जीवों का भेद भी स्वतः हो जाता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अविद्या के कार्य अन्तःकरण को जीव की उपाधि स्वीकार करने पर पूर्वश्रुति 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' से विरोध होगा; क्योंकि उपर्युक्त श्रुति में अविद्या को ही जीव की उपाधि कहा गया है न कि अविद्या के कार्य को, तथापि दोनों वाक्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए यह कहा जा सकता है कि अविद्या के कार्य अन्तःकरण को ही प्रकृत में अविद्या शब्द से व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार कार्य एवं कारण में अभेद की दृष्टि[55] अपनाई गई है। ऐसा अनेक स्थलों पर देखा जाता है।

यद्यपि इस पक्ष में भी यह शंका होती है कि अन्तःकरण के उत्पन्न होने से जीव भी उत्पन्न या सादि होगा; क्योंकि उपाधि के अनुसार ही उपाधि-विशिष्ट चैतन्य में उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति का व्यवहार होता है, वस्तुतः तो वह अनादि ही है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जीव को सादि (उत्पन्न) अथवा अनादि कुछ भी स्वीकार कर लें, कोई हानि नहीं है; क्योंकि बिना अदृष्ट के अन्तःकरण की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतः सादि मानने पर जब जीव की सृष्टि पहली बार हो रही हो तो उसके पहले अदृष्ट आयेगा कहाँ से? धर्म एवं अधर्म को करने वाला कोई अन्य है ही नहीं। एक आपत्ति यह भी है कि जब भी जीव की सृष्टि पहली बार होगी, बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी; क्योंकि पूर्व अनुभवजन्य संस्कार नहीं है।

इसका समाधान करने हेतु संसार को अनादि[56] मानकर यह कहना चाहिए कि अन्तःकरण की सर्वथा नूतन रूप से सृष्टि नहीं हो सकती। संसार के अनादि होने के कारण पूर्वकल्प की सृष्टि में जो अदृष्ट (धर्म एवं अधर्म) प्रलय के पहले अपना भोग नहीं दे सके वे प्रलयकाल में अन्तःकरण के साथ स्थूलरूपता को छोड़कर सूक्ष्मरूप में अपने कारण अविद्या में लीन होकर सुप्त रूप में पड़े रहते हैं। प्रलय की सम्पूर्ण अवधि में इसी रूप में अदृष्ट, अविद्या में रहते हैं। बाद में स्थूलरूप को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार सभी पूर्व कल्पों में प्रलयकाल में सूक्ष्मरूपता तथा सृष्टिकाल में स्थूलरूपता को लेते हुए अन्तःकरण मोक्षपर्यन्त स्थायी होते हैं। अतः पूर्वोक्त दोष वारित हो जाता है। अन्तःकरण का सूक्ष्मरूप

में होना ही उसका प्रलय है तथा स्थूलरूपता को प्राप्त करना सृष्टि है। अन्तःकरण की सर्वथा नूतन सृष्टि नहीं होती।

∵ सुषुप्ति में भी अन्तःकरण के लीन होने के कारण कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता; किन्तु सोते समय यदि अन्तःकरण पूर्णतः नष्ट हो जाय अथवा अपने कारण अविद्या में लीन हो जाय, तो जागने पर पुनः उसकी नये रूप में उत्पत्ति कहनी होगी, जो स्वीकार्य नहीं है। यदि नया अन्तःकरण बनेगा तो पिछले दिन जो काम जहां छोड़ा गया था उसके आगे उसका प्रारम्भ नहीं होगा। पूर्वदिन में अनुभूत वस्तुओं का आज स्मरण भी नहीं होगा; क्योंकि अनुभवजन्य संस्कार, जिससे स्मृति होती है, अन्तःकरण के साथ नष्ट हो गया है। अतः यही कहना होगा कि वासना के सहित अन्तःकरण सूक्ष्मरूप से अपने कारण अविद्या में रहता है तथा जगने पर पुनः स्थूलरूपता को प्राप्त कर लेता है। वेदान्तपरिभाषा ग्रन्थ में तो सुषुप्ति में ज्ञान के न होने के कारण यह स्वीकार किया गया है कि ज्ञानशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण लीन हो जाता है; किन्तु क्रियाशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण रहता है। अतः उसमें संस्कार आदि के रहने में कोई आपत्ति नहीं है (वेदान्तपरिभाषा, विषय-परिच्छेद, पृ. 368)। इस प्रकार पूर्व दिन के संस्कार आदि के नष्ट न होने से स्मृति में भी कोई बाधा नहीं होती। अन्तःकरण के सूक्ष्मावस्थाप्राप्तिरूप कार्य अथवा स्थूल अवस्था प्राप्ति रूप कार्य के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की इच्छा एवं अदृष्ट को स्वीकार किया जाता है। अविद्या उपादान कारण है; क्योंकि अविद्या का कार्य या परिणाम ही अन्तःकरण है। इन दोनों का सहायक अदृष्ट बनता है; क्योंकि उसके बिना कोई कार्य नहीं होता।

इस प्रकार सृष्टि तथा प्रलय दोनों अवस्थाओं में चेतन आत्मा के साथ अन्तःकरणरूप उपाधि का सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर अनादि अन्तःकरण सम्बद्ध जीव की अनादिता को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होती। वस्तुतः आत्मा असंग है। आत्मा को असंग कहने का आशय है सम्बन्ध या सम्पर्करहित होना। सम्बन्ध के लिए सम्बन्धी का होना आवश्यक है। आत्मा असंग तभी हो सकता है जब आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ न हो, आत्मा से भिन्न किसी पदार्थ के होने पर व्यापक आत्मा का उससे सम्बन्ध अवश्य होगा। पदार्थ, जिसकी सत्ता सम्भावित है, नित्य, अनित्य, व्यापक, परिच्छिन्न, जड़ एवं चेतन आदि रूपों में

हो सकते हैं। इसका आशय यह हुआ कि आत्मा से भिन्न पदार्थ नित्य होकर, व्यापक या परिच्छिन्न तथा जड़ अथवा चेतन, अथवा अनित्य होकर, व्यापक या परिच्छिन्न तथा जड़ या चेतन होगा। यद्यपि **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्'** (काठ.उप. 2/2/13) (जो नित्य से भी नित्य है, चेतन से भी चेतन है, जो एक है किन्तु बहुतों की कामनाओं की पूर्ति करता है) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा से भिन्न पदार्थ का अस्तित्व एवं बहुत्व प्रमाणित करती है। तथापि **'सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्'** (छा.उप. 6/2/2) 'सृष्टि के पूर्व काल में यह एक सत् एवं अद्वितीय तत्त्व ही था' इस श्रुति से विरोध होने के कारण उपर्युक्त छः प्रकार के पदार्थों में से किसी की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। क्योंकि आत्मा से भिन्न नित्य पदार्थ, चाहे वह व्यापक है या परिच्छिन्न, जड़ हो या चेतन, स्वीकार करने पर उसकी सर्वदा सत्ता माननी होगी, जबकि श्रुति कहती है—अग्रकाल में (सृष्टि के पहले) सत् ही था अन्य नहीं था। यदि यह कहा जाय कि इस नित्यपदार्थ को चेतन या सत् के रूप में स्वीकार करें तो दो सत् के होने पर भी श्रुति विरोध नहीं है तो यह उचित नहीं है; क्योंकि अद्वितीय शब्द से द्वितीय मात्र के राहित्य का प्रतिपादन किया गया है। अतः द्वितीय मात्र का निषेध हो जाने पर आत्मा से भिन्न पदार्थ को अनित्य, नित्य व्यापक या परिच्छिन्न तथा जड़ या चेतन रूप में नहीं कहा जा सकता। किन्तु **'नित्यो नित्यानाम्'** इत्यादि श्रुतियों को उपचरितार्थक कहना होगा; यतः उपक्रम, उपसंहार आदि न्याय से श्रुति का तात्पर्य अद्वैत में है। इस प्रकार असङ्ग आत्मा का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं होता तो अन्तःकरण के साथ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, तथापि अज्ञानावस्था में अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में तथा आत्मा के धर्मों का अन्तःकरण में अध्यास, (अतस्मिंस्तद्बुद्धि) उससे भिन्न में तद्बुद्धिरूपता, रजत से भिन्न शुक्ति में रजत बुद्धि की तरह, कर्तृत्व भोक्तृत्व रहित जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति होती है। अतः यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं, आध्यासिक या प्रातीतिक है।

अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध के कारण जीव अपने असंग स्वरूप से विपरीत भाव को प्राप्त होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि अकर्ता आत्मा में कर्तृत्व (मैं कर्ता हूँ) का भाव आता है। असंग जीव में भोक्तृत्व का भाव आता

है। सुखरूप आत्मा अपने को दुःखी समझने लगता है। यही चेतन आत्मतत्व का मुण्डन या विपरीत करण है, जो चेतन आत्मतत्त्वस्वरूप 'ब्रह्म' के नियन्त्रण में रहने वाली प्रकृति (अविद्या) के द्वारा होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस मुण्डन या विरूपता में चेतन, अविद्या तथा अदृष्ट तीनों का योग होने पर भी मुख्य रूप से 'कारणता' चेतन में ही जाती है। अतएव 'किसने मूड़ा' इस प्रश्न का उत्तर 'सद्‌गुरु मूड़ा' इस वाक्य से दिया गया है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उचित है।

किन्तु इस उत्तर-वाक्य को सुनने पर एक जिज्ञासा होती है—'सद्‌गुरु' शब्द का प्रयोग 'चेतन ब्रह्म' के लिए क्यों किया गया? लौकिक दृष्टि से तो उसका प्रयोग 'सद्‌गुरु से दीक्षा प्राप्त हुई' इस अर्थ को व्यक्त कर सार्थक हो सकता है, फिर भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि गुरु शब्द का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। सद्‌गुरु शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? आध्यात्मिक अर्थ के पक्ष में भी यह जिज्ञास्य है; क्योंकि ब्रह्मतत्त्व के वाचक अनेक शब्द प्रसिद्ध हैं। सद्‌गुरु शब्द से तो ब्रह्म अर्थ का बोध भी सामान्य रूप से नहीं होता है; किन्तु यदि 1. गुरु कौन होता है? तथा 2. गुरु का कार्य क्या है? केवल इन दो तथ्यों पर विचार किया जाय तो यह शंका समाहित हो सकती है।

गुरुशब्दार्थ विचार

लोक में प्रसिद्धि है कि गुरु का आश्रयण[57] विद्या प्राप्ति के लिए होता है। अतः परा विद्या एवं अपरा विद्या नाम से प्रसिद्ध दोनों विद्याओं की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है। लोक-संस्थिति के लिए अपेक्षित विद्याओं[58] को अपरा विद्या कहते हैं। परा-विद्या मोक्ष का कारण होती है। वस्तुतः पराविद्या ही विद्या है; क्योंकि **'सा विद्या या विमुक्तये'**—'विद्या वही है जिससे विमुक्ति या मोक्ष हो' विष्णुपुराण (1/19/41) में यही प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार गुरु या मार्गदर्शक पराविद्या एवं अपराविद्या को बताने के कारण दो प्रकार के हो जाते हैं। किन्तु मुख्य रूप से गुरु शब्द, उन महापुरुषों का बोधक है जो 'पराविद्या' की प्राप्ति के साधनों का उपदेश करते हैं। पराविद्या ब्रह्मविद्या है, जिसकी प्राप्ति हेतु, मोक्ष-साधनों को बताने के लिए महापुरुषों ने समय-समय पर अनेक रूपों में प्रयास किया। यह प्रयास देवभाषा संस्कृत में तथा आंचलिक भाषाओं में भी

हुए। मात्राशास्त्र भी उदारमना आचार्यचरण का ऐसा ही प्रयास है। श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश भी इसी प्रकार के एक प्रयास का मूर्तरूप है। यह उपदेश अर्जुन के मित्र कृष्ण का नहीं, गुरुरूप में श्रद्धा के आस्पद बने कृष्ण का है। मोह के कारण युद्ध से पराङ्मुख अर्जुन **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**[59] (गीता 2/7) 'मैं आपका शिष्य हूँ, मैंने प्रपत्ति[60] कर ली है, आप मुझे उपदेश दें' ऐसा कहते हुए जब अनन्य निष्ठा प्रकट करते हैं, तभी भगवान् श्रीकृष्ण उनके उद्धार के लिए मोक्ष-साधनों का उपदेश करते हैं। इस उपदेश की एक विशेषता है, यह केवल संशय दूर करने के लिए नहीं प्रत्युत लक्ष्य प्राप्ति के लिए किया गया है। अर्जुन केवल जिज्ञासुभाव से नहीं पूछ रहे हैं, उन्होंने प्रपत्ति भी कर ली है। अतः गुरु के दायित्वों का निर्वाह करते हुए कृष्ण ने न केवल संशयों को ही दूर किया, प्रत्युत लक्ष्य प्राप्ति के लिए उपदिष्ट मार्ग पर चलते समय आने वाली कठिनाइयों से रक्षा का भार भी लिया। बहुत कम ऐसे गुरु होंगे जो कृष्ण की तरह यह कह सकेंगे कि चिन्ता मत करो मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा[61]। श्रीकृष्ण के इस वचन की विवेचना की जाय तो गुरु का स्वरूप एवं कार्य दोनों ही स्पष्ट हो जाते हैं। गीता का उपदेश समाप्त हो चुका है, यह अन्तिम श्लोक है, जिसमें श्रीकृष्ण यह कह रहे हैं कि तुम हमारी शरण में आओ केवल मुझको रक्षक समझो। वर्ण (क्षत्रिय) का धर्म अथवा गृहस्थाश्रम में किए गए अन्य गृहस्थोचित धर्म तुम्हारी रक्षा करेंगे, यह बात मन से निकाल दो; क्योंकि मानव शरीर से किये जाने वाले पुण्यकर्म (धर्म) अपना सुखरूप फल अथवा स्वर्गादि लोक तो दे सकते हैं; किन्तु पाप कर्मों के फल को भोगने से बचा नहीं सकते, उन्हें तो तुम्हें भोगना ही होगा। अतः पापों से मुक्ति चाहते हो तो हमारी शरण में आओ, हमको रक्षक समझो। मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा। अर्थात् पाप तुम्हें नरक आदि की यातना अथवा इस लोक में भी अनिष्ट फल नहीं दे सकेंगे। अर्जुन इस आश्वासन से अत्यधिक सन्तुष्ट होते हैं तथा आश्वस्त होकर श्रीकृष्ण को अपने दृढ़ निश्चय से अवगत कराते हुए कहते हैं—हे अच्युत,[62] मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे अपने स्वरूप की स्मृति हो रही है, मैं अपने अविक्रिय ब्रह्मस्वरूप की अनुभूति आपकी कृपा से कर रहा हूँ। अतः आपका जो आदेश है उसका पालन करने हेतु मैं युद्ध करूँगा। यहाँ यह विचारणीय है कि श्रीकृष्ण ने कहा—मैं तुम्हें पापों से मुक्त कर दूँगा, 'हमारी

शरण में आ जाओ' तथा अर्जुन ने उसे यथावत् स्वीकार कर लिया। श्रीकृष्ण के इस वचन पर विश्वास किया; क्योंकि वह श्रीकृष्ण की विलक्षण शक्ति को विश्वरूप दर्शन के व्याज से अनुभूत कर चुके हैं। किन्तु ऐसी परिस्थिति में पापों का फल कहाँ जायेगा? क्या शरणागति मात्र से पापों के फल से बचा जा सकता है? यदि ऐसा स्वीकार कर लें तो 'बिना दुःख का भोग दिये पापकर्म शान्त नहीं होते, वे तो कभी भी अवसर पाकर फल देते ही हैं' इस सिद्धान्त को तिलांजलि देनी होगी, जो सम्भव नहीं है। अतः यह कहना होगा कि गुरुरूप श्रीकृष्ण अर्जुन को यह आश्वासन देते हैं कि मैं तुम्हें इस शरीर से स्वरूप-साक्षात्कार (आत्मज्ञान) करा दूँगा, जिससे आगे शरीर नहीं मिलेगा और इस शरीर से होने वाले पाप[63] एवं पुण्य (कर्म) ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध होने के कारण कष्ट देने का अवसर नहीं प्राप्त कर सकेंगे। यह द्रष्टव्य है कि परमकारुणिक जगद्गुरु श्रीकृष्ण शिष्यभाव में प्रपत्ति को प्राप्त अर्जुन को केवल सभी पापों से मुक्त करने का आश्वासन देते हैं, जबकि करुणावरुणालय जगद्गुरु भगवान् श्रीचन्द्र मात्राशास्त्र के धारक अनुग्रह-पात्र शिष्यों को न केवल लौकिक एवं पारलौकिक अभीष्टों के संसाधन अपितु जन्म-मृत्यु रूप संसृति की निवृत्तिरूप परममोक्ष प्रदान करने का उद्घोष करते हुए कहते हैं—

ऐसी मात्रा ले पहिरे कोय।
आवागमन मिटावे सोय॥

प्रकृत में विशेष द्रष्टव्य है कि यहाँ त्वम् (तुम) शब्द का प्रयोग न करके आचार्यचरण ने सार्वजनीन 'कोय' (कोई भी) शब्द का प्रयोग किया है, जिससे उनकी अनुग्रह-दृष्टि की व्यापकता एवं सर्वजनसुलभता लक्षित होती है।

अस्तु, प्रकृत में गुरु के स्वरूप को समझने के लिए यह विचार करना प्रासंगिक है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मज्ञान कराने का वचन दिया तो क्या शिष्य की पात्रता का विचार किए बिना ही अभयदान कर दिया। ऐसा नहीं। कृष्ण अर्जुन को अच्छी तरह से जानते हैं, उसके द्वारा पिछले जन्मों में किये गये कर्मों को भी जानते हैं, तभी तो कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ (गीता 4/5)

हे अर्जुन! तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं तथा हमारे भी बहुत से जन्म हुए हैं, मैं उन सभी जन्मों के बारे में जानता हूँ तथा उन जन्मों में किये गये कर्मों के बारे में भी जानता हूँ; किन्तु तुम्हें उसकी जानकारी नहीं है। यह उचित भी है; क्योंकि जीव को अपने विगत जन्मों का ज्ञान हो जाय तो उसके जीवन से शान्ति कोसों दूर हो जायेगी। एक जन्म के सम्बन्धों को न भूल पाने वाला जीव अनन्त जन्मों के सम्बन्धों को कैसे भुला पायेगा? वह संसार से विमुख होकर अपना उद्धार कैसे करेगा? अतः यह कहना चाहिए कि जन्मान्तर की विस्मृति भगवान् का अनुग्रह है।

इस प्रकार गुरुरूप श्रीकृष्ण की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। श्रीकृष्ण अर्जुन के अतीत एवं भविष्य दोनों को जानते हैं। वे जानते हैं कि अर्जुन हमारी कृपा का पात्र बनेगा। उसको स्वरूप-साक्षात्कार होगा, तथापि प्रारब्ध कर्म का क्षय करने हेतु युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं। वे जानते हैं कि अवसर आने पर ज्ञान की प्राप्ति इसे स्वयं होगी। अतः अदृष्ट क्षयार्थ इस समय इसको कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। अतएव उन्होंने उपदेश के प्रसंग में अर्जुन से कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽत्मनि विन्दति॥

(गीता 4/38)

कि ज्ञान के समान अन्तःकरण को पवित्र करने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है तथा उस ज्ञान को कर्मयोग अथवा समाधि-योग के द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर मुमुक्षु जन, समय आने पर प्राप्त करते हैं। यह समय बहुत अधिक अर्थात् अनेक जन्मों का भी हो सकता है। अतएव श्रीकृष्ण कहते हैं—**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते** (गीता 7/19)—बहुत जन्मों के प्रयास के बाद ज्ञानी मुझको प्राप्त करता है।

यद्यपि इस वचन को सुनकर अर्जुन को इस जन्म में ज्ञान-प्राप्ति होगी या नहीं? यह सन्देह होना चाहिए; क्योंकि उनको तो यह मालूम नहीं है कि हमें ज्ञान कब होगा अथवा होगा या नहीं। किन्तु अर्जुन को यह भय नहीं होता; क्योंकि उन्हें गुरुरूप श्रीकृष्ण की कृपा पर भरोसा है। कृष्ण के यह दो वचन उन्हें अत्यधिक सान्त्वना दे रहे हैं—

1. तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता 10/11)

2. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता 12/7)

वे जान रहे हैं, जो भक्त प्रीतिपूर्वक निरन्तर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं, उनके गुणों का गान करते हैं, उनके ऊपर अनुग्रह करके भगवान् उन्हें तत्त्वज्ञान देते हैं। उन्हीं के ऊपर अनुग्रह का यह फल है कि भगवान् उनके अन्तःकरण में स्थित होकर ज्ञानरूपी दीप से अज्ञान को दूर करते हैं।

उनकी स्मृति में यह भी है कि जो लोग केवल उनकी उपासना में ही लीन हैं, उनका वे मृत्युयुक्त संसार से बहुत जल्दी उद्धार कर देते हैं। किन्तु यह उपासना मानसिक भी होनी चाहिए, चित्त का कृष्ण में लगाव होना चाहिए, तभी ऐसा होता है। बिना मन लगाए हुए बाह्य पुष्प-माला आदि पूजा सामग्रियों के द्वारा यन्त्रवत् की गयी पूजा से प्रभु की पूर्ण कृपा नहीं प्राप्त होती; क्योंकि बाह्य पूजा में व्यक्ति के चित्त की उतनी तन्मयता नहीं रहती।

अस्तु, गुरुरूप श्रीकृष्ण की सर्वज्ञता, एकनिष्ठ होकर भजन करने वाले शिष्य (भक्त) के उद्धार हेतु उनकी व्याकुलता तथा अनुग्रह-दृष्टि से भक्त (शिष्य) को आत्मज्ञान सम्पन्न बनाकर तत्काल मृत्यु संसार-सागर से मुक्त करने की क्षमता (जो वर्णित की गई है) को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सद्गुरु वही है जो उपर्युक्त गुणों से युक्त हो, अर्थात् जो सर्वज्ञ हो, जिसमें शिष्य का उद्धार करने की व्याकुलता हो तथा आत्मसाक्षात्कार कराने की सामर्थ्य हो।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि गीता के उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर जिन गुणों का वर्णन पूर्व में किया गया है वे गुण तो परमात्मा के हैं, शरीरधारी जीव, जिसे लोग गुरु के रूप में प्राप्त करते हैं, उसमें उपर्युक्त गुण अथवा जीव (शिष्य) का उद्धार करने की सामर्थ्य तो नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसी सामर्थ्य अथवा ईश्वरीय गुण जिसमें हों उसे ईश्वर ही कहना चाहिए। फिर वह जीव कैसे है? तथापि वेद में गुरु का जो स्वरूप वर्णित है उसको जान लेने के बाद यह

शंका स्वतः निर्मूल हो जायेगी, अतः गुरु के (वेदवर्णित) स्वरूप पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे सद्गुरु शब्द के प्रयोग की सार्थकता भी स्पष्ट हो सकेगी।

इस सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् में प्रथम मुण्डक की समाप्ति पर दिये गये दो मन्त्र विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नाऽस्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥12॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥13॥

साध्यसाधनरूप[64] सम्पूर्ण संसार से विरक्त पुरुष का ही पराविद्या (ब्रह्मविद्या) में अधिकार है। अतः ब्रह्मविद्या के अधिकारी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों को परीक्षापूर्वक अनित्य समझ लेने के पश्चात् ब्राह्मण (ब्रह्म-जिज्ञासु) को अत्यधिक पश्चात्तापपूर्वक वैराग्य होता है। क्योंकि वह जानता है कि मैंने आजीवन कर्तव्य-बुद्धि से अग्नि आदि की उपासना करते हुए जिन कर्मों का अनुष्ठान किया, उनसे मिलने वाले लोकों का भोग समाप्त होने पर पुनः संसार (जन्म-मृत्यु के गर्त) में आना होगा। अतः कर्मों से नित्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार सोचते हुए कर्म तथा कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों से विरक्त होने के अनन्तर नित्य अभय पद की जिज्ञासा उसके मन में होने लगती है। अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वह शास्त्रों का अध्ययन कर नित्य पद का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसकी प्राप्ति हेतु शास्त्रों में वर्णित साधनों का अनुष्ठान भी कर सकता है। किन्तु 'श्रुति', नित्यपद रूप, ब्रह्म की प्राप्ति या विज्ञान रूप अपरोक्ष साक्षात्कार के लिए केवल शास्त्र के अवलम्बन का निषेध करती है। यतः श्रुति में विधि तथा निषेध के लिए दो वचन मिलते हैं, जिन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं पढ़कर

अथवा अवर-अश्रेष्ठ मनुष्य से आत्मतत्त्व का उपदेश प्राप्त कर आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** (मु.उप. 1/2/12) इस वाक्य में 'एव' शब्द का प्रयोग है, जो गुरुपसत्ति से भिन्न ज्ञान के अन्य प्रकारों का निषेध करता है। स्वयं **'तत्त्वमसि'** (छा.उप. 6/8/7) **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ.उप. 1/4/10) इत्यादि वाक्यों का ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से पढ़ना भी इस प्रकार निषिद्ध हो जाता है। **'न नरेणावरेण प्रोक्तः सुविज्ञेय एष धर्मः'** (काठ.उप. 1/2/8) यह वाक्य भी यह बताता है कि आत्मज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति से भिन्न किसी भी व्यक्ति के मुख से आत्मतत्त्व का उपदेश प्राप्त करने पर आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता; क्योंकि सभी लोग आत्मसाक्षात्कार के अभाव में 'अवर' नर ही हैं। (विशेष अर्थ पृ. 89 पर द्रष्टव्य) अतः श्रुति का यह आदेश है कि नित्य पद (ब्रह्मपद को जानने की इच्छा) हो तो हाथ में समिधा (सम्यक्तया इध्यते दीप्यते अग्निरनया–जिससे अग्नि अच्छी तरह से प्रदीप्त हो सके उसे समिधा कहते हैं।) लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए। यहाँ ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए जिस अविचल श्रद्धा की आवश्यकता है, उसे करतल अर्थात् पुरतः करके गुरूपसदन (गुरु के पास जाने) का संकेत है। 'श्रत्' शब्द वाच्य ब्रह्म को धारण करने के कारण श्रद्धा को समिधा शब्द से कहा जाता है। समिधा हवन की लकड़ी को कहते हैं। इस श्रुतिवाक्य में गुरु के दो गुणों का वर्णन है। उसको सम्प्रदायपुरस्सर शास्त्राध्ययन सम्पन्न होना चाहिए, जिससे वह ब्रह्म के विषय में की जाने वाली जिज्ञासाओं का समाधान कर सके तथा भिन्न-भिन्न उदाहरणों के द्वारा उस तथ्य को समझाकर शिष्य की जिज्ञासा को शांत कर सके। उसका दूसरा गुण ब्रह्मनिष्ठता है, अर्थात् उसे ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न होना चाहिए।

यद्यपि यह शंका होती है कि गुरु का वेदाध्ययन सम्पन्न होना (श्रोत्रिय होना) तो आवश्यक है; क्योंकि वह शास्त्रीय युक्तियों से शिष्य की शंकाओं का समाधान कर, ब्रह्मप्राप्ति के साधनों के अनुष्ठान में उसकी निष्कम्प प्रवृति करा सकता है; किन्तु वह ब्रह्मज्ञानसम्पन्न होकर शिष्य की किस रूप में सहायता करेगा? शिष्य के अज्ञान को दूर करने की सामर्थ्य भी तो ईश्वर में ही है। फिर इस स्वरूप का उपयोग क्या है? यह शंका केवल अविचारित रमणीय है;

क्योंकि गुरु देव में यह सामर्थ्य होती है कि वह शिष्य के अनेक जन्मों के कर्मों को अपने आत्म ज्ञान के प्रभाव से दग्ध कर सकते हैं। दग्ध न करें, तो भी उन्हें अन्य शरीर या लोक में अथवा स्वप्नादि में भोग प्राप्ति हेतु कालान्तरित कर ज्ञान प्राप्ति का आवश्यक सुयोग परिकल्पित कर सकते हैं। अतएव ज्ञानप्राप्ति के लिए गुरु की सन्निधि में जाना चाहिए, यह श्रुति का उद्घोष है।

किन्तु एक कठिनाई और भी है, कौन ब्रह्मवित् है, इसकी पहचान कैसे होगी? श्रुतिवाक्य में यह तो विधान कर दिया गया कि निर्वेद (वैराग्य) होने पर तत्त्व की प्राप्ति के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास श्रद्धापूर्वक हाथ में उपहार लेकर जाना चाहिए। इस विधिवाक्य के अनुसार गुरु के पास अज्ञानी शिष्य तो जा ही नहीं सकता; क्योंकि वह उसको पहचान नहीं सकता। ब्रह्मविद् महापुरुष को पहचानना आसान होता तो अर्जुन कृष्ण से स्थितप्रज्ञ की बोलचाल एवं रहन-सहन की विधा को जानने हेतु प्रश्न न करते?[65] इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मवेत्ता की पहचान के अभाव में उसके पास जाना सम्भव नहीं है। किन्तु श्रुति ऐसे महापुरुष से ही ज्ञान प्राप्त करने हेतु आज्ञा दे रही है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी यही कहा है, तत्त्वज्ञानी लोग ही ज्ञान का उपदेश करेंगे। अतः श्रुतिवाक्य तथा गीता के वचन दोनों का समन्वय करते हुए यह कहना चाहिए कि ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर गुरु[66] सर्वज्ञ हो जाता है। वह शिष्य की योग्यता का आकलन कर तदनुसार उसे उपदेश देता है; क्योंकि आध्यात्मिक योग्यता सम्पन्न अधिकारी को मार्ग देने का काम गुरु का है। वह स्वप्न में शिष्य के पास जाकर अथवा जाग्रत अवस्था में उसको अपने पास बुलाकर शिष्य की जिज्ञासा शान्त करता है। राजा जानश्रुति[67] को सोते समय आकाश में उड़ते हुए हंसों ने गुरु (रैक्व) का परिचय बताया था। राजा रहूगण[68] को उसकी पालकी का वाहक (ढोने वाला) बनकर जड़भरत ने वार्तालाप के व्याज से उपदेश दिया था। विचारणीय है कि जानश्रुति तो रैक्व को जानता ही नहीं था। अतः उनसे उपदेश प्राप्त होगा, वे हमारे अज्ञान को दूर कर सकते हैं, इस प्रकार की सम्भावना भी उसके मन में नहीं हो सकती थी। किन्तु देवर्षियों ने उसे ऐसे ढंग से संकेत कर दिया कि उसे गुरु की प्राप्ति हो गयी। राजा रहूगण को तो जड़भरत ने स्वयं ही

मिलकर उपदेश दिया था। रहूगण यदि जड़भरत के बारे में जानता तो उन्हें शिविका में नहीं लगाता। गुरु की दयालुता देखिये, शिष्य के उद्धार के लिए उनकी आतुरता देखिए शिविका ढोते हुए ही उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। यह कहना कि ब्रह्मविद् गुरु को अज्ञानी शिष्य पहचान नहीं सकता, सही है; किन्तु गुरु के पास जा नहीं सकता, यह स्वीकार्य नहीं है। शिष्य नहीं जा सकता तो गुरु उसके पास आ जायेगा या उसे बुला लेगा। किन्तु उपदेश हेतु सन्निधान (निकटता) अवश्य बना लेगा। गुरु यह सब कैसे कर लेता है या कर लेगा, यह नहीं सोचना चाहिए; क्योंकि उसमें ब्रह्मज्ञान के अनन्तर अपरिमित सामर्थ्य आती है[६१]।

गुरु और ईश्वर की एकता

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है कि पूर्व में उद्धृत भगवान् श्रीकृष्ण का यह कथन कि अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके मैं उन्हें मृत्युसंसार-सागर से शीघ्र ही पार कर देता हूँ, तब तक सार्थक नहीं होगा जब तक गुरु और ईश्वर को एक न स्वीकार किया जाय; क्योंकि तत्त्वज्ञान का उपदेश ज्ञानी ही करेगा (श्रीकृष्ण का वचन) तथा 'तत्त्वज्ञान के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए' यह श्रुतिवचन दोनों ही ज्ञानी गुरु को उद्धारकर्त्ता बता रहे हैं। **'तेषामहं समुद्धर्ता'** (गीता 12/7) यह गीतावचन श्रीकृष्ण को उद्धारकर्ता बता रहा है। इस प्रकार ज्ञानी गुरु एवं श्रीकृष्ण में भेद दृष्टि के कारण दोनों वचनों में विरोध प्रतीत हो रहा है। यदि ज्ञानी गुरु और श्रीकृष्ण को एक मान लिया जाय तब तो इस विरोध का शमन हो सकता है। किन्तु दोनों को एक कैसे माना जाय? श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, गुरु पाञ्चभौतिक शरीर धारण करने वाला जीव है। इस शंका का समाधान **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** (मु.उप. 3/2/9) 'ब्रह्मज्ञानसम्पन्न महापुरुष ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं', इस श्रुति वाक्य से होता है। श्रुत्यनुगामी पुराणादि भी इसी बात को प्रमाणित करते हैं। अतएव रहूगण को माया से मुक्त होने हेतु मन को मारने का उपाय बतलाते हुए जड़भरत कहते हैं—

भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्यमुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्॥

(श्रीमद्भागवत-5/11/17)

यह मन ही शत्रु है, जो उपेक्षा के कारण बहुत बढ़ गया है। अतः गुरुरूप हरि (भगवान्) के चरणों की उपासनारूपी अस्त्र से तुम इसका स्वयं वध करो; क्योंकि इसने आत्मा को चुरा लिया है।

एक विचित्र बात जड़भरत कह रहे हैं, सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रकाशस्वरूप आत्मा, जो सबका साक्षी या प्रकाशक होने के कारण मन को भी प्रकाशित करता है, उसे भी मन ने चुरा लिया है। अतः मन को मार देना चाहिए, जिससे आत्मा की चोरी (अपहरण) न हो सके। लेकिन इतने कुशल चोर को मारने के लिए किस अस्त्र का उपयोग किया जाय? यह विचार करते समय जड़भरत को कोई भौतिक अस्त्र खड्ग आदि उपयुक्त नहीं मालूम पड़ा; क्योंकि वे जानते हैं कि मन को पकड़ना या निगृहीत करना ही कठिन है। भौतिक अस्त्र तो उसका स्पर्श भी नहीं कर पायेंगे। अतः गुरुरूप हरि के चरणों की उपासना को ही वह अस्त्र के रूप में उपयोग करने का परामर्श देते हैं। **'मन को मार करो असवारी'** इस मात्रा के द्वारा भी यही तथ्य प्रकट किया गया है।

किन्तु विचारणीय यह है कि अर्जुन को तो हरि (श्रीकृष्ण) गुरु के रूप में मिले थे; किन्तु सबको गुरुरूप में हरि का मिलना तो सहज सम्भव नहीं है। हम स्वप्न में भी जिसका दर्शन नहीं कर पाते वह साक्षात् गुरुरूप में आकर हमें उपदेश देगा, यह कहाँ तक सम्भव है? यह शंका उठती है; किन्तु विचार करने पर स्पष्ट होता है कि यह कथन सामान्य संसारी जीवों के लिए भले ही तथ्यपरक हो; किन्तु प्रभुकृपाप्राप्त ब्रह्मवेत्ता महापुरुष, जो भगवान् की विभूतियों से युक्त हैं, जिनके गुणों से आकृष्ट होकर भगवान् भी उनके पीछे-पीछे[70] चलते हैं, उनके बारे में यह सत्य नहीं है। उन्हें स्वप्न या जाग्रत अवस्था में दर्शन देने की बात की तो कोई चर्चा ही नहीं है। प्रभु तो अपने को पवित्र करने के लिए उनके पीछे चलते हैं। भगवान् ने ऐसे ही ज्ञानसम्पन्न महापुरुषों को अपना स्वरूप कहा है। उन्होंने अर्जुन से अपने भक्तों का वर्णन करते हुए कहा है कि चार प्रकार के भक्त हमारा भजन करते हैं, कुछ लोग आर्त होते हैं, जो अपनी पीड़ा की निवृत्ति के लिए हमें भजते हैं। जैसे द्रौपदी ने हमें पुकारा। कुछ जिज्ञासा से हमारा भजन करते हैं, कुछ लोग अर्थसिद्धि के लिए हमें भजते हैं, इसके साथ ही ज्ञानीजन भी हमारा भजन करते हैं। किन्तु इन भक्तों में ज्ञानी सबसे उत्कृष्ट हैं; क्योंकि

वह सर्वदा मुझमें मन लगाकर मेरा ही चिन्तन करते हैं। यद्यपि यह तथ्य है कि सभी भक्त उत्कृष्ट हैं; क्योंकि किसी न किसी रूप में हमारा भजन कर रहे हैं; तथापि ज्ञानी तो हमसे भिन्न नहीं है, वह हमारा स्वरूप ही है, यह हमारा निश्चय है[71]।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्मज्ञानसम्पन्न जीव, ब्रह्म या भगवत् स्वरूप ही हैं। अतः उनको गुरुरूप में प्राप्त करने पर गुरुरूप में हरि की ही प्राप्ति हो जाती है तथा उनके चरणों की उपासना से मन को मारकर माया पर विजय प्राप्त की जा सकती है। श्रीधर स्वामी ने श्रीमद्भागवत में 5/11/17 की व्याख्या में गुरु और हरि में अभेद बतलाते हुए गुरुरूप हरि की चरणोपासना से मन को शान्त करने का परामर्श दिया है। ऐसे ही ब्रह्मज्ञानसम्पन्न गुरु को सद्‌गुरु शब्द से मात्रा में कहा गया है।

सद्‌गुरु-शब्दार्थ

सम्पूर्ण मात्राशास्त्र में सद्‌गुरु शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है। प्रथम प्रयोग 'सद्‌गुरु मूड़ा' इस मात्रा में है। दूसरी बार प्रयोग 'सद्‌गुरु सीवै' इस मात्रा में होता है।

शेष नौ स्थलों में दो बार 'गुरु अविनाशी' इस शब्द से गुरु का वर्णन है तथा सात बार केवल गुरु शब्द का प्रयोग किया गया है। इन प्रयोगों को देखने के अनन्तर जिज्ञासा होती है कि गुरु, सद्‌गुरु और अविनाशी गुरु यह तीनों शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं अथवा तीनों के अर्थ में कुछ भेद है, इसी जिज्ञासा के उपशम के लिए सद्‌गुरु शब्द के अर्थ पर विचार किया जा रहा है—

सद्‌गुरु मूड़ा, लेख मुड़ाया।
गुरु का भेजा नगरी आया॥

इस मात्रा पर प्राथमिक दृष्टि से विचार करने पर ही यह स्पष्ट होता है कि मुण्डन के प्रसंग में सद्‌गुरु का स्मरण किया जा रहा है, किन्तु अग्रिम पंक्ति में ही 'गुरु का भेजा नगरी आया।' इस वाक्य में गुरु को नगरी में भेजने वाला बताया जा रहा है। अतः यहाँ से विचार की दिशा सद्‌गुरु के द्वारा मुण्डन एवं मुण्डन के पश्चात् गुरु के द्वारा नगरी में प्रेषण को दृष्टिगत कर निर्धारित हो जाती

है। सद्गुरु शब्द में दो शब्दों 'सत्' एवं 'गुरु' का समास है। समस्त शब्द का अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब कौन समास है, इसका निर्णय हो तथा घटक शब्दों के अर्थ का निर्णय हो। इस दृष्टि से विचार प्रारम्भ करने पर सद्गुरु शब्द के विभिन्न अर्थों के बोधक समास जो प्रज्ञापटल पर आते हैं, निम्न हैं।

'सतां गुरुः सद्गुरुः' इस व्युत्पत्ति में सत्पुरुषों के भ्रम को दूर करने वाले गुरु को सद्गुरु शब्द कहेगा। यदि **'संश्चासौ गुरुः सद्गुरुः'** इस विग्रह में कर्मधारय समास करें अर्थात् सत् पदार्थ को गुरु का विशेषण स्वीकार करें तो यह शब्द सद् रूप गुरु का बोधक होगा। सत् शब्द ब्रह्म का वाचक है; क्योंकि 'सत्त्वेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा.उप. 6/2/2)—इस श्रुति में ब्रह्म को 'सद्रूप' बतलाया गया है। स्वरूपलक्षणबोधक श्रुति वाक्य में ब्रह्म को सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप बतलाया गया है। किन्तु इस विग्रह में समास स्वीकार करने पर एक शंका होती है। गुरु शब्द की ब्रह्मबोधकता स्वतः होने के कारण ब्रह्मवाचक सद् शब्द की विशेषणता सम्भव न होने से यह विशेषण व्यर्थ होगा। गुरुगीता में गुरु की ब्रह्मरूपता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

गुकारस्त्वन्धकारश्च रुकारस्तेज उच्यते।
अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः ॥23॥

अर्थ स्पष्ट है, गुकार अन्धकार का बोध कराता है तथा रुकार तेज का वाचक है। अतः अज्ञानग्रासक ब्रह्म को गुरु शब्द से अभिहित किया जाता है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'कृग्रोरुच्च' इस उणादि सूत्र से 'गृशब्दे' (क्र0 प0 सेट्) धातु से उ प्रत्यय करके **'गृणाति इति गुरुः'** इस व्युत्पत्ति में गुरु शब्द निष्पन्न होता है। गृणाति का अर्थ है, 'शब्दं करोति' अर्थात् जो शब्द का उच्चारण करता है, वह गुरु है। हम जानते हैं कि अध्यापन काल में अथवा उपदेश काल में गुरु, शब्दों का अथवा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उच्चारण करता है।

इस प्रकार गुरुगीता से प्राप्त, गुरु शब्दार्थ एवं व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति से प्राप्त, गुरु शब्द के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि अज्ञान को ग्रास बना लेने वाले को ही गुरु कहते हैं। पर ब्रह्म, जब 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यजन्य 'अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति' में प्रतिफलित होता है, तभी वह

अज्ञान का ग्रासक होता है। तत्त्वमसि—जगत् कारण ब्रह्म तुम हो, यह उपदेश वाक्य है। यह उपदेश जब गुरु से प्राप्त होता है, तो उसके अनन्तर शिष्य अपने को 'ब्रह्म' समझता है, अर्थात् उसके मन (अन्तःकरण) की ब्रह्माकार अखण्ड वृत्ति, 'ऐसी वृत्ति जिसमें सम्बन्ध और सम्बन्धी का भान न होकर केवल 'ब्रह्म' मात्र का बोध होता है, उदित होती है। सर्वत्र व्यापक ब्रह्म का इस वृत्ति में भी प्रतिबिम्बन या सम्बन्ध होता है, इसी से अज्ञान का नाश होता है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का उच्चारण करने वाला गुरु, अज्ञान का ग्रासक हो जाता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अज्ञान-ग्रासकता तो वृत्ति में प्रतिफलित प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में है, तब तो वृत्ति प्रतिफ़लित ब्रह्म ही सद्गुरु शब्द का वाच्य हो जायेगा, फिर देहधारी को सद्गुरु कैसे कहा जा सकता है। किन्तु यह शंका समीचीन नहीं है; क्योंकि संशयोच्छेदक वाक्य का उच्चारण तो देहधारी ही कर सकता है। अतः संशयोच्छेदक वाक्य का उपदेश देने वाला देहधारी सद्गुरु शब्द से कहा जा रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी अवधेय है कि संशयोच्छेदन की सामर्थ्य ब्रह्मवित् में होती है; क्योंकि वह ब्रह्मरूप होता है। अतएव 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' यह श्रुति का उद्घोष भी है। अतः देहधारी ब्रह्मवित् को गुरु कहना युक्तियुक्त ही है।

यदि संशय मात्र को अन्धकार से उपलक्षित किया जाय तो आत्मविषयक संशय को दूर करने वाले गुरुजन तथा लौकिक विषयों से सम्बद्ध संशय को दूर करने वाले गुरुजन दोनों ही गुरु कहलायेंगे।

सद्गुरु शब्द के अर्थ के विचार के प्रसंग में कर्मधारय समास करने पर 'सत्' इस विशेषण के वैयर्थ्य की आशंका की गयी है, जो आपात रमणीय है, क्योंकि सच्छब्दवाच्य ब्रह्म और गुरुशब्दवाच्य अज्ञानग्रासक ब्रह्म में बहुत सूक्ष्म भेद है। सद्रूप ब्रह्म सदा रहता है किन्तु उसमें अज्ञानग्रासकता तभी आती है जब वह तत्त्वमस्यादि महावाक्य अथवा लौकिक वाक्यजन्य वृत्ति में प्रतिफलित होता है। 'तत्त्वमसि' इस उपदेश वाक्य के अनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ-यह वृत्ति होती है और इस वृत्ति में प्रतिफलित विज्ञानरूप ब्रह्म से अनादि अज्ञान की निवृत्ति होती है। लौकिक वाक्यजन्य वृत्ति होने पर उसमें प्रतिफलित ब्रह्म से लौकिक संशयों की निवृत्ति होती है। इसका आशय यह है कि ब्रह्म में स्वरूपतः

(वृत्यारूढ़ हुए बिना) संशयनिवर्तकता नहीं है। (द्र.–गीता, 10/11 की व्याख्या पृ. 76 पर)।

अतः सत् एवं गुरु दोनों शब्द सर्वथा एकार्थक नहीं हैं, फलतः विशेष्यविशेषणभाव उपपन्न हो जाता है।

'सद्रूपो गुरुर्यस्य असौ सद्गुरुः', 'सद्ब्रह्मस्वरूप जिसका गुरु है'— इस व्युत्पत्ति में बहुव्रीहि समास के द्वारा निष्पन्न सद्गुरु शब्द 'सत् अर्थात् ब्रह्मरूप गुरु है जिसका', उस शिष्य का बोधन करेगा। किन्तु इस अर्थ में सद्गुरु शब्द का कहीं प्रयोग न होने से, यह समास उपेक्ष्य हैं।

इस विचार से यह स्पष्ट होता है कि सद्गुरु शब्द, ब्रह्मस्वरूप गुरु का निरूपण करता है। ब्रह्मसाक्षात्कार करनेवाला, ब्रह्मवित्, ब्रह्म ही होता है, यह श्रुति-सिद्धान्त है, जिसका अनुगमन (समर्थन) श्रुत्यनुगामी पुराणादि भी करते हैं। अतएव श्रीमद्भागवत में शुकदेवजी के मुख से पुराण श्रवण के अनन्तर ब्रह्मसाक्षात्कार होने (आत्मा को ब्रह्मरूप समझने) की स्थिति में, परीक्षित् को भी 'ब्रह्मभूत' कहा गया—

ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना।
बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥

(12/6/13)

अर्थ स्पष्ट है। ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित राजर्षि परीक्षित् का शरीर सभी देहाभिमानियों के देखते-देखते सर्पविष की अग्नि से तत्काल जलकर राख हो गया। 'सभी देहाभिमानियों के देखते-देखते जलकर राख हो गया', यह कहना साभिप्राय है; क्योंकि आत्मज्ञानियों की दृष्टि में तो शरीर है ही नहीं, शरीर तो अज्ञानी जो देह को आत्मा समझ रहे हैं, उन्हीं की दृष्टि में है तथा उन्हीं को दिखाई देता है। इस प्रकार 'सद्गुरु' शब्द का मुख्य वाच्य, 'कृतब्रह्मसाक्षात्कार पुरुष' ही है; क्योंकि जगद्-विभ्रम को दूर करने की सामर्थ्य उसी में होती है।

तत्त्वदर्शी ज्ञानी ही उपदेशक

श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन से कहा है—**'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'** (गीता 4/34)—'हे अर्जुन! तत्त्वज्ञान की इच्छा हो तो तत्त्ववेत्ता गुरुओं की शरण में जाओ, वही तुम्हें तत्त्वोपदेश करेंगे।' इसका

आशय यही है कि तत्त्वज्ञानी ही उपदेश कर सकता है। अतत्त्वज्ञ के द्वारा किया गया उपदेश कभी भी अशेषसंशयनिवर्तक नहीं होता। यद्यपि इस गीता-वाक्य में 'ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इन बहुवचनान्त शब्दों को देखकर यह शंका होती है कि क्या एक गुरु से ज्ञान की पुष्टि नहीं होती? क्यों 'बहुत से ज्ञानी तत्त्वज्ञ महापुरुषों से तत्त्व की प्राप्ति होती है' यह संकेत भगवान् दे रहे हैं। इस शंका को समाहित करने के लिए अतिशय उत्तम अधिकारी एवं सामान्य अधिकारी, इन दो प्रकार के जिज्ञासुओं की दृष्टि से विचार प्रस्तुत है। अतिशय श्रद्धासम्पन्न जिज्ञासु को तो 'तत्त्वमसि' यह वाक्य सुनते ही बिना मनन एवं निदिध्यासन के भी आत्मसाक्षात्कार सम्भव हो जाता है। क्योंकि अद्वैतवेदान्त-दर्शन में सन्निकृष्ट वस्तु का शब्द के द्वारा भी अपरोक्ष ज्ञान स्वीकार किया जाता है। किन्तु मन्द, मध्यम अधिकारी को अत्यधिक श्रद्धा एवं पूर्ण पात्रता के अभाव में बार-बार श्रवण एवं मनन की आवश्यकता पड़ेगी ही। उसे दीर्घकाल तक श्रवण-मनन आदि के द्वारा, आत्मसाक्षात्कार हेतु प्रयास करना होगा। यह अपेक्षित कालखण्ड, कुछ क्षण, कुछ घण्टे, कुछ दिन, कतिपय वर्ष अथवा कई जन्मों का भी हो सकता है। अतएव गीता में कहा गया है—**'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'** (गीता 7/19)। 'बहुत जन्मों के प्रयास के बाद ज्ञानप्राप्ति के द्वारा, साधक हमें प्राप्त करता है' तथा इस जन्म में भी ज्ञान-प्राप्ति में काल-विलम्ब का सूचक वाक्य—**'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (गीता 4/38) आदि प्राप्त होते हैं। इस दीर्घकाल में गुरु की आवश्यकता तो निरन्तर बनी ही रहेगी। यदि इस दीर्घ अवधि तक गुरु के भौतिक विग्रह का सन्निधान न रह सका, तो गुरुदेव ही स्वयं अन्य विग्रहों के द्वारा उपदेश देते हैं। इस प्रकार यह बहुवचन का प्रयोग संभवाभिप्राय से है, इसे नियमपरक नहीं मानना चाहिए। यदि हमारे सौभाग्य से आत्मसाक्षात्कार होने तक गुरुदेव का भौतिक विग्रह रहा तब तो हमें अन्य किसी की अपेक्षा ही नहीं होगी। अन्यथा स्थिति में, अपेक्षा होने पर भी, सभी स्वरूपों में 'एक ही गुरु है' 'स्वरूप तो मायिक हैं', यह बतलाने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है। एक ही गुरु से ब्रह्म-विज्ञान की प्राप्ति 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत्' (मु.उप. 1/2/12) यह श्रुति भी बताती है। **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'** (छा.उप. 6/14/2) 'जिसके उपदेशक प्रशस्त आचार्य हैं', ऐसे पुरुष उस ब्रह्म तत्त्व को

जान पाते हैं। इन श्रुतियों में प्रयुक्त एकवचन भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। अतः इन श्रुतिवाक्यों के आलोक में यह कहना चाहिए कि ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्पन्न ज्ञानी पुरुष की दुर्लभताविषयक अर्जुन की सम्भावित आशंकाओं को दूर करने के लिए भगवान् ने कहा—'अर्जुन ज्ञानियों की दुर्लभता से भयभीत न हो। ज्ञानी तो बहुत हैं, तुम्हारी श्रद्धा एवं योग्यता के अनुसार वे तुम्हें उपदेश देंगे।'

इस प्रकार सद्गुरुशब्दार्थ का निर्णय हो जाने पर तथा एक ही सद्गुरु से पूर्णप्रज्ञता की प्राप्ति का भी निश्चय हो जाने पर हम उत्तर-वाक्यों के आशय को सहज ही समझ सकते हैं।

सन्तों की परम्परा में 'परब्रह्म' को 'सतगुरु' शब्द से व्यवहृत किया जाता रहा है। गोरखबानी में कई स्थानों पर ऐसा प्रयोग देखा जाता है। आचार्यचरण ने भी इस परम्परा का अनुसरण प्रकृत-मात्रा में किया है।

सुणि गुणवंता सुणि बुधिवंता, अनंत सिधां की बांणीं।
सीस नवावत सतगुर मिलिया, जागत रैंणि विहांणीं॥

(सबदी 108, गो.बानी, पृ. 57)

गुणवानों, बुद्धिमानों अनंत सिद्धों की वाणी सुनों! सीस झुकाकर दिन-रात जगने से सतगुरु मिलते हैं। इस पद में अनंत सिद्धों की वाणी का उल्लेख होने से सिद्धों की अनादि अनंत परम्परा इस तथ्य को स्पष्ट कर रही है, यह बोधित हो रहा है। लौकिक गुरु को 'सतगुरु' शब्द का वाच्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनकी प्राप्ति के लिए नियम से दिन-रात जगना आवश्यक नहीं है। अतः दिन-रात जगकर साधना करते समय बैठने पर शिर की स्थिति कैसी होगी? इसकी ओर संकेत इस पद में किया गया है। इस सम्बन्ध में गोरखबानी का दूसरा पद भी द्रष्टव्य है—

आपा भांजिबा सतगुर षुजिबा,
जोग पंथ न करिबा हेला।
फिरि फिरि मनिषा जनम न पायबा,
करि लै सिध पुरिस सूं मेला॥

(सबदी, 204, गो.बानी, पृ. 87)

अहंकार को छोड़कर सिद्ध पुरुषों का सत्संग करके, योगपंथ की उपेक्षा न करते हुए सतगुरु को ढूँढना चाहिए; क्योंकि मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता। यहाँ 'सतगुरु' शब्द ब्रह्म का बोधक है, उसी के साक्षात्कार के लिए सिद्धों की संगति से योगमार्ग को प्राप्त करने का उपदेश दिया जा रहा है। यतः 'योग' से ब्रह्मप्राप्ति मनुष्य शरीर का परम प्रयोजन है। (द्र. याज्ञ.स्मृति)

सद्गुरु मूँडा

'सद्गुरु मूँडा' यह प्रथम उत्तर-वाक्य है। यदि केवल लौकिक दीक्षा-गुरु को जानने की जिज्ञासा है, ऐसा स्वीकार किया जाय, तो परिचय देते समय गुरु का नाम एवं अवस्थिति का (रहने का) स्थान विशेष दोनों बताना चाहिए। 'सद्गुरु मूँडा' यह उत्तर तो आध्यात्मिक जिज्ञासा के रहस्यात्मक किन्तु तात्त्विक उपशम की ओर ही संकेत कर रहा है। उत्तर-वाक्यों पर विचार हो रहा है। अतः उत्तर-वाक्य किसे कहते हैं? इस पर दृष्टि दें तो स्पष्ट होता है कि उत्तर शब्द नपुंसक लिंग होने पर प्रतिवाक्य को कहता है। क्योंकि यह प्रश्नवाक्य से जिज्ञास्य क़ो ही नियत रूप से प्रतिपादित करता है। **'उत्तरं प्रतिवाक्ये स्यात्'** 'प्रतिवाक्य को उत्तर कहते हैं', इस विश्वकोश में प्रतिवाक्य शब्द प्रतिनियत वाक्य का वाचक है। प्रतिनियत वाक्य एक या अनेक ऐसे वाक्य हैं, जिनके प्रतिपाद्य विषय का निर्धारण प्रश्नवाक्य से हो चुका है। प्रकृत में 'सद्गुरु मूँडा' इस उत्तर-वाक्य से यह स्पष्ट हो रहा है कि सद्गुरुस्वरूप सनातन अविकारी ब्रह्म ने हमें मुण्डित या विरूप किया, अर्थात् अकर्त्ता, अभोक्ता सद्रूप ब्रह्म से विपरीत कर्त्ता, भोक्ता रूप में हमें संसारी बनाकर अपनी माया के द्वारा विकाररूपता को प्राप्त कराया।

प्रकृत में यह आशंका हो जाती है कि लोक में यह सहज संभव है कि गुरु शिष्य को दीक्षा दें, शिष्य दीक्षित हो, सद्गुरु मूड़ें, मुण्डित करें, शिष्य मुण्डित हों; क्योंकि यहाँ गुरु के श्रीविग्रह से व्यतिरिक्त शिष्य का शरीर है। किन्तु **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छा.उप. 6/2/2) श्रुति से प्रतिपादित सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित ब्रह्म, द्वितीय के अभाव में मुण्डन का कर्ता तथा मुण्डन क्रिया का कर्म दोनों कैसे होगा? ऐसा मानने पर तो एक में ही कर्तृत्व, कर्मत्व दोनों स्वीकार करना होगा। जीव की सत्ता तो विरूपकरण के पहले सम्भव ही नहीं है? यह शंका उचित नहीं है; क्योंकि **'तदैक्षत बहु स्यां**

प्रजायेय' (छा.उप. 6/2/3) श्रुति से प्रतिपादित अद्वितीय का सप्रयोजन बहुभवन ही स्वरूपच्युति अथवा जीवभावापत्ति है, यही स्वरूप-विक्रिया अथवा मूड़ा जाना है। यह विक्रिया या जीवभावापत्ति, माया (अविद्या) के कारण होने से मायिक या आविद्यक है, अर्थात् यह जीव तथा जगत् स्वप्न के पदार्थों की तरह व्यवहार के योग्य होने पर भी वस्तुतः नहीं है। अतः 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति से विरोध नहीं है; क्योंकि इस श्रुति से पारमार्थिक द्वैत का निषेध होता है।

यह आध्यात्मिक अर्थ की चर्चा है, लौकिक अर्थ की दृष्टि से तो हमने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से दीक्षा प्राप्त की है यही बालरूप आचार्य का उत्तर है; क्योंकि लोक में दोनों प्रकार के गुरु प्राप्त होते हैं। ब्रह्मज्ञानसम्पन्न तथा उससे रहित। अतः किसी को यह संशय न हो कि उनके गुरु किस प्रकार के हैं, एतदर्थ, उन्होंने सद्गुरु शब्द का प्रयोग किया। अज्ञान को नष्ट करने की सामर्थ्य भी ऐसे ही गुरु में होती है, उन्हीं के मुख से आत्मा के विषय में प्राप्त उपदेश सफल होता है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नाऽस्त्यणी-
यान्ह्यप्रतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥

(काठ.उप. 1/2/8)

अवर मनुष्य (ऐसा मनुष्य जो प्राकृत बुद्धिवाला है, जिसे आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है) के द्वारा आत्मतत्त्व का उपदेश मिलने पर भी उसका साक्षात्कार नहीं हो पाता। क्योंकि आत्मतत्त्व के बारे में मतभेद होने से अनात्मज्ञ उसके स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाता है। सर्वप्रथम इसकी सत्ता को लेकर मतभेद लक्षित होते हैं। कुछ लोग इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। जो लोग आत्मा की सत्ता को मानते हैं। उनमें कुछ इसे कर्ता मानते हैं। शास्त्रप्रतिपादित अथवा लौकिक जो भी क्रियायें हैं उनका कर्ता आत्मा ही है। किन्तु अस्तित्व को स्वीकार करने वाले अन्य लोग इसे अकर्त्ता मानते हैं, कुछ लोग इसे निर्गुण मानते हैं, जबकि अन्य लोग इसको सगुण कहते हैं। इन नाना प्रकार के विचारों से श्रोता की बुद्धि भ्रमित

हो जाती है, उसे आत्मतत्व के स्वरूप एवं सत्ता दोनों के बारे में सन्देह होने लगता है। सन्देह का कारण यह मतभेद है। हम जानते हैं कि वस्तु का स्वरूप व्यवस्थित होता है, अव्यवस्थित नहीं। अवर मनुष्य के द्वारा आत्मा का उपदेश होने पर सन्देह दूर नहीं होते, जिससे आत्मा के स्वरूप का निर्धारण, निश्चयात्मक परोक्ष ज्ञान, भी नहीं हो पाता, साक्षात्कार तो दूर है। सन्देह होने पर प्राप्ति हेतु दृढ़ प्रयत्न भी नहीं होते। अतः ऐसे व्यक्ति की उपदेशक के रूप में आवश्यकता होती है, जो इन सन्देहों को दूर कर आत्मा का साक्षात्कार करा सके। इसी आशंका की पूर्ति **'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति'** (काठ.उप. 1/2/8) इस वाक्य से होती है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्य या अपृथगद्दर्शी[72] आचार्य के द्वारा आत्मा का उपदेश प्राप्त होने पर आत्मा के अस्तित्व अथवा स्वरूप के बारे में होने वाला संशय समाप्त हो जाता है; क्योंकि 'आत्मा में किसी[73] विकल्प की गति नहीं है।' ऐसा निश्चय श्रोता को आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करने से हो जाता है।

अथवा इस वाक्य के द्वारा यमराज यह कहना चाहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी जब आत्मा का उपदेश करता है तो अपने स्वरूप का ही उपदेश करता है। उसका ज्ञान होने के बाद अन्य ज्ञेय पदार्थ नहीं रह जाता, जैसे रज्जु के ज्ञान के बाद सर्प नहीं रह जाता। इस प्रकार सभी विषयों के अभाव में विषयों के सम्पर्क में भोग के लिए होने वाला जन्मादिलक्षण संसार भी नहीं रह जाता। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मज्ञान के बाद जब यह बुद्धि हो जाती है कि एक ही आत्मा है उससे भिन्न कुछ नहीं है, तो संसार से आकर्षण समाप्त हो जाता है तथा राग-द्वेष आदि के अभाव में पुरुष बन्धनरहित होकर मुक्त हो जाता है। अतः गति शब्द को संसारगति का बोधक मानें तो उपदेश के अनन्तर आत्मज्ञान का फल मोक्ष प्राप्त होता है, यह सूचना इस वाक्य से मिलती है।

अथवा इसका एक अर्थ और भी सम्भव है—जो अगति पदच्छेद से मिलता है। यमराज कहते हैं—जिस ब्रह्म तत्त्व का उपदेश आचार्य करने जा रहे हैं उसे अपना स्वरूप समझने के कारण आचार्य के द्वारा आत्मतत्त्व का उपदेश होने पर अगति या अज्ञान तथा तज्जन्य दुर्गति की सम्भावना नहीं रह जाती। ज्ञान अवश्य होता है। इस प्रकार ब्रह्मविद् गुरु का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। उसके

मुख से आत्मतत्त्व का उपदेश मिलने के बाद शिष्य को आत्मा का साक्षात्कार अवश्य होता है। समय क्या लगता है, यह तो उसकी निष्ठा एवं अध्यवसाय से ही नियन्त्रित होता है। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि आत्मा के बारे में चाहे जो भी कहा जाय यह दुर्ज्ञेय है, अलभ्य है, इसका वक्ता सुलभ है, दुर्लभ है आदि सबके बारे में विकल्प हो सकते हैं; किन्तु तथ्यात्मक एवं विकल्परहित पक्ष यह है कि आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्ति के द्वारा आत्मा का उपदेश प्राप्त होने पर उसका साक्षात्कार अवश्य होता है।

ऐसी स्थिति में आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्ति से आत्मतत्त्व का उपदेश न प्राप्त कर जो लोग केवल शास्त्रों के आधार पर आत्मा को जानना चाहते हैं उनके लिए आत्मा अज्ञेय है; क्योंकि कुतर्क (ऐसा तर्क जो शास्त्र से अनुमोदित नहीं है) की कोई सीमा या समाप्तिसूचक रेखा नहीं है। यदि कोई तर्क के बल पर आत्मा को अणु परिमाण वाला सिद्ध करता है तो, दूसरा तीक्ष्ण मतिवाला उसे अणुतर (और छोटा) सिद्ध कर सकता है। यतः दोनों को केवल अपनी बुद्धि से सोचना है और चिन्तन में केवल तर्क का सहारा लेना है।

सद्गुरुदेव की वेद एवं शास्त्रों में वर्णित महिमा को सुनकर एक जिज्ञासा होती है कि जब ब्रह्मज्ञानसम्पन्न लौकिक गुरु, जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनके भीतर जीवों के उद्धार की इतनी व्याकुलता है कि वे शिष्य के ऊपर कृपा कर उसे पास बुलाकर अथवा पास जाकर भी उपदेश द्वारा अज्ञान दूर करते हुए ब्रह्मज्ञानसम्पन्न बनाकर शोकबहुल संसार से उसको मुक्ति दिलाते हैं, तो फिर ईश्वर ने इस शोकपूर्ण संसार में जीवों को भेजा ही क्यों? आशय यह है कि ब्रह्म ही अज्ञान के कारण जीवरूप में हो गया है, तो यदि जीवभाव को वह न प्राप्त करे तो 'सद्गुरु' को उसके मोक्ष की चिन्ता नहीं होगी।

किन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि जीव अनादि है, वह न जाने कब से कर्म एवं भोग के आवर्त में पड़ा हुआ भ्रमण कर रहा है। ब्रह्म ही जीवरूप में है अथवा यों कहें, प्रतीत हो रहा है। यह कथन तो इसलिए सत्य है; क्योंकि अज्ञान दूर होने पर जीव, ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। अतः जीवभाव कल्पित है। ब्रह्म को ही भ्रमवश जीव समझा जा रहा है। रज्जु का स्वरूप जान लेने पर ही उसके अज्ञान से कल्पित सर्प निवृत्त होता है। इसका आशय है कि रज्जु में सर्प

कल्पित है, रज्जु वास्तविक है। अन्यथा रज्जु के ज्ञान से सर्प निवृत्त न होता। अज्ञान के निवृत्त होने पर ज्ञानी को इस तथ्य का भान होता है कि मैं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्मस्वरूप होकर भी अज्ञान के कारण अपने को अज्ञानी अल्पशक्तिमान् आदि समझ रहा था। ज्ञानी के इसी तथ्यपरक अनुभव के आधार पर यह कहा जा रहा है कि ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त है। अज्ञानरूपी अन्धकार में पतित संसारी जीवों को तो इस शंका का अवसर ही नहीं है। प्रभु चाहते तो जीवभाव न प्राप्त होता। ऐसा सोचने से इस समय किस समस्या का हल होगा? जीवभाव तो हो चुका है, हम कष्ट भोग रहे हैं तो हमारे लिए कष्ट की निवृत्ति का उपाय सोचना अच्छा है अथवा कष्ट क्यों आया? इस पर विचार कर समय बिताना अच्छा है। पहले सृष्टि न हुई होती अथवा ब्रह्म पहली बार संसारी बन रहा होता तब उस समय इस जिज्ञासा का कुछ प्रयोजन हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रकृत प्रसंग में यह जिज्ञासा करनी चाहिए कि जीवभाव की प्राप्ति का प्रयोजन क्या है? अनादिकाल से जीव, भोक्ता के रूप में किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भ्रमण कर रहा है? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि अनादिकाल से जीवभाव को प्राप्त चेतन ने जो भी पुण्य-पाप अनन्त जन्मों में संचित किया है, उनका क्षय करके वह अपने स्वरूपभूत ब्रह्मभाव को प्राप्त कर सके, यही सृष्टि (जीवभाव की प्राप्ति) का प्रयोजन है। इस पर विशेष विचार 'गुरु का भेजा नगरी आया' इस मात्रा पर विचार के समय किया जायेगा।

'सद्गुरु मूँडा' यह मात्रा सद्गुरु स्वरूप ब्रह्म को 'मुण्डन' करने वाला बता रही है। सद्गुरु (ब्रह्म) अपनी माया-शक्ति के द्वारा ही सब कुछ करते हैं, सर्वरूप में होते हैं। अन्यथा तो वह अविक्रिय है। माया रूप उपाधि के द्वारा ही अविक्रिय ब्रह्म में विक्रियता आ रही है। मुण्डन से जीव और ईश्वर रूप दो स्वरूप निष्पन्न होते हैं। यह दोनों ही एक चेतन के दो स्वरूप हैं। ईश्वर को 'गुरु' शब्द से बोधित किया जा रहा है, जो 'जीव' को नगरी में भेजने वाला है 'गुरु का भेजा नगरी आया'। सद्गुरु, मुण्डन के द्वारा केवल जीव और ईश्वर रूप में ही नहीं आते, सम्पूर्ण जड़ पदार्थ जो 'भोक्ता' जीव के भोग हेतु कल्पित हैं, वह भी चेतन ब्रह्म (सद्गुरु) के अज्ञान के कारण ही नाना रूपों में प्रतीत होते हैं, अर्थात् चेतन ब्रह्म

ही नाना जड़ रूपों में प्रतीत हो रहे हैं। इस तथ्य को 'लेख मुँडाया' यह मात्रा स्पष्ट कर रही है; क्योंकि भोक्ता भोग्य सबकी सृष्टि में प्राणियों का 'अदृष्ट' 'किया गया शुभ-अशुभ कर्म' निमित्त बनता है।

'सृष्टि' का वर्णन वेद, वेदानुगामी पुराण तथा स्मृतियाँ आदि सभी में मिलता है, किन्तु कहीं भी ब्रह्म को सृष्टि कर्त्ता के रूप में 'सद्‌गुरु' शब्द से तथा ईश्वर को 'गुरु' शब्द से बोधित नहीं किया गया है, किन्तु मात्रा में इनका प्रयोग होने से यह स्पष्ट हो रहा है कि सद्‌गुरु और गुरु दोनों ही भ्रान्त जीवों को ज्ञान सम्पन्न बनाकर 'अज्ञानान्धकार' को दूर करना चाहते हैं, यही सृष्टि का प्रयोजन है, जिससे जीवों का कल्याण हो सके, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो सके। गुरु का यही कर्त्तव्य है, जिसे 'गुरु' शब्द स्पष्ट करता है, इस तथ्य को गुरुगीता भी अभिहित करती है। (द्र.–पृ. 83)

तथा—

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविनाशनम् ॥24॥

'गुरु' शब्द में प्रथम वर्ण 'गुकार' माया जिनका कारण है, ऐसे पदार्थों का सूचक है। 'रु' द्वितीय वर्ण है, जो ब्रह्मवाचक है, यही मायारूप भ्रान्ति का विनाश करने वाला है।

लेख मुँडाया

दूसरा उत्तर-वाक्य 'लेख मुँडाया' सामान्यतः अदृष्ट को निवृत्ति मार्ग का प्रेरक बतलाता है। आचार्यचरण यह कहना चाहते हैं कि अदृष्ट ने मुण्डन हेतु प्रेरित किया। उसी ने अकर्ता अभोक्ता व्यापक ब्रह्म को कर्ता[74] भोक्ता परिच्छिन्न जीव बना दिया है। किन्तु कर्त्ता तभी कर्त्ता होगा जब कर्म हो, भोक्ता तभी भोक्ता होगा जब भोग्य वस्तु हो। अतः जीव के साथ उसके अदृष्ट के अनुसार भोग्य पदार्थों की भी सृष्टि होती है। यद्यपि ईश्वर के संकल्प से ही सृष्टि होती है, तथापि यदि प्राणियों के अदृष्ट की अपेक्षा के बिना ही ईश्वर स्वतन्त्र रूप से सृष्टि का कारण हो तो किसी को एकांग विकल तथा अन्य को सर्वांग सुन्दर बनाने के कारण पक्षपाती होने का आरोप उस पर होगा, इसी आक्षेप के समाधान की ओर

किसने मुँडाया? यह द्वितीय प्रश्नवाक्य संकेत करता है और 'लेख मुड़ाया' यह द्वितीय उत्तर-वाक्य सृष्टि को कर्म-सापेक्ष बताकर ईश्वर की निर्लिप्तता को सूचित करता है; क्योंकि सृज्यमान प्राणियों के अदृष्ट के अनुसार ही सम्पूर्ण सृष्टि होती है। अन्यथा एक ही वस्तु किसी के लिए सुखद और किसी के लिए दुःखद नहीं होती। इतना ही नहीं, एक ही वस्तु कुछ काल तक हमें सुख देती है तथा कालान्तर में वही तीव्र दुःख का कारण बन जाती है। इस प्रकार हमें उसी वस्तु से सुख-दुःख दोनों मिल रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे सुखप्रद तथा दुःखप्रद दोनों ही कर्मों का भोग प्राप्त कराने के लिए उस वस्तु की उत्पत्ति हुई है।

जिन कर्मों के फल के रूप में हमें दुःख प्राप्त होता है उन दुःखप्रद कर्मों को वेद में निषिद्ध कर्म कहते हैं। सुखप्रद कर्म वेदविहित कर्म होते हैं। अतएव प्रसिद्धि है कि विहित कर्मों से धर्म की उत्पत्ति होती है तथा निषिद्ध कर्मों से अधर्म उत्पन्न होता है।

सृष्टि के सभी पदार्थ चाहे सूर्य-चन्द्रमा हों अथवा धरातल या सत्य स्वर्गादि लोक सभी की उत्पत्ति प्राणियों के अदृष्ट (धर्माधर्म) से होती है। आचार्यचरण ने इसी तथ्य की ओर 'लेख मुँडाया' इस मात्रा में संकेत किया है। प्राणियों के शुभ एवं अशुभ कर्मों को निमित्त बनाकर पदार्थों की सृष्टि स्वीकार करने का आशय है, वस्तुओं को सुख एवं दुःख देने में समर्थ बताना। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई भी वस्तु हमारे कर्म के अनुसार ही निश्चित समय तक सुख या दुःख देगी। हमारी इच्छा से सुख या दुःख नियन्त्रित नहीं होते। सामान्य दृष्टि से तो लेख शब्द अक्षरात्मक आनुपूर्वी-प्रधान वाक्यरूप विधि को कहेगा। तपस्वियों के मन में बाल संन्यासी को देखकर जो आशंकाएँ उठ रही हैं, उनका आकलन कर आचार्यचरण ने यह कहा है कि आश्रम[75] क्रम से चलकर संन्यास की विधि की तरह तीव्र वैराग्यसम्पन्न मुमुक्षु को किसी भी समय संन्यास लेने की वैदिक विधि (लेख) ने ही हमें बाल्यावस्था में संन्यास के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार लेख शब्द से **'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्'** (जाबा.उप. 3/4) 'जिस क्षण वैराग्य हो जाय उसी समय प्रव्रज्या ग्रहण कर ले', इस विधि की ओर संकेत है; किन्तु इसका रहस्यात्मक अर्थ अदृष्ट ही होगा। यतः लेख शब्द देवतावाची है

तथा देवता भी अदृष्ट के द्वारा ही कर्म में प्रवृत्त कराते हैं। अमरकोष में देवताओं के पर्यायवाची शब्दों का परिगणन करते हुए **'लेखा अदितिनन्दनाः'** यह कहकर अमरकोषकार ने इसको उद्धृत किया है।

किन्तु देवताओं ने मुण्डन में प्रेरणा दी, यह अर्थ स्वीकार किया जाय, तो फिर भी शंका होगी कि देवता भी तो अदृष्ट के अनुसार ही प्रेरित करेंगे तो लेख शब्द से अदृष्ट को ही वाच्य क्यों न माना जाय। अदृष्ट की वाच्यता के लिए **'लिख्यतेऽनेन इति लेखः'** इस व्युत्पत्ति में करण अर्थ में घञ् प्रत्यय स्वीकार किया जाय, तो प्रकृत अर्थ का द्योतक लेख शब्द बनेगा, जो हमारे भोगों को लिखने या परिगणित करने में साधनभूतनिमित्त को कहेगा। भोगों का परिगणन अदृष्ट के कारण ही होता है। अतः लेख शब्द अदृष्टवाची हो जायेगा।

इस प्रकार उत्तरमाला की द्वितीय मात्रा का प्रतिपाद्यार्थ स्वीकार कर लेने पर 'सद्गुरु मूड़ा, लेख मुड़ाया' इन दोनों प्रतिवचनों की दृष्टि से तीसरा प्रतिवचन 'गुरु का भेजा नगरी आया' विचारणीय हो जाता है। क्योंकि जब ईश्वर के ईक्षणपूर्वक सर्जन को ही विरूपकरण कहते हैं और अपने स्वरूप से प्रच्युति ही प्रपंच में पतन या परिभ्रमण है, जिसका निमित्तकारण लेख या अदृष्ट है, तो ईश्वर के द्वारा ही अदृष्टानुसार हम प्रपंचनगरी में भेजे गये हैं, फिर 'किसका भेजा नगरी आया' यह प्रश्न तथा 'गुरु का भेजा नगरी आया' इस रूप में प्रतिवचन दोनों ही आध्यात्मिक दृष्टि से उपपन्न नहीं होते। लौकिक रीति से तो इनकी उपपत्ति में कठिनाई नहीं होती, क्योंकि अदृष्टानुसार चतुर्थाश्रम की दीक्षा प्राप्त कर गुरु की आज्ञा से हम नगरी के लोगों को प्रेरणा देने आए हैं। यहाँ आने में हमारी स्वेच्छाचारिता कारण नहीं है, यह आशय कहा जा सकता है।

ईश्वर कर्म में प्रेरक एवं फल प्रदाता

अतः आध्यात्मिक दृष्टि से प्रश्न-मात्रा **'किसका भेजा नगरी आया'**? तथा उत्तर-मात्रा **'गुरु का भेजा नगरी आया'** दोनों की सार्थकता बतलानी होगी; क्योंकि सूत्र शैली में रचित इस शास्त्र में एक भी वर्ण अनर्थक स्वीकार नहीं किया जा सकता? इस शंका का समाधान उपनिषत्प्रतिपाद्य वेदान्त-सिद्धान्त का अनुसरण करने पर स्वतः हो जाता है। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार जीव कर्म का कर्ता है और ईश्वर कारयिता (करानेवाला) है। ईश्वर निमित्त रूप से उसी

प्रकार कर्म-कारयिता है, जैसे मेघ नाना प्रकार के बीजों से उत्पन्न होने वाले ब्रीहि, यव आदि का साधारण कारण है। ब्रीहि, यव आदि के अपने बीज असाधारण कारण हैं। उनसे ब्रीहि आदि की उत्पत्ति हो रही है। किन्तु मेघ के जल की सबको आवश्यकता है अन्यथा अंकुरोत्पत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार ईश्वर प्रेरक या निमित्त कारण होता है; क्योंकि उसके बिना अचेतन अदृष्ट निमित्त के रूप में कारण नहीं बन सकता, अतएव श्रुति में कहा गया है—**'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते'** (कौषी.ब्रा. 3/8)। यही साधु कर्म उन लोगों से कराता है जिनको ऊर्ध्वलोकों में पहुँचाना चाहता है तथा उनसे असाधु कर्म कराता है, जिनको अधोलोकों में ले जाना चाहता है। इसी प्रेरकता का उपपादन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (18/61)

हे अर्जुन! अपनी माया शक्ति से सभी जीवों को कर्म में प्रवृत्त कराता हुआ, ईश्वर, सभी प्राणियों के हृदय देश में अवस्थित रहता है। ईश्वर का यह कर्म में प्रवर्तन उसी प्रकार समझो जैसे सूत्रसंचारादि यन्त्र से सम्बद्ध (आरूढ़) दारुमयी योषित् (काष्ठपुत्तलिका) का प्रवर्तन मायावी कराता है। किन्तु ऐसा करता हुआ भी ईश्वर असंग एवं कर्मफलासम्बद्ध है। इस असंगता का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माऽध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ (6/11)

एक स्वप्रकाश ब्रह्म सभी भूतों में सद्रूप से अनुस्यूत है, अतएव ब्रह्म सर्वव्यापी और सर्वभूतान्तरात्मा है, वह कर्म का नियन्ता (अध्यक्ष) होकर सर्वप्राणियों के भीतर निवास करता है। वह कार्य का साक्षी है। जीव के अदृष्टानुसार जीव का प्रेरक होने के कारण वह निर्गुण तथा असंग है। इन वचनों के अभिप्राय का आकलन करने पर स्पष्ट होता है कि ईश्वर की स्थिति उस उपरत

श्रेष्ठ पुरुष की है जो किसी भी अनुज्ञा चाहने वाले को प्रवृत्ति की स्वीकृति देता है। किन्तु यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि सबकी इच्छा के अनुसार कार्य करने की छूट देने वाले की अनुज्ञा का कोई महत्त्व नहीं है। अर्थात् ईश्वर का हृद्देश में अवस्थान तथा कर्माध्यक्षता का निरूपण निष्प्रयोजन होने से व्यर्थ है। क्योंकि वह कर्म का साक्षी है, सभी कर्मों को साक्षात् देख रहा है, यह साक्षात् दर्शन अग्रेतन काल में कर्मानुसार फल की व्यवस्था के लिए है।

ईश्वर को यदि कर्मानपेक्ष होकर स्वतन्त्र रूप से प्रेरक स्वीकार किया जाय, तो यह मानना होगा कि परमकारुण्यपूर्ण परमेश्वर जीवों को धर्म में प्रवृत्त करायेंगे, अधर्म में नहीं। फलतः उनसे प्रेरित सभी जन्तुओं को धार्मिक होना चाहिए न कि अधार्मिक, किन्तु ऐसी स्थिति नहीं देखी जाती। अतः ईश्वर में स्वतन्त्र रूप से प्रेरकता नहीं है। प्रत्युत जीव ही कर्म करने में स्वतन्त्र है। अतः यह कहना चाहिए कि कर्म में स्वतन्त्र जीव रागद्वेषादि से प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं और उससे धर्म एवं अधर्म का संचय करते हैं तथा उसी के फल के रूप में सुख तथा दुःख का अनुभव करते हैं। अतएव विधि-निषेधपरक शास्त्रवचन भी चरितार्थ होते हैं। अन्यथा ईश्वर के परतन्त्र होकर ही जीव यदि कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तो उन्हें विहितकरण का पुरस्कार तथा निषिद्धाचरण का न्यक्कार (तिरस्कार या धिक्कार) नहीं मिलना चाहिए (यह सिद्धान्त ब्रह्मसूत्र 2/3/42 में स्पष्ट किया गया है)[76]। यही कारण है कि विभिन्न वचनों के संशय जाल से अर्जुन को मुक्त करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है[77]— **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (गीता 2/47)—हे अर्जुन! तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है। इससे स्पष्ट होता है कि अर्जुन यदि कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है तो उसका कर्म में अधिकार नहीं बन सकता; किन्तु फल में अधिकार न होने का आशय है कि अदृष्ट के अनुसार ईश्वर फल देता है। केवल कर्म, फल नहीं देता; क्योंकि वह जड़ है। अतः सद्गुरु और लेख दोनों को ही मुण्डन में कारण बतलाया जा रहा है। सद्गुरु मूड़ा, लेख मुड़ाया यह दोनों मात्रा इसमें प्रमाण है।

गुरु का भेजा नगरी आया

तीसरा उत्तरवाक्य 'गुरु का भेजा नगरी आया' पूर्वविचारित दोनों वाक्यों को सार्थक करता हुआ अपने विशेष महत्त्व को बतलाता है। दोनों उत्तरवाक्यों

को पढ़ने के बाद, फलनिरपेक्ष सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ चेतन, किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए वैपरीत्यकरण या मुण्डन के द्वारा जीवभाव को स्वीकार कर रहा है? यह जिज्ञासा रहती है। क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म, अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीव के रूप में आता है। जीव भाव की प्राप्ति में अदृष्ट (कर्म) निमित्त बनते हैं। इन दोनों तथ्यों को स्वीकार करने पर भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि ऐसा क्यों हुआ? इसका प्रयोजन क्या है? इसका उत्तर 'गुरु की कृपा से यह मानव शरीर मिला है (गुरु का भेजा नगरी आया), जिससे मैं अपने कर्मों का भोग कर (स्वरूप साक्षात्कार रूप ज्ञान के लिए) उन्हें क्षीण कर रहा हूँ' इस वाक्य से मिलता है। इस प्रकार कर्मों को क्षीण करने का आशय है, अपने कर्मों के निमित्त बनने से जीवों को सुख अथवा दुःख प्राप्त कराने के लिए परमेश्वर द्वारा रचित जड़ चेतनात्मक प्रपंच से सुख अथवा दुःख अथवा सुख-दुःख दोनों को प्राप्त करना। सुख अथवा दुःख की प्राप्तिरूप भोग शरीर से ही होता है। अतः भोग के लिए ही परमात्मा ने शरीर दिया है। जिससे भोग के द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्मों के क्षीण होने से ज्ञानप्राप्तिपूर्वक मोक्ष हो सके। इस प्रकार अब तीनों उत्तरवाक्यों से समुदित रूप में यह वक्तव्य हो जाता है कि सर्वज्ञ गुरु परमात्मा ने उपाधि स्वीकार कर ईश्वर और जीव दो रूपों में अपने को व्यवहारार्थ कल्पित किया। जीव भाव की प्राप्ति के अनन्तर मेरे कर्मों के अनुसार यह मनुष्य शरीर देकर कर्म करने हेतु तथा भोग आदि के द्वारा कर्मों को क्षीण करते हुए मोक्ष प्राप्त करने हेतु, हमें जीव रूप में मनुष्य शरीर में भेजा है।

शरीर कैसे बनते हैं तथा उनमें जीव का प्रवेश कैसे होता है? उसको स्पष्ट करने हेतु सृष्टि प्रक्रिया पर विचार प्रस्तुत है।

सृष्टि में दो प्रकार के पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। नदी, वन, पर्वत, सागर, भूमण्डल, ग्रह, नक्षत्र, तारागण, जरायुज (मनुष्य-शरीर), अण्डज (अंडों से उत्पन्न होने वाले शरीर), स्वेदज (स्वेद से उत्पन्न होने वाला शरीर जुँआ आदि) तथा उद्भिज्ज—भूमि का भेदन कर निकलने वाले पेड़-पौधे आदि चतुर्विध भोगायतन शरीर, जिनकी रचना हम लोगों जैसे जीव नहीं कर सकते। दूसरे प्रकार के वे पदार्थ हैं, जो मानव के द्वारा रचित हैं, जैसे घड़ा, कपड़ा, मकान आदि। इन सभी पदार्थों को दृश्य पदार्थ कहते हैं। यह दिखलाई पड़ते हैं अथवा

प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थ हैं। जो हमें दिखाई नहीं पड़ते तथा इन स्थूल पदार्थों के कारण हैं, वे सूक्ष्म पदार्थ हैं। इनकी उत्पत्ति का क्रम निम्न रूप में शास्त्रों में वर्णित है। तमोगुण[78] प्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की (तेज की), अग्नि से जल की तथा जल से पृथिवी की। सृष्टि या उत्पत्ति का यह क्रम **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** (तै.उप. 2/1/1)—श्रुति से प्रमाणित है। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी के सूक्ष्मरूप की उत्पत्ति का वर्णन उक्त श्रुति में किया गया है। इन सूक्ष्मकणों को 'तन्मात्र' शब्द से कहा जाता है। यह अपंचीकृत भूत है। अपंचीकृत का अर्थ है पाँचों के समूह का न होना प्रत्युत अलग-अलग होना। पञ्चीकरण के द्वारा पाँचों भूतों के सम्मिश्रण या 'मेल' के द्वारा स्थूलभूतों की रचना होती है। अनुभूयमान आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी यह प्रत्येक भूत के पंचीकृत या मिलित स्वरूप में हैं। जैसे आकाश के पंचीकृत स्वरूप में जल, तेज, वायु तथा पृथिवी की भी मिलित रूप में आधी मात्रा रहती है; किन्तु आकाश का अकेले आधा भाग होने के कारण उसे आकाश नाम से पुकारा जाता है। ऐसे ही जल, तेज, वायु तथा पृथिवी में भी सभी मिल जाते हैं; किन्तु जल आदि के अर्ध भाग की प्रधानता होने के कारण उन्हें जल, तेज, वायु, पृथिवी आदि नामों से अभिहित किया जाता है। अतएव कहा गया है कि इन्हीं सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत तथा सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होते हैं। इसी सूक्ष्म शरीर उपाधि वाले चेतन को कर्त्ता, भोक्ता, जीव आदि शब्दों से बोधित किया जाता है।

सम्पूर्ण स्थूल जगत् इसी जीव का भोग्य है। यही चतुर्विध स्थूल शरीर (जरायुज, अण्डज, स्वदेज, उद्भिज्ज) आदि को धारण कर नाना प्रकार के भोगों को पृथिवी-तल पर भोगता है। नरक, स्वर्ग आदि लोकों में भी इसे भोग प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ भोग के लिए अयोनिज शरीर मिलता है, जो जरायुज, अण्डज आदि शरीरों से भिन्न तो है किन्तु भोग का साधन होता है। यद्यपि यह शंका हो सकती है कि स्थूल शरीरों के ही रहने पर भोग प्राप्त होता है, ऐसा माना जाय तो सूक्ष्म शरीर को शरीर नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उससे कोई भोग प्राप्त नहीं हो रहा है, किन्तु यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि सूक्ष्म शरीर के बिना

स्थूल शरीर से कोई भोग नहीं होता। प्राण के निकल जाने के बाद जब मनुष्य मर जाता है तो स्थूल शरीर को सुख-दुःख का भान नहीं होता है। अतः यह कहना चाहिए कि सूक्ष्म शरीर के रहने पर ही भोग प्राप्त होते हैं। चाहे वह स्वप्न का भोग हो अथवा जाग्रत अवस्था का भोग; किन्तु सूक्ष्म शरीर ही भोग का कारण है। अथवा यह कहना उचित है कि उपाधि ग्रहण से ही भोग प्रारम्भ हो जाता है। अत एव सूक्ष्म शरीरयुक्त चेतन को भोक्ता कहते हैं। इसी विचार के प्रसंग में एक जिज्ञासा होती है, क्या सूक्ष्म शरीर के साथ सर्वदा स्थूल शरीर रहता है? यदि नहीं, तो स्थूल शरीर के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होता है? अर्थात् स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर का प्रवेश कैसे होता है? प्रवेश की इसी प्रक्रिया के सम्बन्ध में यतिगण ने 'किसका भेजा नगरी आया' इस मात्रा में जिज्ञासा की है। इस जिज्ञासा के समाधान का उपक्रम करते हुए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्थूल शरीर सर्वदा नहीं होते। जब जीव इस शरीर को छोड़कर लोकान्तर को जाता है तब यह शरीर तो यहीं रह जाता है, उस समय सूक्ष्म शरीर ही रहता है। प्रलय में भी सूक्ष्म शरीर ही अपने कारण में सम्पृक्त होकर रहता है। प्रलय के बाद सृष्टि काल में सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार सत्ता और स्फूर्ति प्राप्त करते हैं जैसे जगने के बाद सुषुप्ति में कारण में लीन हुआ अन्तःकरण पुनः कार्य करने लगता है।

आकाशादि क्रम से सृष्टि का जो वर्णन तैत्तिरीय श्रुति में किया गया है, उसके पूर्व एवं पश्चात् में उपलब्ध श्रुति वाक्यों पर विचार किया जाय, तो सृष्टि के प्रयोजन ब्रह्मज्ञान तथा प्रयोजन को सिद्धि में साधनभूत मनुष्य शरीर की उत्पत्ति एवं उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है। सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन के पूर्व ब्रह्मवल्ली के प्रारम्भ में ही 'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' ब्रह्म साक्षात्कार सम्पन्न व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है, यह वाक्य मिलता है। दूसरा वाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त है, ब्रह्म के स्वरूप का बोधन कराता है। यह ब्रह्म के स्वरूप का शब्द से होने वाला परोक्षज्ञान है, इससे अविद्या की निवृत्ति नहीं होगी, यह परोक्ष ज्ञान, 'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' वाक्य में ब्रह्मवेदन से अभिप्रेत नहीं है, इसका संकेत हमें 'यो वेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति' इस वाक्य से मिलता है, जो इस शरीर के भीतर हृदयाकाश में अवस्थित ब्रह्म को जानता है,

वह ब्रह्म स्वरूप में श्रोत्र आदि इन्द्रियों की अपेक्षा के बिना सभी कामों का एक साथ ही भोग करता है।

यह वाक्य ब्रह्म को 'गुहा' में छिपा हुआ बतला रहा है। गुहा, हार्दाकाश रूप परम व्योम है, यह भी श्रुति से बोधित हो रहा है; क्योंकि श्रुति में 'परमे व्योमन्' शब्द का प्रयोग है। इस 'गुहा' को बोधगम्य बनाने हेतु श्रुति में पञ्चभूतों की उत्पत्तिपूर्वक गुहा के आश्रय शरीर की उत्पत्ति का वर्णन है। **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः'** (तै.उप., ब्र.व., अनु.-1) श्रुति का अर्थ यह है—'जो ब्रह्म, **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** इस वाक्य से बतलाया गया है (तस्माद्) तथा जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस अनन्तर वाक्य से सत्य ज्ञानरूप एवं अनन्त (सर्वदा रहने वाला, सबका प्रकाशक एवं अन्तहीन) रूप में वर्णित है, जो सबकी आत्मा है, उसी आत्मशब्दवाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, जो सभी मूर्तद्रव्यों को अवकाश देता है। आकाश में शब्द गुण है, आकाश से शब्द एवं स्पर्श दो गुणों वाला वायु उत्पन्न होता है। वायु से शब्द, स्पर्श, रूप–तीन गुणों वाले तेज (अग्नि) की उत्पत्ति होती है। तेज से शब्द, स्पर्श, रूप, रस–चार गुणों वाले जल की उत्पत्ति होती है। जल से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–पाँच गुणों से युक्त पृथिवी की उत्पत्ति होती है। पृथिवी से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधि शब्द, गेहूँ, जव, चना, धान आदि के पौधों का वाचक है। अतएव ओषधियों से अन्न की उत्पत्ति तथा अन्न से पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन श्रुति करती है। **'ओषधिः फलपाकान्ता'** फल के पकने के साथ जिनका अन्त हो जाय, उन्हें ओषधि कहते हैं—अमरकोश 2/4/6 के अनुसार गेहूँ जव आदि के पौधों में ओषधि का लक्षण घटता है।

ओषधियों से जो अन्न प्राप्त होता है, वही अन्न रेतोरूप (वीर्य एवं रजोरूप) में परिणत होकर शिर, हाथ, पैर वाले पुरुष की उत्पत्ति करता है। यह 'पुरुष शब्द' नर शरीरधारी का बोधक है, केवल पुरुष शरीर का नहीं। यद्यपि पशु आदि के शरीर भी अन्नरस के विकार है तथा ब्रह्म से ही उत्पन्न हैं, ब्रह्म ही उन शरीरों के रूप में भी सम्भूत है। तथापि पुरुष शरीरधारी को ही पञ्चकोश विवेक

के द्वारा ब्रह्मस्वरूप की अवगति कराना अभीष्ट है। वही गुहा में निहित पुरुष को जान सकता है। अतः उसे ही अन्न रसमय पुरुष कहा जा रहा है। शरीर में ही आत्मबुद्धि अनादिकाल से हो रही है; क्योंकि आत्म शब्द वाच्य ब्रह्म, इसी के भीतर कोशों से आच्छन्न (ढका) है। इस अन्न रसमय शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। इसके अनन्तर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश वर्णित है। यह पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म है। इसी आनन्दमय कोश में ब्रह्म को पुच्छ में प्रतिष्ठित बतलाया गया है। सबका आश्रय होने से 'ब्रह्म को पुच्छ स्थानीय कहना उचित है। इस प्रकार पाँच कोशों से ढँके होने पर भी बुद्धि गुहा में उपलब्ध होने के कारण श्रुति, उसे बुद्धि गुहा में निहित (पूर्णरूप से छिपा हुआ) बतला रही है। इस शरीररूपी नगरी में उस चेतन आनन्द घन परमात्मा का अन्वेषण करने के उद्देश्य से गुरु ने मुझे भेजा है, यह उत्तर-मात्रा का आशय है।

इस प्रसंग में यह जिज्ञासा होती है कि वह सर्व नियन्ता आप्तकाम परमात्मा इस शरीर में कैसे आया है? उसको इस हेतु किसने प्रेरित किया? अथवा उसके आने का प्रयोजन क्या है? इसका समाधान हमें तैत्तिरीयोपनिषद् के निम्न मन्त्र से मिलता है। इसमें ईश्वर को स्वेच्छया प्रवेश का कर्ता बताया गया है।

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च'। (तै.उप., ब्र.व., अनु.-6)

उस चेतन को जिससे आकाशादि की उत्पत्ति हुई है, इच्छा हुई कि (प्रजनन या उत्पत्ति के द्वारा) एक से बहुत हो जाँय। यहाँ उत्पत्ति शब्द से पिता से उत्पन्न होने वाले पुत्र की तरह आत्मा से अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ की उत्पत्ति नहीं कही जा रही है; किन्तु आत्मा में स्थित अनभिव्यक्त नामरूप की अभिव्यक्ति ही उत्पत्ति है[79]। अस्तु, इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर के संकल्प एवं आलोचन से जो सृष्टि होती है वह सर्वथा अपूर्व नहीं, अनभिव्यक्त नामरूप की व्याकृति (व्यक्तीकरण) है। इस सृष्टि-क्रम में आत्मा से सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है तथा तन्मात्र शब्द से कहे जानेवाले सूक्ष्मभूतों से पहले सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है, फिर स्थूलभूतों की एवं स्थूल शरीर की। सृष्टि का कर्ता ईश्वर ही

है, अतएव वह सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर को तो एक जीव के लिए एक बार बनाता है किन्तु स्थूल शरीर तो मोक्षपर्यन्त अगणित संख्या में प्रारब्धानुसार ब्रह्मा जी के द्वारा बनाता रहता है। क्योंकि नाना योनियों में भ्रमण करने वाला जीव इन्हीं शरीरों से भोग को प्राप्त करता है। भोग को प्राप्त करने वाला चेतन है, शरीर तो उसका साधन है। अतः शरीर को बनाने के साथ जिस जीव (भोक्ता) के लिए वह शरीर बना है उसमें उसका प्रवेश भी ईश्वर कराता है। शरीर में प्रवेश करने वाला यह जीव, चेतन नियन्ता से भिन्न नहीं है, प्रत्युत उपाधि के कारण (अविद्या के कार्य सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि के सम्बन्ध के कारण) एक ही चेतन नाना जीवों के रूप में व्यवहृत होता है। जैसे एक ही आकाश, घट, मठ आदि उपाधियों से सम्बन्ध के कारण घटाकाश, मठाकाश आदि नाना शब्दों से व्यवहार्य होता है।

अतएव श्रुति कहती है—**'तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्'** (तै.उप. 2/6)—इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करके सृष्टिकर्ता ने उसमें प्रवेश किया। संस्कृत व्याकरण की व्यवस्था के अनुसार सृष्टिकर्ता तथा प्रवेशकर्ता दोनों के एक होने पर ही क्त्वाप्रत्यय होकर सृष्ट्वा रूप बनेगा। अतः परमात्मा ही अपने द्वारा विरचित पदार्थों में प्रविष्ट है, इस तथ्य को क्त्वाप्रत्यय बतला रहा है।

यद्यपि सर्वव्यापक परमात्मा का परिच्छिन्न पदार्थों में प्रवेश करना सम्भव नहीं लगता; क्योंकि उससे अव्याप्त ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ पहुँचने के लिए उसमें क्रिया अथवा प्रयास हो। इस प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा में प्रवेश क्रिया सम्भव नहीं हो पाती। तथापि श्रुति में अनेक स्थानों पर इसकी चर्चा होने के कारण इस वाक्य को अनर्थक अथवा भिन्नार्थक कहना भी अविचारित रमणीय ही होगा। अतः **'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्'** (काठ.उप. 1/2/12) आदि श्रुति-वाक्यों के आधार पर विचार करते हुए चिन्तकों ने तैजस अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति में इसे प्रविष्ट होकर छिपा हुआ बताया। यद्यपि परमात्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों में प्रवेश किया है तथापि उसकी उपलब्धि बुद्धि गुहा या अन्तःकरण में ही होती है। अतः इसे अन्तःकरण में छिपा हुआ बताया गया। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस वाक्य का अर्थ करते हुए शङ्करभगवत्पाद ने प्रवेश को इस रूप में स्पष्ट किया है—**'तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यं सृष्ट्वा**

तमनुप्रविष्टमिव अन्तर्गुहायां बुद्धौ द्रष्टृ, श्रोतृ, मन्तृ, विज्ञात्रित्येवं विशेषवदुपलभ्यते। स एव तस्य प्रवेशस्तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म। अतोऽस्तित्वादस्तीत्येवोपलब्धव्यं तत्'। आकाश आदि कार्यों की सृष्टि करने वाला कारणभूत ब्रह्म ही कार्य की सृष्टि करके उसमें अनुप्रविष्ट रूप में प्रतीत होने के कारण बुद्धि गुहा में द्रष्टा (देखने वाला), श्रोता (सुनने वाला), मन्ता (मनन करने वाला), विज्ञाता (विशेष जानने वाला) इन रूपों में विशेष धर्म से युक्त प्रतीत होता है। यही उसका प्रवेश है। अतः प्रवेशकर्ता के रूप में पूर्व से उपलब्ध होने के कारण 'अस्ति' इस रूप में वह उपलब्धि के योग्य है।

आशय यह है कि निर्विशेष ब्रह्म ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के कारण बुद्धि के धर्मों से युक्त होने से द्रष्टा श्रोता, मन्ता, विज्ञाता आदि रूपों में प्रतीत होता है। इसका कारण बुद्धि से सम्बन्ध है। विशेष रूप में उपलब्ध होना ही उसका प्रवेश है। इस प्रवेश का कारण होने से ब्रह्म पूर्व से सिद्ध है। सर्वत्र व्यापक ब्रह्म प्राणियों के शरीर में बिम्बरूप से स्थित है, किन्तु बुद्धि गुहा में प्रतिबिम्बित होने के कारण प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट कहा जा रहा है। अतः बिम्ब-प्रतिबिम्ब दोनों रूपों में ब्रह्म की अवस्थिति शरीर में है। इसे हम सूर्य के दृष्टान्त से स्पष्ट कर सकते हैं। जैसे आकाश स्थित तेजोमय सूर्य का प्रतिबिम्ब दर्पण तथा जल आदि स्वच्छ पदार्थों में ही होता है सर्वत्र नहीं, इसका कारण दर्पण आदि की स्वच्छता तथा उनके स्वभाव (प्रतिबिम्बग्रहण करने की सामर्थ्य) के अतिरिक्त जैसे कुछ नहीं है, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक चेतन की भी बुद्धि गुहा में ही प्रयास से उपलब्धि होती है अन्यत्र नहीं; क्योंकि वह बुद्धि गुहा में प्रविष्ट होकर छिपा हुआ है। इस प्रकार परमात्मा का जीव रूप में बुद्धि गुहा में स्वेच्छया प्रवेश प्रतिपादित होता है। यही नगरी में प्रवेश है। यद्यपि **'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे'** (1/3/1) इस कठोपनिषद् के मन्त्र में ऋत शब्दवाच्य कर्म-फल के भोक्ता के रूप में तथा गुहा प्रविष्ट रूप में दो तत्त्वों का वर्णन मिलता है। तथापि फलभोग करने वाला जीव गुहा में प्रविष्ट है, यह निश्चित हो जाने पर दूसरा चेतन ईश्वर ही गुहा प्रविष्ट कहा जायेगा; क्योंकि 'यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै.उप., ब्र.व., अनु.-1) आदि वाक्यों में गुहा प्रविष्ट

परमेश्वर का वेदन सुना जाता है। अतः परमेश्वर प्रविष्ट होकर भी सुख-दुःख रूप कर्मफल का भोग नहीं प्राप्त करता, यह कहना होगा।

यद्यपि 'गुहां प्रविष्टौ' इस मन्त्रांश के श्रवण से गुहापद वाच्य शरीर है या बुद्धि यह शंका हो सकती है, शांकरभाष्य में भी पूर्व पक्षभाष्य में इसका उल्लेख है, तथापि 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' आदि श्रुतियों के संवाद से 'गुहा' शब्द से हृदय देश में अवस्थित 'बुद्धि' रूप गुहा का ग्रहण होता है, शरीर का नहीं यह सिद्धान्त रूप से **'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्'** (ब्र.सू. 1/2/11) में निर्णीत होने से शङ्का निराकृत हो जाती है। किन्तु गुहारूप बुद्धि का निर्माण कैसे हुआ? उसका इस शरीर में प्रवेश कैसे हुआ? इत्यादि बुद्धितत्त्व से सम्बद्ध जिज्ञासाएँ असमाहित रह जाती है। अतः इनके समाधान हेतु ऐतरेयोपनिषद् में वर्णित शरीर की उत्पत्ति की प्रक्रिया तथा इसमें प्राण, अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के प्रवेश आदि का वर्णन प्रस्तुत है। प्रकृत मात्रा के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है; क्योंकि शरीर को नगरी तभी कहा जा सकता है, जब नगरी की तरह उसमें भी विभिन्न प्रकार के लोग उच्चावच भाव से विभिन्न प्रयोजनों से नगराधिपति के लिए कार्य करने हेतु निवास करते हों। प्राण, इन्द्रिय आदि, भोक्ता जीव के लिए भोग समर्पण के द्वारा यह सब कुछ करते हैं। अतः शरीर रूपी नगरी का निर्माण, उसमें प्राण आदि का वास हेतु प्रवेश तथा नगराधिपति जीव का प्रवेश सभी पर विचार होना चाहिए। शरीर या नगरी की अवस्थिति जहाँ होती है, वह स्थान विशेष लोक कहलाता है। लोक, लोकपाल शरीर इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि की उत्पत्ति के वर्णन क्रम से श्रुति में सृष्टि का वर्णन इस प्रकार है—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥1॥ (ऐत.उप., अ.-1, ख.-1, म.-1)

स इमाँल्लोकानसृजत्। अम्भो मरीचिर्मरमापोऽदोऽम्भः।

(ऐत.उप. 1/1/2)

यह लोकों की सृष्टि का वर्णन है। श्रुति कहती है कि सृष्टि के पहले नामरूप कर्मात्मक जगत् एक आत्मा के रूप में ही था। नामरूप अव्याकृत अवस्था में आत्मा में आत्मरूप से अवस्थित थे। आत्मा से भिन्न कोई भी पदार्थ

नहीं था। आत्मरूप ब्रह्म ने चिन्तन किया कि लोकों की सृष्टि की जाय। लोकों में प्राणियों को अपने कर्मानुसार कर्मफल की प्राप्ति होती है। अतः लोकों की सृष्टि विषयक ईक्षण आत्मशब्दवाच्य ब्रह्म ने किया। इस प्रकार के चिन्तन के अनन्तर अम्भो लोक, मरीचिलोक मर (भूलोक) लोक तथा आपो लोक। अम्भो लोक की प्रतिष्ठा या उसका आश्रय द्युलोक को बताया गया है, अतः द्युलोक के ऊपर के महर्लोक जनलोक आदि तथा द्युलोक को भी अम्भोलोक कहेंगे। द्युलोक के नीचे जो अन्तरिक्ष लोक है, उसे 'मरीचि' शब्द से कहा जा रहा है। पृथिवी को 'मर' लोक कहते हैं; क्योंकि यहाँ लोग मरते हैं। पृथिवी के नीचे के लोकों को 'आप' लोक (जल सम्बन्धी लोक) कहते हैं।

लोकों की सृष्टि के पश्चात् लोकपालों की सृष्टि को बोधगम्य बनाने हेतु लोकपालों के जनक, विराट् पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन श्रुति में मिलता है। श्रुति में वर्णित अग्नि आदि लोकपाल ही वाक् आदि इन्द्रियों के रूप में हमारे शरीर में प्रविष्ट होते हैं। अतः उनकी उत्पत्ति का वर्णन 'शरीर' को नगरी रूप में बोधित करने हेतु आवश्यक है।

विराट् पुरुष की उत्पत्ति, आत्म या ब्रह्मशब्दवाच्य चेतन से होती है, इसे स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती है—**'सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्द्दयत्'** (ऐत.उप., अ. 1, खण्ड-1, म. 3) उस सर्वाधिष्ठान आत्मस्वरूप चेतन ने जल से पुरुष के आकार वाले पिण्ड को लेकर उसमें शिर, हस्त आदि पुरुष के अवयवों को योजित किया। पिण्ड में हस्त, पाद आदि अवयवों को बनाया। यहाँ जलवाची अप् शब्द का प्रयोग जल की व्यापकता को इङ्गित कर प्रधानता को सूचित करता है। पुरुषाकार पिण्ड की सृष्टि तो पृथिवी आदि पाँचों भूतों के समूह से ही होती है। अतः वह पाञ्चभौतिक ही है।

इस पुरुषाकार पिण्ड में, भगवान् के सङ्कल्प से मुख आदि आदि शरीर के अवयव निष्पन्न हुए तथा उनमें वाक् आदि इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रतिष्ठित हुए। अतएव श्रुति कहती है **'तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्'** इत्यादि (ऐत.उप. 1/1/4) उस पुरुषाकार पिण्ड के उद्देश्य से ईश्वर ने सङ्कल्प किया। ईश्वर सङ्कल्प से पिण्डाकृति में मुख के आकार वाला छिद्र उत्पन्न हुआ अर्थात् पक्षियों के अण्डों का भेदन

जैसे होता है, उसी प्रकार पिण्ड में मुख के आकार का छिद्र बना। उस मुख में वागिन्द्रिय तथा वाक् के अधिष्ठाता अग्नि रूप लोकपाल प्रतिष्ठित हुए।

इसी प्रकार श्रुति में आगे 'नासिका स्थान उससे सम्बद्ध प्राण वृत्तिसहित घ्राणेन्द्रिय तथा अधिष्ठाता वायुरूप लोकपाल, अक्षिरूप अधिष्ठान, चक्षुरिन्द्रिय तथा चक्षु के अधिष्ठाता आदित्यरूप लोकपाल, कर्णरूप अधिष्ठान, श्रोत्रेन्द्रिय तथा दिग्रूप अधिष्ठात्री देवता, त्वग्रूप अधिष्ठान, स्पर्शनेन्द्रिय तथा वायुरूप अधिष्ठात्री देवता, अन्तःकरण के अधिष्ठानरूप हृदयकमल उससे सम्बद्ध अन्तःकरणरूप इन्द्रिय तथा अधिष्ठातृदेवता चन्द्रमा, सर्वप्राण बन्धन स्थानभूत नाभिरूप अधिष्ठान, अपान वायु संयुक्त 'पायु'रूप इन्द्रिय तथा मृत्युरूप अधिष्ठात्री देवता एवं प्रजनन स्थान, प्रजननेन्द्रिय तथा प्रजापति देवता की विराट्पुरुष के शरीर के भीतर तत्तत्स्थानों में उत्पत्ति एवं प्रतिष्ठा का वर्णन किया गया है।

अग्नि आदि लोकपाल देव जिनकी उत्पत्ति विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अवयवों की संरचना के बाद लोकों का पालन या रक्षण के लिए ईश्वर के द्वारा हुई, ये विस्तीर्ण संसार समुद्र में पतित हुए। संसार में पतित होने का आशय अशनापिपासा (भूख-प्यास) आदि संसार धर्मों का संसर्ग होना ही है। इन देवताओं को अशनापिपासा का सम्बन्ध, उनके कारण भूत विराट्पुरुष के अशनापिपासा आदि से सम्बद्ध होने से हुआ, इस तथ्य का वर्णन श्रुति में **'ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति'॥** (ऐत.उप. 1/2/1) ईश्वर के द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न किए गये पिण्डाकार पुरुष ने अपने को अशनापिपासा (भूख, प्यास) से सम्बद्ध किया। देवताओं की उत्पत्ति के कारणभूत इस पिण्डाकार पुरुष के अशनापिपासा दोषयुक्त होने पर उससे उत्पन्न अग्नि आदि देवता भी अशनापिपासा आदि दोषों से युक्त हुए। अशनापिपासा से पीड़ित होने पर इन देवताओं ने पितामहरूप ईश्वर को (अग्नि आदि देवताओं को उत्पन्न करने वाले पिण्डाकार पुरुष के उत्पादक ईश्वर को) कहा 'आप हम लोगों के लिए आश्रयभूत आयतन, शरीर रूप आश्रय, का निर्माण करें, जिसमें प्रतिष्ठित होकर हमलोग अन्न भक्षण कर सकें'।

इस प्रार्थना पर पितामह ने देवताओं के आयतन हेतु मनुष्य, पशु-पक्षी आदि का निर्माण करके गाय और अश्व को पहले आयतन के रूप में दिया। इसके अनन्तर पुरुष को प्रदान किया। पुरुष को सुकृत के रूप में स्वीकार कर ईश्वर की आज्ञा से अग्नि आदि देवताओं ने पुरुष शरीर में इन्द्रियों के रूप में उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे 'नगरी' में बलाधिकृत आदि (सेनापति आदि) राजा की आज्ञा से प्रवेश करते हैं। किस रूप में कौन देवता प्रवेश किये, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है—अग्नि देव (वाक्) वाणी होकर अपने अभिव्यक्ति स्थान मुख में प्रवेश किए। इसी प्रकार वायु देव, प्राण के रूप में नासिका में, आदित्य, चक्षुरिन्द्रिय के रूप में दोनों नेत्र गोलकों में, दिशाएँ श्रोत्र होकर दोनों कानों में, ओषधि, वनस्पतिओं के अधिष्ठात्री देवता रोमों के रूप में त्वचा में, चन्द्रमा मन के रूप में, हृदय देश में (हृदय कमल में), मृत्युदेव अपान के रूप में नाभि में तथा आपः (जल) रेत के रूप में शिश्न या प्रजननेन्द्रिय में प्रवेश किए (द्र.–ऐत.उप. 1/2/3-4)। अग्नि आदि देवताओं का इन्द्रियों के रूप में मनुष्य आदि शरीरों में प्रवेश हुआ। अग्नि आदि की सृष्टि, लोकों के पालन के निमित्त हुई है। लोको का पालन, लोकों में स्थित प्राणियों के पालन से सम्बद्ध है, अतः अग्नि आदि लोक पालों ने इन्द्रियों के रूप में, सम्पूर्ण लोकों के प्राणियों में प्रवेश किया। इन्द्रियों का प्रवेश उनके अधिष्ठाता देवता के नियन्त्रण में ही होता है। स्वतन्त्र होकर नहीं। यह तथ्य **'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्'** (ब्र.सू. 2/4/14) में प्रतिपादित है।

सबके रचयिता परमेश्वर ने विराट पुरुष को अशनापिपासा आदि संसार धर्मों से युक्त कर दिया। अतः विराट्पुरुष से उत्पन्न देवताओं में भी संसार धर्म का योग होने पर उन्हीं की अशनापिपासा की शान्ति के लिए मनुष्य आदि शरीर आयतन के रूप में सृष्ट हैं। अतः इन शरीरों में कामादि दोष स्वाभाविक रूप से हैं। किन्तु गुरु रूप परमात्मा ने यहाँ भेजा है, तो हमें शरीर को इन दोषों से बचाना है। अतएव गीता के श्लोक—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

(गीता 5/23)

के प्रतिपाद्य अर्थ को स्पष्ट करते हुए श्रीधर स्वामी ने कहा है—

कामात् क्रोधाच्चोद्भवति यो वेगो मनोनेत्रादि-क्षोभलक्षणस्तमिहैव तदुद्भवसमय एव यो नरः सोढुं प्रतिरोद्धुं शक्नोति। तदपि न क्षणमात्रं किन्तु शरीरविमोक्षणात् प्राक्। यावद्देहपातमित्यर्थः। य एवम्भूतः स एव मुक्तः समाहितः सुखी च भवति नाऽन्यः।

काम और क्रोध से मन तथा नेत्र आदि अंगों में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसका (क्षोभ का) उत्पत्ति के समय हि जो प्रतिरोध करने में समर्थ होता है, वही समाधि प्राप्त कर सकता है तथा वही सुखी होता है। काम, क्रोध आदि मन की वृत्तियाँ[80] हैं। काम, क्रोध आदि के विक्षोभ को मृत्युपर्यन्त निरास करने का प्रयास करना है, इसे 'प्राक् शरीर विमोक्षणात्' यह अंश बोधित करता है। स्पष्ट है कि त्रिगुणात्मक शरीर में कामादि की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निरोध प्रयासपूर्वक अपेक्षित है।

अस्तु शरीर प्राप्त करने का उद्देश्य गुहा में निहित ब्रह्मवेदन के द्वारा जीव का कल्याण करना है। अतः देवताओं के शरीर में प्रवेश के अनन्तर परमात्मा ने जीवरूप में स्वयं इस शरीर में प्रवेश किया। इस शरीर से सम्बद्ध होने पर उसमें भी संसार धर्म आए। प्रवेश का वर्णन—**'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत, सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्'। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति'** (ऐत.उप. 1/3/12) में मिलता है।

उस परमात्मा ने विचार करके मूर्धस्थान (शिर के मध्य भाग) का विदारण करके उसके द्वारा जीवरूप में शरीर में प्रवेश किया। इसे 'नान्दन' द्वार कहते हैं; क्योंकि इससे निकल कर उपाधि त्याग के द्वारा परब्रह्म स्वरूप होकर साधक आनन्द को प्राप्त करते हैं। परमात्मा के प्रवेश का द्वार होने से इससे निष्क्रमण करने पर जीव, ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं।

अस्तु इस विचार से यह स्पष्ट होता है कि इस नगरी रूपी शरीर का निर्माण परमात्मा ने किया तथा अग्नि आदि देवताओं को इन्द्रियरूप में भोगार्थ प्रविष्ट कराकर स्वयं 'नान्दन' द्वार से इसमें जीवरूप में प्रवेश किये। यह द्वार

इन्द्रियों के प्रवेश या निर्गम के लिए नहीं है। अतः इस मार्ग से निकलने पर जीव की ब्रह्मसम्पत्ति या ब्रह्मरूपत्व की अभिव्यक्ति होती है। 'किसका भेजा नगरी आया' यह जिज्ञासा वाक्य इन सभी तथ्यों की ओर जिज्ञासासूचक संकेत करता है।

ऐतरेय उपनिषद् के प्रकृत-मन्त्र भाग की विवेचना की जाय, तो स्पष्ट होता है कि सूक्ष्मभूतों से अण्ड की उत्पत्ति के अनन्तर सर्वप्रथम विराट्पुरुष की उत्पत्ति होती है। इस विराट्पुरुष के शरीर के विभिन्न अवयवों से वाक् आदि इन्द्रिय तथा अग्नि आदि देवगण की उत्पत्ति होती है। विराट्पुरुष, मनुष्यादि शरीरों में उत्पन्न होने वाले मुख आदि स्थान, वाग् आदि इन्द्रियरूप करण तथा अग्नि आदि देवताओं की अभिव्यक्ति के बीज या कारण हैं, अतः परमात्मा के द्वारा सृष्ट मनुष्य आदि के पिण्डाकार शरीरों में, मुख आदि स्थानों की अभिव्यक्ति के बाद यह देवगण तथा इन्द्रियाँ ईश्वर की अनुज्ञा से स्थान प्राप्त करते हैं।

देवताओं तथा इन्द्रियों के मनुष्य आदि के शरीरो में प्रवेश के साथ ही प्राणन क्रिया या श्वसन प्रणाली के आरम्भ काल में ही परमात्मा का नान्दन द्वार से जीवरूप में शरीर में प्रवेश होता है। जीवरूप में प्रवेश भोगार्थ होता है। प्राण और अन्य इन्द्रियों का प्रवेश जिन नव द्वारों से होता है, उनसे भिन्न द्वार से परमात्मा का प्रवेश होता है। इस शरीर की सृष्टि अन्न रूप में हुई है। अत एव श्रुति में कहा गया है—**'सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्'**। (ऐत.उप. 1/3/2) अन्न की सृष्टि करने की इच्छा से परमात्मा ने संकल्प किया। परमात्मा की इसी इच्छा से जलीय, प्राधान्य वाले पञ्चभूतों से 'मूर्ति' उत्पन्न हुई। यह मूर्तिरूप शरीर प्राण आदि को धारण करने में समर्थ था तथा चर और अचर (वृक्षादि शरीर) दो प्रकार का है। अतएव शंकराचार्य ने कहा है—**'मूर्तिर्घनरूपं धारणसमर्थं चराचर-लक्षणमजायतोत्पन्नमन्नं वै तन्मूर्तिरूपं या वै सा मूर्तिरजायत'**। सूक्ष्म भूतों से, काठिन्ययुक्त (मूर्ति) होने से धारण करने में समर्थ जङ्गम और स्थावर शरीर उत्पन्न हुए। यह सभी शरीर अन्न हैं। अन्न उसे कहते हैं, जिसका भक्षण किया जाता है। सभी शरीर अन्न हैं, तो सभी अन्नाद भी हैं; क्योंकि योग्यतानुसार मनुष्य पशु आदि शरीरों से युक्त चेतन एक-दूसरे का अन्न रूप में भक्षण करते हैं।

यह शरीर एक-दूसरे का भक्षण करते हैं; क्योंकि अशना और पिपासा इन सभी शरीरों के सामान्य धर्म हैं, अर्थात् सभी शरीर भूख और प्यास (अशना-पिपासा) से पीड़ित होते हैं। पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि यह अशना और पिपासा विराट्पुरुष के गुण हैं; क्योंकि इनको परमात्मा ने विराट्पुरुष में योजित किया है। अतः विराट्पुरुष के शरीर सम्बन्ध से सृष्ट, इन्द्रियों तथा देवताओं से भी सम्बद्ध होते हैं। इन देवताओं एवं इन्द्रियों के आयतनभूत स्थावर जङ्गम शरीरों में भी अशनापिपासा का सम्बन्ध है, जिससे इन शरीरों में भूख प्यास का सम्बन्ध तो है ही, इनमें रहने वाली इन्द्रियों में भी भूख-प्यास है, इन्द्रियाँ विषयोन्मुख हैं।

शरीर को नगरी कहा गया है; क्योंकि यह इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण तथा मन-बुद्धि आदि का संघात या समूह है। यह केवल विचित्र कार्य करने वाले तथा वैचित्र्ययुक्त इन्द्रिय आदि का समूह ही नहीं है, वास्तव में वैचित्र्ययुक्त नगरी का स्वरूप तो तब अनुभव में आता है, जब शरीर के भीतर सूर्य, चन्द्रमा तथा तारागण ही नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का दर्शन होता है। सामान्यतः तो नगरीरूप शरीर का सामान्य स्वरूप भी अनुभव में नहीं आता; क्योंकि इन्द्रिय मन आदि अतीन्द्रिय है, तो नक्षत्र आदि से मण्डित आन्तर आकाश तथा विभिन्न लोकों से युक्त इसके विशिष्ट स्वरूप के अनुभव गम्य होने की बात ही अलग है। 'किसका भेजा नगरी आया' यह मात्रा इस बात की ओर संकेत कर रही है कि तुम इस नगरी के स्वरूप, इसमें भेजे जाने का उद्देश्य तथा लक्ष्यप्राप्ति में बाधक अशनापिपासायुक्तता आदि को जान रहे हो या नहीं? तुमको भेजने वाले ने इसके विशिष्ट स्वरूप की जानकारी हेतु उपाय बतलाया है या नहीं?

ऐत. उपनिषद् के मन्त्र सं. 1/3/12 में शरीर रूप नगरी तथा सम्पूर्ण प्रपञ्च को स्वप्न की तरह मिथ्या बतलाया गया है। यतः इस मन्त्र में मनुष्य आदि शरीरों में प्रविष्ट चेतन के तीन आवसथ (आवास स्थान) बताकर तीनों को स्वप्न कहा गया है। **'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः'** यह मन्त्रांश है। आचार्य शङ्करभगवत्पाद ने मन्त्र की व्याख्या में शरीर को राजा का पुर कहा है।

तस्यैवं सृष्ट्वा प्रविष्टस्य जीवेनात्मना राज्ञ इव पुरं त्रय आवसथाः, जागरितकाल इन्द्रियस्थानं दक्षिणं चक्षुः। स्वप्नकालेऽन्तर्मनः। सुषुप्ति-

काले हृदयाकाश इत्येतद् वक्ष्यमाणा वा त्रय आवसथाः पितृशरीरं मातृगर्भाशयः स्वञ्च शरीरमिति। त्रयः स्वप्ना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः। ननु जागरितं प्रबोधरूपत्वान्न स्वप्नः। नैवम्। स्वप्न एव। कथम्? परमार्थस्वात्मप्रबोधाभावात् स्वप्नवदसद्वस्तुदर्शनाच्च।

वह जगत् कर्ता चेतन सृष्टि करके इस शरीर में उसी प्रकार प्रविष्ट हुआ जैसे राजा अपने पुर में प्रवेश करता है। इस शरीर में प्रवेश करने वाले चेतन के पुर में प्रवेश करने वाले राजा के वासस्थान की तरह तीन वासस्थान, जागरण काल में दक्षिणनेत्ररूप इन्द्रिय स्थान, स्वप्न काल में अन्तर्मन तथा सुषुप्ति काल में हृदयाकाशरूप हैं। अथवा आगे वर्णित तीन स्थान पितृशरीर, माता का गर्भाशय तथा उसका अपना शरीर है। इन तीनों शरीरों में जाग्रत् काल के शरीर व्यावहारिक दृष्टि से 'सत्य' शरीर हैं। किन्तु 'त्रयः स्वप्नाः' यह अंश जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों को स्वप्न बतला रहा है। यद्यपि शङ्का होती है कि प्रबोधरूप होने से जागरित काल स्वप्न नहीं है, तथापि परमार्थरूप से स्वात्मप्रबोध (आत्मा का साक्षात्कार) न होने के कारण स्वप्न की तरह असद्वस्तु का प्रतिभास होने से वह भी स्वप्न ही है। इस प्रकार 'गुरु का भेजा नगरी आया' यह उत्तर वाक्य, शरीर रूप नगरी के मिथ्यात्व को इङ्गित कर इससे ज्ञान-प्राप्ति हेतु प्रयास को सूचित करता है। चूँकि गुरु का कार्य विद्या-प्राप्त करना है, अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु 'गुरु' ने इस नश्वर प्रातीतिक शरीर में भेजा है। यह भी ध्वनित होता है।

इस मात्रा के अर्थ विचार के प्रसंग में यह अवश्य ध्यातव्य है कि किसका भेजा नगरी आया? गुरु का भेजा नगरी आया? आदि मात्राओं में शरीर को नगरी शब्द से बोधित करने का कोई विशेष प्रयोजन है? अथवा यह बिना किसी प्रयोजन के यादृच्छिक प्रयोग है? ऐतरेय उपनिषद् में यह श्रुत है कि शरीररूप आयतन (आश्रय) की सृष्टि के बाद परमात्मा ने अग्नि आदि देवगण को लोकों का पालन करने तथा अन्न भक्षण के द्वारा अशनापिपासा की शान्ति हेतु शरीर में प्रवेश करने की अनुज्ञा दिया। अनुज्ञा को श्रुति में **'ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति'** (ऐत.उप. 1/2/3) इस वाक्य से बोधित किया गया है। इसी वाक्य की व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने शरीर को नगरी के रूप में बोधित किया

है। **'तथाऽस्त्वित्यनुज्ञां प्रतिलभ्येश्वरस्य नगर्यामिव बलाधिकृतादयोऽग्निर्वागभिमानिनी वागेव भूत्वा स्वां योनिं मुखं प्राविशत् तथोक्तार्थमन्यत्'** (ऐत.उप. 1/3/4, शां.भा.) ईश्वर की अनुज्ञा प्राप्त करके जैसे नगरी में सेनापति आदि (बलाधिकृत आदि) प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अग्नि देव जो वाक् के अभिमानी देवता हैं, वागिन्द्रिय के रूप में मुख में प्रवेश किये। इसी तरह वायु देव आदि भी 'प्राण' आदि के रूप में शरीर में प्रवेश किये। अतः आचार्यचरण का 'नगरी' शब्द से शरीर का बोधन साधार है, स्वोत्प्रेक्षित नहीं। ऐतरेय उपनिषद् में ही 'शरीर' को 'मूर्ति' शब्द से कहा गया है—**'या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्'** 1/3/2। 'मूर्ति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतः स्त्रीलिङ्ग 'नगरी' शब्द से शरीर को बोधित किया गया है।

यदि जीव, ईश्वर और जगत् तीनों को नित्य मानते हुए भेदवादी दार्शनिकों की दृष्टि से इस मात्रा का अर्थ-विचार किया जाय तो भी कोई अनुपपत्ति नहीं होगी; क्योंकि नित्य जीव को ईश्वर के संकल्प से इस शरीररूपी नगरी में प्रवेश मिला है। अर्थात् सद्गुरुस्वरूप परब्रह्म की प्रेरणा से हमको मानव शरीररूपी नगरी में अदृष्टानुसार प्रवेश मिला है, यह अर्थ स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है, तथापि पूर्व की दो मात्राओं के साथ इस वाक्य की क्रमसंगति नहीं बन पायेगी।

'किसने मूड़ा, किसने मुड़ाया' इन दो प्रश्नों का उत्तर 'सद्गुरु मूड़ा, लेख मुड़ाया' इन दो वाक्यों में दिया गया है, जो अनुपन्न होगा। भेद पक्ष में जीव का अपना वास्तविक स्वरूप है। वह ब्रह्म के विरूपकरण से सत्ता में नहीं आया है। इस प्रकार जब मुण्डन ही नहीं है तो 'किसने मुड़ाया' इस वाक्य के द्वारा मुण्डन में निमित्त कौन है? यह जिज्ञासा समीचीन नहीं होगी।

चेतहु नगरी तारहु गाँव

नगरी को सावधान करने का आशय है मनुष्य शरीर को उचित कर्मों (विहित कर्मों) के प्रति सचेष्ट करना, जिससे हितकर परिमित एवं मेध्य आहार के सेवन एवं उचित शयनासन विहरणादि के द्वारा स्वस्थ रहकर मानव पुरुषार्थ प्राप्ति हेतु अनुष्ठेय कर्मों को कर सके। यह भी अवधेय है कि गुरु के भेजने से जीव, शरीररूपी नगरी में आया हुआ है, तो प्रेषण का उद्देश्य शिष्यरूप जीव का

उद्धार है, जो शिष्य के द्वारा परिशीलित योग, ज्ञान, भक्ति आदि साधनों के द्वारा होगा, किन्तु शिष्यों की योग्यता के अनुसार योग ज्ञान, भक्ति आदि के जो भी मार्ग गुरु के द्वारा उपदिष्ट होंगे, उन सबका साधनरूप में अनुष्ठान करने हेतु स्वस्थ संयमयुक्त तथा परिमित दिनचर्या वाला साधक अपेक्षित होने से आचार्यचरण ने, 'चेतहु नगरी' इस मात्रा के द्वारा जीव को शरीर के विषय में सावधान करते हुए शरीर से सम्बद्ध विशेष कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य की ओर संकेत किया है। गीता में सभी प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान में अधिष्ठानरूप से शरीर को हेतु कहा गया है। कर्ता, जीव से यह अधिष्ठित है, वही इसका नियन्त्रक है, यह तथ्य अधिष्ठान शब्द से सूचित होता है। मात्रा-शास्त्र का यह पहला उपदेश वाक्य है, जो मनुष्य शरीर में प्रविष्ट जीव को आवागमन की निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्ति तक साधनों के अनुष्ठान के प्रति अवधानयुक्त होने का उपदेश दे रहा है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि शरीर से अनुष्ठेय या वर्जनीय किसी भी कार्य का उपदेश न होने से यह उपदेश वाक्य अपूर्ण है, यतः प्रसङ्ग विशेष में ही अवधान का उपदेश सार्थक होता है, अत एव राज-सभा आदि में स्वराष्ट्राधिपति अथवा परराष्ट्राधिपति के प्रवेश के समय प्रासङ्गिक होने से लोगों को अवहित होने का संकेत किया जाता है। तथापि सम्पूर्ण मात्रा में इसका अन्वय स्वीकार करने से यह शङ्का निराकृत हो जाती है तथा यह 'मात्रा' सम्पूर्ण अनुष्ठेय अर्थों की अनुष्ठेयता शरीर से होने के कारण सर्वत्र प्रासङ्गिक भी है।

यह भी अवधेय है कि जन्म-मरण की शृंखला के निवृत्त होने में अधिक काल अपेक्षित होने से मोक्षमार्ग में प्रवर्तमान जीव के द्वारा अनवधानता की दशा में अकार्यों के अनुष्ठित होने पर मोक्ष प्राप्ति की जटिलता बढ़ती जायेगी। अतः सावधान होकर अकार्यों से बचना है। यद्यपि यह शङ्का होती है कि जब इन्द्रियों का विषयों से उद्धार होने पर ही अकार्य से बचना सम्भव है, तो शरीर के अवहित होने का कोई पृथक् प्रयोजन नहीं बनता। तथापि कामक्रोधादि के वेगों की विवेक, विज्ञान आदि को नष्ट करके अकार्य में प्रवृत्त कराने की सामर्थ्य को देखते हुए शरीर की कामतः प्रवृत्ति आदि के विषय में 'मर्यादा' की स्थापना आवश्यक है, जिससे कार्य एवं अकार्यविषयक दृढ़ संस्कार हमारी रक्षा कर सकें।

गोरखबानी में भी योग-पथ के पथिक को प्रारम्भ में ही शरीर की नश्वरता पर विचार करने तथा शुक्र की रक्षा करने हेतु निर्देश दिया गया है।

आंरम्भ जोगी कथीला एकसार।
षिण षिण जोगी करै सरीर विचार॥
तलबल ब्यंद धरिबा एक तोल।
तब जांणिबा जोगी आरंभ का बोल॥

(सबदी 137, गो.बानी, पृ. 67)

सबदी का आशय यह है—आरम्भ योगी उसे कहते हैं, जो एक तत्त्व में आसक्त होकर निश्चल भाव से रहे और हर क्षण शरीर पर विचार करता रहे तथा पाद तल से शिर तक पूरे शरीर में भरे हुए बिन्दु या शुक्र की समान भाव से रक्षा करे। ऐसा करने पर यह जाना जायेगा कि योगी को योगारम्भ के समय किये जाने वाले उपाय का ज्ञान है। प्रत्येक क्षण में शरीर के ऊपर विचार करने पर शरीर की नश्वरता के ज्ञान से योगी अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित रहेगा तथा शुक्र की रक्षा हेतु अपने आहार-बिहार को सन्तुलित रखेगा।

क्षण-क्षण में शरीर का विचार करने से योगी अपने शरीर में रहेगा, उसका मन शरीर से बाहर नहीं जायेगा। अत एव गोरखबानी सबदी में कहा गया है—**'घट ही रहिबा मन न जाई दूर'** (सबदी 138, गो.बानी, पृ. 68) मन को दूर न जाकर शरीर में ही रहना चाहिए। शरीर को नीरोग रखने तथा शुक्र को पुष्ट करने के लिए हितकर एवं पथ्य भोजन पर बल दिया गया है।

अवधू षारै षिरै षाटै झरै मीठै उपजै रोग।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू अंनै पांणीं जोगं॥

(सबदी 141, गो.बानी, पृ. 69)

नमकीन से शुक्र नष्ट होता है, खट्टे से झरता है। मीठे से रोग पैदा होता है। अतः गोरख कहते हैं कि हे अवधूत सुनो केवल अन्न और पानी के व्यवहार से ही योग सिद्ध होता है। अतः योगी को सर्वदा सचेत रहने की शिक्षा गुरु गोरखनाथ ने दी है; क्योंकि इससे वह अल्लाह की जाति का अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है।

सदा सुचेत रहै दिन राति, सो दरवेस अलह की जाति।

(सबदी 183, गो.बानी, पृ. 81)

ब्रह्मरूप होने के लिए साधक को दोष संकीर्तन रूप निन्दा, गुणों को लक्ष्य करके की जाने वाली स्तुति, कायिक पूजा रूप सत्कार तथा पांसुक्षेपण (धूल फेकना) आदि कायिक अवज्ञारूप न्यक्कार सबसे मन को हटाना होगा; क्योंकि सबका विषय शरीर होता है, आत्मा नहीं; किन्तु निन्दा आदि का प्रसंग प्राप्त होने पर साधक इतना व्यथित हो जाता है कि वह कभी-कभी अपने लक्ष्य से भी विचलित हो जाता है। शरीर को ही आत्मा मान लेने के कारण यह होता है। यह देहात्म बुद्धि, तत्त्वविवेक या तत्त्वसाक्षात्कार के बाद ही निवृत्त होती है, किन्तु तत्त्व विवेक के पूर्व साधनाकाल में, देहात्म बुद्धि काल में, शरीर के सत्कार और न्यक्कार से होने वाले मोद एवं क्षोभ को अनुद्विग्न होकर सहते हुए साधना पथ पर चलने के लिए 'चेतहु नगरी' इस मात्रा का उच्चारण कर रहे हैं, जिससे निन्दा आदि के काल में साधक अपने को उससे अलग समझ कर मोद और क्षोभ न प्राप्त करे। समाधि[81] अवस्था में आत्मा का साक्षात्कार होने पर साधक शरीर से पृथक् आत्मा को समझता है। शरीर को निन्दन स्तव आदि का विषय बोधित करने वाला श्रीमद्भागवत का वचन निम्न है—

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम्॥ (7/1/22)

नारद जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे राजन्! निन्दन, स्तव न्यक्कार, सत्कार आदि का विषय यह शरीर है, जिसकी रचना प्रकृति के कार्य भूत देह, इन्द्रिय आदि का आत्मतत्त्व से अभेद भ्रम होने के कारण होती है। शरीर में स्थित मन को उचित चिन्तन में, उचित मानसिक कर्मों में लगाना तथा वाणी को हित एवं प्रिय वचन तथा भगवन्नाम-जपादि में प्रवृत्त करना ही शरीर को सचेत करने से अभिप्रेत है। किन्तु शरीर, मन तथा वाणी से उचित कर्मों का अनुष्ठान तब तक सम्भव नहीं है जब तक ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त न किया जाय। इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकृष्ट होकर परिपन्थी या शत्रु का कार्य कर रही हैं। अतएव गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (3/34)

इन्द्रियों का शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि इष्ट विषयों में राग तथा अनिष्ट विषयों में द्वेष अवश्यंभावी है, अतः पुरुषार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह राग-द्वेष के वश में न आवे, अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप आदि विषयों में अत्यधिक राग अथवा द्वेष न करे; क्योंकि पुरुष का स्वभाव (प्रकृति) राग-द्वेष-पूर्वक ही उसे अपने कार्यों में प्रवृत्त कराता है और इस प्रकार की प्रवृत्ति में स्वधर्म का परित्याग तथा परधर्म का अनुष्ठान होता है। जब राग-द्वेष के ऊपर पुरुष नियन्त्रण करता है तब वह शास्त्र-दृष्टि (उचित दृष्टि) वाला होता है, वह उस समय प्रकृति (पूर्वकृत धर्म-अधर्म आदि का संस्कार जो वर्तमान जन्म में अभिव्यक्त है) के वश में नहीं होता। इस प्रकार इन्द्रियों का विषयों में राग अथवा द्वेष श्रेय या कल्याण के मार्ग में विघ्न करने वाला होने के कारण शत्रुवत् नियन्त्रित करने योग्य है। राग-द्वेष के कारण पुरुष शास्त्र-प्रतिपाद्य अर्थों को भी अन्यथा या विपरीत समझता है। वह कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रख पाता। इसलिए दूसरे के धर्म या कर्तव्य को भी अपने लिए अनुष्ठेय मानकर उसमें प्रवृत्त हो जाता है या उसे सम्पादित करने लगता है। अतः इसके आगे (श्लो. 3/35 में) भगवान् ने यह स्पष्ट किया कि अपना धर्म, विगुण (गुणरहित) होने पर भी दूसरे के अच्छी तरह से सम्पादित (अनुष्ठित) धर्म से श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठता पर बल देने के लिए आगे श्रीकृष्ण कहते हैं—स्वधर्म का अनुष्ठान करते-करते मर जाना भी श्रेयष्कर है; क्योंकि उससे अनुष्ठाता का कल्याण होगा; किन्तु परधर्म में स्थित होकर जीवित रहना भी श्रेयस्कर नहीं है; क्योंकि उससे नरकादि दुर्गतिक लोकों की प्राप्ति अवश्य होनी है।

परधर्म के अनुष्ठान से नरक की प्राप्ति बताई गयी है। शास्त्रों में दुःखदायक नारकीय यातनाओं का वर्णन है, जिससे स्पष्ट है कि नरक-प्राप्ति दुःख की प्राप्ति का दूसरा नाम है। हम जानते हैं कि पुण्य से सुख तथा पाप से दुःख होता है; क्योंकि पुण्य का फल ऊर्ध्वलोक प्राप्ति है तथा पाप का फल अधोलोक प्राप्ति है, यह पूर्व में 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (कौषी.ब्रा. 3/8) श्रुति प्रमाण से स्पष्ट किया जा चुका है। परधर्म नरकप्रापक है, अतः

परधर्मानुष्ठान से पाप होता है, यह भगवान् का आशय है। स्वधर्म का त्याग तथा परधर्म का अनुष्ठान विषयों में द्वेष एवं राग के कारण होता है। अतः इन्द्रियों को विषयों से उपरत करना आवश्यक है, इसके बिना, पुरुष शास्त्र-दृष्टि या विवेक-दृष्टि वाला हो, यह सम्भव नहीं है। अतएव गाँव–ग्राम, इन्द्रिय-समूह के उद्धार की बात **'तारहु गाँव'** इस मात्रा में आचार्यचरण करते हैं। शास्त्र-दृष्टि प्राप्त किये बिना पुरुष शास्त्रप्रतिपादित कर्मों का यथावत् अनुष्ठान नहीं कर सकता। शास्त्र-दृष्टि या उचित दृष्टि की प्राप्ति इन्द्रियों की विषयों से उपरति के बिना नहीं होती। अतएव इन्द्रियों के उद्धार की चिन्ता की जा रही है।

इन्द्रियों के उद्धार की चिन्ता जो आचार्यचरण ने की है, वही चिन्ता अर्जुन के मन में भी श्रीकृष्ण के उद्बोधन के बाद आती है। अतः वे श्रीकृष्ण से वह कारण जानना चाहते हैं, जिससे प्रेरित होकर पुरुष (जीव) पाप करता है। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने काम[82] तथा काममूलक क्रोध को 'काम एष' इत्यादि श्लोक में वैरी के रूप में बताया है। गीता श्लोक में काम एवं क्रोध को एक ही बतलाया गया है। क्योंकि दोनों के अभेद को बताने वाले 'एष' शब्द का दो बार तथा 'वैरिणम्' इस एकवचनान्त शब्द का भी यहाँ प्रयोग किया गया है। अतः दोनों एक ही हैं। काम के किसी कारण से प्रतिहत होने पर वह क्रोध रूप में बदल जाता है। अतः दोनों को एक ही कहा गया है। यह कार्य-कारण का अभेद है। काम के निवृत्त होने पर क्रोध भी निवृत्त हो जाता है। इसलिए भी दोनों को एक कहा गया है। काम के द्वारा अन्तःकरण में सत्त्व गुण का आवरण होता है। क्योंकि वह सत्त्वविरोधी रजोगुण का कार्य है। सत्त्व का आवरण होने से विवेक (ज्ञान) आवृत हो जाता है। अतः 'काम' (इच्छामात्र), ज्ञानी का नित्य वैरी है। यह 'काम' ऐसा शत्रु है जिसका उत्सादन या नष्ट करने के अतिरिक्त उसे बाधित करने का और कोई उपाय नहीं है। उसे पूर्ण करके शान्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि निरन्तर उठने वाली इच्छाओं की पूर्ति सम्भव ही नहीं है। अतएव भगवान् ने इसे दुष्पूर बताया तथा यह भी स्पष्ट किया कि यह 'अनल' या पर्याप्तिरहित है, अतः इसे पूर्ण करने का प्रयास व्यर्थ है। इस प्रकार जब काम की पूर्ति करके उसे शान्त नहीं किया जा सकता तो उसके उत्सादन हेतु प्रयास करने के पूर्व भगवान् काम के आश्रयों की जानकारी अर्जुन को देते हैं। उनका

कथन है कि इन्द्रियाँ[83] मन एवं बुद्धि इस काम के अधिष्ठान हैं, जिनके द्वारा यह ज्ञान का आवरण कर देहधारी आत्मा को अविवेक सम्पन्न बनाकर मोहित कर देता है। भगवान् ने इन्द्रियों को काम के अधिष्ठान के रूप में सर्वप्रथम परिगृहीत किया, अतः काम के उत्सादन (नाश) के लिए इन्द्रियनिग्रह को प्रथम उपाय के रूप में अर्जुन को बतलाते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (3/41)

हे अर्जुन! तुम सर्वप्रथम इन्द्रियों का निरोध करके शास्त्रों के वचनों से तथा आचार्य के उपदेश से आत्मा आदि पदार्थों के हृदय में होने वाले परोक्षज्ञान तथा मनन निदिध्यासन आदि के द्वारा होने वाले अपरोक्ष ज्ञान (विज्ञान) को नष्ट करने वाले इस काम को नष्ट करो (प्रजहि)।

श्रीकृष्ण के इस कथन पर विचार करके तथा उनके द्वारा काम को नष्ट करने हेतु बोधित उपाय, जो—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता 3/43)

इत्यादि श्लोक में वर्णित है, को दृष्टिगत करके हम 'तारहु गाँव' इस मात्रा के आशय को समझ सकते हैं। श्रीकृष्ण ने आदि में इन्द्रियों का निग्रह करने को कहा, अतः यह आत्मज्ञान का प्रथम साधन है। आत्मज्ञान का ही नहीं, सभी प्रकार की अलौकिक सामर्थ्य की प्राप्ति का यह प्रथम सोपान है। इन्द्रियनिग्रहपूर्वक बुद्धि से भी सूक्ष्म आत्मतत्त्व को जानकर काम का नाश किया जा सकता है। कहने का आशय यह है कि पहले इन्द्रियों का निग्रह करके आत्मप्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान प्रारम्भ करना चाहिए, इसके बिना शास्त्र एवं गुरु के उपदेश भी हृदय में नहीं उतरते। क्योंकि यह ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाला है। इन्द्रियों का निग्रह करते समय हमें ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के निग्रह हेतु उपायों पर विचार करना होगा तथा उनकी विषयप्रवणता के कारणों का भी अन्वेषण करना होगा; क्योंकि उन कारणों को दूर कर हम विषय-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

इन्द्रियों की विषयप्रवणता आत्मज्ञान में बाधक है। इन्द्रियाँ काम का अधिष्ठान हैं, जीवों के पतन के हेतु हैं तथा शास्त्र एवं सत्पुरुषों के द्वारा इनकी गर्हा की जाती है, तो यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि परमकारुणिक ईश्वर ने अन्ततः किस उद्देश्य से ऐसी गर्हित इन्द्रियों का सृजन किया। इन्द्रियों की रचना का प्रयोजन इन्द्रिय शब्द की सिद्धि को प्रदर्शित करने वाले पाणिनि-सूत्र—

'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा' (5/2/93) में वर्णित है। **इन्द्रलिङ्गम्**—इन्द्र शब्दवाच्य परम ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा का अनुमान इन्द्रिय से होता है; क्योंकि इन्द्रियरूप करण, कर्ता से अधिष्ठित हुए बिना कार्य करने में समर्थ नहीं होता। **इन्द्रदृष्टम्**—इन्द्ररूप परमात्मा से दृष्ट होने के कारण अर्थात् साक्षितया सम्बद्ध होने के कारण भी इन्द्रिय परमात्मा से सम्बद्ध है। शरीर में आत्मरूप से अवस्थित चेतन (परमात्मा-इन्द्र) मम चक्षुः-मेरा नेत्र, मम श्रोत्रम्-मेरा कान, इत्यादि रूप में इन्द्रियों को अपने से सम्बद्ध देखता है और जब 'यह मेरा है' इस रूप में चेतन (इन्द्र) इन्द्रियों में ममत्व कर लेता है, तो इन्द्रियों के द्वारा समर्पित अनुकूल विषयों में उसका राग तथा प्रतिकूल विषयों में द्वेषबुद्धि होती है। **इन्द्रसृष्टम्**—इन्द्ररूप परमात्मा से 'सृष्ट' (उत्पादित) होने के कारण भी इन्द्रिय परमात्मा से सम्बद्ध है। क्योंकि अदृष्ट का आश्रय लेकर ही परमात्मा ने इन्द्रियों की रचना की है। यद्यपि इन्द्रियाँ परमात्मा का ग्रहण नहीं करतीं; क्योंकि उनमें केवल विषयों का ग्रहण करने की ही सामर्थ्य है, अतएव श्रीकृष्ण ने कहा है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(गीता 11/8)

अर्जुन! तुम मेरे दिव्यरूप को इन चक्षुओं से नहीं देख सकते हो, अतः तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ। दिव्य चक्षु से मेरे ऐश्वर योग—मेरी योगज शक्ति को देखो, जिससे मैं असम्भव को सम्भव करने मे समर्थ हूँ। अस्तु, इन चक्षुओं से प्राकृत रूप का ही ग्रहण सम्भव होने पर भी, परमात्मा से सृष्ट चक्षु आदि इन्द्रियाँ उचित विषय के ग्रहण के लिए हैं।

इन्द्रजुष्टम्—परमात्मा के द्वारा यह इन्द्रियाँ जुष्ट या सेवित हैं, अतः यह परमात्मा से सम्बद्ध हैं। परमकारुणिक परमात्मा के द्वारा सृष्ट, दृष्ट, जुष्ट तथा दत्त, परमात्म लिङ्गभूत—इन इन्द्रियों की रचना, शास्त्रादि विहित विषयों के उचित ग्रहण के द्वारा कर्मक्षयपूर्वक मोक्ष के लिए हुई है। परमात्मा को इन्द्रियाँ प्रिय हैं; क्योंकि वे इनके द्वारा ही जीवरूप में कर्मक्षयार्थ विषय का सेवन करते हैं।

इन्द्रदत्तम्—परमात्मा के द्वारा इन्द्रियों का समर्पण, विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के ग्रहण के लिए किया गया है। अतः इन्द्र (परमात्मा) से दत्त होने के कारण इन्द्रियाँ परमात्मा से सम्बद्ध हैं। परमात्मा ने इन्द्रियों को विषयों के लिए समर्पित किया है। यह कहने का आशय है कि उचित विषय के उचित रूप में ग्रहण करने के लिए ही इन्द्रियों का समर्पण किया गया है, जिससे भोग की समाप्ति के द्वारा मोक्षमार्ग प्रशस्त हो जाता है; क्योंकि हम जानते हैं कि इन्द्रियों का ही नहीं, सम्पूर्ण प्रपञ्च रूप सृष्टि का प्रयोजन जीवों का उद्धार ही है।

किन्तु विषय का ग्रहण यदि राग-द्वेष-पुरस्सर अशास्त्रीय विधि से होता है, तो वह बन्धन का कारण होता है। अतएव भगवान् ने राग-द्वेष को परिपन्थी (शत्रु) बतलाया। राग के प्रतिहत (बाधित) होने पर वही क्रोधरूप में परिणत होता है। अतः मूल रूप में राग ही (काम ही) शत्रु है। अतएव अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण ने कामरूप दुरासद (कठिनाई से शत्रु रूप में समझ में आने वाले, कठिनाई से क्षीण होने वाले तथा कठिनाई से ही नष्ट होने वाले विशेषों-भेदों से युक्त) शत्रु को मारने का उपदेश दिया है तथा इसके साधन के रूप में आत्मज्ञान का विधान 'एवं बुद्धेः परं बुध्वा' (भगवद्गीता 3/43) से किया। इन्द्रिय शब्द की एक और व्युत्पत्ति, **'इन्द्रेण दुर्जयम् इन्द्रियम्'** दी हुई है; क्योंकि सूत्र में 'इति वा' कहने से यह व्युत्पत्तियाँ निदर्शन हैं, इयत्ता का निर्धारण इनसे नहीं हुआ है, यह बोधित होता है। अतः सिद्धान्तकौमुदीकार ने **'इति शब्दः प्रकारार्थः'** सूत्र में प्रयुक्त इति शब्द, प्रकार अर्थ वाला है, यह कह कर इस व्युत्पत्ति को प्रदर्शित किया है। **'इन्द्रेण दुर्जयम्'** का अर्थ है इन्द्र या परमात्मा के द्वारा भी दुःखपूर्वक जीतने योग्य। इससे यह ध्वनित होता है कि परमात्मा से भी इन्द्रियाँ दुर्जय हैं, तो जीव उन्हें जीत लेगा, यह तो कथन साहस मात्र होगा?

कहना यह चाहिए कि परमात्मा के अनुग्रह से ही जीव इन्द्रियों को जीत सकता है। **'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'** (2/61) यह कहते हुए गीता में इसे ध्वनित भी किया गया है। मन सभी इन्द्रियों का नियन्त्रक है। अतएव आचार्यचरण ने **'मन को मारि करो असवारी'** यह कहते हुए मन के नियन्त्रण पर बल दिया।

अस्तु, ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर ही काम पूर्णतः नष्ट होगा—इस तथ्य के सिद्ध हो जाने पर भगवान् अर्जुन को **'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'** (4/39) इस वाक्य से ज्ञानप्राप्ति के साधन को बताकर इसके बाद ही शान्तिरूप ज्ञान का फल—**'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'** (गीता 4/39) में बताते हैं।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन! श्रद्धावान् व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु एवं वेदान्त वाक्यों से प्रतिपाद्य अर्थों में 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार की आस्तिक्यबुद्धि श्रद्धा है। किन्तु ऐसी श्रद्धा से युक्त पुरुष भी यदि आलसी है तो उसे ज्ञान नहीं प्राप्त होता, अतः उसका गुरुवाक्य में, गुरु के द्वारा बताये गये उपायों में अतीव निष्ठासम्पन्न होना आवश्यक है; क्योंकि गुरु के वाक्यों में निष्ठा होने पर वह अन्यत्र व्यासक्त न होकर जागरूकता के साथ गुरु के निर्देशों का पालन करेगा। किन्तु गुरु के वाक्य में निष्ठा रखने वाला श्रद्धावान् भी यदि इन्द्रिय-संयम-युक्त नहीं है, तो वह ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अतः विषयों से इन्द्रियों को व्यावृत्त करना आवश्यक है। विषयों से इन्द्रियों की व्यावृत्ति ही 'तारहु गाँव' इस मात्रा में विवेचित है।

अतः यह कहा जा सकता है कि श्रद्धावान् व्यक्ति (इन्द्रियनिग्रहपुरस्सर) आलस्यरहित होकर गुरु के निर्देशानुसार कार्य करता हुआ ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु व्यापक स्वप्रकाश आत्मा का प्रयास करने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान न होने से यह स्पष्ट है कि कुछ बाधक हैं जिनके कारण ज्ञान नहीं हो पा रहा है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गीता 5/15) अज्ञान से ज्ञान आवृत है, अतः जन्तुओं को मोह हो रहा है—इस वचन के द्वारा भगवान् ने अज्ञान को आत्म प्रत्यक्ष में बाधक बतलाया है। इस बाधक को दूर करने का उपाय यज्ञानुष्ठान को बतलाते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि द्रव्ययज्ञ (तीर्थ आदि में यज्ञ-

बुद्धि से द्रव्य का विनियोग करना), तपोयज्ञ (तपरूप यज्ञ), योगयज्ञ (प्राणायाम-प्रत्याहार आदि रूप यज्ञ), ऋग्यजुः आदि वेदों का अभ्यास रूप यज्ञ (स्वाध्याय यज्ञ) तथा ज्ञानयज्ञ (शास्त्रार्थ, परिज्ञान करना), दैवयज्ञ (ज्योतिष्टोम, दर्शपूर्णमासादि रूप यज्ञों का अनुष्ठान) तथा सोपाधिक आत्मा का निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप में दर्शनरूप यज्ञ (जिसमें ब्रह्म अग्नि होता है तथा सोपाधिक आत्मा हवि रूप में व्यवहृत है) वेद में प्रतिपादित है।

इन यज्ञों से यतिगण मोक्ष के लिए प्रयास करते हुए अपने व्रत को तीक्ष्ण करते हैं। इन यज्ञों के अनुष्ठान से, तनु (शरीर) को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य (ब्राह्मी) बनाया जाता है। अतएव प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थ तथा ज्ञानमार्गी संन्यासी सब के द्वारा अधिकारानुसार अनुष्ठित होकर यह यज्ञ, कल्मष (पाप) को दूर करते हैं। भगवान् ने सभी यज्ञों का परिगणन तो किया किन्तु उनका वर्णन अन्यत्र विस्तार से होने के कारण उन्होंने यहाँ प्रकृतोपयोगी केवल 'योगयज्ञ' का ही वर्णन किया है। यह योगयज्ञ प्राण, इन्द्रिय तथा विषय निरोध से सम्बद्ध है तथा इन्द्रियों के उद्धार का उपाय है, जो 'तारहु गाँव' इस मात्रा से तारण या उद्धार के साधन रूप में सम्बद्ध है। भगवान् कहते हैं—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

(गीता 4/26)

श्रोत्र, घ्राण, त्वग्, रसन, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपने शब्द, स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि विषयों से हटाकर (प्रत्याहृत कर) योगीगण प्रत्याहाररूप योगांग का अभ्यास करते हुए संयम (धारणा-ध्यान-समाधि तीनों को '**त्रयमेकत्र संयमः**' योगसूत्र 3/4 के अनुसार एकविषयक होने पर संयम कहते हैं) रूप योगाग्नि में उनका हवन करते हैं। अर्थात् इन्द्रियसंयमपूर्वक धारणा-ध्यान-समाधि सुख का अनुभव करते हैं।

यद्यपि समाधिस्थ योगी, समाधि से विरत होने पर व्युत्थान दशा में श्रोत्र आदि इन्द्रियों के शब्द आदि अविरुद्ध (अनिषिद्ध) विषयों का ग्रहण, अन्य लोगों की तरह करते हैं, तथापि विषयों में उनकी स्पृहा नहीं होती। कर्तृत्वाभिमान से रहित होकर योगी यह भाव रखता है कि इन्द्रियरूप गुण, विषयरूप गुणों में

वर्तन कर रहे हैं। इस बुद्धि से विषयों में आसक्ति का अभाव होता है। यह आसक्ति का अभाव ही इन्द्रियरूपी अग्नि में विषयों का हवन है।

कुछ अन्य योगीगण सभी इन्द्रियों (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि) तथा पाँच प्राण इन सभी के कर्म का आत्मसंयमरूप योगाग्नि में हवन करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ (4/27)

इस गीतावचन में प्रतिपादित आत्मसंयमयोग को योगसूत्रकार ने इस रूप में स्पष्ट किया है—**'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः'** (यो.सू. 1/18) विराम (वृत्ति का उपरम होना रुकना) पुरुष के प्रयत्न से होता है। अतः विराम का प्रत्यय (कारण) पुरुष का प्रयत्न है। इसका बार-बार अभ्यास करके संप्रज्ञात-समाधि से अन्य (विलक्षण) समाधि (असम्प्रात-समाधि) प्राप्त होती है, यही समाधि आत्मसंयमयोग है। इस योग को ही अग्नि बतलाया गया है। यह अग्नि, ज्ञान **(वेदान्तवाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कार)** से अविद्या तथा अविद्या कार्य की निवृत्ति होने से अत्यन्त प्रदीप्त होती है। इस अग्नि में समष्टि लिंग शरीर का हवन योगीगण करते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ पंच प्राण तथा मन, बुद्धि को लिंग (सूक्ष्म) शरीर कहते हैं। लिंग शरीर से सूक्ष्मभूत समष्टिरूप हिरण्यगर्भ का ग्रहण होता है। यह तथ्य 'सर्वाणि' इस विशेषण से ज्ञात होता है।

इसके अनन्तर प्राणाग्निहोत्र का वर्णन करके भगवान् यह कहते हैं कि ऊपर वर्णित किसी भी यज्ञ को करने वाले यज्ञविद् (यज्ञ को जानने वाले) हैं तथा उन्होंने यज्ञ के द्वारा पाप का क्षय किया है **'सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः'** (गीता 4/30)। सम्पूर्ण प्रकरण के सार के रूप में यज्ञानुष्ठान का फल बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नाऽयं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ (4/31)

भगवान् श्रीकृष्ण का यह कथन 'चेतहु नगरी तारहु गाँव' इन मात्राओं के अर्थप्रकाश की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यज्ञों का निर्वर्तन करके शेष

काल में विधिपूर्वक विहित अन्न का भोजन करने वाले तथा विहित भोग प्राप्त करने वाले लोग ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, अर्थात् उन्हें ब्रह्मज्ञान होता है। यह श्रीकृष्ण का आशय है। किन्तु जो लोग पूर्व वर्णित यज्ञों में से किसी यज्ञ का भी अनुष्ठान नहीं करते, उन्हें मनुष्यलोक का सुख भी नहीं प्राप्त होता, अन्य लोकों की प्राप्ति तो सम्भव ही नहीं है। पूर्व में जो यज्ञ वर्णित हैं, उनमें प्राण, इन्द्रिय एवं विषय से सम्बद्ध अग्निहोत्र ऐसे हैं, जिनको द्रव्य, साधन तथा जनशक्ति आदि से निरपेक्ष होने के कारण सभी लोग कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो निवृत्ति मार्ग के पथिक हैं, वे इन्द्रिय विषय तथा प्राण से सम्बद्ध अग्निहोत्र को करते हुए यज्ञशिष्ट काल में अमृतस्वरूप अन्न का भोजन करते हुए तथा विहित भोग की प्राप्ति करते हुए ब्रह्म-प्राप्ति कर सकते हैं। इन अग्निहोत्रों का अनुष्ठान इन्द्रिय-समूह को विषयों से विमुख-किये बिना सम्भव नहीं है। अतएव आचार्यचरण ने शरीर को सावधान करके इन्द्रियों के उद्धार की आवश्यकता बतलायी है। किन्तु विचार करें तो इन्द्रियों का उद्धार, मन एवं शरीर से सम्बद्ध होने के कारण, उनके उद्धार के साथ ही सम्भव है, अकेले नहीं; क्योंकि इन्द्रियाँ मन के नियन्त्रण में रहती हैं। अतएव—**श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च** (गीता 15/9) में मन को इन्द्रियों का नियंत्रक कहा गया है तथा शरीरस्थ जीव को ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण एवं मन का आश्रयण करके शब्दादि विषयों का भोग करने वाला कहा गया है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

(गीता 18/14)

इस वचन में इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख चेतना की अभिव्यक्ति का आश्रय (अधिष्ठान) भूत शरीर, बुद्धि विशिष्ट चिदात्मा रूप कर्ता, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन, बुद्धिरूप बारह प्रकार के कारण तथा प्राणापानादिरूप विभिन्न चेष्टाएँ और दैव पद से बोधित इन्द्रियों के अनुग्राहक देवगण को भी कर्म के निष्पादन में कारण कहा गया है।

इन्द्रियों[84] को नियन्त्रित किये बिना विषय-सेवन की तृष्णा से उनकी अपने-अपने विषयों में जो प्रवृत्ति होगी, उसमें मन भी विषयों का विकल्पन

करता हुआ प्रवृत्त होगा तथा मन जब विषयों की अच्छाई-बुराई का चिन्तन करेगा, तो वह आत्मा एवं अनात्मा का विवेक नहीं कर पायेगा, वह तो विषयों की ही श्रेष्ठता के निर्धारण में व्यस्त है। इससे आत्मा एवं अनात्मा का विवेक करने वाली प्रज्ञा उसी प्रकार नष्ट हो जायेगी, जैसे वायु नाव को जल में मार्ग से हटाकर उन्मार्ग में ले जाता है।

अतः प्रज्ञा को प्रतिष्ठित करने के लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियों को विषयों से पराङ्मुख किया जाय। अतएव भगवान् कृष्ण कहते हैं[85]—हे महाबाहु अर्जुन! जिसकी इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से नियन्त्रित हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

गोरखबानी में भी इन्द्रियों के 'उद्धार' या प्रत्याहार के महत्त्व को स्वीकार करके कहा गया है—

दरवेस सोइ जो दर की जांणैं, पंचे पवन अपूठां आंणै।

(सबदी 183, गो.बानी, पृ. 81)

दरवेस वही है, जो दर की बात जानता है, जिसे मालूम है कि परमात्मा का घर कहाँ है? जो शरीर के भीतर शिरोभाग में स्थित ब्रह्मरन्ध्र को जानता है, जिसने प्राणायाम करके पवन के द्वारा पाँचों इन्द्रियों को (प्रत्याहार साधना से) उनके विषयों से पराङ्मुख कर लिया है। स्पष्ट है कि इन्द्रियों का विषयों से उद्धार किए बिना परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी, यह गुरु गोरखनाथ का मत है।

इन्द्रियों को विषय पराङ्मुख करके पूर्णतः नियन्त्रित करना ही वस्तुतः उनका उद्धार है, जो 'तारहु' इस अंश से विवक्षित है। इन्द्रियसमूह का उद्धार या गाँव (ग्राम-इन्द्रियसमूह) का तारण (तारहु गाँव) दो अवस्थाओं में परिलक्षित होता है। एक परमावश्यता की स्थिति है, जिसका वर्णन, **'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्'** (2/55) योगसूत्र में मिलता है। योग भाष्यकार कहते हैं कि चित्तनिरोध की स्थिति में इन्द्रियों पर जो नियन्त्रण प्राप्त होता है, वह परमनियन्त्रण (परमावश्यता) है। इस स्थिति में निरुद्ध इन्द्रियाँ अन्य अवस्था में किये गये इन्द्रियजय की तरह (इतरेन्द्रिय-जयवत्) प्रयत्नसाध्य उपायान्तर (अन्य उपाय) की अपेक्षा नहीं करतीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि चित्तनिरोध के पहले इन्द्रियों के जय के लिए अन्य उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। यह अन्य

उपाय विवेक और वैराग्य हैं, यह कहा जा सकता है। अतएव यो.सू. 2/15 के भाष्य में कहा गया है—**'या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति'**।

भाष्यकार का आशय है—भोग के द्वारा इन्द्रियों की तृप्ति होने से उपशम के कारण जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख है, तथा लौल्य (इन्द्रियों की विषय-लोलुपता) से जो अनुपशान्ति मिलती है, वह दुःख है। सुखेच्छा से सुख की प्राप्ति के लिये हम अधिक से अधिक भोग करना चाहते हैं; किन्तु उससे दुःख की प्राप्ति होती है; क्योंकि भोगाभ्यास के बाद विषय में राग तथा इन्द्रियों का कौशल दोनों ही बढ़ते हैं। इसलिए भोगाभ्यास सुख-प्राप्ति का उपाय नही है, उससे तो दुःख ही बढ़ रहा है; क्योंकि इन्द्रियों की विषयलोलुपता बढ़ रही है। अतः भोग में अरुचि कर विवेक के द्वारा इन्द्रियों का नियन्त्रण पुरुष करता है, यही विवेक और वैराग्य रूप उपायान्तर हैं। इन उपायों से इन्द्रियों का निरोध तो होता है, विषयों से उपरति नहीं होती। उपरति ही परमावश्यता है जो चित्तनिरोध से प्राप्त होती है। **'ततः परमा वश्यता'** (यो.सू. 2/55) इस सूत्र में प्रयुक्त 'परमा' यह विशेषण पद इससे भिन्न वश्यता को भी सूचित करता है; किन्तु इन्द्रियसमूह का उद्धार करने का संकेत देकर आचार्यचरण परमावश्यता को ही सूचित करना चाहते हैं।

यदि 'तारहु गाँव' इस मात्रा में ग्राम (गाँव) पद वाच्य, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय के साथ मन को भी कहा जाय, जो स्वाभाविक है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर जो स्थूल शरीर के भीतर प्रवेश करता है, उसमें एकादश इन्द्रियों के साथ पञ्च प्राण, मन और बुद्धि भी है, तो 'तारहु गाँव' इस मात्रा का अर्थ योगशास्त्र की दृष्टि में 'गुणसमूह का उद्धार' करना होगा; क्योंकि सभी पदार्थ गुणों से ही बने हैं। चित्त भी त्रिगुणात्मक होने से गुण समूह है। गुणसमूह का उद्धार गुणों का प्रतिप्रसव है, जो मोक्ष का कारण है। गुणों के अधिकारपर्यन्त चित्त की चेष्टाएँ होती हैं तथा चित्त की चेष्टा के साथ इन्द्रियाँ भी गतिशील रहती हैं। गुणों के अधिकार की समाप्ति के साथ ही चित्त का लय आरम्भ होता है तथा उसके बाद कालक्रम से

अपवर्ग की प्राप्ति होती है। भोग एवं अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धिपर्यन्त सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृति कार्यशील रहती है; क्योंकि गुणों के परिणत होने से पदार्थों की सृष्टि होती है, जिससे पुरुष को भोग प्राप्त होता है। मन को विषयों से विरत करने पर अपवर्ग, प्रकृतिपुरुष की अन्यता-ख्याति, की प्राप्ति होती है। उसके बाद गुणों का लय प्रारम्भ होता है। यद्यपि (मन) का अहंकार में, अहंकार का बुद्धि में तथा बुद्धि (महत्तत्त्व) का प्रकृति में लय होने से यह शंका कर सकते हैं कि गुणों का लय नहीं होता, तथापि यह कहना समीचीन नहीं है; क्योंकि प्रयोजन समाप्ति के बाद कार्यकारणत्मक गुणों का मन में लय होता है, फिर मन का कारण क्रम से लय होता है। गुणों का चित्त में लय होने का आशय है 'विभु' या व्यापक चित्त की संकोच एवं विकास को प्राप्त होने वाली वृत्ति का विषय न होना।

जैसे इन्द्रियों की वश्यता (अपने अधीन रहना) में मनोनिग्रह के उपायभूत प्रणव जप या अलख पुरुष के नामस्मरण का उपयोग है, उसी प्रकार गुणों की अधिकार-समाप्ति में भी प्रणव जप या अलख पुरुष के नामस्मरण का उपयोग है; क्योंकि अपवर्ग प्राप्ति के बाद ही गुणों का अधिकार समाप्त होता है। इस तथ्य को प्रामाणिक स्वरूप में बोधगम्य बनाने हेतु योगशास्त्र की प्रक्रिया पर विचार प्रस्तुत है।

योगशास्त्र में दृश्य जगत् की सृष्टि का प्रयोजन भोग और अपवर्ग बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में **'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (यो.सू. 2/18) द्रष्टव्य है।

भोग के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है; क्योंकि वे करण हैं, इन्द्रियों के आश्रयरूप में शरीर की आवश्यकता है, जो भूतात्मक है, विषय भी भूतात्मक हैं, जो गुणों के परिणाम हैं। दृश्य को भूतेन्द्रियात्मक कहा गया है। यह परिणाम, प्रयोजन के बिना नहीं होता। अतएव भाष्यकार ने कहा है **'प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तते'** प्रयोजन के उद्देश्य से भूतेन्द्रियात्मक दृश्यरूप गुणों का परिणाम होता है। यह भोग एवं अपवर्ग बुद्धिकृत है तथा बुद्धि में ही वर्तमान है; परन्तु पुरुष में इनका व्यवहार उसी प्रकार होता है, जैसे—योद्धाओं के जय-पराजय का व्यवहार राजा में होता है; क्योंकि वही जय-पराजय रूप फल का भोग करता है।

बन्ध-मोक्ष भी बुद्धि में वर्तमान हैं; किन्तु पुरुष में उनका व्यपदेश होता है। बुद्धि की पुरुषार्थापरिसमाप्ति ही बन्ध है। पुरुषार्थासमाप्ति का अर्थ है पुरुषार्थशून्यता का न होना, पुरुषार्थशून्यता का होना ही मोक्ष है। दृश्य का प्रयोजन पुरुष का भोग और अपवर्ग है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब तक भोगपूर्वक अपवर्ग की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक बुद्धि की पुरुषार्थापरिसमाप्ति रहती है। उसके साथ ही पुरुषार्थावसाय होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए—

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (यो.सू. 4/34) के भाष्य में कहा गया है— **'कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति'**—गुणों की सृष्टि के भोग एवं अपवर्ग दो ही प्रयोजन है। जब यह दोनों प्रयोजन पूर्ण हो जाते हैं तो गुण, पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं, अर्थात् ऐसा कोई प्रयोजन नहीं रह जाता जिसके द्वारा यह गुण, पुरुष के उपयोग में आ सकें। फलतः इसके बाद गुणों का प्रतिप्रसव-प्रतिकूल प्रसव या लय प्रारम्भ होता है; क्योंकि सर्ग का उद्देश्य समाप्त होने के पश्चात् गुणों का एक क्षण भी (भोग देने के लिये) अवस्थान सम्भव नहीं है। यह प्रतिप्रसव, गुणों के कारणरूप प्रधान में उनका (गुणों का) लय है। यहाँ गुणों के लय का अर्थ है त्रिगुणात्मक चित्त का लय; क्योंकि चित्त लय के पश्चात् भोग नहीं प्राप्त होंगे, यह लय निम्न क्रम में होता है। पुरुषार्थशून्यता की दशा में चित्त में व्युत्थान समाधि एवं निरोध संस्कार रहते हैं। यतः पुरुषार्थशून्यता की स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति है जिसका लक्षण योगसूत्र (1/18) में दिया गया है। स्पष्ट है कि असम्प्रज्ञात-समाधि में भी चित्त में संस्कार रहते हैं। अतः जब शरीरत्याग के साथ चित्त का लय होता है, तो सबसे पहले व्युत्थान-समाधि एवं निरोध-संस्कार मन में लीन होते हैं, मन अस्मिता में लीन होता है, अस्मिता लिङ्गपदवाच्य महत्तत्त्व में तथा लिङ्ग का अलिङ्ग या लयरहित प्रधान में लय होता है। यही प्रतिप्रसव कैवल्य है। यहाँ प्रधान तथा पुरुष दोनों के कैवल्य का वर्णन किया गया है। प्रधान का कैवल्य है पुरुषार्थानपेक्षता। इस समय प्रधान अपने गुणों के कार्यों के द्वारा पुरुषार्थ की

सिद्धि में अपेक्षित नहीं है। वह पुरुष सम्बन्धशून्य है। इस स्थिति में चिति शक्ति भी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। अतः वह बुद्धि-गुणों से असंस्पृष्ट होने के कारण केवला ही है। यह पुरुष का या चिति शक्ति का कैवल्य है।

इस प्रकार त्रिगुणात्मक चित्त का प्रतिप्रसव ही उसका उद्धार है। चित्त जब तक भोगपूर्वक अपवर्ग-प्राप्ति नहीं करा लेता, तब तक साधिकार रहता है। अर्थात् चित्त की सृष्टि का प्रयोजन पूर्ण नहीं होता। यह द्रष्टव्य है कि इस सूत्र में प्रधान एवं पुरुष दोनों के कैवल्य की चर्चा की गई है। किन्तु चेतन में ही बन्ध एवं मोक्ष व्यवहार के प्रधानतया होने के कारण चिति शक्ति या चेतन पुरुष के कैवल्य में ही आचार्यचरण का प्रयोजन स्वीकार करें, तो चित्त से सम्बद्ध चेतन (पुरुष) का ही उद्धार या कैवल्य इसके द्वारा मुख्यतः प्रतिपाद्य होगा। तथा 'तारहु गाँव' का अर्थ, पुरुषसमूह का उद्धार करो, जीवों का उद्धार करो, यह होगा। इस प्रकार इस मात्रा के द्वारा अनेक जीववाद ही आचार्यचरण को मान्य है, यह आशय भी सूचित होता है।

यह उचित भी है; क्योंकि एकजीववाद में अद्यावधि किसी की भी मुक्ति नहीं हुई है और 'आवागमन मिटावै सोय' कहकर आचार्यचरण जीवों की सर्वदा मुक्ति चाहते हैं, इससे अनेकजीववाद ही उन्हें अभीष्ट है, यह कहा जा सकता है। यह सांख्ययोगानुसारी पुरुषबहुत्व का सिद्धान्त है। व्यवहार में भी जीवबहुत्व का अनुभव हम लोग करते हैं।

अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव

आचार्यचरण ने 'चेतहु नगरी, तारहु गाँव' के बाद 'अलखपुरुष का सुमिरहु नांव' यह कहते हुए मनुष्य शरीर को सार्थक करने हेतु शरीर को सावधान करना, इन्द्रियों का उद्धार करना (विषयों से विमुख करना) तथा अलख पुरुष का नाम स्मरण तीन कर्तव्य बतलाया है। अतः अलख पुरुष का नाम क्या है? तथा उसका स्मरण कैसे किया जाय? यह दोनों ही जिज्ञास्य हैं। किन्तु इस जिज्ञासा के समाधान के पूर्व इन्द्रियों के उद्धार से पहले शरीर को सावधान करने का आशय, अलख पुरुष के नाम स्मरण के सम्बन्ध में क्या हो सकता है? इस पर विचार प्रस्तुत है। पूर्व में गीता (श्लोक 4/27) के माध्यम से आत्मसंयमयोग की

चर्चा की गयी है। यह आत्मसंयम योग निर्बीज समाधि है। योगचित्त वृत्ति का निरोध है, जिसकी चर्चा के साथ ही योगांगों के उपयोग के ऊपर दृष्टि चली जाती है। योगांग आठ हैं। इनमें प्रथम तीन (यम, नियम, आसन) का शरीर से सम्बन्ध है। प्राणायाम और प्रत्याहार इन्द्रियों से सम्बन्ध रखते हैं। प्राणायाम के द्वारा मन का मल दूर होने पर इन्द्रियों को विषयों से पराङ्मुख किया जा सकता है, यही प्रत्याहार है। बाद के तीन योगांग धारणा-ध्यान-समाधि (सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि) मन से सम्बद्ध हैं। योगांगों के अनुष्ठान से मन को निर्वासन करके आत्मविषयक धारणा ध्यान आदि के द्वारा सबीज समाधिपूर्वक निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है, जिसमें पुरुष का साक्षात्कार होता है। इस निर्बीज समाधि की प्राप्ति में अलख पुरुष के नाम का स्मरण (प्रणव-ऊंकार की उपासना का विशेष महत्त्व है, अतएव आचार्यचरण ने अलख पुरुष के नामस्मरण का विधान किया है।

अस्तु, यह अलख पुरुष कौन है तथा उसका नाम क्या है? जिसका स्मरण करने के लिए 'अलख पुरुष का सुमिरहु नांव' इस मात्रा में संकेत किया जा रहा है, यह जिज्ञासा प्रत्येक साधक के मन में होती है, अतः इसके उपशम के लिए अलख पुरुष का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। विज्ञान स्वरूप परब्रह्म को गोरखबानी में 'अलख विनांणी' अलख विज्ञानी शब्द से बोधित करते हुए कहा गया है—

अलष बिनांणीं दोइ दीपक
रचिलै तीन भवन इक जोती।
तास बिचारत त्रिभवन सूझै
चुणिल्यौ मांणिक मोती॥

(सबदी 5, गो.बानी, पृ. 23)

विज्ञान स्वरूप अलक्ष्य परब्रह्म ने सविकल्प और निर्विकल्प समाधि रूप दो दीपकों की रचना की है। दोनों समाधि दीपक हैं; क्योंकि ब्रह्म के सोपाधिक एवं निरूपाधिक स्वरूपों को क्रमशः प्रकाशित करते हैं। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति रूप उसके तीन भवन हैं। तीनों भवनों में एक ही ज्योति है। वह ज्योति परब्रह्म है। ब्रह्म रूप ज्योति पर विचार करने से तीनों लोक दिखाई देने लगता है तथा

हंसस्वरूप आत्मा ज्ञानरूप मोतियों को चुनने लगता है और उसे माणिक्यरूप कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस विज्ञानरूप परब्रह्म का 'ज्ञान' कहाँ प्राप्त होगा? इसे स्पष्ट करने हेतु 'गोरखबानी' में कहा गया है—

वेद कतेब न षांणीं बांणीं
सब ढंकी तलि आंणीं।
गगनि सिषर महि सबद प्रकास्या
तंह बूझै अलष बिनांणीं ॥

(सबदी 4, गो.बानी, पृ. 22)

पर ब्रह्म का स्वरूप वेद, परा पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूप चारों प्रकार की वाणी और धर्मों की कितावें (कितेव) नहीं बता पाईं। सब उसे ढँक कर नीचे लाए अर्थात् उसके सोपाधिक रूप को ही बता पाए। विज्ञानरूप (विनाणी-विज्ञानी) अलक्ष्य ब्रह्म के स्वरूप की यथार्थ अनुभूति तो ब्रह्मरन्ध्र (गगन शिखर) में जब शब्द प्रकाशित होता है, वहीं होती हैं।

'अलक्ष्य' शब्द का अपभ्रंश अलष है। चुरादिण्यन्त 'लक्षदर्शनांकनयोः' धातु से 'अचो यत्' से यत्-प्रत्यय करने पर सिद्ध होने वाला लक्ष्य शब्द दर्शन के योग्य वस्तु को कहेगा। नञ् समास के द्वारा जिसका दर्शन सामान्यतः न किया जा सके, वह 'अलक्ष्य' शब्द से द्योतित होगा। भगवान् निर्गुण निर्विकार तथा सर्वोपाधिविवर्जित हैं। सगुण साकार हैं, तो भी दिव्य विग्रह वाले हैं, सामान्यतः उनका ज्ञान नहीं होता, अतः वे अलक्ष्य हैं। यह 'अलख' शब्द उसी परमात्मा का बोधक है। यदि 'अलक्ष्य' शब्द में बहुव्रीहि समास स्वीकार किया जाय, तो '**अः वासुदेवो व्यापकः परमात्मा लक्ष्यः लक्षयितुं योग्यः अनेन**'—अकार वाच्य व्यापक परमात्मा जिससे दर्शन या साक्षात्कार के योग्य हो जाता है, इस व्युत्पत्ति में अलक्ष्य शब्द से निर्गुण सर्वव्यापक ब्रह्म की प्राप्ति, जिस सगुण साकार ब्रह्म की भक्तिपूर्वक कृपा से होती है, उसका बोध होगा। परब्रह्म को 'पुरुष' शब्द से (प्र.उप. 5/5, प्र.उप. 6/5) में प्रतिपादित किया गया है (द्र.–पृ. 137)। 'अलक्ष्य' शब्द का पुरुष के साथ नञ् समास करेंगे, तो 'अलक्ष्य पुरुष' शब्द निष्पन्न होगा। अतएव कुन्ती ने भी कृष्ण की स्तुति करते हुए भागवत में कहा है—

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्॥

तथा—

मायाजवनिकाछन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥

(1/8/18-19)

हे प्रभो! आप प्रकृति के भी नियन्ता हो, अतः प्राकृत वस्तुओं की तरह सबके दर्शन के विषय न होने के कारण **अलक्ष्य** हो। यद्यपि पूर्ण होने से सभी भूतों के अन्तः तथा बाहर विद्यमान हो, फिर भी पर्दा (आवरक) के समान दृष्टि का निरोध करने वाली इस तिरस्करिणी माया से प्रतिच्छन्न होने के कारण मूढ़ दृष्टि लोगों को उसी प्रकार दिखाई नहीं पड़ते जैसे, नाट्यधारी नट दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए आप अधोक्षज कहे जाते हैं। क्योंकि अक्षज इन्द्रियजन्य ज्ञान आपके यहाँ तिरस्कृत होता है। कुन्ती की स्तुति से **'अलक्ष्यश्चासौ पुरुषः'** इस 'कर्मधारय' समास की पुष्टि होती है; क्योंकि पुरुष को स्वरूपतः अलक्ष्य बताया जा रहा है। मायारूपी जवनिक्त (पर्दा) से आच्छन्न बताने से साक्षात् अपरोक्ष पुरुष की परोक्षता का कारण माया बोधित हो रही है। इस प्रकार सर्वत्र व्यापक अलक्ष्य परमात्मा का शरीर मायारूप उपाधि है। अतः इसे मायारूप पुर में रहने के कारण, अथवा माया कार्य पंचभूत के कार्य शरीर में रहने के कारण **पुरुष** कहते हैं। **अलख पुरुष** का नाम स्मरण करने की आज्ञा आचार्यचरण ने की है।

हम जानते हैं कि सप्तदश अवयव वाले लिङ्ग शरीर के सम्बन्ध से ब्रह्म (बाल) का विरूपीकरण (मुण्डन) हुआ है। सूक्ष्म शरीर व्यक्त है; किन्तु उसका कारण अविद्या अव्यक्त है। सूक्ष्म शरीर जिसमें रहकर सार्थक है, वह स्थूल शरीर और भोगार्थ निर्मित कार्यकारणात्मक प्रपञ्च सभी व्यक्त है। किन्तु इन सबका उत्पादक, इन सबका नियन्त्रक अव्यक्त या अलक्ष्य है। पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि 'लक्ष-दर्शनाङ्कनयोः' धातु से लक्ष्य शब्द बनता है, जो दृश्य का पर्याय है। जो अव्यक्त तथा अव्यक्त के कार्य सबको बोधित करता है। अदृश्य या अलक्ष्य तो केवल वह सद्गुरु रूप ब्रह्म ही है जो जागतिक पदार्थों में अनुस्यूत होकर भी

दिखाई नहीं दे रहा है। दिखाई नहीं दे रहा है, इस कारण वह नहीं है, इस प्रकार की शङ्का न हो, इसलिए आचार्यचरण ने उसे पुरुष कहा। वह पुर में शयन कर रहा है। पुर शरीर हैं, जो दृश्य या लक्ष्य हैं, इनके भीतर अलक्ष्य परमात्मा शयन कर रहा है। जैसे सोता हुआ पुरुष निष्क्रिय होता है, केवल उसकी अवस्थिति होती है, उसी प्रकार ईश्वर भी इस पुर में निर्लिप्त होकर रह रहा है। अतएव श्रुति कहती है—**'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'** (मु.उप. 3/1/1)। अन्य अर्थात् जीव से भिन्न ईश्वर फल भोग नहीं करता वह केवल साक्षीरूप से देखता रहता है।

यदि **'पुरं स्यति पुरुषः'** जो पुर का अन्त करता है, वह पुरुष है, यह व्युत्पत्ति स्वीकार करें, तो स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीरों का जो नाश करता है, उस परमात्मा का बोधक शब्द होगा। यतः परमात्मा का ही ज्ञान होने पर शरीर प्राप्ति रुकती है।

इस पुर में वह परमात्मा कहाँ है? इस जिज्ञासा के उपशम हेतु श्रुति उसे 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' कहकर बुद्धि गुहा में स्थित बतलाती है। हम जानते हैं केवल परमात्मा या सद्गुरु ही अलक्ष्य है, शेष सभी लक्ष्य हैं। अलक्ष्य पुरुष की प्राप्ति ऊँकार या प्रणव रूप आलम्बन से होती है। पुरुष की अलक्ष्यता का कारण मायारूपी आवरण से उसका तिरोहित होना है। ऊँकार या प्रणव की उपासना से आवरण का तिरोधान होता है। अतः अलक्ष्य परमात्मा को जानने के लिए उसके अभिधानभूत प्रणव का स्मरण करने हेतु उपदेश दिया जा रहा है। द्रष्टव्य है कि महिम्नस्तोत्र में भी परमात्मा को ऊँकार वाच्य रूप में श्लोक 27 में निरूपित किया गया है (विशेष विवरण पृ. 274 पर द्रष्टव्य)। गुहा में छिपा होने के कारण दिखाई न पड़ने से वह अलक्ष्य है।

इस अलक्ष्य परमात्मा का नाम प्रणव या ऊँकार है। क्योंकि योगसूत्र में **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (यो.सू. 1/27) सूत्र के द्वारा प्रणव में भगवान् की वाचकता का निश्चय होता है। निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप तो शब्दागोचर होता है। अतएव श्रुति ने उसे **'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः'** (केन.उप., मं. 3) इत्यादि वाक्यों से मन, वाणी और इन्द्रियों का अगोचर कहा। सोपाधिक रूप, जिसमें चेतन के साथ उपाधि है, शब्द वाच्य होता है।

मनोराज्य के विलय के लिए **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (यो.सू. 1/28) के द्वारा अर्थभावना पुरस्सर प्रणव के जप का विधान किया गया है। मनोराज्य के लय के बिना आत्मसाक्षात्कार नहीं होता; क्योंकि निरुद्ध सर्ववृत्तिक मन से ही आत्मा का ग्रहण होता है। यह संकेत योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों में हमें प्राप्त होता है।

समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्राय.उप. 6/34)

समाधि के द्वारा चित्त का मल दूर हो जाने पर आत्मा में मन का निवेशन होता है तथा उस समय जिस सुख की प्राप्ति, निरुद्ध सर्ववृत्तिक (ऐसा मन जिसकी सभी वृत्तियाँ रुक गयीं हैं) अन्तःकरण से होती है, उसका वर्णन वाणी से सम्भव नहीं है। इस प्रकार मनोराज्य के विलयपूर्वक समाधि की प्राप्ति के हेतु आचार्यचरण ने 'अलख पुरुष का सुमिरहु नाँव' यह आदेश दिया है। मनोराज्य का लय तथा समाधि प्राप्ति दोनों ही प्रणव के जप तथा प्रणव के अर्थ के ध्यान से सम्भव हो जाते हैं। अतः उपनिषद् में भी ओंकारोपासना विहित है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(काठ.उप. 1/2/16)

यह श्रुतिवाक्य ऊँकार को पर एवं अपर ब्रह्म एवं श्रेष्ठ आलम्बन बतलाते हैं। ऊँकाररूप आलम्बन के ही ज्ञान से इच्छानुसार पर एवं अपर ब्रह्म की प्राप्ति तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, यह भी श्रुति बतला रही है। श्रुति के द्वारा प्रतिपादित ऊँकार के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर आचार्यचरण ने अलख पुरुष के नामस्मरण का उपदेश दिया है। स्पष्ट है कि आचार्यचरण का यह संकेत श्रुतिमूलक है।

यमराज के उपदेश के आशय को स्पष्ट किया जाय तो हम देखते हैं कि नचिकेता ने कार्य-कारणातीत कालातीत ब्रह्मविषयक प्रश्न किया और उत्तर में

ब्रह्मप्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ उपाय प्रणवोपासना की प्रस्तुति हुई; क्योंकि उपदेश साधनविषयक होने पर सार्थक होता है। साधन के अनुष्ठान से साध्य प्राप्त हो जायेगा, यह तथ्य है। अतः साधन का उपदेश पहले आवश्यक समझकर यम ने साधन को बतलाया। भगवान् शङ्कराचार्य ने ओंकार को ब्रह्म का वाचक तथा प्रतीक दोनों स्वीकार किया। जिस शब्द का उच्चारण करने पर जो अर्थ स्फुरित होता है, उसे उसका वाच्य कहते हैं, यह कहकर ओंकारोच्चारण के साथ-साथ होने वाली अनुभूति का वर्णन करते हुए, आचार्य आनन्दगिरि ने स्पष्ट किया है कि समाहित चित्त वाले साधक को प्रणवोच्चारण के अनन्तर विषयानुपरक्त संवेदन का स्फुरण होता है, अतः ओंकार का आलम्बन करके ओंकारोपाधिक 'ब्रह्म मैं हूँ', इस रूप में ध्यान करना चाहिए। इसी ध्यान को आचार्यचरण ने अलख पुरुष का नामस्मरण कहा है। यदि इस प्रकार ध्यान करने में साधक अपने को असमर्थ पाता है, तो उसे प्रणव में ही ब्रह्म-दृष्टि करनी चाहिए, अतएव ब्रह्म को ओम्शब्दवाच्य कहा गया तथा ओम् शब्द को ब्रह्म का प्रतीक भी कहा गया है। 'ओम्शब्दः प्रतीको यस्य' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करके ओंकार को ब्रह्म का प्रतिमान, प्रतिमा या वाङ्मयी मूर्ति स्वीकार किया जा सकता है।

ब्रह्मप्राप्ति के साधनों में प्रणवोपासना के सर्वश्रेष्ठ होने के कारण सर्वत्र इसका विधान मिलता है। श्रीमद्भागवतपुराण में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को ध्यान की विधि बतलाते हुए कहा है—

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम्॥
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥

(11/14/34-35)

मूलाधार से मूर्धापर्यन्त विसतन्तु (कमलनाल) के समान सूक्ष्म रूप से व्याप्त ओंकार को प्राण के साथ उच्चारण के द्वारा हृदयदेश में अभिव्यक्त करके उसमें घण्टानाद के समान उदात्त स्वर प्रस्थापित करें। यह क्रिया प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल 10-10 बार करें। इस प्रकार नियम से करने पर एक मास के भीतर वायु पर जय प्राप्त होता है। इसके आगे उद्धव की जिज्ञासानुसार चतुर्भुज रूप के ध्यान का वर्णन है। यह सगुणोपासना का वर्णन है। सगुण की भक्ति

अथवा उपर्युक्त यम-नियमादि के द्वारा निर्गुण का साक्षात्कार दोनों ही संसार से उद्धार के उपाय हैं। अतः सगुणोपासना के द्वारा सरलता[86] से मोक्षप्राप्ति का वर्णन गीता में मिलता है। गीता 12/6,7 में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! जो लोग सभी कर्मों को मुझ सगुण वासुदेव में समर्पित कर मुझको ही परप्रीति का विषय मानते हुए (मुझसे सबसे अधिक प्रेम करने के कारण) मुझको छोड़कर अन्य कोई आलम्बन (आश्रय) जिसमें नहीं है, ऐसे योग (समाधि) के द्वारा अर्थात् एकान्त भक्तियोग के द्वारा द्विभुज या चतुर्भुज रूप में अथवा वराह, नृसिंह, श्रीराम आदि किसी भी रूप में मेरा चिन्तन करते हैं (लगातार चित्त की एकाकार वृत्ति रखते हैं, अथवा समीप में रहते हैं—समीप में रहने की भावना करते हुए) मुझमें मन को प्रविष्ट करा देते हैं, उनका मैं मृत्युयुक्त संसार से अतिशीघ्र (इसी जन्म में) उद्धार कर देता हूँ। इस प्रकार भक्ति और योग दोनों से मोक्ष बताया गया। किन्तु नगरी (शरीर) को सचेत करना तथा इन्द्रियों का उद्धार करना दोनों ही मार्गों में आवश्यक है। क्योंकि यम-नियम आदि के बिना भक्ति भी नहीं होगी। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि भक्ति पथ के पथिक के लिए यम-नियमादि अनायास सिद्ध होते हैं।

भक्ति की आवश्यकता योगमार्ग में भी है, अतएव ईश्वरप्रणिधान मात्र को समाधि-लाभ के प्रति स्वतन्त्र कारण बतलाते हुए कहा गया है कि भक्तिविशेष से आवर्जित (आकृष्ट) ईश्वर भक्त को अपने अभिध्यान मात्र से समाधिलाभ कराते हैं[87]। उसको आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार आदि योगांगों की आवश्यकता नहीं होती, अतएव अद्वैतवेदान्त के आचार्य परम उपासक श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—सगुण की उपासना से सभी प्रतिबन्ध (ज्ञानप्राप्ति के सभी बाधक) दूर हो जाते हैं। इसके अनन्तर गुरु के मुख से वेदान्त के महावाक्यों का श्रवण न करने तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि की आवृत्ति न करने पर भी ईश्वर की कृपा से स्वयं आविर्भूत (स्वतः प्रकाशित) वेदान्त वाक्यों से तत्त्व ज्ञान का उदय होने से अविद्या (अज्ञान) तथा उसके कार्य (प्रपंच) की निवृत्ति हो जाती है। इसके अनन्तर ब्रह्मलोक में ऐश्वर्य भोग करने के पश्चात् निर्गुण विद्या के फल परम-कैवल्य की प्राप्ति होती है। अतएव श्रुति में कहा गया है—

स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।

(प्र.उप. 5/5)

वह (स) जिसने ब्रह्मलोक (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के लोक) के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है, भोग के अन्त में इस सर्वजीव-समष्टिरूप श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ से विलक्षण एवं श्रेष्ठ, अपनी हृदय-गुहा में निविष्ट (पुरिशयम्) पूर्ण पुरुष का जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न एवं अद्वितीय है जिसे परमात्मा कहते हैं, साक्षात्कार करता है।

नगरी को सचेत करके तथा इन्द्रियों का उद्धार करके हम शरीरधारियों को क्या करना है? इस कर्तव्य का उपदेश 'अलख पुरुष का सुमिरहु नाम' इस मात्रा में किया गया है। अलख पुरुष अलक्ष्य पुरुष है, जो इस नगरी रूपी (पुर) शरीर में रहकर भी दिखाई नहीं पड़ता। अतः दर्शन हेतु अलक्ष्य पुरुष का नामस्मरण करने का आचार्यचरण निर्देश दे रहे हैं। यह अलख पुरुष परमात्मा ही है।

हम जानते हैं कि कोई भी वस्तु सर्वथा अज्ञात होने पर जिज्ञासा का विषय नहीं होती। प्रकृत में उसे पुरुष (पुर शरीर में शयन करने वाला) बताकर वह हमसे बहुत दूर नहीं है, यह सूचित किया गया। शरीर में रहकर भी अलक्ष्य है, अतः इस पुरुष को देखने के लिए उत्कण्ठा भी स्वाभाविक है। इस उत्कण्ठा के शमन हेतु अलख पुरुष का नामस्मरण उपाय के रूप में बताया जा रहा है। अलख पुरुष परमात्मा के हजारों नाम हैं, उन नामों में कौन-सा नाम स्मृति-विषय किया जाय? यह जिज्ञासा होती है। योगसूत्र में उस ब्रह्म का नाम प्रणव या ऊंकार[88] बताया गया है। भगवद्गीता में भी—

ऊँ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। (17/23)

इस वचन के द्वारा ब्रह्म के तीन नाम ओम् तत् एवं सत् इस रूप में बताए गए हैं। श्रुति में भी **'ओमिति ब्रह्म,** (तै.उप. 1/8/1) **तत्त्वमसि** (छा.उप. 6/8/7) तथा **सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** (छा.उप. 6/2/1) इत्यादि वचनों में तीनों नामों का उल्लेख मिलता है। इन तीनों नामों में प्रणव या ऊँकार को गीता में सर्वप्रथम उच्चारित कर भगवान् उसकी श्रेष्ठता एवं उपादेयता को सूचित कर रहे हैं। उस पुरुष के द्वारा ही ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञ सर्ग के आदिकाल में विहित (निर्मित) हैं। यहाँ ब्राह्मण शब्द सभी ब्रह्म-जिज्ञासुओं को सूचित करता है, जो यज्ञ के कर्ता हैं। वेद करण हैं; क्योंकि वेदमन्त्रों के द्वारा ही यज्ञ होते हैं तथा यज्ञ कर्मरूप हैं। अतः इससे यह सूचित होता है कि ब्राह्मणों, वेदों एवं यज्ञों की

रचनापूर्वक हमें कर्म में प्रवृत्त कराकर बन्धन को प्राप्त कराने वाला ब्रह्म ही अपने नामस्मरण आदि के द्वारा प्रसन्न होकर कर्मपाश से मुक्त करेगा।

ओम् शब्द के अतिरिक्त तत् और सत् जो और दो नाम हैं, उनमें सत् नाम तो **'सन् घटः, सन् पटः'** आदि अनुभूतियों में ज्ञान का विषय होता है। तत् यह तो सर्वनाम है। जो 'तत्त्वमसि' में पूर्वप्रक्रान्त (पूर्व में कहे गये) जगज्जन्मादि कारण ब्रह्म का बोधक है। इस प्रकार यह भी ब्रह्म का उपस्थापक होने से नाम हो गया। यद्यपि लौकिक प्रसंगों में तत् यह सर्वनाम नश्वर पदार्थों का बोधक होकर सबका नाम बनता है, अतः इसे केवल परमात्मा का नाम कहना उचित नहीं प्रतीत होता. तथापि लौकिक पदार्थों में किसका बोधक उसे माना जाय, वह तो प्रसंगानुरूप सभी पदार्थों का बोधक है। अतः किसी एक का व्यवस्थित रूप में बोध न करने के कारण 'तत्त्वमसि' में ब्रह्मवाचकता की प्रसिद्धि को देखते हुए ब्रह्म वाचक ही कहना चाहिए। सभी जागतिक पदार्थों का बोधक होने पर भी सर्वरूप में दृश्यमान प्रभु का ही बोधक कहना उचित है।

परमात्मा के विष्णु, नारायण, कृष्ण, राम, शिव आदि स्वरूप विशेष से सम्बद्ध नाम अलक्ष्य पुरुष के नाम नहीं हैं, वह तो किसी न किसी गुण अथवा क्रिया से सम्बद्ध पुरुष के नाम हैं। अतः यह लक्ष्य अर्थात् दर्शन के योग्य पुरुष का नाम है। दर्शन शब्द में प्रयुक्त दृश धातु ज्ञानसामान्य का बोधक है, केवल चाक्षुष ज्ञान का नहीं। अतः किसी भी प्रमाणजन्यवृत्ति का गोचर होने से उसे लक्ष्य या दृश्य कहा जायेगा। इस प्रकार स्वरूपविशेष से असम्बद्ध केवल सद्रूप ब्रह्म का बोधक ओम् शब्द ही भगवान् का ऐसा नाम है, जो प्राथम्येन स्मृत्युपारूढ़ हो रहा है।

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो.सू. 1/28) में प्रणव का जप तथा प्रणव के अर्थभूत ईश्वर की भावना करने से चित्त की एकाग्रता होती है, यह बतलाया गया है। यद्यपि यह कह सकते हैं कि मात्रा, नामस्मरण का विधान करती है, जबकि योगसूत्र नामार्थ की भावना करने को कहता है। नामार्थ की भावना अर्थ की सातत्येन स्मृति ही है। अतः अर्थ की भावना या सातत्येन (लगातार) स्मृति तो हो सकती है। किन्तु नाम के स्मरण का क्या अभिप्राय है? नाम का संकीर्तन, नाम का उच्चारण आदि तो प्रसिद्ध है, नामस्मरण की बात अपूर्व लगती है।

'कलौ संकीर्त्य केशवम्' विष्णुपुराण–कलियुग में केशव का कीर्तन करके तथा **'नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः'** (श्रीमद्भागवत-6/3/23)। हे मेरे अनुग्रहपात्र पुत्रों! हरि के नामोच्चारण का माहात्म्य देखो इत्यादि वाक्यों में संकीर्तन एवं उच्चारण का ही विधान देखने को मिलता है। किन्तु योगसूत्र में प्रणव-जप एवं प्रणवार्थ की भावना दोनों का ही विधान होने से जप तथा भावना दोनों का अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करना होगा।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
यदृच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

(श्रीहर्यष्टकम्, विष्णुपुराण)

दुष्ट चित्त वालों के द्वारा भी भगवान् का स्मरण किये जाने पर भगवान् पापों को दूर करते हैं। क्योंकि अग्नि के माहात्म्य आदि का ज्ञान न होने पर भी संस्पर्श होने पर अग्नि जलाता ही है। इन वचनों में भगवान् के स्मरण को पाप शमन करने वाला बताया गया है। हरि का स्मरण नाम के साथ ही होगा। अतः हरि का स्मरण करने हेतु नाम का स्मरण आवश्यक है।

इस प्रकार प्रकृत मात्रा में न दिखाई पड़ने वाले पुरुष के नाम का स्मरण करने की बात कही जा रही है। यह न दिखाई पड़ने वाला पुरुष (अज्ञात पुरुष) स्मृति का विषय भी नहीं होगा; क्योंकि जिसका पूर्व में ज्ञान नहीं होता, वह बाद में स्मृति का विषय नहीं होता। अतएव प्रणव या ओंकार का ही जप तथा उसी के अर्थ की भावना का विधान योगसूत्र में भी है। उपनिषद् इसे श्रेष्ठ आलम्बन कहते हैं। आलम्बन, अवलम्ब या सहारा है, जो ब्रह्मप्राप्ति तक ग्राह्य है। यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरा अवलम्ब मिलने पर इसे छोड़ दिया जायेगा; क्योंकि इससे श्रेष्ठ आलम्बन मिलने पर तो इसका त्याग हो सकता है; किन्तु जब यही श्रेष्ठ आलम्बन है, तो इसका त्याग क्यों होगा? उपनिषद् इसी को श्रेष्ठ आलम्बन बता रहे हैं अन्य को नहीं। जप शब्द का अर्थ, स्पष्ट उच्चारण (व्यक्त उच्चारण) तथा सूक्ष्म मानस उच्चारण या स्मरण दोनों ही हैं। क्योंकि 'जप जल्प व्यक्तायां वाचि, तथा जप मानसे च' इस रूप में सिद्धान्तकौमुदी में दोनों ही अर्थों में धातु का प्रयोग उल्लिखित है। यह भी कहा जा सकता है कि ऊँकार को 'मूर्ति' की तरह परमात्मा का प्रतीक कहा गया है, तो मूर्ति की तरह उसका स्मरण हो

सकता है। ऊँकार की एक विशेषता और है कि यह पर एवं अपर दोनों ब्रह्म का प्रतीक है, अतः इसके स्मरण से 'उभयविध ब्रह्म' की प्राप्ति हो सकती है। एतदर्थ इसका स्मरण विहित है। प्रणव के दीर्घोच्चारण से मनोराज्य (मानसिक कल्पनाओं) पर विजय प्राप्त होती है। **'प्रणवं दीर्घमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते'** (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड) यह वाक्य साधना परम्परा में प्रणव के दीर्घ या उच्चस्वर से देर तक उच्चारण का विधान करता है।

आचार्यचरण यहाँ प्रणव के स्मरण का विधान करते हैं। स्मरण में सूक्ष्मोच्चारण होता है; क्योंकि प्रत्येक ज्ञान में शब्द का अनुवेध होता है। 'प्रणवं दीर्घमुच्चार्य' वाक्य में दीर्घ शब्द का अर्थ अधिक समय तक किया जाय तो सूक्ष्मोच्चारण भी देर तक होने से दीर्घ उच्चारण होगा। इस प्रकार आपाततः स्मरण एवं उच्चारणरूप इन दोनों क्रियाओं में विरोध प्रतीत हो रहा है। किन्तु साधना की दृष्टि से विचार करें तो यह विरोध नहीं रह जाता; क्योंकि स्मरण में ऊँकार के प्रतीत होते रहने से उसकी निरन्तरता बनी रहती है, जो मन को वासनाशून्य करने के लिए आवश्यक है, इस प्रकार प्रणव के दीर्घोच्चारण का फल मन की विषयोन्मुखता को जीतना है। मन की विषयप्रवणता इन्द्रियों की विषयप्रवणता के साथ-साथ ही होती है। स्पष्ट है कि मन की विषयप्रवणता होने पर विषयों का ही बार-बार स्मरण होगा, अलख पुरुष के नाम प्रणव का जप या मानस उच्चारण अथवा प्रणव के अर्थ की भावना (बार-बार चिन्तन) नहीं होगा। प्रणव का दीर्घोच्चारण कर जब मानसिक कल्पनाओं को शान्त कर लेंगे, तभी प्रणव के मानस जप अथवा प्रणव के अर्थ की भावना का अवसर आयेगा। इस प्रकार यह दोनों क्रमिक रूप से व्यवस्थित हो जाते हैं। पहले विषयों में संलिप्त मन को अन्तर्मुख करने हेतु प्रणव का दीर्घोच्चारण तथा उसके अनन्तर मानस जप या प्रणव का स्मरण यह क्रम होगा।

मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है—

'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' (2/2/6) जो आत्मा हृदय में अनेक हर्षादि वृत्तियों के साक्षी के रूप में अनुभूत होता है, उसका चिन्तन ओंकार का आलम्बन करके करना चाहिए–इत्यादि। चिति स्मृत्यां धातु से 'चिन्तन' शब्द बनता है, अतः यह स्मरण का ही विधान कहा जा सकता है।

यह अलख पुरुष का नामस्मरण, गाँव को तारने का साधन भी है; क्योंकि प्रणव के दीर्घोच्चारण एवं सूक्ष्मोच्चारण या स्मरण के द्वारा इन्द्रियों की विषय-प्रवणता का वारण किया जा सकता है। अस्तु, गुरु ने शरीररूपी नगरी में भेजकर इन्द्रियों की विषयों से उपरति कर अलख पुरुष का नाम स्मरण करने को कहा, जो सोद्देश्य है। योगसूत्र में प्रणव के जप का फल चित्त की एकाग्रता बतलायी गयी है। इसी नाम (प्रणव) का सुमिरन आचार्यचरण भी कराना चाहते हैं, तो फल भी मनोराज्य जय ही होगा। किन्तु चित्त की एकाग्रता सम्पत्ति (एकाग्र होने) का फल क्या होगा? यह जिज्ञासा होती है। साथ ही यह द्वन्द्व भी मन को उद्वेलित करने लगता है कि अलख पुरुष के नामस्मरण से उस प्रभु की प्रसन्नता के कारण उसका दर्शन मिले तो इसे हम नाम से नामी (नाम वाला) का उपस्थापन मान सकते हैं। नामस्मरण से चित्त की एकाग्रता का क्या सम्बन्ध है? हम जानते हैं कि विषयों के प्रति राग के कारण चित्त में उनका स्मरण होता है तथा विषयों के प्रति राग, उनकी आनन्दजनकता के कारण है। अर्थात् विषयसम्पृक्त सुख की कामना हमें विषयों की ओर आकृष्ट करती है। यह विषय राग अनन्त जन्मों में अनुभूत विषयसुख की स्मृति के कारण और दृढ़ होता जाता है तथा विषय-प्रवण मन हमारे नियन्त्रण में नहीं रह जाता। अनियन्त्रण का फल यह होता है कि हमारे न चाहने पर भी, मन विषय-स्मरण करता रहता है। योगसूत्र 1/30 के भाष्य में इसे अविरति नामक अन्तराय या योग का विघ्न कहा गया है। **'अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः'** विषय के सम्पर्क में उसे पाने की जो तृष्णा मन में आती है उसे अविरति नामक अन्तराय कहते हैं। इसके रहते ध्यान नहीं किया जा सकता। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत में कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(11/14/27)

भगवान् कहते हैं कि विषयों का ध्यान करने वाले की विषयासक्ति बढ़ती है; किन्तु भगवान् का अनुक्षण स्मरण करने पर चित्त का उन्हीं में प्रविलय होता है। यह प्रकृष्ट विलय चित्त की ऐसी स्थिति है जिसमें विषयों का अंकुरण

चित्तभूमि में नहीं होता; क्योंकि सभी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। भगवान् का अनुस्मरण भगवन्नाम के साथ उनका चित्त में स्फुरण है। गोरखबानी में अलख पुरुष या निराकार पुरुष को ऊँकार कहा गया है—

ऊँकार निराकार सूछिम न अस्थूलं, पेड़ न पत्र फलै नहिं फूलं।

(1-35, पृ. 148, पद रागरामग्री)

वाक्यार्थ पर विचार करें, तो यह सम्पूर्ण पद, ब्रह्म का वर्णन कर रहा है; क्योंकि पद की अन्तिम पंक्ति, 'जुरा न मरण बाँके बाप न माई' में उस तत्त्व के विकार-जरा, विनाश-मरण तथा उत्पादक कारण (बाप, माई) का निषेध किया गया है। ऊँकार का वाच्य होने से उसे पहले 'ऊँकार' कहा गया, किन्तु निर्गुण निराकार होने से पुनः निराकार कह दिया गया है।

यह ऊँकार तीन अक्षरों (अकार उकार मकार) से बना हुआ है। यद्यपि—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। (गीता 8/13)

इस गीता श्लोक में ओंकार को एकाक्षर कहा गया है, तथापि **'ओमिति व्याहरन्'** ओम् इस शब्द का उच्चारण करते हुए तथा **'माम् एकाक्षरं ब्रह्म अनुस्मरन्'** मुझ एक अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म का स्मरण करते हुए' इस प्रकार की योजना श्लोक में की जाय तो ऊंकार की एकाक्षरता (एक अक्षररूपता) का प्रतिपादन नहीं होने से विरोध नहीं होता, यह मधुसूदन सरस्वती का मत है। गीता की टीका भाष्योत्कर्षदीपिका में यह कहा गया है कि एकाक्षर शब्द ऊंकार का ही विशेषण है। श्रुति में ओंकार को त्रिमात्र[89] (तीन मात्रा वाला) बताया गया है; किन्तु भगवान् त्रिमात्र शब्द का एकाक्षर शब्द से अभिधान करते हैं, उनका आशय है—यह भ्रम न हो कि पहले अकार से उपासना करे, फिर उकार से, अन्त में मकार से; किन्तु ओम् इस त्रिमात्र शब्द का एक अक्षर के रूप में एक साथ उच्चारण करे, पृथक्-पृथक् नहीं। इस प्रकार दोनों व्याख्यानों में ऊँकार को त्रिमात्र ही स्वीकार किया गया है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य का कथन है कि—'प्रणवोपासना' ऊँकार का जप करना हैं। इसमें **'ओमिति व्याहरन्'** यह वाणी का नियम है। **'मामनुस्मरन्'** यह वाक्य चित्त का नियमन बतलाता है। चित्त की अनन्यगामिता इससे सिद्ध होती है, जो मेरा ही स्मरण करता है अन्य का नहीं, यह तात्पर्य है। 'यः प्रयाति'

का अर्थ आचार्यचरण ने 'प्रतिदिन जो अपुनरावृत्ति को जाता है' यह किया है; किन्तु यह शंका होती है कि देह त्याग न करता हुआ अपुनरावृत्ति को कैसे जाता है? इसका उत्तर आचार्यचरण ने इस रूप में दिया है। वह इच्छा करता है कि सकल आपत्तियों का स्थानभूत यह शरीर पुनः न मिले। इसकी पूर्ति के लिए अनन्य भाव से मेरा स्मरण करता हुआ मुझे प्राप्त करता है। इस प्रकार आचार्यचरण ने प्रणवोपासना को संकेतित किया है। उनका आशय है कि शरीर की नश्वरता को समझने वाला जीव प्रतिदिन ऊंकार का उच्चारण करते हुए भगवदनुध्यानपूर्वक जब यह दृढ़ इच्छा करता है कि मुझे यह शरीर न मिले तो वह शरीर छूटने के बाद पुनः शरीर न प्राप्त कर प्रभु को प्राप्त करता है। प्रयाति घटक प्र उपसर्ग, प्रकृष्ट गमन या यान को कहता है। यान में प्रकर्ष पुनः शरीर की अप्राप्ति को ही सूचित करता है। अन्यथा पुनः शरीर मिलने पर यह यान होगा, प्रकृष्ट यान नहीं। आचार्यचरण श्रीचन्द्र प्रभु ने भी 'अलख पुरुष का सुमिरहु नाम' इस मात्रा के द्वारा इसी प्रणवोपासना की ओर संकेत किया है।

आचार्यचरण भी चित्तशुद्धि के लिए योग एवं भक्ति दोनों का उपदेश करते हैं; किन्तु भक्ति के अंग के रूप में योगाङ्गों की अनुष्ठेयता में उनका तात्पर्य है; क्योंकि मात्रा-शास्त्र का वाणी से सम्बद्ध कर्तव्यविषयक प्रथम उपदेश 'अलख पुरुष का सुमिरहु नांव' भक्ति के प्राधान्य को सूचित करता है। यतः यह अलख पुरुष अलक्ष्य पुरुष, **'अः परमात्मा लक्ष्योऽस्माद् इति अलक्ष्यः, स चासौ पुरुषः अलक्ष्यपुरुषः'** अशब्द वाच्य सर्वव्यापक परमात्मा जिससे लक्षित हो, वह अलक्ष्य पुरुष सोपाधिक ब्रह्म है। इस प्रकार का पूर्व प्रदर्शित अर्थ अलख पुरुष शब्द का करने पर यह मात्रासूत्र सोपाधिक ब्रह्म के नाम के स्मरण का भी विधान करता है। यह स्मरण तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिरूप नाम-भक्ति ही है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्यचरण नाम के विच्छिन्न या व्यवधानसहित स्मरण का उपदेश दे रहे हैं।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अविच्छिन्न स्मृति स्वरूप की होती है। क्योंकि—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

(श्रीमद्भागवत 1/2/17)

इस भागवतवचन के द्वारा कथा-श्रवण के माध्यम से हृदय में प्रविष्ट होकर अन्तःस्थैर्य को प्राप्त करने वाले श्रीकृष्ण के द्वारा पापों के विधूनन का विधान किया गया है। कृष्ण की चित्त में स्थिति, निरन्तर स्मृति के द्वारा ही सम्भव है। अतः स्वरूपस्मृति के द्वारा अभद्र (अमंगल-पाप) नष्ट होते हैं, यह इस वचन से स्पष्ट होता है। ऐसी स्थिति में आचार्यचरण ने अलख पुरुष के निरन्तर नाम-स्मरणरूप नाम-भक्ति का उपदेश क्यों दिया? यह विचारणीय हो जाता है। इस जिज्ञासा के उपशम के लिए हम पूर्वोद्धृत वचन का समीक्षा की दृष्टि से आलोचन करेंगे। किसके हृदय में भगवान् का स्थैर्य्य होता है, इसके ज्ञान के लिए **'शृण्वतां स्वकथां कृष्णः'** (श्रीमद्भागवत 1/2/17) यह अंश आश्रयणीय है। स्पष्ट है कि वचन के द्वारा यही प्रतिपादित हो रहा है कि जो लोग कृष्ण की कथा को सुन रहे हैं, उनके हृदय में स्थित होकर श्रीकृष्ण अभद्र को दूर करते हैं। अस्तु, जिसकी कृष्ण में रुचि है, वह कृष्ण की कथा को सुनेगा, जिसकी शिव, विष्णु, शिवा जहाँ भी आसक्ति है, उसकी कथा सुनेगा। किन्तु कथा-श्रवण समूह में होगा अधिक नहीं हो तो भी न्यूनतम श्रोता एवं वक्ता का समवाय तो अपेक्षित ही है, अन्यथा कथा नहीं हो पायेगी। किन्तु असंग विचरण करने वाला यति कितने समय तक वक्ता का सान्निध्य उपकल्पित कर कथा सुनेगा? सौकर्य की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है। अतः आचार्यचरण ने नाम-भक्ति का उपदेश दिया, जिसमें देश-काल एवं मर्यादाओं का संश्लेष नहीं है, जिसमें अधिकारिता का मानक केवल भगवत्प्रेम है, जो सर्वविध मंगल को देने वाली है।

यह भी अवधेय है कि नामभक्ति स्वरूप की उपस्थापिका भी है। यदि हम राम-कृष्णादि भगवन्नामों का अविच्छिन्न स्मरण करते हैं तो रामकृष्णादि स्वरूपों का प्राकट्य होता है तथा यदि प्रणव का निरन्तर स्मरण करते हैं, तो निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

नाम-भक्ति के विधान का एक और रहस्य कहा जा सकता है। नाम और रूप यह दो उपाधियाँ हैं, जिनके द्वारा चेतन व्यवहार्य होता है। लौकिक पदार्थ भी नाम और रूप के द्वारा ही व्यवहार्य होते हैं। ऐसी स्थिति में उस परम चेतन को अपनी ओर अभिमुख करने अथवा उनकी कृपा से चित्त की एकाग्रता हेतु अथवा प्रभु का दर्शन प्राप्त करने के लिए उन्हें व्यवहार्य बनाने की दृष्टि से

आचार्यचरण ने नाम-भक्ति का आश्रयण करने को कहा। नाम उपाधि के सम्पर्क से उस चेतन में व्यवहार्यता ही नहीं आती, उनकी प्रसन्नता भी असकृन्नामोच्चारण से प्राप्त होती है।

नाम, रूप दोनों उपाधियाँ साथ-साथ होती हैं, तथापि नाम का प्राधान्य है, नाम हमारे लिए सुलभ है, नाम का उपदेश हम किसी आचारवान् पुरुष से प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु स्वरूप दुर्लभ एवं दुर्ज्ञेय होने से हमारी सामर्थ्य सीमा के बाहर है। प्रारम्भ में स्वरूपसाक्षात्कार की हमारी योग्यता भी नहीं होती, विभिन्न यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा हम स्वरूपसाक्षात्कार के योग्य होते हैं।

अतएव नवधा भक्ति में भी शब्दप्रधान श्रवण-कीर्तन के बाद ही स्मरण आदि का विधान किया गया। भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं, इस शास्त्रसिद्धान्त के अनुरूप ही आचार्यचरण ने मानव मात्र के लिए सुलभ नाम भक्ति का उपदेश सर्वप्रथम किया है।

भगवत् परिचर्या सम्बन्धी सभी कार्य भक्तिपूर्वक अनुष्ठित होने चाहिए– गीतावचन—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता 9/26)

से यह रहस्य स्पष्ट है। पत्र-पुष्प आदि का अर्पण 'नाम' से उपस्थापित भगवत्स्वरूप को होगा, अतएव भगवान् कहते हैं—पत्र-पुष्प-फल-जल जो कुछ भी मुझे भक्तिपूर्वक कोई अर्पित करता है, उस भक्तिपूर्वक उपहृत वस्तु का मैं भक्षण करता हूँ, जो शुद्ध बुद्धि वाले के द्वारा लायी गयी है। इस वचन में भक्ति शब्द का दो बार प्रयोग है। अतः जिज्ञासा होती है कि 'भक्त्या प्रयच्छति' और 'भक्त्युपहृतम्' यह दोनों विशेषण भगवान् क्यों देते हैं? जिस वस्तु का भक्तिपूर्वक प्रदान (प्रयच्छति) हो गया वह भक्त्युपहृत है ही, अतः पुनः उसे 'भक्त्युपहृतं' (भक्तिपूर्वक समर्पित) कहना व्यर्थ होगा। अतः मधुसूदन सरस्वती ने यह कहा कि भगवान् के यहाँ भक्ष्य (खाने योग्य) एवं अभक्ष्य (न खाने योग्य) का विज्ञान प्रीति से प्रतिबद्ध है। अतः जैसे बालक माता से अर्पित वस्तु को खाता है, उसी प्रकार भगवान् भी भक्त से अर्पित वस्तु को साक्षात् खाते हैं।

अतः भक्ति ही भगवान् के परितोष में निमित्त है, अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है, यह इससे ध्वनित होता है। अतएव सुदामा के चूड़े का उन्होंने स्वयं भक्षण किया। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—**'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्'** (7/7/52) भगवान् अमलाभक्ति (प्रयोजन के बिना भगवान् से निरन्तर प्रेम) से प्रसन्न होते हैं और सब कुछ व्यर्थ है।

आचार्यचरण ने भक्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम इसलिए भी किया; क्योंकि भक्ति के बिना ज्ञान होता ही नहीं। अतएव कुन्ती ने कहा है—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

(1/8/36)

इस भागवत श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामी ने कहा है—**'तावकं त्वदीयं पदाम्बुजं त एव, पश्यन्त्येव, अचिरेणैवेति सर्वत्रावधारणम्। कीदृशं भवप्रवाहस्य जननमरणपरम्पराया उपरमो यस्मिंस्तत्'**। अवधारणशब्द का निश्चय अर्थ है। यह तीन निश्चय (या नियम) इस प्रकार हैं। जो आपकी लीलाओं का स्मरण आदि करते ही हैं, वे आपके भवोपरम हेतुभूत चरणों का दर्शन करते ही हैं। वे ही दर्शन करते हैं। वे बहुत शीघ्र ही दर्शन करते हैं।

इन तीन प्रकार के नियमों से स्पष्ट है कि जो भक्तिहीन हैं, उन्हें ज्ञान होता ही नहीं तथा भक्ति के रहने पर अवश्य ही होता है एवं शीघ्र होता है। भक्ति की इस महत्ता को स्वीकार कर लेने पर भक्ति के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जो लोग भगवान् की लीलाओं का स्मरण आदि करते हैं, उन्हें भगवान् के चरणकमलों का दर्शन होता है, यह कहना तो उचित है, किन्तु उन्हीं को ज्ञान होता है, जो इस प्रकार की भक्ति से युक्त हैं, यह कथन उचित नहीं है। तथापि विचार करने पर यह शङ्का उचित नहीं प्रतीत होती; क्योंकि भगवान् के चरणकमलों को जन्मपरम्परा का उपरम करने वाला तभी कहा जा सकता है, जब उनके दर्शन से ज्ञान हो; यतः ज्ञान के बिना

अविद्या के निवृत्त न होने से अविद्या के कारण होने वाला जन्मादि कष्ट दूर नहीं होता। अतः भक्ति के बिना ज्ञान नहीं होता, यह कथन उचित है।

यह जिज्ञासा होती है कि भक्ति के रूप में स्वीकृत 'तैलधारावत्' अविच्छिन्न स्मृति किसकी की जाय? सगुण स्वरूप की या निर्गुण स्वरूप की। निर्गुण जब अनुभव में ही नहीं है, तो उसकी स्मृति कैसे होगी; क्योंकि विना अनुभव के स्मृति नहीं होती। सोपाधिक ब्रह्म का जो निराकार स्वरूप है; उसकी भी स्मृति नहीं हो पायेगी; क्योंकि उसका भी दर्शन उपपन्न नहीं हो पाता। अतः यह कहना होगा कि सगुण साकार रूप जो द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज आदि रूप में है, उसका स्मरण हो सकता है। किन्तु इन रूपों का अनुभव, शास्त्रों में वर्णित स्वरूप का शास्त्रवाक्यजन्य अनुभव ही कहना होगा। अनुभव हेतु अन्य कोई मार्ग नहीं है। किन्तु शास्त्रशब्दजन्य ज्ञान परोक्ष होता है। भक्तों के द्वारा वर्णित स्वरूप का ज्ञान भी परोक्ष होता है। अतः इससे उतने दृढ़ संस्कार नहीं उत्पन्न होते, जितने प्रत्यक्षात्मक ज्ञानों से होते हैं। इन स्वरूपों के प्रत्यक्ष अनुभव तो किसी-किसी को होते हैं। ऐसे लोग दर्शन प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाते हैं, इनके लिए भक्ति का विधान है भी नहीं, भक्ति इनका स्वभाव है, भक्ति का विधान तो पामर जीवों के उद्धार के लिए है। अतएव इन विकल्पों के अवसर को छोड़ते हुए आचार्यचरण ने नामस्मरणरूप नाम-भक्ति का उपदेश दिया। किन्तु साथ ही जब ज्ञान के लिए भक्ति अपरिहार्य रूप से आश्रयणीय है तो यह भी स्पष्ट करना होगा कि ज्ञानमार्ग के पथिक की भक्ति का स्वरूप क्या होगा? आचार्यचरण की नाम-भक्ति को तो भक्त एवं योगी दोनों कर लेंगे, ज्ञानमार्गी भी इसका आश्रयण कर लेंगे। अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

(2/1/11)

श्रीधर स्वामी ने इसकी व्याख्या में कहा है—**'साधकानां सिद्धानां च नातः परमन्यच्छ्रेयोऽस्तीत्याह'** साधक तथा सिद्ध दोनों के लिए इससे (भगवन्नाम कीर्तन) श्रेष्ठ श्रेयस्कर साधन नहीं है। साधक दो प्रकार के हैं— 1. नित्यकामनावान्, 2. मुमुक्षु। जो कामनावान् (इच्छताम्) हैं, उनकी

कामनाओं के विषय फलों की प्राप्ति इसी से (हरि के नाम-संकीर्तन से) होती है। जो मुमुक्षु हैं (निर्विद्यमानानां–निर्वेद को प्राप्त हैं, वैराग्यवान् हैं) उनके मोक्ष का साधन यही है। इतना ही नहीं जो ज्ञानी लोग हैं (योगिनां) सिद्ध हैं, उनके लिए फल भी यही है।

श्लोक में 'निर्णीतम्' शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि इसमें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यह सदाचार है कि ज्ञानी भी भगवद्-गुणगान करते हैं। अतएव श्रीमद्भागवत—

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥ (2/1/7)

में कहा गया है—विधिनिषेध की सीमा से परे रहने वाले निर्गुण ब्रह्म में स्थित मुनिजन भी प्रायः भगवान् के गुणानुवाद में रमण करते हैं।

अस्तु, जो ज्ञानी हैं, वे तत्त्वसाक्षात्कार के बाद निर्गुण-सगुण को एक ही समझकर भगवान् का गुणानुवाद करते हैं, यह वर्णित करने पर भी, जिज्ञासु जन जो ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयास कर रहे हैं, उनकी भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करना शेष ही रह जाता है। ऐसा भक्त अव्यक्त परमात्मा (निर्गुण परमात्मा) में आसक्त चित्त वाला होता है। अतः सगुण का ध्यान या नाम-जप आदि नहीं करता। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि ऐसे साधकों को सगुण भक्तों की अपेक्षा अधिक क्लेश, अव्यक्त परमात्मा की प्राप्ति में होता है। अतएव—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ (12/5)

श्लोक की व्याख्या में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—**हि यस्मादक्षरात्मकं गन्तव्यं फलभूतं ब्रह्म दुःखं यथा स्यात्तथा कृच्छ्रेण देहवद्भिर्देहमानिभिरवाप्यते सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यानां तेन तेन विचारेण तत्तद्भ्रमनिराकरणे महान् प्रयासः प्रत्यक्षसिद्धस्ततः क्लेशोऽधिकतरस्तेषामित्युक्तम्। यद्यप्येकमेव फलं तथापि ये दुष्करेणोपायेन प्राप्नुवन्ति तदपेक्षया सुकरेणोपायेन प्राप्नुवन्तो भवन्ति श्रेष्ठा इत्यभिप्रायः।**

आशय यह है कि अक्षरात्मक ब्रह्म जो फलभूत है उसकी प्राप्ति देहाभिमान रहते नहीं होती तथा देहाभिमानरहित होने में बहुत आयास करना होता है। अतः अव्यक्त परमात्मा की प्राप्ति देहाभिमानी लोगों के लिए कष्टसाध्य है। क्योंकि उन्हें शमदमादि साधनसम्पत्ति के अनन्तर सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक गुरु की शरणागति करनी पड़ती है तथा वेदान्त-वाक्यों के विचार के द्वारा तत्तद्भ्रमों को दूर करना होता है, जिसमें अत्यधिक क्लेश प्रत्यक्षसिद्ध है। सगुणोपासकों को इतना कष्ट नहीं होता है। वे तो सगुण ब्रह्म में मन का आवेश होने से अधिक श्रद्धापूर्वक भगवत्कर्मपरायण रहते हुए सगुण स्वरूप के दर्शनपुरस्सर निर्गुण की प्राप्ति कर लेते हैं।

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म की प्राप्तिरूप फल एक होने पर भी सुकर उपाय से उसको प्राप्त करने के कारण सगुण भक्त श्रेष्ठ हैं, यह कहा जा सकता है; किन्तु इस वर्णन का यह अभिप्राय नहीं है कि निर्गुण भक्त कोई भक्ति नहीं करते; क्योंकि वह अपने गुरुरूप में ही भगवान् को भजते हैं। उसी की कृपा से उन्हें ज्ञान प्राप्त होता है। तभी तो श्रुति कहती है **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'** (छा.उप. 6/14/2) जिसके उपदेशक प्रशस्त आचार्य हैं वह पुरुष उस तत्त्व को जान पाता है तथा **'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति'** (काठ.उप. 1/2/8) इत्यादि।

अस्तु, आचार्यचरण ने अब तक यह प्रतिपादित किया कि गुरुस्वरूप परमात्मा ने शरीररूपी नगरी में इसलिए भेजा है कि मैं इन्द्रियों को विषय-पराङ्मुख कर शरीर को भी विहिताचरण से सम्पृक्त एवं निषिद्धाचरण से असम्पृक्त रखते हुए परमतत्त्व का तत्त्वतः ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर सकूँ।

गुरु अविनाशी खेल रचाया

इस तत्त्व की प्राप्ति हेतु केवल नगरी रूपी शरीर एवं भोगकरण इन्द्रिय ग्राम को ही नहीं भोग्यपदार्थों के रूप में सम्पूर्ण सृष्टि भी खेल-खेल में हमारे गुरुदेव अविनाशी मुनि के स्वरूपभूत परमात्मा ने बनाया है। हमारे गुरुवर उस अविनाशी परमात्मा के ही अवतार हैं, जिन्होंने निरन्तर चलने वाला यह संसार बनाया है, जिससे निगम के अगम्य पन्था (निर्गुण मार्ग) से प्राप्तव्य ब्रह्म को अथवा संस्कारतः सुलभ अन्यथा दुर्लभ भक्ति मार्ग से जगत्कारण सर्वज्ञ सर्वसमर्थ प्रभु को जाना जा सके। इसी तथ्य को सम्पूर्ण मात्रा—

'गुरु अविनाशी खेल रचाया। अगम निगम का पन्थ बताया'। में स्पष्ट किया गया है। अविनाशी गुरु ब्रह्म से रचित यह सृष्टि, अविनाशी कैसे है? इस रहस्य को स्पष्ट करने हेतु गोरखबानी में कहा गया है—

एक मैं अनंत अनंत मैं एकै, एकै अनंत उपाया।
अंतरि एक सौ परचा हूवा, तब अनंत एक मैं समाया॥

(पद-रागरामग्री-1,पृ. 122)

एक परब्रह्म परमात्मा में ही अनन्त सृष्टि का वास है और अनन्त सृष्टि में एक ही ब्रह्म का वास है। उस एकाकी परमात्मा ने ही अनन्त सृष्टि को उत्पन्न किया है (उपाया); क्योंकि अनन्त सृष्टि का वही एकमात्र उपाय या साधन है, अन्य कोई दूसरा साधन नहीं है। इस शरीर के भीतर छिपे हुए परमात्मा से परिचय हो जाने पर, अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में उसका साक्षात्कार हो जाने पर, अनन्त सृष्टि एक ही परमात्म में समा जाती है। जैसे अन्धकार के हटने पर दण्ड, सर्प माला धारा आदि रज्जु रूप में समा जाते हैं। उसी प्रकार परमात्मा के स्वरूप के अज्ञान से होने वाली सृष्टि स्वरूप साक्षात्कार के बाद उसी में लीन हो जाती है।

गुरु ने यह अविनाशी खेल रचाया है, तो गुरुदेव इसके द्वारा हमारा उद्धार करना चाहते हैं, सृष्टि के द्वारा परमात्मा के स्वरूप का बोध करना चाहते हैं, यह ध्वनित होता है। उस परमात्मा से परिचय होने तक स्थिर रहने के कारण यह सृष्टि अविनाशी है। अतः जब तक जीव, परमात्मा से परिचय नहीं प्राप्त कर लेते, उनका साक्षात्कार नहीं कर लेते, यह सृष्टि चलती रहेगी, यह भी मात्रा से सूचित होता है। गोरखबानी में 'अविनाशी' शब्द से परब्रह्म को सम्बोधित किया गया है—

काया गढ़ भींतरि देव देहुरा कासी।
सहज सुभाइ मिले अबिनासी॥

(पद-रागरामग्री 23, गो.बानी, पृ. 135)

इसी शरीररूपी गढ़ के भीतर ही देव, देवालय तथा काशी तीर्थ सभी हैं।यही पर अविनाशी परमात्मा सहज स्वभाव से मुझे मिले हैं। यह अविनाशी ही ब्रह्म है, जिससे शरीर के भीतर परिचय होने की बात पूर्वपद में कही गयी है।

इसके अतिरिक्त—**षोजै तन मिलैं अविनाशी, अगह अमर पद पाय** (पृ. 98, सबदी 252) आदि पद भी द्रष्टव्य हैं।

इस मात्रा में प्रयुक्त 'अविनाशी' शब्द को 'गुरु' से अन्वित करें, तो आचार्यचरण के गुरुदेव भगवान् का अविनाशी शब्द से बोध होगा तथा 'खेल' के साथ अन्वय होने पर अविनाशी गुरु से रचित अविनाशी या निरन्तर चलने वाली सृष्टि का बोध होगा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रपंचात्मक सृष्टि को अविनाशी कहने से उसे खेल या मिथ्या मानने के अद्वैत-सिद्धान्त पक्ष से विरोध होगा; क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्त में सृष्टि को **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** (ब्र.सू. 2/1/33) में परमेश्वर की लीलामात्र (या क्रीडामात्र) स्वीकार किया गया है। चूँकि सभी बुद्धिमानों की प्रवृत्ति प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही देखी जाती है। अतः ईश्वर का भी जगत् सर्जन में कोई प्रयोजन होगा, इस सम्भावना का निराकरण प्रकृत सूत्र में किया गया है। जैसे राजाओं की क्रीड़ा तथा विहार आदि में प्रवृत्ति, बिना प्रयोजन के देखी जाती है। जैसे हमारे उच्छ्‌वास-प्रश्वास आदि भी बिना किसी बाह्य प्रयोजन के स्वभावमात्र से होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर की भी किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा किए बिना सृष्टि में केवल लीलारूप से प्रवृत्ति सम्भावित है। लीला के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन युक्तियों से अथवा श्रुति से सिद्ध नहीं होता।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रयोजन के बिना कोई प्रवृत्ति नहीं होगी तो धर्मशास्त्रों में **'न कुर्वीत वृथा चेष्टाम्'** इत्यादि वाक्यों के द्वारा वृथा चेष्टा का निषेध अनुपपन्न होगा। अतः यदि यह कहा जाय कि उन्मत्त लोगों के प्रति यह वाक्य सार्थक होगा तो यह उचित नहीं है; क्योंकि उन्मत्त पुरुषों को वाक्य के अर्थ का बोध नहीं होगा तथा वाक्य-प्रतिपाद्य अर्थ का अनुष्ठान भी वे नहीं कर पायेंगे। निष्कृष्ट रूप से कहा जाय तो उन्मत्त पुरुष पशुओं की तरह विधि-प्रतिषेध के अधिकारी नहीं हैं। स्पष्ट रूप से तो हमारी श्वास-प्रश्वास में प्रवृत्ति से ही ईश्वर की सृष्टिविषयक प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया में अदृष्ट निमित्त है तथा वह प्रयोजनशून्य है। चेतन के चैतन्य का उपयोग इस श्वास-प्रश्वास क्रिया में होता है, अन्यथा मृत शरीर में भी श्वास-प्रश्वास की प्रवृत्ति की सम्भावना होगी। जो लोग स्वार्थ के लिए अथवा परार्थ के लिए समस्त

कामनाओं की पूर्ति कर अकाम हो गये हैं, ऐसे कृतकृत्य लोगों की प्रवृत्ति लीलामात्र से होती है, उनकी प्रवृत्ति से किसी प्रयोजन के निष्पन्न होने पर भी उसके उद्देश्य से प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म की भी जगत् की सृष्टि में प्रवृत्ति अनुपपन्न नहीं होगी।

सृष्टि दो क्रमों में होती है—1. वेद की सृष्टि तथा 2. वेदातिरिक्त निखिल प्रपंच की सृष्टि। गोस्वामी तुलसीदास जी ने **'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी'** (श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 202 के बाद) यह कहकर वेदात्मक सृष्टि को श्वास की तरह प्रयोजनशून्य तथा आयासरहित बतलाया है। यह निदर्शन है, अन्य सृष्टि को भी ऐसी ही समझना चाहिए। यद्यपि हमें अपनी दृष्टि से सृष्टि की रचना अतिदुष्कर लगती है, तथापि वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिए अनायास-साध्य है। सागर का बन्धन हम लोगों की दृष्टि से असम्भव है; किन्तु हनुमान् आदि वीर वानरों ने पर्वतों के खण्डों से उसे बाँध दिया। लीलामात्र से की गयी सृष्टि का उदाहरण राजा नृग के द्वारा अनायास खेल-खेल में निर्मित महाप्रासाद (बड़े-बड़े महल) तथा प्रमदावन (स्त्रियों के विहार के उपयुक्त उपवन) हैं, जो ईश्वर की अनायास लीलामात्र से की गयी रचना को समझने के लिए निदर्शन हैं। आशय यह है कि यदि एक राजा अनायास अपनी सामर्थ्य से ऐसी विहार-भूमि की सृष्टि कर सकता है, तो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर यदि ऐसी सृष्टि करता है तो इसमें क्या आश्चर्य है। अत्यन्त सुखी व्यक्ति सुखानुभव के कारण हँसता है, दुःखी व्यक्ति रोता है। इन दोनों क्रियाओं का कोई प्रयोजन नहीं होता, अतएव देखने वाला दूसरा व्यक्ति इन क्रियाओं का प्रयोजन न पूछकर कारण पूछता है—क्या हुआ क्यों रो रहे हो? इत्यादि। श्वेताश्वतरोपनिषद् में—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ (6/1)

मन्त्र के द्वारा सृष्टि को सृज्यमान पदार्थों का स्वभाव बतलाया गया, न कि स्रष्टा का स्वभाव। अतः लीला और स्वभाव पक्ष में श्रुति का परस्पर विरोध नहीं है। क्योंकि देव (परमेश्वर) की महिमा से यह ब्रह्मचक्र (ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित सृष्टि-चक्र)

चल रहा है, वही इसके नियन्ता हैं। श्रुति भी **'भीषाऽस्माद् वातः पवते'** (तै.उप. 2/8) इसी के भय से पवन चलता है, इसी के भय से सूर्य उदित होता है, इत्यादि कहकर इसी स्वभाव पक्ष को सूचित कर रही है। लौकिक लीलाओं में कुछ सूक्ष्म प्रयोजनों की सम्भावना व्यक्त की जा सकती है, तो भी ईश्वर की सृष्टिविषयक प्रवृत्ति में कोई प्रयोजन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आप्तकाम प्रभु को कोई कामना नहीं हो सकती।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रयोजन के अभाव में ईश्वर की सृष्टि करने में प्रवृत्ति ही नहीं होगी, तथापि यह युक्त नहीं है; क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, बहु स्यां प्रजायेय, तत्तेजोऽसृजत्' इत्यादि सृष्टिपरक श्रुतियों के द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन किया जा रहा है, जिससे सृष्टि में प्रवृत्ति सिद्ध है तथापि आप्तकाम प्रभु, अपनी किसी कामना की पूर्ति के हेतु सृष्टि का निर्माण कर रहे हैं, यह भी कथन असंगत है। अतः प्रवृत्ति और इच्छाभाव दोनों के प्रमाणित होने पर सृष्टि निष्प्रयोजन ही कही जा सकती है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ईश्वर के द्वारा अनायास रचित यह प्रपंच सत्य है इसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। अतः आचार्यचरण के द्वारा प्रवाह रूप से अविनाशी खेल कहा जाना उचित ही है। सृष्टि के रचित होने से तथा उत्पन्न पदार्थों के अवश्य नष्ट होने से सृष्टि को स्वरूपतः अविनाशी (विनाशरहित) या सर्वदा रहने वाली तो नहीं कहा जा सकता, तथापि प्रवाहनित्यता स्वीकार करके उसकी अविनाशिता को समझा जा सकता है। श्रीचन्द्र प्रभु ने अन्यत्र—

अविनाशी प्रभु अगम अथाह, दीनों सरब विश्व प्रवाह ।
जनम-मरण की चार मझार, बह्यो जात भव सरिता वारि ॥

इस रूप में सृष्टि का वर्णन करते हुए विश्व प्रवाह को सरिता के जल की तरह प्रवाहमय कहा है (द्रष्टव्य–श्रीचन्द्र की दार्शनिक विचारधारा, पृ. 90)। सृष्टि के आविद्यक अर्थात् रचयिता की दृष्टि से मिथ्याभूत होने के कारण ही रचयिता का सृष्टि रचना में क्या प्रयोजन है, यह जिज्ञासा भी समीचीन नहीं है। अविद्या का स्वभाव ही है कि वह प्रयोजन की अपेक्षा किए बिना ही कार्योन्मुख रहती है। द्विचन्द्र ज्ञान, अलातचक्र एवं गन्धर्वनगर आदि का विभ्रम, प्रयोजन की अपेक्षा किए बिना ही होते हैं। इन विभ्रमों का कार्य (अलातचक्र, द्विचन्द्र,

गन्धर्वनगर आदि के ज्ञान के अनन्तर होने वाला भय-कम्प आदि) भी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं करता। चेतन से मिश्रित या सम्बद्ध अविद्या ही जगत् का कारण है, अतः चेतन ही जगत् की उत्पत्ति का कारण कहा जाता है। यह सृष्टि श्रुति परमार्थ विषयक नहीं है। क्योंकि ब्रह्म जगत् का कारण होने पर भी जगत्कारण रूप में आगमों में विवक्षित नहीं है, अपितु जगत् में ब्रह्मात्मभाव ही विवक्षित है। अतः आगमों में सृष्टि के विवक्षित न होने से, सृष्टि सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन इत्यादि शंकाएँ निराधार हो जाती है।

आचार्यचरण, प्रवाहनित्यता की दृष्टि से सृष्टि का सर्वथा विनाश न होने के कारण उसको अविनाशी कह रहे हैं। प्रवाहनित्यता का आशय यही है कि घट-पट आदि सृष्टि के पदार्थ व्यक्तिशः विनाश को तो प्राप्त होते हैं; किन्तु तज्जातीय अन्य घट-पट आदि विद्यमान रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि इन पदार्थों का सर्वथा अभाव हो जाय। यहाँ तक कि प्रलयकाल में भी सभी पदार्थ सूक्ष्मरूप से अविद्यात्मना (कारणभूत अविद्या के रूप में) विद्यमान रहते ही हैं। जब संसार का कारण अविद्या अनादि है, तो संसार भी अनादि है और इस प्रकार उसकी प्रवाहनित्यता सिद्ध होती है। अतएव मीमांसादर्शन के अध्येताओं ने **'नहि कदाचिदनीदृशं जगत्'**–यह संसार कभी भी जिस रूप में दिखाई दे रहा है उससे भिन्न रूप में नहीं रहता है, यह कहते हुए संसार की प्रवाहनित्यता स्वीकार की है। इस प्रकार अनादि प्रवाहमय संसार को अविनाशी शब्द से कहा जा रहा है, अर्थात् अविनाशी सदृश को अविनाशी शब्द से कह रहे हैं।

गुरु शब्द से परब्रह्म अभिहित होता है। जगत् उसका विवर्त है, अतः अविकारी त्रिकालाबाध्य ब्रह्म का विवर्त होने के कारण इसे खेल कहा जा रहा है। सृष्टि को अविनाशी का अविनाशी खेल कहने का आशय यह है कि यह सृष्टि वस्तुतः नहीं है, फिर भी दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले नाना प्रकार के दृश्यों का जैसे आवागमन होता रहता है, उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म में प्रवाह रूप से अविनाशी सृष्टि का यह खेल अनादिकाल से चल रहा है। इस प्रकार सृष्टि की अनादिता का प्रतिपादन होने से बन्ध की अनादिता आयेगी और फिर जीव अपनी प्रवृत्तियों में अपने चिन्तन की दिशा में तथा अपने प्रवर्तन स्रोतों के बारे में विचार करेगा? वह यह सोचेगा कि क्या इस धनसंचय से, इन पुत्र-दारादि में

राग से, हिंसा या द्वेष से हमें मृत्यु से मुक्ति मिल सकती है? हमारे यह बन्धु-बान्धव, जिनको हम प्राणों की तरह प्रिय मान रहे हैं, क्या हमें रोग-शोक या जन्म-मरण के पाश से विमुक्त कर सकते हैं? इस प्रकार शनैः-शनैः वह लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा आदि से निवृत्त होकर अन्यत्र कहीं से भी अपना त्राण न देखता हुआ अन्ततः गुरुशरणागति करने को विवश होता है। तब अकारण करुण गुरुदेव उसे भवसागर से भी पार जाने का वह मार्ग बताते हैं, जो वेदों से भी सामान्य दृष्टि से ज्ञात नहीं होता। उसे तो हम गुरूपदेशरूपी उपनेत्र (चश्मा) लगाकर ही देख पाते हैं। वह बहिर्मुख चक्षुरादि इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। उसे प्राप्त करने के लिए तो इन्द्रिय संयमादि रूप साधना करनी पड़ती है। वह रागगम्य नहीं, वैराग्य की धरोहर है। उसका साधन संग्रह नहीं, त्याग है। यह वैराग्य-विषयक रहस्य सृष्टि से सूचित होता है। इस प्रकार दीर्घकालपर्यन्त विवेकपूर्ण चिन्तन से, प्रसूत दीप्त वैराग्य से युक्त होकर वह इस परमतत्त्व की ओर उन्मुख होता है तथा तत्त्वप्राप्ति हेतु गुरु शरणागति करता है। ऐसे वैराग्य युक्त शरणागत शिष्य को परमकारुणिक गुरुदेव रहस्य स्फोरण पूर्वक अगम-निगम का पन्थ बतलाते हैं।

अगम निगम का पन्थ बताया

अगम निगम का पन्थ बताने का तात्पर्य है—शिष्य को परम्परा से प्राप्त तत्त्वज्ञान के साधनों का उपदेश। सामान्यतः दुर्ज्ञेय होने से अगम्य यह तत्त्वज्ञान गुरु के उपदेश के बिना दुर्ज्ञेय अथवा अगम्य ही है। लोक में तत्त्वज्ञान का तात्पर्य है—तात्त्विक ज्ञान अर्थात् वस्तु का जो वास्तविक स्वरूप है, उसका उसी रूप में अवबोधन। जैसे रजत (चाँदी) का रजत रूप में ज्ञान तत्त्वज्ञान है। रजत से भिन्न शुक्ति का रजत रूप में चाकचिक्यादि सादृश्य के कारण होने वाला ज्ञान अतत्त्वज्ञान है। ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष अनुमिति, उपमान और शब्द या आगम आदि प्रमाण है। इन प्रमाणों से ही तात्त्विक ज्ञान होते हैं। प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति के लिए निगम शब्द वाच्य वेद वाक्य परम प्रमाण है। जो अज्ञात अर्थों का बोधन करते हैं।

सभी सुधी चिन्तक सृष्टि के मूलभूत परमतत्त्व के स्वरूप आदि के विषय में जिज्ञासु होते हैं। परमप्रमाणभूत वेद में परमतत्त्वविषयक प्रातीतिक दृष्टि से

अत्यन्त विरुद्ध वाक्य श्रुत होते हैं। गुरुकृपा एवं उपदेश के बिना इन परस्पर विरुद्ध श्रुतियों की एक वाक्यता सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ वेद में ब्रह्म को एक एवं अद्वितीय रूप में 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा.उप. 6/2/2) इत्यादि श्रुति वाक्य प्रतिपादित करते हैं। इस श्रुति वाक्य से प्रपञ्च या सृष्टि का निषेध प्राप्त होता है। श्रुति में तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय, तत्तेजोऽसृजत् इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक वाक्य भी मिलते हैं। इन वाक्यों का भी प्रामाण्य होने से इनके द्वारा सृष्टि और द्वैत प्रामाणिक होते हैं। अवधेय है कि तात्त्विक वस्तु ही श्रुति तात्पर्य का विषय होती है, अतात्त्विक नहीं। यह भी अवधेय है कि तात्त्विक वस्तु का निषेध नहीं हो सकता। फलतः सृष्टि के श्रुति तात्पर्य का विषय होने पर प्रपञ्च के तात्त्विक होने से उसका निषेध कथमपि सम्भव न होने से निषेधबोधक श्रुतियाँ व्यर्थ होंगी। अतः निषेधबोधक श्रुतियों से यह अनुमित होता है कि सृष्टि वाक्यों का तात्पर्य सृष्टि प्रतिपादन में नहीं है।

सृष्टि वाक्यों से ब्रह्म में ही सृष्टि का प्रतिपादन होता है, तथा निषेध वाक्यों से ब्रह्म में ही उसका आत्यन्तिक निषेध होता है। निषेध वाक्य के बलयुक्त होने से सृष्टि का बाध होने के कारण सृष्टि की मात्र प्रतीयमानता सिद्ध होती है। फलतः निर्विचिकित्स रूप से द्वैतप्रपञ्चरहित अद्वय ब्रह्म को बोधगम्य बनाने में ही सृष्टि वाक्यों का तात्पर्य है, वस्तुतः सृष्टि के बोधन में नहीं।

सृष्टि के जितने भी पदार्थ हैं, उनको हम 'घटोऽस्ति या घटः सन्–घड़ा है' 'पटोऽस्ति या पटः सन्–कपड़ा है' इत्यादि रूप में बोधगम्य करते हैं। इन वाक्यों में सबके साथ सम्बद्ध होने वाला अस्ति या सन् शब्द ब्रह्म का वाचक है, अतः सर्व पदार्थों में अनुस्यूत रूप में ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। सृष्टि न होने पर तो किसी भी रूप में किसी भी पदार्थ का बोध नहीं होगा, क्योंकि उस समय शरीर भी नहीं होगा। अतः यह कहा जा सकता है कि **'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'** (काठ.उप. 2/3/13) अस्ति (है) इस रूप में ही उपलब्धि के योग्य है इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्म का सृष्टि के पदार्थों में सामान्य रूप में भान स्वीकार करने के अनन्तर हम ब्रह्मप्राप्ति की प्रक्रिया का आश्रयण कर घटादिनिरपेक्ष सत्ता के रूप में उसका साक्षात्कार करते हैं, साथ ही घटादि में आभासता का साक्षात्कार होता है।

यदि सृष्टि का उपन्यास किये बिना ही प्रपंच का निषेध ब्रह्म में प्रतिपादित किया जाय, तो ब्रह्म में प्रतिषिद्ध प्रपंच की अन्यत्र (ब्रह्म से भिन्न अधिष्ठान में) अवस्थिति की सम्भावना होगी। जैसे—**'वायौ रूपं नास्ति'**–वायु में रूप नहीं है, इस वाक्य से वायु में रूप का प्रतिषेध होने पर भी अन्यत्र पृथिव्यादि त्रिक (तीन) में अवस्थिति की सम्भावना होती है। इसी आशंका की निवृत्ति सृष्टि-वाक्यों से होती है; क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'–इस श्रुति से ब्रह्मोपादानक सृष्टि का प्रतिपादन होता है। अर्थात् इस वाक्य से यह बोध होता है कि ब्रह्म सृष्टि का उपादानकारण है, जैसे मृत्तिका, घट का उपादानकारण होती है। इस ब्रह्मोपादानकत्व ज्ञान से यह शंका दूर हो जाती है कि प्रपंच की अवस्थिति ब्रह्म से अन्यत्र भी हो सकती है; क्योंकि उपादानकारण को छोड़कर कार्य का अवस्थान अन्यत्र नहीं होता।

इस स्थिति में जब **'नेह नानाऽस्ति किंचन'** (बृ.उप. 4/4/19) **'अतोऽन्यदार्तम्'** (बृ.उप. 3/4/2, 3/5/1) (ब्रह्म से भिन्न सब कुछ विनाशशील है) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रपंच का निषेध प्रतिपादित होता है। अर्थात् श्रुतियाँ जब यह प्रतिपादित करती हैं कि प्रपंच नहीं है तो इस बात का निश्चय हो जाता है कि प्रपंच अपने उपादान ब्रह्म में भी जब नहीं है तो और कहाँ होगा। अतः इसकी केवल रज्जु-सर्प की तरह प्रतीति हो रही है, यह वस्तुतः नहीं है, यह निश्चय होता है। इस प्रकार प्रपंच के तुच्छत्व का अवगम हो जाने पर सकल विभ्रमों का निरास हो जाने से अखण्ड सच्चिदानन्द एकरस ब्रह्म की अनुभूति होती है, अतः सृष्टि-वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में ही परम्परया तात्पर्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि बिना सृष्टिरूप खेल का रहस्य समझे, निगम के प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म को निर्विचिकित्स रूप से नहीं समझा जा सकता। अतः गुरु ने प्रवाह रूप से नित्य प्रतीत होने वाली इस सृष्टि को रचकर इसे समझाने का प्रयास किया।

इस मात्रा के अवलोकन से एक जिज्ञासा मन में उठती है 'गुरु अविनाशी सूक्षम वेद' इस मात्रा में इसी निगम (वेद) को 'वेद' शब्द से अभिहित किया

गया, जबकि प्रकृत में निगम शब्द से कहा जा रहा है। तो प्रकृत में निगम शब्द के प्रयोग में कोई रहस्य है अथवा 'अशोकवनिका न्याय' से स्वेच्छया यहाँ निगम शब्द का प्रयोग है? इस जिज्ञासा पर विचार करने के पूर्व 'निगम' शब्द के व्याकरण सम्मत अर्थ पर विचार करना उचित होगा। नि उपसर्गपूर्वक गम् धातु से 'घ' प्रत्यय करके 'निगम' शब्द बनता है। **हलश्च** (3/3/2) इस पाणिनि सूत्र के अपवाद **'गोचरसंचरवह-व्रजव्यजापणनिगमाश्च'** (3/3/119) सूत्र से घ प्रत्यय होने से **निगच्छन्ति अनेनेति निगमः**—अर्थात् जिससे सम्पूर्णतया ज्ञान प्राप्त किया जा सके, वह 'निगम' शब्द से द्योतित होगा। अतः सम्पूर्ण ज्ञान का साधन वेद, 'निगम' शब्द से भी अभिहित किया जाता है।

अस्तु, निशब्द सम्पूर्णार्थक अव्यय है। गम् धातु गत्यर्थक होने से ज्ञानार्थक मानी जायेगी; क्योंकि सभी गत्यर्थक धातुओं को ज्ञानार्थक स्वीकार किया जाता है। अतएव अवगम, अवगति आदि में गम् धातु से ज्ञान का बोध होता है। ऐसा स्वीकार करने पर निगम शब्द सम्पूर्ण ज्ञानसाधन वेद को कहेगा यदि नि को निश्चयार्थक माना जाय तो संशयरहित निश्चयात्मक ज्ञान का साधन वेद होगा। **'निगमः पूर्वणिग्वेदनिश्चयाध्ववणिक्पथाः'** इस हैमकोश में 'निगम' शब्द को 'वेद' वाचक बताया भी गया है। किन्तु विचार करें तो दोनों प्रकार के 'निगम' शब्द के वाच्यार्थ में कोई मौलिक अन्तर नहीं है; क्योंकि किसी भी वस्तु का सम्पूर्णतया ज्ञान होने पर उसमें संशय का अवसर नहीं रह जाता और वह ज्ञान निश्चयात्मक रूप में पर्यवसन्न हो जाता है। प्रकृत प्रसंग में निश्चयात्मक ज्ञान के साधन के रूप में निगम शब्द के द्वारा वेद का उपस्थापन आवश्यक था; क्योंकि परमेश्वर के द्वारा अनायासकृत इस सृष्टिरूपी खेल को वास्तविक समझकर, वहीं आसक्त रहने के कारण, लोग अद्वितीय ब्रह्म को निर्विचिकित्स (संशय रहित) रूप से नहीं समझ सके, तो (जीवों के) के उद्धार के लिए ही सृष्टि (प्रपञ्च) की रचना की गयी है; क्योंकि भोग द्वारा वासनाक्षय में निमित्त बनकर सृष्टि, ज्ञान एवं भक्ति की प्राप्ति कराकर सार्थक हो सकती है। यह कथन वञ्चना करने वाला सिद्ध होगा। खेल शब्द का प्रयोग कर आचार्यचरण सृष्टि को खेलमात्र या अवास्तविक बता रहे हैं।

'अगम-निगम का पन्थ बताया' इस मात्रा का भी अर्थ अगम शब्द के अन्वय के अनुसार एकाधिक हो सकता है। अगम शब्द का निगम में अन्वय करें

तो अगम्य (अगम) वेद (निगम) के द्वारा प्रतिपाद्य मार्ग बतलाया, यह अर्थ होगा। यदि अगम का अन्वय पन्थ में करें तो निगम के अगम्य पन्थ को बतलाया, यह अर्थ होगा। तात्पर्य यह है कि प्रथम रीति में वेद की दुर्ज्ञेयता तथा द्वितीय रीति में वेदप्रतिपाद्य पन्थ मार्ग की अगम्यता प्रतिपादित होगी। यद्यपि सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि वेद के दुर्ज्ञेय होने पर उसके प्रतिपाद्य अर्थ की दुर्ज्ञेयता सुतरां सिद्ध होती है। अतः दोनों प्रकार से अन्वय की विधा में अर्थ के प्रतिपादन में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता। किन्तु विशेषरूप से विचार करें तो अर्थ का अन्तर स्पष्ट होता है।

वेद की दुर्ज्ञेयता का आशय होगा आचारसम्पन्न, आयातयाम (ऐसा वेद जो प्रभावहीन नहीं हुआ है) वेद के ज्ञाता गुरु से उसकी प्राप्ति की दुर्लभता। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, वेद को श्रुति या अनुश्रव कहते हैं। गुरुमुख से उच्चरित वेद को सुनकर ग्रहण किया जाता है। आचारसम्पन्न गुरु से आचारसम्पन्न शिष्य जब वेद का ग्रहण करता है तो अध्ययनान्त में गुरु के आशीर्वाद से वेद अयातयाम होते हैं, जिससे शिष्य के द्वारा वेदविहित उपायों का अनुष्ठान करने पर फल प्राप्ति अवश्य होती है। अतएव प्रकृत में वेद प्रतिपादित मार्गों की दुर्लभता ही विवक्षित है, श्रुति ने भी इसे ही प्रतिपादित किया, न कि काण्डत्रयात्मक सम्पूर्ण वेद को दुर्लभ कहा गया। कठोपनिषद् में—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥

(अ. 1/वल्ली 3/म. 14)

यह मन्त्र उपलब्ध है। मन्त्र के द्वारा प्रथमतः अनादि अविद्या में प्रसुप्त जीवों को आत्मज्ञानाभिमुख होने को कहा गया है (उत्तिष्ठत); क्योंकि आत्मज्ञान हेतु जीव को सर्वप्रथम दृढ़संकल्प आदि के द्वारा अपनी जागरूकता प्रकट करनी है। उसके बाद 'जाग्रत' यह कहकर श्रुति ने सर्वानर्थबीजभूत घोर अज्ञाननिद्रा का क्षय करने के लिए प्रेरित किया है। किन्तु यह निद्रा क्षय बिना साधन के नहीं होगा। अतः अज्ञान-निद्रा का क्षय किस प्रकार किया जाय? यह बताने हेतु श्रुति ने 'प्राप्य वरान् निबोधत' यह वाक्य उपलब्ध कराते हुए कहा—वेदार्थज्ञानसम्पन्न कृतात्मसाक्षात्कार श्रेष्ठ आचार्य को प्राप्त कर उनके उपदेश से आत्मतत्त्व का

साक्षात्कार करो। किन्तु इस मार्ग में चलने वाले को बहुत सावधान रहना होगा; क्योंकि जैसे क्षुरे की धार के ऊपर चलना कठिन होता है, उसी प्रकार यह ज्ञानमार्ग भी बड़ी कठिनाइयों से भरा है। इस तत्त्वज्ञान लक्षण मार्ग को मेधावी लोग दुर्गम कहते हैं। अतः यह दुःख से सम्पाद्य है। ज्ञानमार्ग की दुर्लभता को स्पष्ट करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (7/3)

हजारों मनुष्यों में कोई एक सत्त्वशुद्धिपूर्वक ज्ञानरूप सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। ज्ञानस्वरूप में व्यवस्थित मुझको पाने का प्रयास करता है। ज्ञान के लिए प्रयत्नशील इन सिद्धों में से कोई एक तत्त्वतः मुझे जान पाता है। इस प्रकार ज्ञान की दुर्लभता को ही आचार्यचरण बताना चाहते हैं; क्योंकि मात्राशास्त्र का अधिकारी निवृत्ति पथ का पथिक ही है। अतः अगम का अन्वय निगम के पन्थ में ही होना चाहिए।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आत्मस्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार (अपने को ब्रह्मरूप में जानना) ही ज्ञान है तथा वह परमात्मारूप गुरु की कृपा के बिना प्राप्त नहीं होता। अतएव आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि गुरु ने अविनाशी खेल रचकर निगम के अगम पन्थ को बतला दिया। अर्थात् आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करा दिया, जिससे निगम के इस अगम्य पन्था को जानने के बाद इस मार्ग के द्वारा मैं जीवसमूह के उद्धार में तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति होने से अमार्गस्थ जीवों को उनके दोषों के कथनपूर्वक मार्गस्थ करने में समर्थ हो सका हूँ। अतएव आत्मा को प्रवचन आदि से अलभ्य तथा परमात्मकृपा से ही लभ्य बतलाते हुए यमराज ने नचिकेता से कहा—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

(काठ.उप. 1/2/23)

यह आत्मा अनेक वेदों को आत्मसात् करने से, ग्रन्थ का अर्थ धारण करने वाली सामर्थ्ययुक्त बुद्धि से, आत्मा का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र निचय से यहाँ तक कि सिद्धोपदेशव्यतिरिक्त अन्य साधन से प्राप्त उपनिषदर्थ ज्ञान से भी

प्राप्त नहीं होता। किन्तु परमात्मा का अनुग्रह जिसके ऊपर होता है, उसी को यह प्राप्त होता है। इस उपनिषद्वाक्य से भी ज्ञान की दुर्लभता एवं ईश्वररूप गुरु की कृपामात्र से साध्यता का लाभ होता है। सृष्टिरूपी खेल में प्रथम शरीरधारी के रूप में ब्रह्मा की सृष्टि होती है और ब्रह्मा से आगे सृष्टि का क्रम चलता है। अतः कल्प के आदि में ब्रह्मा को ही वेद एवं वेदानुगामी मार्गों का बोध होता है। अतएव कहा गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति।

(श्वे.उप. 6/18)

बहु भवन का संकल्प करने के अनन्तर मायोपाधिक ब्रह्म पहले ब्रह्मा जी की सृष्टि करता है तथा उन्हें वेदों को देता है। वेदार्थज्ञानसम्पन्न ब्रह्मा से ही वेद की परम्परा चलती है। इस प्रकार सृष्टिपूर्वक वेदार्थ-ज्ञान की प्राप्ति प्रमाणित होती है। इसी तथ्य को इस मात्रा में स्पष्ट किया गया है।

यदि अविनाशी शब्द को काकाक्षिगोलकन्याय (कौवा के नेत्र दो दिखाई देते हैं; किन्तु काला तारा जिसे नेत्रगोलक कहते हैं, एक ही होता है। वही दोनों आँखों में जाता रहता है। अतः जैसे एक नेत्रगोलक दोनों नेत्रों में जाकर क्रम से देखने का काम करता है, उसी प्रकार जब एक शब्द का दो जगह सम्बन्ध हो तो वहाँ 'काकाक्षिगोलकन्याय' से अन्वय होता है।) से गुरु तथा खेल दोनों से ही सम्बद्ध स्वीकार किया जाय, तो अविनाशी गुरु ने अविनाशी (प्रवाहनित्य) खेल रचकर अगम निगम का पथ बतलाया, यह अर्थ होगा और इस प्रकार अविनाशी ब्रह्मस्वरूप (ब्रह्म के अवतारभूत) गुरु से आचार्यचरण के दीक्षित होने की बात प्रमाणित होगी। इस प्रकार केवल गुरु के साथ अविनाशित्व के अन्वय से जो अनुपपत्तियाँ पूर्व में प्रदर्शित हैं, उनका भी वारण हो जाता है। शुक्ति में रजत की प्रतीति हो या रज्जु में सर्प की, सर्वत्र अधिष्ठान सत्य होता है तथा अध्यस्त रजत आदि मिथ्या होते हैं। अतः प्रकृत मात्रा से आचार्यचरण यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि अविनाशी ब्रह्मरूप गुरु में यह खेलरूपी सृष्टि अध्यस्त है।

अस्तु, खेल के द्वारा अगम निगम का पन्थ बताने का तात्पर्य है, साधन-भूत शरीर के द्वारा ज्ञानप्राप्त्युपायों के अनुष्ठान के द्वारा आत्मप्राप्ति का होना। यतः आत्मप्राप्ति के उपायों के अनुष्ठान के बिना निगम से प्रतिपादित सृष्टि का

मिथ्यात्व तथा ब्रह्म का अद्वितीयत्व नहीं समझा जा सकता। अतः मात्रा-सिद्धान्त के अनुसार यह मानव शरीर मोक्षसाधनों के अनुष्ठान के लिए ही है। केवल मात्राशास्त्र का ही नहीं, भागवतमहापुराण आदि का भी यही मत है। अतएव श्रीमद्भागवत में यह वर्णन है कि ब्रह्मावलोकन में समर्थ बुद्धि वाले मनुष्य की रचना के बाद ब्रह्मा जी को बहुत प्रसन्नता हुई।

तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः।

(11/9/28)

यह श्लोक की अन्तिम पंक्ति है। श्लोकार्थ हेतु सम्पूर्ण वचन पर विचार करें तो स्पष्ट है कि वृक्ष, सरीसृप, मृग, खग, दंश, मत्स्य आदि सत्त्वों की सृष्टि से ब्रह्मा जी को सन्तोष नहीं हुआ; किन्तु जब उन्होंने ब्रह्मदर्शनसमर्थ मनुष्य की सृष्टि की, तो उन्हें मोद प्राप्त हुआ। आशय यह है कि सृष्टिकर्ता ने इसी उद्देश्य से सृष्टि की है कि उसके द्वारा सृष्ट प्राणी अपने उद्धार के लिए प्रयास करें। अतएव श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विवेकशील व्यक्ति को भूलोक में आकर केवल उसी तत्त्व को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जो तत्त्व ऊँचे से ऊँचा ब्रह्मा का पद मिलने पर तथा अधोगति में स्थावरता को प्राप्त होने पर भी कहीं नहीं मिलता, उसे प्राप्त करने के लिए तो मनुष्य शरीर में ही प्रयास करना होता है। विषयसुख की प्राप्ति के लिए यदि हम मानवयोनि में प्रयास करते हैं, तो यह हमारा प्रयास उचित नहीं है। क्योंकि विषयसुख तो पुराकृत कर्मों से बिना प्रयास के भी उसी तरह प्राप्त होते हैं जैसे अनभीष्ट दुःख भी अपने समय पर आ जाता है। (उपर्युक्त अर्थ का प्रतिपादक) भागवत का वचन निम्न है—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥

(1/5/18)

अस्तु, इस प्रतिपादन से यह स्पष्ट होता है कि विवेकी मनुष्य को मोक्षप्राप्ति के हेतुभूत आत्मज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

मोक्षप्राप्ति के साधन, ज्ञान और भक्ति दोनों हो सकते हैं। किन्तु इन दोनों में भी भक्ति सुगम साधन है। इसके अतिरिक्त निष्काम कर्मयोग, नाम-जप तथा योगमार्ग सभी साधनों की चर्चा आगे मात्रा-सूत्रों में है। यह सभी ज्ञान-मार्ग की प्राप्ति पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपेक्षित है। आचार्यचरण मन की शुद्धि को ध्यान में रख रहे है; क्योंकि मन की शुद्धि के बिना ज्ञान के अभाव में जीव का उद्धार नहीं होगा। स्पष्ट है कि मन ही बन्धन का कारण है। **'तस्य हेतुरविद्या'** (यो.सू. 2/24) के भाष्य में महर्षि व्यास ने कहा है—**'तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः'**-चित्त की निवृत्ति (अधिकारसमाप्ति के अनन्तर प्रवृत्ति का रुक जाना) ही मोक्ष है। योगसूत्र 2/18 के भाष्य में—**'बुद्धेरेव पुरुषार्थाऽपरिसमाप्ति-र्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति'** यह कहकर बुद्धि के ही पुरुषार्थ की अपरिसमाप्ति को बन्ध तथा पुरुषार्थ की प्राप्ति (अवसाय-अर्थ स्वरूप के निश्चय) को मोक्ष कहा है, तथापि चित्तनिवृत्ति के साथ ही बुद्धि की भी निवृत्ति होती है; क्योंकि चित्त, अस्मिता और महत्तत्त्व में लीन होने के क्रम से ही प्रधान में लीन होता है। अतः चित्तनिवृत्ति पर ही विचार किया जा रहा है। चित्त की निवृत्ति या साधिकार प्रवृत्ति का न होना मोक्ष को सूचित करता है; क्योंकि भोग एवं अपवर्ग दोनों की प्राप्ति तक चित्त साधिकार रहता है। इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के बाद उसका प्रतिसर्ग या प्रतिप्रसव प्रारम्भ होता है। यह प्रतिप्रसव क्रमिक रूप से चित्त का प्रधान में लय होना है। प्रधान में लय होने के बाद चित्त की निवृत्ति हो जाती है। अतएव योगसूत्र (4/34) में कहा गया है—**कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थ-शून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यम्** (भाष्य)–भोग एवं अपवर्ग को प्राप्त कर लेने वाले गुणों का प्रतिप्रसव ही कैवल्य है। पृ. 129 पर 'तारहु गाँव' मात्रा के विचार प्रसंग में चित्त के उद्धार का वर्णन करते हुए इस सूत्र के सम्बद्ध भाष्यार्थ पर विचार किया गया है। प्रकृत में मोक्ष के सम्बन्ध में 'टीका' के अनुसार विचार प्रस्तुत है। टीका में चित्त का क्रमिक लय प्रदर्शित करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—कार्यकारणात्मक गुणों के (**कार्यकारणात्मकानां गुणानां**) व्युत्थान-निरोध एवं समाधि के संस्कार (**व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्काराः**) मन में लीन हो जाते हैं। इस कथन से

यह स्पष्ट हो जाता है, गुणों में व्युत्थान-समाधि एवं निरोध के संस्कार रहते हैं, हम जानते हैं कि यह संस्कार चित्त (मन) के हैं, अतः यहाँ गुण शब्द से गुणों के कार्यभूत मन को लिया जा रहा है।

मन अपने कारण अस्मिता में लीन होता है (**मनोऽस्मितायाम्**)। अस्मिता अहंकार है, जिससे षोडश गण—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन और पञ्च तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। अतः यह कहा जा रहा है कि मन अपने कारण (उत्पादक) अस्मिता में लीन हो जाता है।

अस्मिता लिङ्गे—अस्मिता, लिङ्ग (महत्तत्त्व) में लीन हो जाती है तथा **लिङ्गमलिङ्गे**—लीन होने वाला लिङ्गपदवाच्य महत्तत्त्व कहीं लीन न होने वाले अलिङ्ग प्रधान में लीन हो जाता है।

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहंकारः (सां.का. 22)—प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। इस सांख्यकारिकोक्त सिद्धान्त के अनुसार, अहंकार (अस्मिता) अपने कारण महत्तत्त्व (लिङ्ग बुद्धि) में लीन हो जाता है तथा महत्तत्त्व कहीं लीन न होने वाले प्रधान (अलिङ्ग प्रकृति) में लीन होता है, जो उसका कारण है।

इस स्थिति में क्या होता है? इसे स्पष्ट करते हुए आगे टीकाकार कहते हैं—**योऽयं गुणानां कार्यकारणात्मकानां प्रतिसर्गस्तत्कैवल्यम्, यं कञ्चित् पुरुषं प्रति प्रधानस्य मोक्षः**। कार्यकारणात्मक गुणों का जो यह प्रतिसर्ग है, वही कैवल्य है; किन्तु यह कैवल्य सबके लिए नहीं है, जिस पुरुष के चित्त का लय हुआ है, उसके प्रति प्रधान का मोक्ष है, अर्थात् उसके लिए प्रधान की प्रवृत्ति नहीं होगी। अन्य पुरुषों के लिए प्रधान की प्रवृत्ति पूर्ववत् होती रहेगी, अर्थात् उनके चित्त की निवृत्ति न होने से उनका बन्धन बना रहेगा। सृष्टि चलती रहेगी। अविनाशी खेल चलता रहेगा और इस प्रकार दृश्य की उपलब्धिरूप भोग करता हुआ जीव (पुरुष) अपवर्ग हेतु प्रयत्नशील होगा।

किन्तु चित्त की यह निवृत्ति प्रयत्ननिष्पाद्य नहीं है; क्योंकि योगसूत्र (2/27) में यह प्रतिपादित है कि प्रज्ञा की चार भूमियां (अवस्था) पुरुष-प्रयत्नसाध्य हैं। यह चार अवस्था सम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था के पूर्व की अवस्था हैं, जो प्रयत्नसाध्य हैं; क्योंकि इस सूत्र में 'तस्य' इस षष्ठ्यन्त

सम्बन्धबोधक तच्छब्द से **'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायाः'** (2/26) में उक्त विवेकख्याति का ही परामर्श होगा। अतः सूत्र के अर्थ को भाष्यकार ने **'तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः'** इस वाक्य से प्रारम्भ किया। सत्त्व (बुद्धि) तथा पुरुष के अन्यता प्रत्यय को विवेक-ख्याति कहते हैं। विप्लव शब्द मिथ्याज्ञान को कहता है। अविप्लवा विवेक-ख्याति मिथ्याज्ञानरहित विवेकख्याति है। मिथ्याज्ञान अविद्या है, जिसकी निवृत्ति विद्या से होती है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति (विवेक-ख्याति) ही विद्या है, जिसे ज्ञान शब्द से **'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'** (यो.सू. 2/28) में कहा गया है।

इस विचार से स्पष्ट है कि विवेक-ख्याति अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की दो अवस्थाएँ—1. अविप्लवा विवेक-ख्याति तथा 2. सविप्लवा ख्याति भेद से स्वीकार की गयी हैं, अन्यथा अविप्लवा विशेषण व्यर्थ होगा, किन्तु इसको स्वीकार कर लेने पर एक जिज्ञासा यह होती है कि विवेक-ख्याति के साथ अविद्या कैसे रहती है तथा कब तक रहती है?

इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह ध्यातव्य होगा कि सम्प्रज्ञात-समाधि वाला योगी ही 'प्रत्युदित-ख्याति' (जिसे प्रकृत पुरुष का विवेक-ज्ञान हो चुका है) कहा जाता है। सम्प्रज्ञात-समाधि योगाङ्ग है तथा अङ्गी योग, असम्प्रज्ञात-समाधि है, जो योगाङ्ग से साध्य या उत्पाद्य है। सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि, अविद्या के क्षीण होने से प्राप्त होती है, इसे **'अथ योगानुशासनम्'** (यो.सू. 1/1) के भाष्य में स्पष्ट किया गया है— **'यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते'**—'जो एकाग्रचित्त में सद्भूत अर्थ को प्रकाशित करता है, क्लेशों को क्षीण करता है, कर्मबन्धन को शिथिल करता है तथा निरोध को अभिमुख करता है, वह सम्प्रज्ञात योग है' इस भाष्योक्त लक्षण में सम्प्रज्ञातसमाधिरूप योग के तीन गुण बताये गये हैं—1. एकाग्रचित्त में सद्भूत अर्थ (आत्मतत्त्व) का साक्षात्कार कराता है, यह साक्षात्कार विद्या (ज्ञान) है, इसके उदित होने पर अविद्यादि क्लेश नहीं रहते, अतः दूसरा गुण बताया गया। 2. अविद्या आदि

क्लेशों को क्षीण करता है तथा कर्मबन्धन (अपूर्व-अदृष्ट) को अपना भोग देने से विरत कर देता है; क्योंकि अविद्या के अभाव में भोग नहीं प्राप्त होते तथा 3. निरोध को अभिमुख करता है; क्योंकि अविद्या आदि क्लेश तथा कर्माशय के निवृत्त हो जाने पर चित्त के भोगरूप प्रयोजन के समाप्त हो जाने से, अपवर्गरूप प्रयोजन ही शेष रहता है, यह अपवर्ग अविप्लवा विवेक-ख्याति से होता है, अतः निरोधरूप योग को सम्प्रज्ञात-समाधि अभिमुख करता है। व्युत्थान-संस्कारों के रहते यह सम्भव नहीं है, यह शंका नहीं करनी चाहिए। यतः समाधिजन्य संस्कार व्युत्थान-संस्काराशय को बाँध लेते हैं। व्युत्थान-संस्कार के अभिभव से उससे होने वाले प्रत्यय (ज्ञान) नहीं होते तथा प्रत्ययनिरोध होने पर समाधि (असम्प्रज्ञात-समाधि) होती है। इस सम्बन्ध में यह अवधेय है कि अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करता है तथा कर्मबन्धन को शिथिल करता है, (**क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति**)। इन दो तथ्यों से स्पष्ट होता है कि अविद्या आदि पंच क्लेश नष्ट होने के पहले क्षीण होते हैं। अविद्या क्षीण होती है, तो कर्मबन्धन शिथिल होते हैं। अविद्यादि क्लेश तथा कर्मबन्धनों की पूर्णतः निवृत्ति तो विदेह मुक्ति में ही होती है। असम्प्रज्ञात-समाधि प्राप्त होने पर भी संस्काररूप से अविद्या रहती है।

अस्तु, इस भाष्य से स्पष्ट है कि अविद्यादि क्लेशों के सर्वथा निवृत्त हो जाने पर सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है। सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति तक के काल में सप्तधा प्रान्त भूमि प्रज्ञा का वर्णन है। चार प्रकार के योगी होते हैं[70]—1. प्राथमकल्पिक, जिसने परचित्त ज्ञान आदि की सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है। 2. मधुभूमिक, जिसे ऋतम्भरा (ऐसी प्रज्ञा-ज्ञान जिसका विषय सत्य होता है) प्रज्ञा प्राप्त हो गयी है, जो भूतों तथा इन्द्रियों को जीतने की इच्छा रखता है। 3. प्रज्ञाज्योति, जो भूत तथा इन्द्रियगण पर विजय प्राप्त कर चुका है। तथा 4. अतिक्रान्तभावनीय, जो जीवन्मुक्त होता है तथा जिसका केवल चित्त-प्रतिसर्ग ही प्रयोजन होता है। इसे जीवन्मुक्त कहते हैं। इसी जीवन्मुक्त की सप्तविधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा होती है। यो.सू. 3/51 के भाष्य में **'सप्तविधाऽस्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा'** इसकी प्रान्तभूमि-प्रज्ञा सात प्रकार की होती है—यह उल्लेख मिलता है। प्रान्तभूमि-प्रज्ञा का अर्थ है—वह प्रज्ञा है जिसके

विषय से भिन्न कुछ भी हेय आदि रूप में ज्ञातव्य नहीं रह जाता, ऐसे योगी ऋतम्भराप्रज्ञा को पहले से ही प्राप्त हैं। अतः उन्हें जो कुछ दिखाई देता है, सत्य ही होता है। योगसूत्र 2/27 के अनुसार विवेकी साधक की सप्तविधा प्रज्ञा इस प्रकार होती है—

1. **परिज्ञातं हेयं नाऽस्य पुनः परिज्ञेयमस्ति**—हेय (जिनका त्याग होना है) का ज्ञान हो चुका है। अब हेय रूप में कुछ भी परिज्ञेय नहीं है, यह ज्ञान होता है—हेय, अनागत (जो अभी नहीं आया है) दुख हैं, उनका पूर्णतया ज्ञान योगी को हो जाता है। हेय के विषय में अब इसे कुछ भी जानना नहीं रह जाता।

2. द्वितीय प्रज्ञा हेय हेतुओं के विषय में होती है। प्रधान के कार्यभूत महत्तत्त्व आदि हेय हैं तथा उनका कारण प्रमुख रूप से प्रकृति-पुरुष का संयोग है। यह साधारण कारण है, अन्य कारणों में 'अदृष्ट' तथा अपनी-अपनी प्रकृति को ले सकते हैं। जैसे—अहंकार का महत्तत्त्व कारण है तथा अहंकार, एकादशेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रा का कारण (प्रकृति) भी है। अविद्या भी प्रमुख कारण है, इन हेतुओं को योगी अशेषतः क्षीण कर देता है। अर्थात् अविद्यादि क्लेश पूर्णतः क्षीण हो गये, यह ज्ञान उसको होता है, अतः कोई भी हेय हेतु ऐसा नहीं होता, जिसको उसे क्षीण करना है। यह हेय हेतु विषयक प्रज्ञा भी प्रान्तभूमि प्रज्ञा होती है।

3. तीसरी प्रज्ञा **'बुद्धिपुरुषयोरात्यन्तिकः संयोगाभावो हानम्'** (2/25) के भाष्य में वर्णित हान-त्याग विषयक होती है। योगी को सम्प्रज्ञातावस्था में ही निरोध-समाधि-साध्य (असम्प्रज्ञात-समाधि-साध्य) हान का ज्ञान होता है। उसे यह दृढ़ बोध हो जाता है कि इससे अधिक कुछ भी निश्चेतव्य नहीं है। अतः यह भी हान-ज्ञान प्रान्त-भूमि-प्रज्ञा है।

4. चौथी प्रज्ञा हानोपायविषयक (विवेक ख्याति विषयक) होती है। योगी को यह बोध होता है कि हेय दुःखों के हेतु अविद्यादि क्लेशों के कारणभूत गुण पुरुष संयोग के हान (त्याग) के लिए विवेकख्यातिरूप उपाय को मैंने निष्पादित कर लिया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हानोपाय नहीं है।

स्पष्ट है कि सम्प्रज्ञातावस्था में ही यह चारों प्रज्ञा हो रही है; किन्तु प्रयत्नपूर्वक चतुर्थी प्रज्ञा को जब योगी प्राप्त कर लेता है, तो अविद्यादि क्लेशों

के क्षीण हो जाने से उसे निरोध-समाधि प्राप्त होती है। यह योगी ऊपर वर्णित अतिक्रान्त-भावनीय अवस्था का होता है तथा अब उसके चित्त के प्रतिसर्ग के अतिरिक्त कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। वाचस्पति मिश्र ने यो.सू. 3/51 की व्याख्या में **'तस्य हि भगवतो जीवन्मुक्तस्य चरमदेहस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः'** ऐसा कहते हुए उस योगी को सबसे अन्तिम देह वाला बतलाया है, तथा यह कहा है कि उसके चित्त का प्रतिसर्ग या कारण में लयरूप एक प्रयोजन शेष रहता है। इस वाक्य में 'चरमदेहस्य' इस पद का प्रयोग होने से यह सूचना मिलती है कि देहपात के साथ ही उसके चित्त का भी कारण में लय होगा। शरीर रहते चित्त का प्रतिसर्ग नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसी स्थिति में चित्त के बिना शरीर कोई व्यवहार नहीं कर पायेगा। भाष्यकार ने इन चार विमुक्तियों को प्रज्ञा की विमुक्ति (प्रज्ञा से प्राप्त होने वाली विमुक्ति) कहा है। आगे की तीन विमुक्तियों को चित्त-विमुक्ति कहा है।

5. ऊपर वर्णित चार अवस्थाओं के बाद तीन प्रज्ञा की ऐसी भूमियाँ हैं, जो अप्रयास साध्य हैं। इनमें प्रथम जो सप्तधा प्रज्ञा की दृष्टि से 5वीं है, उसे भाष्यकार ने 'चरिताधिकारा बुद्धिः' कहकर, बुद्धि ने अपने कार्य भोग एवं अपवर्ग को पूर्ण कर लिया है, इस रूप में व्यक्त किया है।

6. इस प्रकार की दूसरी प्रज्ञा, जिसे 6वीं प्रज्ञा कहेंगे, उसे भाष्यकार ने—**'गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनाऽस्तं गच्छन्ति। न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति'** इन शब्दों में व्यक्त किया है।

गुण (चित्त) उसी प्रकार आश्रयरहित हो गये हैं, जैसे गिरिशिखर (पर्वत की चोटी) से गिरे पत्थर आश्रयरहित हो जाते हैं। अब वे (गुण) अपने कारण में प्रलीन होने की ओर उन्मुख हैं, अर्थात् चित्त अपने कारण अस्मिता में लीन होकर बुद्धि (महत्तत्त्व) में लीन होने को उद्यत हैं तथा उसी के साथ (बुद्धि के साथ) अस्त हो जायेंगे (प्रकृति में लीन हो जायेंगे)। लीन होने के बाद इनकी पुनः उत्पत्ति की सम्भावना नहीं है।

7. सातवीं अवस्था भाष्य में इस प्रकार वर्णित है—**'एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति'**–इस

अवस्था में गुणसम्बन्धरहित पुरुष अमल (मलरहित) तथा ज्योतिस्वरूप ही होता है, ऐसी प्रज्ञा होती है। प्रज्ञा के समय तो चित्त रहता है, बाद में शरीरपात के साथ चित्त का लय होने पर भी पुरुष को 'मुक्तः कुशलः' ही कहा जाता है; क्योंकि गुणों का शरीर से सम्बन्ध नहीं रह जाता। **'प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वात्'** यह भाष्यवाक्य बाद में होने वाले चित्त-प्रतिप्रसव को सूचित करता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि योगाङ्गों के अनुष्ठान की क्लिष्टता, परवैराग्यसाध्य (पर वैराग्य से होने वाली) निरोधसमाधि की दुर्लभता तथा व्याधि, स्त्यान (चित्त की अकर्मण्यता), संशय, प्रमाद (समाधि साधनों की भावना का अभाव), आलस्य (काय तथा चित्त दोनों का गुरुता के कारण योगसाधनों में प्रवृत्त न होना), अविरति (चित्त में विषय संयोग से होने वाली तीव्र विषयेप्सा), भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व (मधुमती आदि समाधि भूमियों की प्राप्ति का न होना) तथा अनवस्थितत्व (**लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा**—लब्धभूमि में चित्त का प्रतिष्ठित न होना) आदि चित्तविक्षेपों को दूर करने के लिए, समाधि-भावना के लिए तथा अविद्या आदि भावी क्लेशों को क्षीण (तनूकृत) करने के लिए; तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोग की अवश्यकर्तव्यता अपेक्षित है।

'सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः'—'सभी सिद्धियों का मैं कारण और पालक दोनों हूँ' (श्रीमद्भाग. 11/15/35)—इस भागवत-वचन के अनुसार ईश्वरानुग्रह के बिना योगी के प्रयासों की सफलता का अभाव होने से योग मार्ग की दुरूहता तथा सापेक्षता दोनों ही स्पष्ट हो जाती है। दुरारोह होने पर भी यदि स्वतन्त्रं या भक्तिनिरपेक्ष मार्ग होता है, तो कल्याण के लिए उसका आश्रयण करने में साधक की निःशङ्क प्रवृत्ति हो सकती है? संस्कारानुसार होने वाली रुचि यदि प्रवृत्ति करा भी दे तो भी गुरुभक्ति, ईश्वरभक्ति अथवा गुरुरूप ईश्वर की भक्ति के बिना योग की सिद्धि न होने से योगमार्ग की भक्ति की अपेक्षा अवरता (निकृष्ट होना) सिद्ध होता है। अतएव योग को स्वतन्त्र मार्ग न बताकर भक्ति एवं ज्ञानमार्ग के पथिक का सहायक ही मानना उचित समझकर शास्त्रकारों ने इसे स्वतन्त्र मार्ग नहीं कहा तथापि ज्ञानमार्ग का अवश्य अपेक्षणीय अंश होने से सर्वथा ग्राह्य कहा है।

अतः यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि योग जब स्वतन्त्र साधन नहीं है, तो उसके बारे में विचार ही क्यों किया जा रहा है; क्योंकि आत्मसाक्षात्कार करने में योग के महत्त्व को अस्वीकार करने के अयोग्य समझकर ही महर्षियों ने योगमार्ग के अनुष्ठान पर बल दिया है, श्रीमद्भगवद्गीता में भी योग की महिमा को स्वीकार किया गया है। अस्तु, मात्राशास्त्र के सन्दर्भ में देखें तो योगमार्ग के ऊपर विचार करने का कारण स्पष्ट है। आचार्यचरण, योगमार्ग का वर्णन मात्रा में प्रयोजन के साथ करते हैं। 'इडा में आवे, पिंगला में धावे, सुषमन के घर सहज समावे' तथा 'त्रैगुण चकमक अग्निमथि पाई' 'मन को मारि करो असवारी' आदि मात्राएँ इसमें प्रमाण हैं। दूसरा कारण जो सबसे महत्त्वपूर्ण है, जिसके कारण योग वैदिक एवं स्मार्त वचनों तथा गीता आदि में स्थान पा सका, उसे मन को निर्वासन करने की सर्वोत्तम विधि का होना कह सकते हैं। मन से ही बन्धन और मोक्ष का सम्बन्ध सभी स्वीकार करते हैं। सवासन मन बन्धन का कारण है, निर्वासन मन मोक्ष का कारण है, यह स्वीकार करने में किसी भी दार्शनिक का मतभेद नहीं है। योगशास्त्र में विस्तार से वासनाक्षय के उपायों पर विचार है तथा चित्तनाश को ही मोक्ष मान लेने वाला योग उसके नाशक निरोधसमाधि की प्राप्ति हेतु विस्तार से उपाय बतलाता है। अतः बन्ध एवं मोक्ष की चर्चा से योग को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

ज्ञानमार्ग एवं भक्ति

भक्ति एवं ज्ञान का सम्बन्ध भी चित्त (मन) से ही है। मन की शुद्धि का उपाय साधन-भक्ति है। ज्ञानमार्ग में भी मन की शुद्धि हेतु उपायानुष्ठान किया जाता है। प्रकृत में पहले भक्ति की उपादेयता पर विचार करते हैं; क्योंकि यह ज्ञानमार्ग में भी आश्रयणीय है। यह कहना अधिक उपयुक्त है कि यह मोक्ष का स्वतन्त्र एवं सुकर साधन है। इस मार्ग का महत्त्व इसलिए अधिक है; क्योंकि यह मन की शुद्धि के लिए विहित तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, सत्य, शौच (पवित्रता), त्याग, यम, नियम आदि सभी साधनों से श्रेष्ठ साधन है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में इसे—

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन, नीहारमिव भास्करः ॥

(6/1/15)

इस वचन के द्वारा सभी पापक्षय-साधनों का परिनिष्ठित विकल्प बतलाते हुए भी—

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥

(6/1/16)

में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भक्ति को मनःशुद्धिकर साधनों का विकल्प नहीं समझना चाहिए; क्योंकि अन्य साधनों के अनुष्ठान से मन की वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी शुद्धि कृष्ण में मन आदि इन्द्रियों को समर्पणपूर्वक भगवदर्पित मन वाले उनके भक्तों की सेवा से होती है। यह वचन श्रीकृष्ण में मन आदि इन्द्रियों का समर्पण करके भगवद्भक्त की सेवा करने का विधान करता है। यह भी बतलाता है कि इससे जैसी पवित्रता होती है, वैसी किसी अन्य साधन से नहीं होती। यहाँ 'पूयेत' शब्द का प्रयोग है, जिसका आशय यह कहा जा सकता है, मल निकलने से शुद्धि तो होती है; किन्तु पवित्रता का आना वैशिष्ट्य का सूचक है। मन जो वासना का आशय था, कृष्ण में समर्पित होने से उनकी विहारभूमि बन गया और कृष्ण के सम्पर्क से पावन से भी पावन हो गया। कृष्ण में मन के समर्पण के बाद भगवद्भक्त (तत्पुरुष) की सेवा का क्या प्रयोजन है? यह नहीं सोचना चाहिए। कृष्ण में मन का समर्पण होने पर भी अस्थिर चित्त में अहंकार ममकार का उदय न हो, सर्वदा उनका अनुत्पत्ति लक्षण अभाव बना रहे, एतदर्थ भगवद्भक्त की सेवा अपेक्षित है। भगवद्भक्त की सेवा का क्या महत्त्व है? इसे भगवान् ही जानते हैं, अतएव उन्होंने—

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥

(श्रीमद्भाग. 11/19/21)

भगवान् की परिचर्या (सेवा, उपकरणों को शुद्ध करना, आदि में आदर का भाव, सभी अङ्गों से अभिवादन, हमारे भक्त की हमसे अधिक पूजा करना, सभी प्राणियों में मेरी बुद्धि (भगवद् बुद्धि) रखना, सबको मेरे रूप में देखना—यह कहते हुए यह विधान किया कि हमारे भक्त की हमसे अधिक पूजा की जाय।

श्रीकृष्ण में मन का समर्पण कैसे होगा, विषयों का स्मरण या विक्षेप कैसे दूर होगा? इसके लिए योगशास्त्र यम-नियमादि योगाङ्गों का उपदेश करता है। भगवत्स्नेहरसिकभक्तजन नाम-जप, संकीर्तन आदि वाग्व्यापारों का तथा तीर्थाभिगमन (तीर्थों में जाना) भगवद्गृहमार्जन (भगवान् के मन्दिर की शुद्धि करना) विहित कर्मानुष्ठान आदि कायव्यापारों का उपदेश करते हैं।

अव्यक्त में आसक्त चित्त वाला साधक गुरुभक्ति के साथ-साथ उपासना भी करता है; क्योंकि भगवान् की निष्काम भक्ति से ही इन्द्रिय निग्रहपूर्वक ज्ञान-निष्ठा-प्राप्ति सम्भव है। यह तथ्य गीतावचन 2/61 **'तानि सर्वाणि संयम्य.....'** इत्यादि में स्पष्ट किया गया है। इसको स्पष्ट करने के लिए 'ज्ञानमार्ग' की दृष्टि को भक्ति समन्वित करने हेतु श्रवण-कीर्तन आदि भक्ति के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत है। अद्वैती आचार्य गौड़ ब्रह्मानन्द स्वामी ने सिद्धान्तबिन्दु की टीका न्यायरत्नावली में श्रवणादि भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करने हेतु कहा है कि—

1. **श्रवणम्—विष्णोस्सगुणस्य निर्गुणस्य वा शब्देन ज्ञानम्**-विष्णु के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप का शब्द से ज्ञान करना ही श्रवण है। अतः **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै.उप., ब्र.व., अनु.-1) इत्यादि स्वरूपबोधक वाक्यों से ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान, श्रवणरूप प्रथम भक्ति है। विष्णुप्रतिपादक शब्द का श्रोत्र से ग्रहण भी श्रवण है।

2. **कीर्तनम्—सगुणस्य निर्गुणस्य वा बोधकस्य शब्द-स्योच्चारणम्**-सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप के बोधक शब्द का उच्चारण करना। ज्ञानमार्गी साधक प्रणव का उच्चारण अथवा महावाक्य की असकृद् (बार-बार) आवृत्ति करता है। प्रणवोच्चारण को ग्रन्थों में भगवत्प्रीतिकर माना गया है।

3. **स्मरणम्**—प्रायः श्रवण एवं कीर्तन के अधिक आयास एवं समवाय (समूह) आदि साध्य होने से श्रवण कीर्तन के अनन्तर विष्णु के स्वरूप का अथवा विष्णु के प्रतिपादक शब्द का स्मरण विहित है; क्योंकि पूर्व में श्रवणकाल में अनुभूति हो चुकी है। विष्णु का शब्द से भिन्न करण (साधन) से होने वाला ज्ञान ही स्मरण कहलायेगा; क्योंकि शब्द से होने वाला ज्ञान तो श्रवण है। अतः

मन में अनुमिति से होने वाला ज्ञान स्मरण कहलायेगा। जैसे भगवान् के अशरण शरण स्वरूप का अनुमान गज के उद्धार एवं द्रौपदी के चीर विस्तार से होता है।

4. **पादसेवनम्**—चतुर्थ भक्ति है पादसेवन या परिचर्या। दोनों एकार्थक हैं। इसमें विष्णु की प्रतिमा का पादसम्मर्दन, गृहलेपन आदि सेवाएँ आती हैं। किन्तु '**अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः**'–ज्ञानी हो या अज्ञानी ब्राह्मण मेरा ही शरीर है। तथा–**मद्भक्तपूजाभ्यधिका**–(श्रीमद्भाग. 11/9/21) 'मेरे भक्त की पूजा मुझसे अधिक करनी चाहिए' इत्यादि वचनों के अनुसार ब्राह्मणरूप भगवद्भक्त की अथवा किसी भी भगवद्भक्त की पादसेवा तथा तत्सम्बन्धी कर्म आदि भी इससे गृहीत होंगे। इस भक्ति का अनुष्ठान भी निर्गुण भक्त करता रहेगा।

5. **अर्चनम्—श्रवणादिभिन्नो विष्णुप्रीतिहेतुव्यापारः**–श्रवण आदि से भिन्न विष्णु-प्रीति-हेतु व्यापार (क्रिया) अर्चन शब्द से गृहीत है। यह व्यापक भक्ति है, जिसमें परोपकार, प्राणियों पर दया, शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान आदि क्रोडीकृत होते हैं। इन कर्मों से भगवान् को प्रसन्नता होती है। अतएव विहित कर्मानुष्ठान से ही जनक आदि को सिद्धि मिली। '**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**' (3/20) यह गीता में भी सुना जाता है।

6. **वन्दनम्—पूजाबहिर्भूतनमस्कारः प्रतिमादौ**—पूजा के अङ्ग के रूप में प्रतिमा तथा भगवद्भक्त आदि को जो नमस्कार किया जाता है, उससे अलग नमस्कार वन्दन है। इसे ज्ञानमार्गी साधक भी यथावसर करता है।

7. **दास्यम्—दास्यं दासभावः सेवा, विष्णुप्रीतिफलकं सर्वकर्मानुष्ठानम्**। हमारे सभी कर्मों से भगवान् प्रसन्न हों, उनमें प्रीति उत्पन्न हो, इस भावना से कर्मों का अनुष्ठान।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (9/27)

इस गीता-वाक्य में सभी कर्मों का समर्पण भगवान् में होना चाहिए, यह स्पष्ट किया गया है। दास्य-भक्ति इसी कर्मसमर्पण का विधान करती है। प्राणी एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रहता, अतः सभी कर्मों का समर्पण करने वाला सर्वदा ईश्वर की सार्वभौम सत्ता का अवगम करता है।

यह दास्य-भक्ति तीन प्रकार की होती है; क्योंकि ईश्वर में कर्म का समर्पण 1. पापक्षय हेतु 2. भगवत्प्रीति हेतु तथा 3. बिना किसी उद्देश्य के कर्तव्यबुद्धि से तीन प्रकार का होता है। यह तीनों प्रकार का समर्पण सात्त्विकभाव का समर्पण है; किन्तु उसमें तारतम्य स्वीकार किया जाता है। प्रथम कोटि का समर्पक अपकृष्ट सात्त्विक है, द्वितीय मध्यम तथा तृतीय उत्तम सात्त्विक है।

माता-पिता-गुरु आदि की विष्णु बुद्धि से (विष्णु मानकर) दास की तरह सेवा करना भी दास्य-भक्ति है। (**मातापित्रादीनां विष्णुबुद्ध्या दासवत् शुश्रूषणमपि दास्यमिति बोध्यम्**–सिद्धान्तबिन्दु न्यायरत्नावली–अष्टम श्लोक, पृ. 145) इस भक्ति का अनुष्ठान, ज्ञानमार्ग का पथिक आसानी से कर सकता है।

8. **सख्यभक्तिः**—प्रेम विशेषादिरूप है। यथा सख्यौ तथा विष्णौ–जैसे मित्र के प्रति व्यवहार तथा भाव आदि होते हैं, उस प्रकार का व्यवहार विष्णु के प्रति करना–यही सख्य-भक्ति का मूल तत्त्व है।

आशय यह है कि जैसे उपादेय (अच्छी चीज) भक्ष्य आदि के प्राप्त होने पर उसे प्रेमपूर्वक मित्र को निवेदित किया जाता है, उसी प्रकार विष्णु को निवेदित करना चाहिए।

जैसे मित्र की निन्दा सहन नहीं होती, उसी प्रकार विष्णु की निन्दा, जिसे दूसरे कर रहे हैं उसका सहन न होना। जैसे मित्र के कर्म को अपना कर्म मानकर उसे पूरा किया जाता है, उसी प्रकार प्रभु के कर्म को करना चाहिए।

जैसे यह मेरा अभीष्ट साधन करेगा ही, इस प्रकार का विश्वास मित्र के प्रति होता है, ऐसा ही विश्वास विष्णु में होना चाहिए। यह सब सख्य भक्ति है।

9. **आत्मनिवेदन**—अपना निवेदन है। जैसे विक्रय के पश्चात् गौ आदि के योगक्षेम की चिन्ता विक्रेता को नहीं होती, उसी प्रकार आत्मनिवेदन के बाद भक्त अपने योगक्षेम (अपूर्व वस्तु को प्राप्त करना, प्राप्त वस्तुओं का रक्षण करना) की चिन्ता नहीं करता। किन्तु सर्वदा भगवान् का ही चिन्तन करता है।

आचार्य गौड़ ब्रह्मानन्द ने **'विष्णुस्वरूपे सत्यज्ञानानन्दात्मके असङ्गसाक्षिरूपे स्वाभेदज्ञानमपि आत्मनिवेदनं बोध्यम्'** ऐसा कहते हुए

ज्ञानमार्गी साधकों के लिए अभेदभावना को भी आत्मनिवेदन बतलाया है, जिसमें स्वाभाविक रूप से भगवत्स्वरूप की भावना होती है।

अस्तु, भक्ति के इन स्वरूपों पर विचार करें तो स्पष्ट है कि सगुण की उपासना करने वाले भक्त हों या निर्गुण मार्ग के अनुगामी साधक, भक्ति का आश्रयण किये बिना उन्हें ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में हम यह कहें तो अधिक उपयुक्त होगा कि भक्ति की विधाएँ इतनी व्यापक हैं कि कोई भी साधक अपने नैष्ठिक जीवन में उनका परित्याग नहीं कर सकता, अतः भक्ति ज्ञानप्राप्ति के लिए अनिवार्यतया आश्रयणीय है। आचार्यचरण जानते हैं कि सृष्टिरूपी अविनाशी खेल का रहस्य समझना तथा सृष्टि के द्वारा निगम के अगम्य पन्था का ज्ञान प्राप्त करना मर्यादित बाह्याचार तथा क्लिष्ट मनोनिग्रह के बिना सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने यति के वेश, आचार तथा दैनन्दिन प्रयोग की वस्तुओं का भी बड़ी सूक्ष्मता से उल्लेख किया है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि मात्राशास्त्र निवृत्तिमार्ग के पथिकों के लिए कर्तव्य का उपदेश करता है। निवृत्तिमार्ग के पथिक दो प्रकार के हो सकते हैं—1. ऐसे साधक जिन्होंने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से ही 'प्रव्रज्या' लेकर श्रेयप्राप्ति का प्रयास प्रारम्भ कर दिया है। 2. दूसरे प्रकार के ऐसे साधक हैं जो गृहस्थाश्रम में ही रहकर श्रेयप्राप्ति हेतु प्रयास कर रहे हैं। प्रथम कोटि के साधकों के लिए वेश आदि का विधान किया गया है, गृहस्थों के लिए यह वेश नहीं होगा; किन्तु आचार तो वही होगा। किसको क्या करना चाहिए? यह उपदेश आचार्य से ही प्राप्त होता है। अतः भगवान् श्रीचन्द्र आगे अनुष्ठेय नियमों का वर्णन करते हैं। वर्णन का माध्यम बनता है यतिओं का बाह्यवेष सम्बन्धी प्रश्न। यतिगण, बालयति से यह प्रश्न करते हैं कि आप अन्य सिद्धों की तरह गुदड़ी, टोपी, कमरबन्ध (आड़बन्ध) और लंगोटी क्यों नहीं धारण करते?

प्रश्न का आशय यह है कि यति परम्परा में यह आचार प्रचलित है कि शीत एवं आतप से त्राण के लिए गोदड़ी का परिग्रह किया जाता है। एक बार परिगृहीत यह गोदड़ी प्रायः बदली नहीं जाती, जीर्णता की स्थिति में लोक से त्यक्त अनुपयोगी वस्त्रों के योजन (जोड़ने) से उसकी सच्छिद्रता को दूर कर उसकी शीतातप-निवारण क्षमता का परिरक्षण किया जाता है। उसके रक्षण हेतु सन्त को

विशेष प्रयास नहीं करना होता। क्योंकि उसके जराजीर्ण कलेवर को देखकर कोई भी व्यक्ति स्तेयादि के द्वारा उसे प्राप्त नहीं करना चाहता और इस प्रकार वह सर्वदा दैवरक्षित रहती है। अतः मन गुदड़ी में व्यापृत होकर ध्यानमार्ग से हटता नहीं।

ध्यान के लिए यह आवश्यक है कि साधक कामनारहित और परिग्रहरहित हो अर्थात् आवश्यकता से अधिक वस्तु को अपने पास न रखता हो, अतएव भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ (6/10)

मन, इन्द्रिय सहित शरीर को अपने वश में रखने वाला योगी आशारहित और संग्रहरहित होकर एकान्तस्थान में निरन्तर अपने को योगयुक्त करे; किन्तु जमीन पर बैठकर साधना का निषेध है, इसीलिए गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने आसन का वर्णन किया। अतः योगी, गोदड़ी या कन्था को आसन बना सकता है। गोदड़ी से शरीर के ढँके होने पर ठंड से भी बचा जा सकता है। गोदड़ी से मुख सहित सम्पूर्ण शरीर को ढँक कर भजन करने की परम्परा है। अतः गोदड़ी की चर्चा सबसे पहले की जा रही है। केवल उदासीन परम्परा में ही नहीं नाथ परम्परा में भी 'गोदड़ी' का महत्त्व हमें गोरखबानी से ज्ञात होता है।

गूदड़ी जुग च्यारि तै आई,
गूदड़ी सिध साधिकां चलाई।
गूदड़ी मैं अतीत का बासा,
भणंत गोरषनाथ मछिन्द्र का दासा॥

(सबदी 198, गो.बानी, पृ. 86)

गूदड़ी चारों युगों से आई है, अर्थात् सभी युगों में संत-परम्परा में गूदड़ी रखने का प्रचलन रहा है। गूदड़ी ने सिद्धों और साधकों की परम्परा को चलाया है। इस कथन से यह स्पष्ट किया जा रहा है कि गूदड़ी को धारण करके बहुत साधक सिद्ध हो गये तथा उन्होंने स्वयं गूदड़ी को अन्य साधकों को देकर उन्हें सिद्ध बनाया। इस प्रकार सिद्धों एवं साधकों की परम्परा गूदड़ी से चलती देखी जा रही है।

गूदड़ी की तीसरी विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि गूदड़ी में अतीत का वास है। 'अतीत' शब्द ब्रह्म का वाचक है, जिसको सिद्धि-**'अत्येति इति अतीतः'** जो सबका अतिक्रमण या अभिभव करता है, वह अतीत है, इस व्युत्पत्ति में होती है। गूदड़ी में अतीत-ब्रह्म का वास है, यह कहने का आशय है कि गूदड़ी से साधक को ब्रह्म-प्राप्ति अवश्य होती है, यह अतीत में देखा जा चुका है। अतः वर्तमान में भी गूदड़ी में ब्रह्मविद रहते हैं, यह समझना चाहिए। अतीत के वास का यह भी अर्थ कर सकते हैं, गूदड़ी से अतीत अर्थात् ब्रह्मस्वरूप गुरु आदि पूर्व महापुरुष, स्मृति से सम्बद्ध है। अतः उसको साथ रखने पर साधक, अवहित होकर साधना में प्रवृत्त होता है।

गूदड़ी गुरु से शिष्य को प्राप्त होती है। ज्ञान को श्रेष्ठ गुरु बताने हेतु सतगुरु गोरखनाथ कहते हैं—

ग्यांन सरीषा गुरू न मिलिया चित्त सरीषा चेला।
मन सरीषा मेलू न मिलिया तीथैं गोरष फिरै अकेला ॥

(सबदी 190, गो.बानी, पृ. 84)

ज्ञान के समान कोई गुरु नहीं है, चित्त के समान चेला (शिष्य) नहीं है, मन के समान कोई मेल-मिलाप वाला साथी नहीं है। अतः ज्ञान, चित्त और मन में ही गुरु, शिष्य और साथी के अभाव को पूरित कर, गोरखनाथ अकेले ही भ्रमण करते हैं।

ज्ञान जिसकी चर्चा गुरुरूप में की गयी है, वह व्यवहार एवं साधना आदि के लिए अपेक्षित विवेक है, जिसे हम लक्ष्य का विविक्त एवं स्पष्ट परोक्ष ज्ञान, लक्ष्य के साधनों का ज्ञान, साधना में बाधक तत्त्वों का ज्ञान उनसे बचने के उपाय आदि का ज्ञान इत्यादि रूपों में परिगणित कर सकते हैं। अतएव 'ज्ञान' को स्पष्ट करने हेतु आगे सबदी में कहा गया है—

सांग का पूरा ग्यान का ऊरा।
पेट का तूटा डिंभ का सूरा ॥
बदंत गोरखनाथ न पाया जोग।
करि पांषड रिझाया लोग ॥

(सबदी 191, गो.बानी, पृ. 84)

जो केवल 'स्वांग' करने में पूर्ण हैं, ज्ञानका अधूरा है, जिसका पेट बड़ा है, जो दम्भ करने में सूर है, उसे 'योग' नहीं प्राप्त होता। वह केवल पाषंड करके लोगों को प्रसन्न करता है। ऐसे व्यक्ति को 'योग' नहीं मिलता, यह कहने का आशय है, उसका मनोनिरोध नहीं होता। उसका मन ब्रह्मरन्ध्र में नहीं पहुँचता। अतः उसे 'ब्रह्म-ज्ञान' नहीं होता। वह ज्ञान का अधूरा है, अर्थात् ब्रह्म का उसे शब्द से होने वाला परोक्ष ज्ञान है, योग की साधना आदि का भी सुना-सुनाया अधूरा ज्ञान है, जिससे वह साधना का स्वांग तो कर सकता है, उससे साधना नहीं हो सकती। साधक को तो गुरु से प्राप्त साधना-विषयक सम्यग् ज्ञान होना चाहिए।

आचार्यचरण भी गोदड़ी को ज्ञान से सम्बद्ध करते हुए कहते हैं कि हमारी ज्ञान की गोदड़ी गुरु से प्राप्त है। गोदड़ी के साथ शिरस्त्राण (टोपी) भी धारण करने की परम्परा है, जिससे शिरोभाग की आतप, धूप आदि से रक्षा होती है। कमर में आड़बन्ध (धातु से निर्मित दृढ़ कमरबन्ध अथवा रस्सी, मूंज आदि से निर्मित अदृढ़ कमरबन्ध) धारण करने की परम्परा है। इसी प्रकार दृढ़ अथवा अदृढ़ लंगोटी या कौपीन धारण करने की परम्परा है। आप इस परम्परा का अनुपालन पूर्ण रूप से क्यों नहीं कर रहे हैं? भगवान् श्रीचन्द्र इनका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—हमने गोदड़ी, टोपी, आड़बन्द और लंगोटी चारों को विधिवत् धारण किया है; किन्तु इन चर्मचक्षुओं से उन्हें देखा नहीं जा सकता। अल्पज्ञ के द्वारा दुर्ज्ञेय (दुःख से जानने योग्य) होने से उसी के द्वारा वे जाने जा सकते हैं, जो हमारी सन्निधि प्राप्त कर सहवास के द्वारा इन्हें जानने का प्रयास करें।

ज्ञान की गोदड़ी

हमने ज्ञान की गोदड़ी धारण की है, जो हमारी रक्षा दुखःप्रद शीतातप से ही नहीं, दुःख के मूलकारण जन्म से भी करेगी। यह ज्ञानरूपी गोदड़ी मन की वृत्तिरूप है, जो कभी भी जीर्ण नहीं होती, यह सत्संग और साधु समागम से नित्य नूतन होती रहती है; क्योंकि ज्ञान विमल होकर परिष्कृत होता रहता है। इसमें सछिद्रता आती ही नहीं; क्योंकि इसका नित्य परिष्कार होता रहता है। अतः लोकोच्छिष्ट परित्यक्त वस्त्र खण्डों से इसे परिष्कृत करने की आवश्यकता ही नहीं

है। हमारे गुरुदेव भगवान् का यह कृपाप्रसाद है; क्योंकि उनकी कृपा से ही शास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता है तथा ब्रह्म साक्षात्कार भी गुरु-कृपा का ही फल है, जिससे अहंकृतिमूलक कर्तृत्व-भोक्तृत्व के मिटने से हमें पुनः शरीर परिग्रह के भय से मुक्ति मिलती है। यह गोदड़ी स्थूल शरीर पर धारण नहीं की जा सकती, यह तो सूक्ष्म शरीर के घटक मन के द्वारा धारणीय है, अतः हमारा स्थूल शरीर आपको गोदड़ी से अनावृत दिखाई दे रहा है। इस गोदड़ी ने हमारे जाड्य (अविवेककारिता) को समाप्त कर दिया है। ज्ञानरूपी गोदड़ी को मैंने धारण किया है, यह कहकर आचार्यचरण ने यह सूचित किया है कि 'काम' का विकार मेरे मन में नहीं है; क्योंकि उसके रहते ज्ञान का धारण नहीं हो सकता, वह तो ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करने वाला है। वह अकेला शत्रु है, अतएव **विद्ध्येनमिह वैरिणम्**–इसको इस लोक में 'बैरी या दुश्मन' समझो, गीता 3/37 में श्रीकृष्ण की यह उक्ति है। **'निर्वैर सन्ध्या'** इस मात्रा में भी काम के रहते द्वन्द्वों की समाप्ति नहीं होगी, यह सूचित कर समीचीन ध्यान के लिए आचार्यचरण ने कामरूपवैरी का त्याग करने को कहा है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐतरेय, आरण्यक 5/3, आत्मबोधोप. 1) **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ.उप. 3/9/28) इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित 'ज्ञान-स्वरूप' ब्रह्म को ही 'ज्ञान की गोदड़ी' इस मात्रा में आचार्यचरण ने ज्ञान कहा है। ज्ञान का लक्षण ब्रह्म में ही घटने के कारण उसे ज्ञान कहना उचित भी है; क्योंकि **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (काठ.उप. 2/2/15) इस श्रुति में यह प्रतिपादित है कि सम्पूर्ण जड़ पदार्थों का प्रकाशन वही करता है तथा स्वप्रकाश होने से अपने प्रकाशन के लिए उसे अन्य प्रकाश की अपेक्षा भी नहीं होती। यतः मनोवृत्ति में प्रतिफलित होकर ही ज्ञानरूप ब्रह्म सर्वभासक होता है। अतः वृत्ति को भी लोकव्यवहार में ज्ञान शब्द से व्यवहृत किया जाता है। वस्तुतः जड़ होने के कारण वृत्ति में अवभासन सामर्थ्य नहीं है; किन्तु यह कथन विचारणीय है, यतः अभी ज्ञान हुआ नहीं है, तो हमने ज्ञान की गोदड़ी धारण किया है। ज्ञानरूप ब्रह्म के साथ अपने अभेद का साक्षात्कार कर लिया है, यह कहना कहाँ तक समीचीन या उचित हो सकता है। अभी तो **'अहं ब्रह्माऽस्मि'** (बृ.उप. 1/4/10) इस वाक्य से अपने को परोक्षरूप से ब्रह्मरूप

समझते हुए साधक को क्षमा, गुरुपदेश, ध्यान और युक्ति आदि के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्रयास आरम्भ करना है, अतः यह कहना चाहिए कि शास्त्रों तथा आचार्यों से मिले 'ज्ञान' तथा भक्ति आदि के उपदेशों के अनुसार चलकर लक्ष्य प्राप्त करने के लिए 'क्षमा' को धारण करना चाहिए; क्योंकि 'क्षमा' के अभाव में निरन्तर चल रहे द्वन्द्वों से अभिभूत होकर अपने लक्ष्य की दिशा से हम भटक सकते हैं। ऐसा न होने पर भी उद्वेग के रहते हम निरन्तर ध्यान आदि आत्मप्राप्ति के उपायों को नहीं अपना सकते। कठोपनिषद् में भी विवेक बुद्धि को ज्ञान कहा गया है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ (1/3/9)

विज्ञान जिसका सारथि है, जो विवेक बुद्धि के नियन्त्रण में रहता है, जिसने मन को अच्छी तरह से निगृहीत कर लिया है। वह संसार गति के समाप्ति रूप (पारभूत) प्राप्तव्य ब्रह्म को प्राप्त करता है। इसी विवेक बुद्धि को 'मात्रा' में 'ज्ञान' शब्द से कहा जा रहा है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'सुरति की सूई ले सद्गुरु सीवे' इस मात्रा में सद्गुरु ब्रह्म को इस गुदड़ी का सिलने वाला बताया गया है। अतः 'ज्ञान' शब्द से निर्गुण ब्रह्म को ही लेंगे; क्योंकि सद्गुरु की कृपा से उसी ब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में हम अपरोक्ष साक्षात्कार के माध्यम से जानते हैं। तथापि यह कहना संगत नहीं है, यतः पहले आत्मा का परोक्ष ज्ञान था। परोक्ष ज्ञान किसी भी वस्तु को पूर्णरूप से प्रकाशित नहीं करता। अतः परोक्ष ज्ञानरूप गोदड़ी से वह आवृत था, अब प्रत्यक्ष ज्ञान हो चुका है। बिना परोक्ष ज्ञान के यह अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः यह कह सकते हैं कि परोक्ष ज्ञानरूप जो गोदड़ी पहले थी वही अब कालक्रम से अपरोक्ष ज्ञानरूप हो चुकी है। गोदड़ी में कुछ नई वस्तुओं को जोड़कर अब उसे अपरोक्ष साक्षात्कार रूप बनाया गया है। भक्तिपूर्वक नाम-जप तथा यम-नियमादि का अनुष्ठान करने से गुरुकृपा से आत्मा का अपरोक्ष साक्षत्कार हुआ है। भक्ति, साधन, ध्यान आदि के मिलने से ही गोदड़ी नये रूप में आयी है। अविद्यान्धकार के दूर होने से वस्तु का प्रकाशन

हुआ है। यही गोदड़ी का सद्गुरु के द्वारा सिला जाना है। ऐसा कहने पर पूर्व से पर मात्रा की संगति हो जाती है।

गोदड़ी को गोदरी शब्द का अपभ्रंश कहा जा सकता है। **'गवां सकलेन्द्रियाणां दरी इव गोदरी'**—इन्द्रियों के लिए जो गुफा (दरी) के समान है, उसे गोदरी कहेंगे। जैसे दरी (गुफा) में स्थित मनुष्य के शरीर एवं इन्द्रियों को दरी आच्छादित करती है, उसे दूसरे के लिए अनवलोकनीय एवं अव्यवहार्य बनाकर यति के मन को सुसमाहित एवं लक्ष्य समर्पित बनाती है, उसी प्रकार यह ब्रह्मरूप गोदड़ी भी सर्वदा मन को विषयों से दूर रखती हुई हमारी रक्षा करती है।

दरी शब्द की सिद्धि **'दृणाति इति दरी'** 'जो विदीर्ण करती है उसे दरी कहते हैं' इस व्युत्पत्ति में होती है। पचादिगण में 'दरट्' यह पाठ होने से ङीप् होता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि दरी इन्द्रियों का विदारण तो नहीं करती, वह तो अन्धकार या अज्ञान प्रचुर होने के कारण केवल अवरोधक है; किन्तु विषय-प्राप्ति के अभाव में इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्ति को रोक देना ही उनका निवारण या विदारण है, यह स्वीकार करके इस व्याख्या की पुष्टि की जा सकती है।

दरी भयावनी भी होती है। ब्रह्म को भी—

शुभं यद्यशुभं विद्धि अशुभाच्छुभमिष्यते ।
भयं यद्यभयं विद्धि अभयाद् भयमापतेत् ॥

(ते.बि.उप. 5/23)

इत्यादि वाक्यों में भय हेतु बतलाया गया है, अतः दरी शब्द से ब्रह्म को अभिहित किया जा सकता है। यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि दरी या गुहा विषयासक्त लोगों के भय का हेतु भले ही हो, भगवान् का ध्यान भजन करने वालों को यह सुख भी देती है। अतः इसे सुख का साधन कहना अनुचित नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा सुख के साधन लौकिक ज्ञान या विषय ज्ञान भी है। अतः गोदड़ी, लौकिक ज्ञान को भी बोधित कर सकती है। मात्रा के अर्थ के स्पष्टीकरण हेतु ज्ञान शब्द का भी अर्थ एवं व्युत्पत्ति प्रदर्शित करना आवश्यक है।

'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' (जिससे जाना जाय) जो ज्ञान का साधन है, उसे ज्ञान कहते हैं तथा 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' ज्ञप्ति या प्रकाशन ही ज्ञान है। ज्ञान शब्द की

सिद्धि हेतु इन दोनों व्युत्पत्तियों पर विचार करें तो प्रथम व्युत्पत्ति में ज्ञान के साधन को बतलाता हुआ ज्ञान शब्द प्रकाश्य या ज्ञान-विषय को भी बतलायेगा; क्योंकि वही प्रकाश्य है। स्पष्ट है कि जैसे लोक में दीपक से घट आदि प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान शब्द की यह व्युत्पत्ति ज्ञानरूप या सर्वार्थबोधक ब्रह्म को प्रकाशक के रूप में सूचित करती है; किन्तु वृत्ति के बिना ब्रह्म किसी वस्तु का प्रकाशन नहीं करता, अतः वृत्ति का महत्त्व है। जब घट,पट आदि लौकिक पदार्थ वृत्ति के विषय होते हैं, तो ब्रह्म से उनका प्रकाशन होता है। जब वृत्ति का विषय ब्रह्म होता है, तो अज्ञान के नष्ट होने से उसी का प्रकाशन होता है। प्रकृत में ब्रह्म का परोक्षज्ञान तथा ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का शास्त्र से होने वाला परोक्षज्ञान ही 'ज्ञान' शब्द से विवक्षित है। दान, तप एवं ब्रह्मचर्य यह ब्रह्मप्राप्ति के साधन हैं। ब्रह्मप्राप्ति के ब्रह्मचर्यादि साधनों को ज्ञान शब्द प्रधान रूप से कहेगा। यतः साधन ही मार्ग कहे जाते हैं; क्योंकि उन्हीं के अनुष्ठान से उन्हीं के ऊपर चलने से साध्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दान, तप और ब्रह्मचर्य भी ज्ञानप्राप्ति के साधन होने से 'ज्ञान' शब्द के अमुख्य वाच्य होते हैं।

वाङ्मय तप एवं मनोमय तप जो ब्रह्मप्राप्ति कराते हैं, उनमें कीर्तनादि लक्षण, वाग्-व्यापार तथा अविच्छिन्न स्मरण लक्षण भक्ति (मानसव्यापार) का प्राधान्य है; क्योंकि भक्ति, ईश्वरविषयक तीव्र अनुराग होने के कारण सुगमतया ईश्वरप्राप्ति में (ब्रह्मप्राप्ति में) सहायक है। अतएव निर्गुण ब्रह्म जो ज्ञानरूप है, उसका वर्णन **'सन्तोषसूत विवेक, धागे, अनेक टल्लों तहां लागे'** आदि मात्राओं में करने के पूर्व **'हरि भक्ति मृगानी लै पहिरै गुरु पूता'** इस मात्रा में भक्ति की चर्चा की गयी है। यह भक्ति साधनभक्ति और साध्यभक्ति भेद से दो प्रकार की है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य रूप भक्ति, साधनभक्ति ही है। सख्यभक्ति साध्य, साधन उभयरूप भक्ति है। प्रेममात्र के साधनभक्तिरूप होने पर भी पराकाष्ठापन्न प्रेम साध्य है, यतः प्रेमरूपा यह भक्ति भगवान् के सगुण स्वरूप विषयक श्रवण कीर्तन आदि से ही प्राप्त होती है। अतएव विष्णुपुराण में प्रह्लाद-विष्णु-संवाद में प्रह्लाद के द्वारा कहा गया है—

या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतस्सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

हे प्रभो! अविवेकी लोगों की विषयों में जैसी अनपायिनी (विश्लेषरहित निरन्तर होने वाली) प्रीति होती है, वैसी ही प्रीति आपका श्रवण-कीर्तन आदि करने में मुझमें आविर्भूत हो तथा वह प्रीति, कभी भी मेरे हृदय से विच्छिन्न न हो। इस प्रकार श्रवणादि को साधन-भक्ति तथा सगुणविषयक निर्व्याज प्रेम को साध्य-भक्ति (श्रवणादिभक्ति साध्य) बतलाया गया। इस साध्यभक्ति से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव कहा गया है—**'सगुणविषयकप्रेम्णः निर्गुणश्रवणादिसहितस्य, चरमात्मनिवेदनरूपा ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्काररूपज्ञानलक्षणा भक्तिः फलम्'** (गौणब्रह्मानन्दी टीका, सिद्धान्तबिन्दु अष्टमश्लोक, पृ. 146) निर्गुण श्रवणादि सहित सगुणविषयक प्रेम से आत्मनिवेदनरूप चरम भक्ति प्राप्त होती है, इसी को ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्काररूप ज्ञानलक्षणा भक्ति कहते हैं। यहाँ आत्मनिवेदन अपने जीवस्वरूप का निवेदन या त्याग है। साधक अपने जीवत्व का निवेदन कर भगवद्रूपता या ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है। किन्तु उत्कृष्टतम सगुण भक्ति के बिना यह ज्ञान नहीं होता। अतएव कहा गया है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वे.उप. 6/23)

जिसको देव में पराभक्ति है तथा जैसी देव में भक्ति है वैसी ही भक्ति गुरु में है, उसको शास्त्र में वर्णित विषयों का बोध होता है। स्पष्ट है कि 'तत्त्वमसि' इस वेदवाक्य से होने वाला अवबोध पराभक्ति के बिना नहीं होगा। क्योंकि वह भी शास्त्रप्रोक्त है। पराभक्ति से बोध्य अर्थ भगवान् का स्वरूप ही है—**'भक्त्या मामभिजानाति'** (श्रीमद्भगवद्गीता 18/55) भक्ति से मुझको जानता है, यह वचन इसमें प्रमाण है। **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** (गीता 13/10) मुझमें अनन्य भाव से अव्यभिचारिणी भक्ति प्राप्त करता है। यह गीतावचन चरमभक्ति को ज्ञान का साधन बतलाता है। मधुसूदन सरस्वती ने सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानपूर्वक प्रीति को ही भक्ति कहा है। अनन्य योग का अर्थ—**'नान्यो भगवतो वासुदेवात्परोऽस्त्यतः स एव नो गतिः'** इस व्युत्पत्ति से प्राप्त सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानपूर्वक अव्यभिचारिणी भक्ति को ही ज्ञान का साधन होने से

ज्ञान कहा गया है; क्योंकि आगे **'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्'** (13/11) यह वाक्य यही अर्थ सूचित करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में 13-7 से 13-11 तक, अमानित्वमदम्भित्वमित्यादि श्लोकों में ज्ञान के साधनों को ज्ञान शब्द से बतलाया गया है। अतएव (13/11 श्लोक में) कहा गया है—**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा**–यह सबकुछ जो ऊपर बताया गया है वह ज्ञान है, इसके विपरीत मानित्व, दम्भित्व, अक्षान्ति, अनार्जव इत्यादि को अज्ञान कहा गया है। 'ज्ञान की गोदड़ी' इस मात्रा में ज्ञान शब्द से यदि इन गीतोक्त (गीता में कहे गये) साधनों को लिया जाय तो 'ब्रह्म अचला ले पहिरै सुजान' इस मात्रा के अर्थवर्णन के प्रसंग में पुनरुक्ति स्वतः परिहृत हो जायेगी। यतः इस मात्रा में ब्रह्म शब्द से हम सगुण ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म जिसको भी लें, वह ज्ञानप्राप्ति के साधनों से भिन्न ही होगा। साथ ही 'अकाल खिन्था' इस मात्रा में निर्गुण ब्रह्म को प्रतिपाद्य मानकर हम तीनों मात्राओं के प्रतिपाद्यार्थ में सामञ्जस्य भी स्थापित कर सकते हैं। अतः 'ज्ञान की गोदड़ी' यह मात्रा भगवद्गीता की तरह ज्ञान-साधनों को बोधित करेगी, जिनके भीतर 'ज्ञान' रूप ब्रह्म निहित है।

'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' यह द्वितीय व्युत्पत्ति 'ज्ञान' शब्द के वास्तविक अर्थ-प्रकाश-स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा को बोधित करती है। यह निर्विकार ब्रह्म ही नाना साकार रूपों में आता है, अतः—

स्याह सफेद जरद सुरखाई। जो ले पहिरै सो गुरु भाई।।

इस मात्रा में जो चार रंग की गोदड़ी बतलाई गयी है, वह चार प्रकार के अवतारों में सगुण साकार विग्रहों को सूचित करती है, जिसे गोदड़ी का रंग कह सकते हैं।

खिमा की टोपी

'खिमा की टोपी' इस मात्रा से भी यह स्पष्ट होता है कि 'ज्ञान की गोदड़ी इस मात्रा में 'ज्ञान' शब्द अपरोक्ष 'ब्रह्म ज्ञान' का वाचक नहीं है। यतः क्षमा, ब्रह्म-ज्ञानी में स्वाभाविक रूप से रहती है, उसे धारण करने के विधान की आवश्यकता नहीं है। अवधेय है कि 'क्षमा को धारण करने का, विधान साधना की निर्विघ्न पूर्णता आदि के लिए होगा, जबकि ब्रह्मज्ञान सम्पन्न पुरुष को सब

कुछ प्राप्त हो जाने से किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्मज्ञान के लिए प्रयतमान साधक को क्षमा की अनिवार्य रूप में आवश्यकता है। क्षमा शरीर का अंग है, अतएव गोरखनाथ के द्वारा बसाई गयी नगरी में कौन-कौन लोग रहते हैं, इसका वर्णन करते हुए पद के अन्त में गोरखबानी में (क्षमा को सेविका) कहा गया है—

तहां सत्य बीबी, सन्तोष, साहिजादा, षिमां भगति द्वै हाई।
आदिनाथ नाती मछिंन्द्रनाथ पूता, काया नगरी गोरष बसाई॥

(पद रागरामग्री 27, गो.बानी, पृ. 140)

इस नगरी में बादशाह की बीवी सत्य है, सन्तोष शाहजादा (बादशाह का पुत्र) है, क्षमा (षिमां) और भक्ति दो दाई (हाई) है। आदिनाथ के नाती (शिष्य के शिष्य) मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य (पुत्र) गोरखनाथ ने यह कायारूपी नगरी बसायी है। ब्रह्मज्ञानी होने से ब्रह्मरूप गुरु गोरखनाथ सकल प्रपञ्च के रचयिता होने के कारण अपने को नगरी रूप शरीर को बनाने वाला बता रहे हैं।

क्षमा और भक्ति का दाई के रूप में शरीर में वास बताकर यह संकेत किया गया है कि इस शरीर से जो भी कार्य किये जायेंगे, जो भी संकल्प भावी कार्यों के लिये होंगे उनमें क्षमा और भक्ति का प्राधान्य होना चाहिए। 'क्षमा' के प्राधान्य का आशय है कि हम क्रोधादि के वेग से उद्वेलित होकर कोई कार्य नहीं करेंगे। क्षमा का भाव होने से क्रुद्ध होने पर भी आर्यपथ को नहीं छोड़ेंगे। अपकारी के प्रति भी उपकार का भाव रखेंगे। भक्ति का शरीर में वास होने से हम सभी कार्य निष्ठापूर्वक करेंगे। गोरखबानी के सिष्या दरसन में लाठी (दंडा) के रूप में क्षमा का सहारा लेने का उपदेश दिया गया है कि **'छिमा लाठी टेकिबा मांनं'** (गो.बानी, पृ. 180)।

नाथ परम्परा की तरह ही साधना के लिए क्षमा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्यचरण कहते हैं कि मैंने गोदड़ी के साथ क्षमारूपी टोपी भी धारण किया है, जिससे दूसरे के द्वारा अपकार किये जाने पर भी हम उसके प्रति अपकार का आचरण नहीं करते। इस प्रकार यह हमें सहिष्णु बनाती है। यह टोपी शिरोवत् (शिर की तरह) प्रधानता को प्राप्त अहंकृति को ढँक कर मानापमान तथा निन्दा एवं स्तुति के प्रसंगों में भी समत्व भाव को देते हुए

निन्दादिजन्य असहनीय तापों से विवेकयुक्त बुद्धि प्रदान कर हमारी रक्षा कर रही है, अर्थात् इसके कारण विवेकयुक्त बुद्धि बनी रहती है।

या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

इस दुर्गासप्तशती मन्त्र के अनुसार क्षान्ति या 'क्षमा' केरूप में देवी को सभी प्राणियों में व्यवस्थित बतलाया गया है तथा उसे तीन बार नमस्कार किया गया है; क्योंकि वह अत्युत्कृष्ट है। 1. भूत्यै नमः, 2. सन्नत्यै नमः, 3. क्षान्त्यै नमः, 4. कान्त्यै नमः, 5. दिवे नमः, 6. पृथिव्यै नमः, 7. पुष्ट्यै नमः, 8. उषायै नमः, 9. धृत्यै नमः, 10. लज्जायै नमः, 11.आर्यायै नमः, 12. दुर्गायै नमः, 13. वेदगर्भायै नमः, 14. अम्बिकायै नमः आदि नमस्कार मन्त्र जो भगवती के चतुर्थ्यन्त (चतुर्थी विभक्ति जिनके अन्त में हैं) नामों से युक्त हैं, उनमें 'क्षान्त्यै नमः' यह मन्त्र क्षान्ति या क्षमा नाम से भगवती का अभिधान (कथन) कर रहा है। अतः इस 'क्षमा' रूपी भगवती को आदर के साथ शिर पर टोपी के रूप में साधक धारण करे, यह आचार्यचरण का संकेत है; क्योंकि यही क्षमारूपी भगवती माँगने पर साधक को विज्ञानरूप आत्मसाक्षात्कार तथा संतुष्ट होने पर समृद्धि देती है। यह तथ्य हमें **'सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति'** (दुर्गासप्तशती) से ज्ञात होता है।

'क्षमा' की टोपी को सिर पर धारण करने की बात कहकर आचार्यचरण उद्वेगों की प्राप्ति को संकेतित कर रहे हैं; क्योंकि प्रतिकूल आचरण से क्रोधादि का अवसर होने पर अपने को शान्त रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता होगी। क्षमावान्, क्रोध, काम आदि का परित्याग करता है; क्योंकि उनके रहते क्षमा पूर्णरूप से प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। अतएव आचार्यचरण का यह संकेत है कि इस कार्य को आप यतिवृन्द द्वारा धारित भौतिक टोपी नहीं कर सकती। वह तो इस ताप से रक्षा करने में भी तभी समर्थ होगी जब उसे हमारी इस दिव्य टोपी का सहारा मिले। हमारा यह शिरस्त्राण केवल जीवनकाल में ही शरीर का रक्षक नहीं है, यह तो भगवद्गीतोक्त नरकप्रापक काम-क्रोधादि को दूर कर मरणोत्तर प्राप्त होने वाली नारकीय यातनाओं से भी हमारी रक्षा कर रही है तथा स्वर्ग आदि सुख की प्राप्ति में सहायक है।

यत का आड़बन्द

नाथ सम्प्रदाय में जत (शारीरिक संयम) सत हृदय का भाव, किरिया (क्रिया-शुभाचरण) का बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया जाता है। इसका संकेत हमें निम्न सबदी में मिलता है—

नाथ कहै मेरा दून्यौ पंथ पूरा,
जत नहीं तौ सत का नीसूरा।
जत सत किरिया रहणि हमारी,
और बलि बाकलि देवि तुम्हारी॥

(सबदी 269, गो.बानी, पृ. 102)

नाथ कहते हैं कि मेरे दोनों पंथ पूर्ण है। शारीरिक संयम (जत) और हृदय का दृढ़भाव (सत) दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना जत और सत के शूर नहीं हो सकते। शूर उसको कहते हैं, जो युद्धभूमि से जीत कर निकल जाय। प्रकृत प्रसंग में माया के साथ जो द्वन्द्वयुद्ध चल रहा है, उसमें जो माया के फन्दे से पार हो जाय, वह शूर है। बिना शारीरिक संयम (जत) के माया के बन्धन से निकलना असम्भव है। अतः नाथ योगियों ने जत, सत और क्रिया (गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण) तीनों को अपना लिया। इन तीनों को रहनी कहने से यह स्पष्ट होता है कि तीनों नाथ परम्परा के आचार व्यवहार में है। इससे नाथ योगी माया के बन्धन से पार होते हैं, जो लोग 'जत', 'सत' और 'किरिया' को सम्प्रदायानुसार नहीं अपनाते, वे माया की बलि हेतु 'बकरा' बनते हैं।

'नाथ कहै मेरा दून्यौ पंथ पूरा' कह कर यह स्पष्ट किया गया है कि हृदय के भाव (सत) के अनुसार जत (शारीर संयम) का हमारा स्वभाव बन गया है। मन के द्वारा निर्धारित लक्ष्य पर गमनकाल में शरीर उसका पूरा साथ देता है। यत, सत और किरिया को मात्रा में आचार्यचरण 'यत का आड़बन्द तथा 'शील की लंगोटी' इन दो मात्राओं में स्पष्ट कर रहे हैं।

गोरखबानी के शिष्या दरसन में पृ. 179 पर **'जत जगोटा'** कहते हुए यत को जंगोटा कहा गया है। आचार्यचरण 'जाप को जंगोटा' कहते हैं। किन्तु यत या सतत प्रयत्न को दोनों ही अवश्य अपनाने का उपदेश करते हैं।

उनका कथन है कि हमने 'यत' का आरबन्ध धारण किया है[91]। यह ऐसा आड़बन्द है जो निरन्तर हमें भूति कर्मों में प्रेरित करता है तथा अकल्याणकारी कर्मों से विरत करता है। आप कौपीन को सहारा देने के लिए दृढ़ या अदृढ़ आड़बन्द धारण करते है, जिसे संयम-नियम के दृढ़ संकल्प का प्रतीक स्वीकार किया जाता है। किन्तु हमारे द्वारा धारित यतरूपी आड़बन्द के अभाव में आपका भौतिक आड़बन्द निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्ति से उपरत नहीं कर पायेगा। क्योंकि मन को नियन्त्रित किये बिना इन्द्रियों पर नियन्त्रण सम्भव नहीं है और मन पर नियन्त्रण सावधान होकर सतत निरीक्षण करने से ही होता है। यतरूपी आड़बन्द धारण करने पर यह कार्य निराबाध रूप से होता रहता है। इस आड़बन्द के द्वारा 'संयम' शरीर का स्वभाव बन जाता है तथा सोते-जागते सर्वदा शरीर, मर्यादित आचरण ही करता है।

भवबन्ध से मोक्ष का सूचक यत का 'आड़बन्द' सभी को धारण करना चाहिए। यदि आड़बन्द को अराबन्ध का अपभ्रंश कहा जाय तो अराबन्ध शब्दवाच्य रथ के नेमि या परिधि की समता 'आड़बन्द' में प्राप्त होगी। मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र—**'अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः'** (2/2/6) में सभी 'अर' शब्द वाच्य लकड़ी के दण्डों को रथ के पहिए की नाभि में संहत बताया गया है। किन्तु उनका दूसरा छोर नेमि या परिधि में लगा रहता है, जिससे नेमि की दृढ़ता बढ़ती है। परिधि मण्डलाकार या गोलाकार होने से अनन्त या अन्तहीन होती है। अन्तहीन या सीमारहित केवल 'ब्रह्म' होता है। अतः आड़बन्द का ब्रह्म से सम्बन्ध होना पुष्ट होता है। यत या निरन्तर प्रयत्न का आडबन्द, मानवमात्र के लिए आवश्यक है; क्योंकि इसके बिना लौकिक लक्ष्यों की भी सीमित समय में प्राप्ति नहीं हो सकती।

शील लंगोटी

हमने इस यत के आड़बन्ध के साथ शील की लंगोटी धारण की है। 'शील' शब्द उपधारण उपरतिपूर्वक धारण का बोधक होकर समाधि का बोधक है। फलतः मन का सर्वदा समब्रह्म में आधान या स्थापन होने से आभास की तरह प्रतीत होने वाले विषय हमारे मन को कलुषित नहीं कर पाते। दुःख-

दोषानुदर्शन करते हुए सतत विचार के द्वारा ही मन को नियन्त्रित किया जा सकता है, अतः मन को नियन्त्रित करने के लिए शीलरूपी कौपीन (शील समाधौ धातु से घञ् प्रत्यय करके शील शब्द बनता है, अतः यह उपर्युक्त अर्थ को कहता है) का यदि धारण नहीं किया जाता है, तो भौतिक कौपीन उसका नियन्त्रण न करने से इन्द्रियों का नियमन नहीं कर पायेगा। महाभारत में—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानञ्च शीलमेतत् प्रकीर्तितम्॥

(वनपर्व, अ. 297, श्लो. 35)

इस वचन के द्वारा मन, वचन एवं कर्म से प्राणियों से द्रोह न करना, जीवों पर अनुग्रह तथा दान को शील कहा गया है, जो उक्त शील लक्षण से गतार्थ हो जाता है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(म.स्मृ. 2/6)

मनुस्मृति के इस श्लोक की व्याख्या में टीकाकार गोविन्दराज ने शील शब्द का अर्थ राग-द्वेष का परित्याग किया है। हम जानते हैं कि राग-द्वेष का परित्याग तब तक नहीं हो सकता, जब तक मन संसार से हटकर परमात्मा में स्थापित नहीं हो जाता। अतः शील शब्द को समाध्यर्थक मानने में सबका समन्वय हो जाता है। सगुण-साकार भगवत्स्वरूप में मन के समाहित होने पर तो मन कभी भी विषयों का चिन्तन ही नहीं करता, इस प्रकार शील की लंगोटी बिना किसी प्रयास के विषयचिन्तन से हमें बचाती है। अतः यह नहीं सोचना चाहिए कि मन निर्गुण ब्रह्म में समाहित होने पर ही विषयों से हटेगा, अन्यथा नहीं। प्रकृत प्रसंग में तो साधक सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए प्रयास आरम्भ कर रहा है, समाधि या साक्षात्कार तो अभी दूर है। अतः '**शील लंगोटी**' इस मात्रा से आचार्यचरण को संतों की 'रहनी' को ही समझाना है, जिसका अनुसरण साधक करेगा। महाभारत में भी अद्रोह अनुग्रह और दान को कर्तव्य बताकर आचरण हेतु शिक्षा दी गयी है। गोरखबानी में कर्तव्य को असनान (स्नान) शब्द से बोधित करते हुए 'सील' सहित पाँच असनान बताए गये हैं—

सत्यो सीलं दोय असनान त्रितीये गुर वाहक।
चत्रथे षीषा असनान पंचमे दया असनान।
ये पंच असनान निरमला निति प्रति करत गोरषबाला ॥

(सबदी 258, पृ. 99)

सत्य एवं शील के दो स्नान हैं, तीसरा स्नान, गुरुवाहक (गुरुवाणी के बहन) का है, चौथा स्नान षीषा या शिक्षा का है, जिसमें गुरु से प्राप्त आचार आदि को शिष्यों को तथा अन्य जिज्ञासुओं को बताया जाता है। पाँचवाँ स्नान 'दया' का है, जिसमें सभी प्राणियों पर 'दया' की जाती है। यह पाँचों स्नान, निर्मल स्नान हैं, निर्मलता की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन किये जाते हैं। गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि 'गोरख बाल' भी इन पाँचों स्नानों को प्रतिदिन करते हैं, किन्तु निर्मलता प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं 'लोकशिक्षा' के लिए स्वभाववश करते रहते हैं; क्योंकि वह तो अमृत स्वरूप 'ब्रह्म' हो चुके हैं, ब्रह्म साक्षात्कार उन्हें हो चुका है। अब कोई प्रयोजन शेष नहीं है। यहाँ 'बाल' शब्द ब्रह्म का बोधक है।

इन पाँच स्नानों में सील स्नान क्या है? इसे आगे सबदी में स्पष्ट किया गया है। गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि जो स्त्री से जीता गया, जो मिलकर एक-दूसरे को नष्ट करते हैं, जो विश्वासघात करते हैं, जो तत्त्व प्राप्ति हेतु प्रयास में आने वाले कष्टों से डरते हैं, जो अभक्ष्य भक्षण करते हैं, जो शब्दहीन हैं, अर्थात् अनाहत नाद को नहीं प्राप्त कर सके हैं, जो केवल वीर्य की रक्षा करते हैं, तत्त्व की प्राप्ति नहीं कर सके, जो स्त्रियों से विनोद करते हैं, वह सभी पुरुष नष्ट हो जाते हैं। अतः अपनी रक्षा के लिए, मनुष्य शरीर की सार्थकता के लिए शरीर से तथा मन से स्त्री सन्निधि को विवर्जित करना चाहिए, दुःसंग का त्याग करना चाहिए, विश्वासघात नहीं करना चाहिए, लक्ष्य प्राप्ति हेतु गुरु के निर्देशानुसार समर्पित होकर प्रयास करना चाहिए, अभक्ष्य (मदिरा, मांस, भांग) आदि का भक्षण नहीं करना चाहिए, गुरु के निर्देशानुसार चलकर अनाहत नाद प्राप्त करना चाहिए, मैथुन विवर्जित होकर वीर्य की रक्षा करते हुए इस शरीर से तत्त्व प्राप्त करना चाहिए, स्त्रीसंग से दूर रहना चाहिए। 259-260 सबदी में यह द्रष्टव्य है।

सभी 'शील' जो शास्त्रों में अथवा सन्तों की वाणियों में प्रसिद्ध है, उनका धारण आचार्यचरण को अभीष्ट है। उनका आशय यह है कि हमने शील की लंगोटी धारण की है, जो वास्तव में लंगोटी है। यह भौतिक कौपीन तो केवल लज्जानिवारणार्थ है, इससे इन्द्रियनिग्रह नहीं होता। हम जानते हैं कि आड़बन्द से कौपीन को अवलम्ब प्राप्त होता है। यतरूपी आड़बन्द से तो शीलरूपी लंगोटी को ही सहारा मिलता है। इसलिए भी यही कौपीन आचार्यचरण को विवक्षित है। निवृत्तिमार्ग के पथिक को यह कौपीन धारण करनी चाहिए। किन्तु जब तक यह कौपीन प्राप्त नहीं होती, तब तक महाभारतोक्त शील अथवा गोविन्दराजप्रोक्त रागद्वेषाभावरूप शील अथवा हारीतस्मृतिप्रोक्त त्रयोदशविध शील का यथासम्भव अनुष्ठान करना चाहिए[92]।

मनु ने वेदज्ञ पुरुषों की स्मृति एवं शील-आचार तथा सज्जन पुरुषों के आचार को धर्म में प्रमाण कहते हुए उन्हें अनुकरणीय बताया है। भगवान् ने उद्धव से श्रीमद्भागवत के अहिंसा सत्यमित्यादि 11/19/33-35 श्लोकों में कर्तव्य का उपदेश देते हुए 12 यम एवं 12 नियमों को अनुष्ठेय कहा है, जिससे शील या आचार की रक्षा हो सके। प्रवृत्तिमार्ग के पथिक गृहस्थादि के लिए तथा निवृत्तिमार्गी संन्यासी आदि के लिए (उभयोः), अहिंसा, सत्य, अस्तेय (मन से भी दूसरे के धन को न लेना), असंग, ह्री (लज्जा), असंचय, आस्तिक्य (धर्म में विश्वास), ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य (स्थिरता), क्षमा, अभय, शौच (बाह्य-आभ्यन्तर), जप, तप, होम, श्रद्धा, आतिथ्य, हमारी अर्चा (मदर्चनम्-भगवान् की पूजा), तीर्थाटन, परार्थेहा (दूसरे के लिए चेष्टा का उपक्रम या कार्य करना), तुष्टि (संतुष्टि) और आचार्य-सेवन (गुरु की सेवा) रूप यम-नियम प्रसिद्ध हैं। नियमों के सहित 12 यम अनुष्ठेय हैं, जिनकी उपासना से अपनी इच्छा के अनुसार (यथाकामं) प्रवृत्तिमार्गी अभ्युदय तथा निवृत्ति-मार्गी मोक्ष प्राप्त करते हैं। प्रकृत भागवत-वचन में कर्म की उपासना का विधान है, अतएव **'पुंसामुपासिताः'** यह कहा गया है। यह उपासना निष्ठापूर्वक कर्मानुष्ठान गुरु-सपर्या तथा भगवत्सपर्या है, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् का प्रिय होने के लिए अपेक्षित साधनों को गीता में अन्य साधनों के साथ भक्ति[93] तथा संगविवर्जन[94] के रूप में बतलाया गया है। यह सब कुछ

साधन-भक्ति ही है। श्रीमद्भागवत का यह प्रसंग कर्मों की इच्छानुसार फल देने वाली सामर्थ्य को बताने के लिए प्रस्तुत किया गया। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त कर्मों की उपासना करने पर (उनका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करने पर) उनसे सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति होती है (यथाकामम्) यहाँ 'दुहन्ति' शब्द का प्रयोग है, जिससे यह बोधित होता है कि कर्म सभी इच्छाओं की पूर्ति करने वाले हैं। निवृत्तिमार्ग का पथिक तो मोक्ष या जन्म-मरण-परम्परा के अभाव कें अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। कर्मों की समस्त फलदातृता को देखकर ही आचार्यचरण ने भक्ति-ज्ञान-समुच्चय शब्द से ईश्वरार्पित उपर्युक्त कर्म की उत्कृष्ट ज्ञानप्रापकता को स्पष्ट किया है।

कर्म में सम्पूर्ण फल प्रदान करने की शक्ति

शील का सम्बन्ध दैनन्दिन जीवन में क्रियमाणविहित कर्मों से है। अतः कर्म में अधिकार विधिनिषेध तथा कर्मानुष्ठान की सीमा आदि विचारणीय है। श्रीधर स्वामी ने कर्म की सर्वफल देने की सामर्थ्य को देखते हुए **'यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धश्च यः पुमान्'** (श्रीमद्भागवत 11/20/8) की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि काम्य कर्म में प्रवर्तमान पुरुष का विधि-प्रतिषेध में पूर्णतः अधिकार है, उसे दोनों का पूर्ण पालन करना होता है। निष्काम कर्मयोग के अधिकारी का विधि-प्रतिषेध में यथाशक्ति अधिकार है। यह अधिकार भी तब तक है, जब तक वह ज्ञान अथवा भक्ति का अधिकारी नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञान अथवा भक्ति का अधिकार प्राप्त हो जाने पर कर्म में स्वल्प अधिकार रह जाता है, अर्थात् वह स्वल्प कर्मों का अनुष्ठान करता है। जो लोग ज्ञान अथवा भक्ति में सिद्ध हो जाते हैं, अर्थात् पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं, उनका कर्मों में अधिकार नहीं रह जाता है। अतएव श्रीमद्भागवत में ही आगे कहा गया है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(11/20/9)

तब तक कर्मानुष्ठान करना चाहिए, जब तक निर्वेद-विषय वैतृष्ण्य-वैराग्य न प्राप्त हो जाय अथवा भगवतकथा आदि के श्रवण में श्रद्धा न उत्पन्न हो जाय।

निर्वेद की प्राप्ति ज्ञाननिष्ठा को सूचित करती है; क्योंकि **निर्विण्णानां ज्ञानयोगः**–जो निर्वेद को प्राप्त हैं उनके लिये ज्ञानयोग श्रेयस्कर है, यह भागवत-श्लोक 11/20/7 में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार भक्ति का अधिकार अथवा ज्ञान का अधिकार प्राप्त होने तक कर्म में व्यक्ति अधिकृत है, यह सूचित होता है। अमरकोश में **'शुचौ तु चरिते शीलम्'** (1/7/26) तथा **'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते'** (3/3/201) इन दो स्थानों पर 'शील' शब्दार्थ वर्णित हैं। शुचि शील पवित्र स्वभाव का द्योतक है, जो आग्रहरहित होकर सत्कर्म में अनासक्त भाव से प्रवृत्ति को सूचित करता है। स्वभावपरक 'शील' शब्द 'शील' धातु के अर्थ के अनुसार एकनिष्ठ प्रवृत्ति को बोधित करता है।

मनुस्मृति में तप और विद्या दोनों को निःश्रेयस का साधन कहा गया है; क्योंकि तप से साधक कल्मष-पाप या मल को दूर करता है तथा विद्या से अमृतत्व या मोक्ष को प्राप्त करता है। तप से कल्मष के दूर होने पर विद्या के लिए क्या प्रयत्न किया जाय इस पर मनुवचन (12/104) मौन है; किन्तु **'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (गीता 4/38) यह वचन कल्मष के दूर होने पर स्वयं ज्ञानप्राप्ति को सूचित करता है।

यद्यपि यहाँ यह शङ्का अवश्य होती है कि कर्मयोग अथवा समाधियोग से ज्ञानप्राप्ति की योग्यता प्राप्त होने के बाद यदि स्वयं श्रवण-मनन-निदिध्यासन के विना ही ज्ञानप्राप्ति हो जाय तो आत्मसाक्षात्कार के साधन के रूप में श्रवणादि का विधान व्यर्थ होगा। यदि इससे बचने के लिए श्रवणादि से ही आत्मसाक्षात्कार स्वीकार करें तो 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' का आशय स्पष्ट करना होगा? श्रीधर स्वामी ने **'स्वयमेवानायासेन लभते'** स्वयं अनायास प्राप्त करता है, यह व्याख्या की है। इसका आशय यह है कि कर्मयोग का अनुष्ठान करने वाला ज्ञानप्राप्ति के लिए कोई पृथक् प्रयास नहीं करता, कर्मयोग से ही उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जैसे अति उत्तम अधिकारी को 'तत्त्वमसि' यह उपदेश सुनते ही शब्द द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है, उसी प्रकार कर्मयोगी को भी किसी व्याज से प्रक्रिया पूरी होने पर अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है।

कर्मानुष्ठान को ज्ञानप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन भगवान् श्रीकृष्ण ने माना है। अतएव वे कहते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता 5/2)

कर्मों का परित्याग (संन्यास) तथा उनका अनुष्ठानरूप कर्मयोग दोनों ही मोक्ष (निःश्रेयस) के साधन हैं। क्योंकि दोनों से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तथापि इन दोनों मोक्षसाधनों में कर्मयोग श्रेष्ठ है, कर्म-संन्यास नहीं। किन्तु कर्म जब योग या प्राप्ति का साधन बनता है तो वह भक्ति बन जाता है, यह नहीं भूलना चाहिए। कर्म-संन्यास ज्ञानमार्ग है, इसे श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत में बतलाया है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु (श्रीमद्भाग. 11/20/7) जो निर्वेद को प्राप्त हैं, जिन्हें वैराग्य है तथा जिन्होंने कर्म का त्याग कर दिया है, उनके लिए 'ज्ञानयोग' है। प्रकृत गीतावाक्य में इस कर्म-संन्यास से उक्त कर्मयोग को श्रेष्ठ बतलाया गया है। श्रेष्ठता के दो कारण—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ (5/6)

इस वचन में बतलाये गये हैं। भगवान् कहते हैं कि योग के बिना (अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले शास्त्रीय कर्मों के बिना) हठपूर्वक लिया गया संन्यास दुःख की प्राप्ति ही कराता है क्योंकि अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण कर्म के फल ज्ञान-निष्ठा को वह प्राप्त नहीं करता तथा संन्यास के बाद कर्म में अधिकार न होने के कारण शुद्धि हेतु कर्मों का अनुष्ठान नहीं कर पाता। इस प्रकार कर्म तथा ब्रह्मप्राप्ति मार्ग दोनो सें विभ्रष्ट होने के कारण वह परम संकटापन्न स्थिति में होता है।

दूसरी ओर कर्मयोगी की क्या स्थिति है? इसे स्पष्ट करते हुए उत्तरार्ध में कहते हैं—कर्मयोगयुक्त (कर्मयोग का अनुष्ठान करने वाला) मुनि-मननशील योगी सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार कर्म-

संन्यास और कर्मयोग का ब्रह्मप्राप्तिरूप एक फल होने पर भी कर्मयोग श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे शीघ्र ब्रह्म की प्राप्ति होती है। साधक कर्मयोगी तभी कहलाता है जब वह ईश्वर-प्राप्त्यर्थ कर्मो को करता है। मन, वाणी और शरीर से उनका अनुष्ठान करता हुआ निषिद्ध कर्मों को छोड़ देता है।

कर्मयोग से किस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति होती है? इस तथ्य को श्रीमद्भगवद्गीता (5/7) में स्पष्ट किया गया है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यति॥

यह वचन कर्मयोग का महत्त्व स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित करता है कि भगवदर्पण एवं फलाऽभिसंधिराहित्यरूप गुणों से युक्त कर्म ही योग है। इस कर्मयोग से युक्त पुरुष, प्रथमतः विशुद्धात्मा बनते हैं, उनके अन्तःकरण का रज एवं तमरूप मल दूर हो जाता है और वे शुद्ध अन्तःकरण वाले हो जाते हैं। द्वितीय क्रम में वे विजितात्मा बनते हैं। यहाँ आत्म शब्द शरीरपरक है, अतः भगवान् यह बतलाते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि के बाद कर्मयोगियों का शरीर स्ववश हो जाता है (विजितात्मा)। इसके बाद वे सभी बाह्येन्द्रियों को अपने वश में कर लेते हैं। जितेन्द्रिय शब्द से बाह्येन्द्रिय जय ही विवक्षित है; क्योंकि अन्तरिन्द्रियरूप अन्तःकरण की शुद्धि की सूचना हेतु विशुद्धात्मा शब्द का प्रयोग पहले हुआ है।

अस्तु, अब हम यह विचार करेंगे कि ज्ञानप्राप्ति के लिए कर्मयोग पर इतना बल क्यों दिया गया है। इस विचार का उपक्रम—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (3/3)

इस गीतावचन के विवरण से करते हैं। इस लोक में अन्तःकरण की शुद्धि एंव अशुद्धि के भेद से दो प्रकार के अधिकार मार्ग बताए गए हैं। अधिकार ऐसे प्रस्ताव हैं, ऐसे निर्धारण हैं, ऐसी योग्यता है, जिसके द्वारा हम यह निर्णय करते हैं कि कर्मानुष्ठान से हमें फल-प्राप्ति होगी या अन्य मार्ग से। इससे हम यह भी निर्णीत करते हैं कि हम कर्म करें या न करें। ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा शब्दों से

भगवान् इन अधिकारों को बताते हैं। निष्ठा शब्द स्थितिपरक है। अतः कौन ज्ञानमार्ग में स्थित होगा तथा कौन कर्ममार्ग का पथिक होगा? इसका विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि शुद्धान्तःकरण वाले लोगों में ज्ञानपरता तथा अशुद्धान्तःकरण वाले लोगों में कर्मपरता होती है। इस वचन में द्विविधा निष्ठा यह एकवचनान्त पद यह सूचित करता है कि निष्ठा एक ही है, उसकी साध्य-साधन भेद से दो अवस्थाएँ हैं, दो स्वतन्त्र निष्ठाएँ नहीं हैं। यह तथ्य मधुसूदन सरस्वती ने स्पष्ट किया है। अतएव **'एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति'** (भगवद्गीता 5/5) यह भी भगवान् का गीता में ही वचन है। संख्या-सम्यग् आत्म-बुद्धि या समीचीन आत्म-बुद्धि है, उसको जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लेकर उपनिषद्वाक्यरूप वेदान्त के विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) से उपनिषत्प्रतिपाद्य अर्थ का निश्चय कर लिया है तथा ज्ञानभूमि में जो आरूढ़ हो चुके हैं, जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है, वे सांख्य हैं। ऐसे सांख्यों के लिए ज्ञानयोग है। **'ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः'** इस व्युत्पत्ति से ज्ञानयोग शब्द ब्रह्म से योग (मेल) के साधनों के रूप में ज्ञान को व्यक्त करता है। कर्मनिष्ठा का वर्णन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने आगे कहा है—

अशुद्ध अन्तःकरण वाले लोग जो ज्ञानभूमि में आरूढ़ नहीं हैं, वे कर्मयोग के अधिकारी हैं। **'युज्यतेऽन्तःकरणशुद्ध्या अनेनेति योगः कर्मैव योगः कर्मयोगः'** अन्तःकरण की शुद्धि होने पर जिसके द्वारा योग प्राप्त किया जाय वह योग है। कर्मरूप, योग, कर्मयोग है। इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न कर्मयोग शब्द, अन्तःकरण-शुद्धि के द्वारा कर्म को परमात्मा के साथ जीव के योग या मेल का साधन बतलाता है। अन्तःकरण-शुद्धि के द्वारा जीव ज्ञानभूमि में आरोहण करता है। अतएव भगवान् ने अर्जुन से भगवद्गीता में कहा—**'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते'** (भगवद्गीता 2/31)–क्षत्रिय के लिए धर्म्य युद्ध से श्रेयस्कर अन्य साधन नहीं है। इस प्रकार चित्त की शुद्धि एवं अशुद्धि भेद से दो प्रकार की निष्ठा का उपदेश होने पर भी वस्तुतः निष्ठा एक ही है। अतएव एकत्व को स्वीकार करते हुए भगवान् ने कहा—**'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (भगवद्गीता 2/39)–सांख्य पक्ष में तुमने बुद्धि को सुना, अब योग में इसे सुनो। स्पष्ट है कि एक ही साधक के

प्रति स्थिति के भेद से दोनों निष्ठाओं का उपदेश होने से उपदेश की व्यर्थता भी नहीं है। अन्यथा एक बुद्धि का दो बार उपदेश व्यर्थ होगा। इसी को बतलाने हेतु भगवान् ने अशुद्ध चित्त वाले के लिए चित्तशुद्धिपर्यन्त कर्मानुष्ठान की विधि **'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'** (भगवद्गीता 3/4)–न तो कर्मों का आरम्भ करने से नैष्कर्म्य तथा कर्मों का त्याग करने मात्र से सिद्धि या ज्ञाननिष्ठा ही प्राप्त होती है। यहाँ से प्रारम्भ करके **'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति'** (भागवद्गीता 3/16)–हे पार्थ! जो इस लोक में परम्परा से प्रचलित सृष्टि चक्र के अनुकूल शास्त्र विहित यज्ञादि के अनुष्ठान के द्वारा अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है, तेरह श्लोकों में प्रदर्शित किया है। शुद्धचित्त वाले ज्ञानी के लिए किसी भी कर्म की आवश्यकता नहीं है, इसे **'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'** (भगवद्गीता 3/17) तथा **'नैव तस्य कृतेनार्थो'** (भगवद्गीता 3/18) इन दो श्लोकों में व्यक्त किया है।

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' इसलिए असक्त होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म को करो (3/19) से बन्ध-हेतु कर्मों की भी फलाभिसंधिराहित्यरूप कौशल के होने पर सत्त्वशुद्धि, ज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्षहेतुता हो सकती है, यह प्रतिपादित किया गया है। इसके अनन्तर **'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्'** (गीता 3/36) इस प्रश्न का उत्थान कर कामनारूप दोष होने के कारण काम्य कर्म, चित्त-शुद्धि के कारण नहीं है, यह स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् अध्याय की समाप्ति तक भगवान् ने यही कहा है कि कामनारहित होकर कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा जीव (अर्जुन) ज्ञान का अधिकारी हो सकता है। इस प्रकार अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी बतलाया गया।

कर्म ही ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति में कारण है, इसके अभाव में (कारण के अभाव में) कार्यभूत ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह तथ्य **'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'** इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है। यह निषेध वचन है, जो सर्वतः बलवान् है। इसका आशय यही है कि कर्म का आरम्भ किए बिना, कर्म का आश्रयण किए बिना 'नैष्कर्म्य' की, कर्मराहित्य की, अवस्था या ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता नहीं प्राप्त होती।

अकाल खिन्था

'कन्था' शब्द मिट्टी की दीवाल तथा प्रावरण (अच्छे आवरण अर्थात् ढँकने या ओढ़ने के वस्त्र) को कहता है। 'कन्था मृन्मयभित्तौ स्यात् तथा प्रावरणान्तरे' यह मेदिनी कोश इसमें प्रमाण है। कन्था शब्द व्यवहार की भाषा में इतना प्रसिद्ध था कि कन्थाघटित शब्दों से बनने वाले शब्दों तथा स्वर आदि की सिद्धि के लिए विभिन्न सूत्र पाणिनि व्याकरण में मिलते हैं। कन्थोत्तरपदक देशवाची शब्द 'दाक्षिकन्था' की चर्चा सिद्धान्तकौमुदी में मिलती है। इससे दाक्षिकन्थीय रूप बनता है, जिसका अर्थ 'दाक्षिकन्था' नामक देश में होने वाला है। 'कन्था' की प्रसिद्धि का कारण मृन्मयभित्ति की गुणवत्ता तथा प्रावरणरूप कन्था की गुणवत्ता ही कही जा सकती है। किन्तु यह दोनों प्रकार की कन्था नश्वर है, आचार्यचरण तो 'अकाल-खिन्था' कालरहित अविनाशी कन्था की चर्चा कर रहे हैं, जो सभी कालों में, सभी दिशाओं में हमारा आच्छादन कर त्राण कर सके।

प्रावरण हेतु लौकिक कन्था विभिन्न देशों में बनाई जाती थी। अतः उन देशों के (स्थानों) लोग तथा अन्यत्र के लोग भी उनका व्यवहार करते थे। पाणिनि का **'संज्ञायां कन्थोशीनरेषु'** 2/4/20 यह सूत्र उशीनर देश (जहाँ पूर्व में प्रसिद्ध राजा शिवि हुए थे) में उत्पन्न या बनाई गयी कन्था की चर्चा करता है, उस कन्था का नाम 'सौशमिकन्थम्' सिद्धान्तकौमुदी में दिया हुआ है।

कन्था का व्यवहार भारतीय समाज करता था, यह इन प्रयोगों को देखने से स्पष्ट हो रहा है। सर्वत्र विचरण करने वाले तथा सभी स्थानों से सम्बद्ध महात्मा भी इन कन्थाओं का प्रयोग करते थे। यह भी कन्था की प्रसिद्धि से अनुमित होता है। गोरखबानी में कन्था के विषय में कहा गया है—

चलंत पंथा तूटंत कंथा उडंत षेहा बिचलंत देहा।
छूटंत ताली हरि सूं नेहा।। (सबदी 163, गो.बानी, पृ. 75)

मार्ग में चलते रहने से कन्था टूटती है, कपड़े की कन्था फटती है, छोटे-छोटे तिनके आदि (खेह) उड़ते हैं, जिनसे देहविचलित होता है। (अधिक रास्ता चलने से शरीर जल्दी जीर्ण होता है **'अध्वा जरा मनुष्याणाम्'** (चाण.नी. 4/17)। भगवद् भक्ति में बाधा पड़ती है, समाधि टूट जाती है। वस्त्र के अतिरिक्त शरीर को कहने के लिए भी 'कन्था' शब्द का प्रयोग—**'काया कंथा मन**

जोगोटा सतगुर मुझ लषाया' (पद 10, रागरामग्री., गो.बानी, पृ. 115) में मिलता है। मन योगी है और 'काया' उसकी कन्था है, यह रहस्य मुझे गुरु ने बताया है।

गोदड़ी और कन्था दोनों का उपयोग सन्तवृन्द करते थे। अतएव अभौतिक गोदड़ी और कन्था दोनों की चर्चा 'ज्ञान की गोदड़ी' और 'अकाल-खिन्था' इन मात्राओं में आचार्यचरण करते हैं। कन्था को गोदड़ी से कमनीय या सुन्दर कह सकते हैं, यतः कमुकान्तौ धातु से 'कन्था' शब्द की निष्पत्ति होती है, जो इसे कमनीय सूचित कर रही है। सुन्दर वस्तु सबको प्रिय होती है। सबसे प्रिय, सबसे सुन्दर अपना आत्मा है; क्योंकि उसके प्रति सबका स्वाभाविक प्रेम है। अतएव श्रुति कहती है, **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** (बृ.उप. 4/5/12) सबकी कामना के लिए सब कुछ प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिए सब कुछ प्रिय होता है। इसी काल सम्बन्धरहित आत्मतत्त्व को आचार्यचरण खिन्था या कन्था कहते हैं।

कन्था शरीर का प्रावरण करती है, किन्तु सभी दृश्य पदार्थों का प्रावरण या आच्छादन करने वाला आत्मतत्त्व है, यह तथ्य—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

ईशावस्योप.मं. 1 से प्रमाणित होता है। सभी जन्तुओं के आत्मभूत परमात्मा से यह सम्पूर्ण नाशवान् पदार्थ आच्छादनीय है। जैसे अधिक जल-सम्पर्क से चन्दन में प्रतीत होने वाली दुर्गन्ध, घर्षण के द्वारा अभिव्यक्त उसकी स्वाभाविक सुगन्ध से आच्छादित हो जाती है, जिससे सुगन्ध की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मा में अध्यस्त यह नामरूपात्मक प्रपञ्च, परमार्थ सत्य आत्मा की भावना से, यह सब कुछ परमार्थ सत्य आत्मा ही है उससे भिन्न नहीं है, इस भावना से आत्मरूप में व्यक्त होता है। जैसे दुर्गन्ध के तिरोहित हुए बिना सुगन्धि की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार जगत् के तिरोहित हुए बिना आत्मा का प्रकाशन नहीं होता। अतः त्यागपूर्वक आत्मा का पालन करना चाहिए किसी के धन की लालसा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि धन किसी का नहीं है।

सबके आत्मस्वरूप परमात्मा से सब कुछ आच्छादन के योग्य है, तो परमात्मा सर्वत्र सर्वकाल में रहेगा, किसी काल विशेष से आवद्ध नहीं होगा, यह

भी इस मन्त्र से बोधित होता है। इस प्रकार परमात्मा अकाल हो जाता है। सबका आच्छादन करने के कारण वह 'कन्था' भी है। परमात्मा के आच्छादन के योग्य है, यह कहने से यह ध्वनित होता है कि प्रयास करके परमात्मा को सुगन्ध की तरह प्राप्त करना चाहिए। परमात्मा त्रिकाल में बाधित न होने वाला सत्य है, प्रकाशक होने से वह ज्ञानरूप भी है। ऐसी स्थिति में ज्ञानरूप परमात्मा आच्छादक कैसे होगा? जबकि ज्ञान का स्वभाव है, आवरण या आच्छादन को दूर करना। दूसरी शंका यह भी होती है कि लोक में ज्ञान की जन्यता और नश्वरता दोनों ही प्रसिद्ध है। लौकिक ज्ञान प्रमाणसापेक्षोत्पत्तिक होने से विनाशी ही हैं। अतः नित्यज्ञानरूप कन्था की बात बुद्धिगम्य नहीं हो रही थी। इसी आशंका का निराकरण खिन्था को कालसम्बन्धरहित बताकर आचार्यचरण ने किया। क्योंकि जितनी भी वस्तुएँ काल से सम्बद्ध होकर भासित होती हैं, वह जन्म अथवा विनाश या जन्म और नाश दोनों से सम्बन्ध रखने वाली होती हैं। प्रागभाव वस्तु के जन्म (उत्पत्ति) के पूर्व के काल से सम्बद्ध होता है, अतः वह विनाशी है। प्रध्वंसाभाव वस्तु के नाश के अनन्तर प्रतीत होने से जन्य है, किन्तु विनाशी नहीं। भावरूप घटपटादि पदार्थ एक नियत कालखण्ड तक उपलब्ध होते हैं, अतः वे सभी जन्म एवं विनाश दोनों से सम्बद्ध हैं। घटादि भाव पदार्थों की तरह लौकिक ज्ञान भी इन्द्रियसम्प्रयोगादिजन्य होने से विनाशी हैं। किन्तु ब्रह्मरूप ज्ञान जो श्रुतिप्रमाण से काल-परिच्छेदशून्य या त्रिकालाबाध्य रूप में स्वीकार किया जाता है, अकाल है। 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा.उप. 6/2/1) यह श्रुतिवाक्य ब्रह्म को देशकृत, वस्तुकृत तथा कालकृत तीनों प्रकार के परिच्छेदों से रहित सिद्ध करता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए आचार्यचरण ने 'खिन्था का अकाल' विशेषण दिया।

'कालयति सर्वमिति कालः' इस व्युत्पत्ति में 'कल संख्याने' ण्यन्त धातु से पचाद्यच् प्रत्यय करके काल शब्द की सिद्धि करने पर वह संख्यान या माप के कर्ता या प्रेरक को कहेगा। मापन या परिच्छेद के तीन साधन हैं—देश, वस्तु और काल (समय)। 'अविद्यमानः कालः यस्य' इस विग्रह में बहुव्रीहिसमास से 'अपुत्रः' आदि की तरह अकाल शब्द की सिद्धि होगी, जो त्रिविध परिच्छेदशून्य ब्रह्म का बोधक होगा।

अकाल शब्द के प्रयोग से यह भी आशय ध्वनित होता है कि काल-सम्बन्धरहित होने से हमारी खिन्था का सर्वदा धारण हो सकता है। यह नहीं है कि गुरु से संन्यास दीक्षा प्राप्त करने के समय ही यह प्राप्त हो। इसे कभी भी प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने यह कहा कि योग-संसिद्ध पुरुष को यह समय से प्राप्त होता है। इसके बाद वह जीवन में निरवधि समय तक रहती है। अकाल शब्द को **'नास्ति कालः कालभयं यस्मिन्'** जिसके प्राप्त होने पर काल का भय नहीं रहता, इस विग्रह में बहुव्रीहिसमास से निष्पन्न स्वीकार करके यह उद्घोष आचार्यचरण ने कर दिया कि अकाल ब्रह्म-रूप कन्था को प्राप्त किये बिना जीव, काल (मृत्यु) के भय से मुक्त नहीं हो सकता। जीव मात्र को इस सार्वकालिक त्रास से मुक्त करने वाली यह कन्था है, अतः इसे धारण कर तुम भी मृत्यु के त्रास से बचने का प्रयास करो। मृत्युरूपी कालव्याल का भय कभी भी जन्तु को सुख की नींद नहीं सोने देता। अतः इससे मुक्ति पाने के लिए अकाल परमेश्वररूप खिन्था का आश्रयण आवश्यक बतलाते हुए श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान् सर्वान् निर्भयं नाऽध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाऽद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥

(10/3/27)

मृत्युरूपी सर्प से त्राण पाने की इच्छा से दौड़ता हुआ मरणधर्मा जीव निर्भय (भयरहित) स्थान की प्राप्ति के लिए सभी लोकों में जाता है; किन्तु उसे कहीं भी वह स्थान अब तक प्राप्त नहीं हो सका। हे प्रंपच के मूल कारण प्रभो! वह अब पुण्यनिचय के परिपाकवशात् कथंचित् आपके चरणकमलों को प्राप्त कर व्याकुलतारहित होने से सुख की नींद सो रहा है और मृत्यु उसके पास से भाग रही है। अतएव **'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते'** (काठ.उप. 1/3/15) इस श्रुतिवाक्य में उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके अविद्या, काम, कर्म लक्षण संसार से जीव मुक्त हो जाता है। यह इंगित करते हुए ब्रह्मप्राप्ति से मुक्ति बतलाई गयी है।

प्रकृत भागवत-श्लोक में प्रयुक्त 'आद्य' तथा 'शेते' यह दो शब्द विशेष रूप से प्रसंग को बोधित कर रहे हैं। जो सबके आदि में हो उसको आद्य कहते हैं। 'आदौ भवः आद्यः' यह आद्य शब्द की अर्थद्योतक व्युत्पत्ति है। सम्पूर्ण प्रपंच के आदि में भगवान् ही रहते हैं; क्योंकि वे अनादि हैं तथा सृष्टि के रचयिता हैं। स्पष्ट है कि रचयिता रचना के कर्म सृष्टि से पहले रहेगा ही। आद्य के पादाब्ज की प्राप्ति से अभिप्राय है—आद्य ब्रह्म का ज्ञान और इस ब्रह्मज्ञान का फल है—मृत्यु आदि भयों की निवृत्तिपुरस्सर मोक्षप्राप्ति। सबके आदि में वही रह सकता है जिसका काल से सम्बन्ध न हो। जो अनादि हो, इस प्रकार आद्य शब्द काल-सम्बन्धरहित ब्रह्म का बोधक होगा।

यह अवधेय है कि ब्रह्म का सगुण-साकार स्वरूप भी सृष्टि के पहले रहता है। अतएव रजोगुणप्रधान मायाशक्तिशबलित स्वरूप, जिसे ब्रह्मा कहते हैं, सृष्टि करता है। अद्वैत-सिद्धान्त में तो ब्रह्म, सृष्टि का अधिष्ठान है, अतः वह पहले रहेगा ही।

प्रकृत में ग्रन्थ की उपनिषद्रूपता तथा सर्वजनग्राह्यता को देखते हुए यह कहना चाहिए कि 'ज्ञान की गोदड़ी' में प्रयुक्त ज्ञान शब्द ज्ञानसाधन का वाचक है। जिन्हें भगवद्गीता में अमानित्वमदम्भित्वमादि के द्वारा तथा अन्यत्र भी बतलाया गया है। यह साधन मात्राशास्त्र में भी वर्णित हैं, जिनका आश्रयण कर हम क्षमा के द्वारा शनैः-शनैः अहंकार का शमन करते हुए पूर्ववर्णित शील के अवलम्ब से सतत प्रयत्न करके अगम-निगम के पन्था साध्यस्वरूपा भक्ति अथवा ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार कबीर, नानक, नरसी आदि गृहाश्रमी सन्तों की जीवनचर्या को भी हम 'मात्राशास्त्र' की प्रतिपाद्य धारा से सम्बद्ध करके उसके सार्वभौम स्वरूप को व्याख्यायित कर सकते हैं।

अं परमात्मानं कालयति इति अकालः—जो परमात्मा का संख्यान या प्रकाशन करे वह अकाल है, इस प्रकार निष्पन्न अकालशब्द परमात्मा को प्राप्त कराने वाली कन्था विशेष का बोधक होगा। परमात्मा की प्राप्ति के लिए हम कालरहित होकर समय-सीमा का निर्धारण न करके सतत कन्था पर आसीन होकर परमात्मा का चिन्तन करेंगे। यह गुरुप्रदत्त कन्था अवश्य ही परमात्मा को प्राप्त करायेगी। इस विश्वास के साथ हम निरन्तर प्रयत्न करेंगे; क्योंकि इन्द्रियों

का संयम करके निरन्तर वासुदेवपरायण होकर ध्यान करने का विधान भगवद्गीता (2/61) में भगवान् श्रीकृष्ण ने किया है। इस प्रकार अकालशब्द बैठने में हमारी समयबद्धता के अभाव को भी सूचित करेगा, वह परमात्मा को भी कहेगा तथा परमात्मस्वरूप गुरु का भी बोधक होगा। अकाल और कन्था के सम्बन्धों को विभिन्न समास बोधित करेंगे। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो', 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस रूप में नव बार एक ही वाक्य का प्रयोग कर श्रुति ने आत्मतत्त्व की ग्राह्यता को असकृदुपदेशसाध्य एवं दुर्लभ कहा है। गुरुदेव भगवान् ने अकाल ब्रह्म के उपदेश रूप कन्था को देकर तथा भौतिक कन्था से उसका निरन्तर स्मरण कराकर परमात्मतत्त्व को सुगम और सुग्राह्य बना दिया है। जैसे कन्था से प्रावृत्त शरीर वाला यति, चक्षुरादि सभी इन्द्रियों को कन्था तक ही सीमित करके बाह्यजगत् से सम्पर्कशून्य होकर आवृत्तचक्षुष्ट्व की प्राप्ति के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है, उसी प्रकार इन्द्रियों की विषयप्रवणता, ब्रह्मज्ञानरूपी कन्था से आवृत्त होने पर समाप्त हो जाती है।

'अकाल कन्था' इस मात्रा में अकालरूपी कन्था यह समास करके हम कन्था को कालरहित परमात्मस्वरूप तो बता देते हैं; किन्तु यदि हम 'अकालस्य परमात्मनः कन्था अकालकन्था' (अकाल परमात्मा की कन्था) इस रूप में षष्ठीतत्पुरुषसमास कहें तो हमें 'अकाल खिन्था' इस मात्रा का अर्थ 'अकाल परमात्मा' की कन्था की तरह स्थूलरूप यह जगत् है जो उसका आवरण करता है, जो उसकी इच्छा से प्रसूत है, यह कहना होगा। इस अर्थ की संगति भी है। क्योंकि 'अकाल' परमात्मा के सूक्ष्मरूप (वास्तविक स्वरूप) की प्राप्ति, स्थूल रूप (जगत्) के चिन्तन के द्वारा होती है। भगवान् के स्थूल रूप के चिन्तन से मनःशुद्धि होती है। अतः मनःशुद्धि के लिए भगवान् के स्थूल रूप का ध्यान, शुकदेव जी ने परीक्षित् को श्रीमद्भागवत में बतलाया, वे कहते हैं—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद् धिया॥

(2/1/23)

आसन पर बैठने का अभ्यास करके (जितासनः) श्वास का नियमन करने के अनन्तर आसक्तिरहित जितेन्द्रिय पुरुष को भगवान् के स्थूल रूप का ध्यान

करना चाहिए। यह स्थूल रूप क्या है? इसे बताने के लिए आगे के श्लोकों में स्थूल रूप का वर्णन करके अन्त में शुकदेव जी कहते हैं—

इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः
सन्निवेशः कथितो मया ते।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित्॥

(श्रीमद्भाग. 2/1/38)

भगवान् के विग्रह (शरीर) की संरचना की जो इयत्ता (सीमा) मैंने बतलायी है, इसी स्थूल रूप में अपनी बुद्धि से मन को लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है। अब प्रश्न यह है कि भगवान् के इस स्थूल रूप में मन को अच्छी तरह स्थिर किया जाय, ऐसा शुकदेव जी की आज्ञा है; किन्तु इस भजन का साक्षात् फल क्या है? इसे उन्होंने आगे बतलाया है। वैराग्य[95] की भावना से अपने चित्त को निर्मल कर निश्चयात्मक बुद्धि से स्वतः सिद्ध आत्मस्वरूप वाले भगवान् अनन्त का भजन करना चाहिए; क्योंकि भगवान् भजनीय गुणों से युक्त एवं नित्य हैं। भजन करने वालों के गुणों को बताने वाले कुछ और विशेषण भी हैं। उसे 'निर्वृतः' 'नियतार्थः' इन दो शब्दों से कहा गया है। निर्वृत शब्द का अर्थ निर्वृत्ति या आनन्द को प्राप्त है। नियतार्थ शब्द, जिसने अर्थ का निश्चय कर लिया है, उसका वाचक है। अर्थ शब्द को स्वरूपपरक मानकर श्रीधर स्वामी ने निर्वृत का निश्चयस्वरूप अर्थ किया है। यह विशेषण बहुत महत्त्वाधायक है। जिसने स्वरूप का निश्चय कर लिया है, वह संशयरहित होकर भजन करता है, तो माया की उपरति हो जाती है। यह माया ही संसार का कारण है। यहाँ निश्चय शब्द परोक्ष-निश्चयपरक लेने पर यह अर्थ होगा कि गुरु एवं शास्त्र के वाक्यों से ईश्वर का निश्चय करके उसका भजन करे। किन्तु ऐसा मानने पर 'निर्वृतः' कहना असंगत होगा। यतः श्रीधर स्वामी ने इसका अर्थ 'तदनुभवानन्देन निर्वृतः सन्' यह किया है, जिससे 'निर्वृतः' का अर्थ है भगवत्-स्वरूप का अनुभव या साक्षात्कार करने के कारण सर्वविध संकल्प तथा क्रिया आदि से रहित होकर उनका भजन करें। इस प्रकार स्वरूप-ज्ञान के अनन्तर होने वाली यह 'पराभक्ति' है, इसी से संसार का उपरम होता है।

संसार का उपरम, संसारशारीरक परमात्मा के चिन्तन से बताया गया। अविनाशी गुरु परमात्मा की सृष्टि का इस प्रकार माया के निवर्तन में उपयोग सिद्ध होता है। 'अकाल खिन्था' यह मात्रा बताती है कि अकाल परमेश्वर ने कन्थारूप संसार को रचकर उसके चिन्तन के द्वारा माया की निवृत्ति को बतलाया। किन्तु चिन्तन किस प्रकार किया जाय? उसके लिए मन कैसा हो? यह वर्णन 'निराश झोली' इस मात्रा में मिलता है। निराशा (निष्काम भाव से) भरे मन से परमात्मा का चिन्तन किया जाय तो उससे मन की शुद्धि होगी और संसार के उपरम का मार्ग प्रशस्त होगा।

'अकाल खिन्था' इस मात्रा का प्रतिपाद्य काल-सम्बन्धरहित ब्रह्म ही नित्य है—जगत् के अन्य पदार्थ अनित्य या कालकवलित होने वाले हैं, यह आशय भी इस मात्रा के सावधारण व्याख्यान से अर्थात् परमात्मा ही अकाल है, इस व्याख्या से सूचित हो रहा है, जिससे अनित्य संसार में आसक्ति का अभाव प्राप्त होता है और साधक आशा का परित्याग करता है; किन्तु यह निराशा क्षणिक न होकर सार्वकालिक हो, इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए आचार्यचरण मात्रा-सूत्र 'निराश झोली' का उच्चारण करते हैं।

निराश झोली

नैराश्य की झोली का अकाल खिन्था से नित्य सम्बन्ध है; क्योंकि आशा छोड़कर साधना करने से ही परमात्मा मिलता है। महात्म वृन्द भी गूदड़ी और कन्था के साथ एक झोली भी रखते थे, जिसमें आवश्यक सामग्री रहती थी। निराशा का साधना में अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही गोरखबानी के मछीन्द्र गोरखबोध में कहा गया है—

प्र. कौंण मुषि होइ जोति मैं रहै?

उ. निरास मुषि होई जोति मैं रहै? (पद 101-102, गो.बानी, पृ. 218)

मुख (मुषि) को प्रधानता का सूचक स्वीकार करके प्रश्न का आशय कह सकते हैं, 'किसको प्रधानरूप से मन में रखकर 'जोति' में लीन रह सकते हैं'? उत्तर का आशय इस दृष्टि से यह कह सकते हैं 'निराशा' को प्रधानरूप से मन में रखकर साधक 'जोति' में रह सकता है। ज्योति में रहना, ज्योति स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करना है।

आशा से मन चंचल होता है। उसकी निश्चलता तो निराशा में ही रहती है। अतएव गोरखबानी में कहा गया है—

आसा तजीला तृसनां तजीला तजीला मनसा माई।
नौ खंड पृथ्वी फेरि ने आल गोरख रहीला मछिंद्र ठांई ॥

(पद 46, रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 160)

तथा—

छाड़ै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास।

(सबदी 16, पृ. 27)

गोरख ने आशा, तृष्णा और इच्छा (मनसा) रूप माया (माई) को छोड़ दिया है। नौखण्ड वाली पृथिवी को भी छोड़कर वह गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के स्थान पर रह रहा है। उनकी शरण में अथवा सहस्रार चक्र में जो परमगुरु ब्रह्म का स्थान है, वहाँ रह रहा है। जो आशा को छोड़कर सर्वदा निराश रहते हैं, ब्रह्मा भी उनके दास होते हैं।

बानी में आशा का सर्वप्रथम त्याग बतलाया गया है, कबीरदास भी आशा, तृष्णा के रहते, आवागमन से मुक्ति नहीं देखते। अतः इन्हें छोड़ने के लिए उपदेश देते हैं—

माया मुइ न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णा ना मुई, यों कह गये कबीर ॥

(कबीरदोहावली 910)

अतः आचार्यचरण भी निराशा की झोली उपयोग में लाते हैं। गोरखबानी में भी **'झोली निरांसं'** (शिष्यादरसन, पृ. 181) इस रूप में निराशारूपी झोली का वर्णन मिलता है। इस झोली की विशेषता यह है कि इसमें जो भी चीज रखी जायेगी, वह निराशा से घिरी होगी, उसमें आसक्ति नहीं होगी। आचार्यचरण कहते हैं कि हमने निराशारूपी झोली धारण किया है; क्योंकि अकाल खिन्थारूप परमात्मा की प्राप्ति निराशारूपी झोली को साथ रखने पर होती है। यह उचित भी है, परमदुःख के साधनभूत आशा के रहते सुखस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति अथवा अनन्यगामिनीचित्तवृत्तिरूप भक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यतः आशा ही दुःख का साधन है। आशा को परमदुःख का साधन बतलाते हुए कहा गया है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संच्छिद्य कान्ताशां, सुखं सुष्वाप पिंगला॥

(श्रीमद्भागवत 11/8/44)

अर्थ स्पष्ट है—आशा परम दुःख का साधन है तथा नैराश्य परम सुख निरतिशय सुख का साधन है; क्योंकि कान्तसंगम की आशा को छोड़ने के बाद ही स्वैरिणी पिंगला सुखपूर्वक सो सकी।

सांसारिक मनुष्य सुषुप्ति में अतिशय सुख प्राप्त करता है। उसे प्राप्त कर वह सभी कष्टों को भूल जाता है; किन्तु वह सुषुप्ति भी जिस आशा से बाधित हो जाती है, वह आशा किन दुःखों को जन्म नहीं देती? अर्थात् सभी दुःखों को उपस्थापित करती है, यही इसका आशय है। अतः निराश झोली से आचार्यचरण यह बताना चाहते हैं कि निराशा या निर्वेद ही कालपरिच्छेदरहित अकाल ब्रह्म को सगुण-साकार या निर्गुण-निराकार रूप में प्राप्त करने का साधन है। अतएव श्रुति कहती है—परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नाऽस्त्यकृतः कृतेन (मु.उप. 1/2/12)। कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों को सातिशय समझकर विवेकसम्पन्न कर्मकर्ता ब्राह्मण को निर्वेद की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह यह जान जाता है कि कर्म के द्वारा भक्ति तथा विरक्ति से प्राप्त होने योग्य नित्य ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया जा सकता। यतः कर्मों का सम्बन्ध फल से है, अतः उनसे भोग मिलेगा, परमात्मा नहीं प्राप्त होंगे। निर्वेद को प्राप्त व्यक्ति इस लोक में अथवा स्वर्गादि लोकों में प्राप्त होने वाले भोगों से विरक्त होकर निर्व्याजभक्ति अथवा ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनता है। विरक्ति, ईश्वरानुरक्ति का सूचक है; क्योंकि प्रपञ्चातीत परमात्मा में अनुराग के बिना दृढ़ वैराग्यप्रयुक्त प्रपञ्चत्याग नहीं हो सकता। निराश, निर् और आशा दो शब्दो के के समास से बना है। आशा शब्द दिशा का भी वाचक है **'आशा ककुभि तृष्णायाम्'** आशा शब्द दिशा और तृष्णा दोनों का वाचक है, यह हैमकोश इसमें प्रमाण है। **'आशाया निर्गतः निराशः'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न निराश शब्द, दिशारूप सीमा से रहित असीम परमात्मा को बताते हुए उस परमात्मा का सम्बन्ध झोली से बता रहा है, अर्थात् निराश परमात्मा, नैराश्य की झोली में है, यह सूचित होगा।

अकाल की कन्था (खिन्था) से निराश झोली का बहुत सन्निकट का सम्बन्ध है; क्योंकि अकाल का ज्ञान कराने वाली निराश झोली ही है। जब हम सम्पूर्ण आशाओं का त्याग कर परम नैराश्य के आश्रयण के द्वारा सृष्टि के रचयिता को जानने का प्रयास करते हैं, तो भावनिर्जित चित्त में परमात्मा का भासन होता है।

यदि 'अश भोजने' धातु से 'अशनम् आशः' इस व्युत्पत्ति में भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करके आश शब्द बनाया जाय तथा इस 'आश' शब्द से अर्श आद्यच् किया जाय, तो आश-शब्दवाच्य भोजन या भोग से रहित या भोग की वासना से रहित परमात्मा की झोलीरूप मन को 'निराश झोली' कहेगा। इस व्युत्पत्ति को—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

(श्वे.उप. 4/6)

इस श्रुति से संवाद प्राप्त होता है। अतः दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति से मिलित रूप में यह द्योतित होता है कि जो परमात्मा दिशाओं के बन्धन से परे होने के कारण असीम तथा भोगरहित है, उसी की झोली है, यह मन जो उसके द्वारा सृष्ट है। इस निराश झोली में भोगप्रद कर्मजन्य अदृष्ट सुरक्षित हैं, जो यथावसर फल देते रहते हैं। जब भोगरहित परमात्मा की झोली यह मन है तो हमें इस मात्रा के द्वारा भोगों से विरक्ति का सन्देश प्राप्त होता है। क्योंकि परमात्मा ने इसे भोग के लिए नहीं, योग के लिए बनाया है।

अतः दोनों मात्राओं से यह भी सन्देश मिलता है कि आशाओं को छोड़कर भोगरहित जीवन बिताते हुए हम संसार के रचयिता परमेश्वर को जानने का सार्थक प्रयास कर सकते हैं। किन्तु हमें पूर्ण सफलता तभी मिलेगी जब हम 'युक्ति का टोप' एवं 'गुरुमुखी बोली' दोनों का सहारा लें। निराश मन जैसे-जैसे शान्त होगा उसी क्रम में ईश्वर की ओर आकृष्ट होता जायेगा। जगत् की प्रतीति परमात्मा की प्रतीति में बाधक है। संसार का स्फुरण रोकने के लिए हमें आसक्ति को दूर करना होगा। आशा तो ऐसा विष है जो परमात्मा सम्बन्धी चेतना को भी समाप्त कर देता है। लोक में झोली आशा का प्रतीक है। झोली को उठाकर हम अपना

उद्देश्य प्रकट कर देते हैं। जिस किसी रूप में झोली भर जाय, यही झोली लेने वाले का उद्देश्य होता है। किन्तु नैराश्य की झोली का प्रभाव ही कुछ अलग है। ऐसी झोली लेने वाले के नेत्र संसार की सीमा में नहीं बँधते, वह लौकिक दाताओं से वितृष्ण होकर दान और दया की प्रतिमूर्ति परमेश्वर की ओर देखता है। सांसारिक झंझावातों से विचलित न होने वाला वह पुरुष अविकल दृष्टि से परमात्मा को अपना सब कुछ समर्पित करता है। क्षमा का अवलम्ब प्राप्त होने से उसे कहीं से उद्वेग नहीं प्राप्त होता, वह परमात्मा में ही मन को लगाने के कारण संसार की वस्तुओं से राग और द्वेष न कर उदासीन होकर व्यवहार करता है। अतएव हर्ष, अमर्ष, भय एवं उद्वेग आदि से मुक्त होता है।

हर्ष, प्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्तःकरण का उत्कर्ष जो रोमाञ्च, अश्रुपात आदि से ज्ञात होता है, अमर्ष (अभिलषित वस्तु की प्राप्ति बाधित होने पर आने वाला), असहिष्णुता (सहन न करने) का भाव, त्रास (भय) तथा उद्वेग आदि से मुक्त होने वाला पुरुष प्रभु को अत्यन्त प्रिय होता है, जिससे सृष्टि के प्राणी उद्विग्न नहीं होते तथा प्रभु की सन्ततिभूत सृष्टि के प्राणियों से जो स्वयं उद्विग्न नहीं होता, ऐसा व्यक्ति परमात्मा को प्रिय होता है तथा ऐसे व्यक्ति की निराशरूपी झोली में संसार से कुछ नहीं प्राप्त होने पर भी परमात्मा उसकी झोली को दो मूल्यवान् वस्तुओं से भरता है—1. युक्ति का टोप, 2. गुरुमुखी बोली। यह दोनों ही उसे प्रभुकृपा से प्राप्त होते हैं, जिन्हें प्रसाद समझकर वह ग्रहण करता है। यह दोनों वस्तुएँ निराश की झोली में आती हैं। यह तथ्य इसलिए कहा जा रहा है; क्योंकि निराशा का इन दोनों से बहुत अधिक सम्बन्ध है। संसार में किसी भी वस्तु की प्राप्ति की आशा यह सूचित करती है कि हम संसार में रागवान् हैं; हमने युक्तियों से इसकी असारता का निश्चय अभी तक नहीं किया है। संसार की आपातरमणीयता ने हमारी विवेक-शक्ति को कुण्ठित कर दिया है।

किन्तु आचार्यचरण को यह भय है कि निराश झोली को प्राप्त कर ब्रह्मप्राप्ति हेतु श्रवणमननादि उपायों का अनुष्ठान छोड़कर ईशकृपा, गुर्वनुग्रह तथा अदृष्ट आदि के सहारे ही लोग ब्रह्मप्राप्ति करना चाहेंगे, तो पुरुषार्थ के अभाव में ईशकृपा या गुरुकृपा के न होने से, उन्हें ब्रह्मप्राप्ति तो होगी ही नहीं,

कर्मों से प्राप्त होने वाले उत्तम लोकों से भी वे वंचित हो जायेंगे। अतः उन्होंने यह कहा कि नैराश्यरूपी झोली के साथ युक्ति का टोप धारण करो, तभी ब्रह्मप्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं।

युक्ति का टोप

महात्मवृन्द कड़ी सर्दी से शरीर की रक्षा के लिए टोप धारण करते थे, जिससे शिर और दोनों कान ढँके रहते थे। आचार्यचरण कहते हैं कि हमने 'युक्ति' का अभौतिक टोप धारण किया है, जो कालक्रम से अकाल खिन्था रूप ब्रह्म को प्राप्त कराकर जड़ता को सर्वथा समाप्त कर देगा।

'युज्यतेऽनयेति युक्तिः' इस व्युत्पत्ति में करण अर्थ में क्तिन् प्रत्यय से युक्ति शब्द की सिद्धि स्वीकार करें, तो यह आशय होगा कि ईश्वरप्राप्ति के लिए योग या मेल के साधन उद्योग तथा विचार आदि का सहारा लो। यह उद्योग ईश्वरप्रापक साधनों का अनुष्ठान ही है। किन्तु साधनों के अनुष्ठान के पहले उनकी फलसाधनता का निश्चयात्मक ज्ञान होना चाहिए। यतः साधन का विधान गुरु के मुख से निकले हुए शब्दों से होता है, अतः आचार्य ने उन शब्दों को युक्तिरूप टोप से छनकर कर्णकुहर तक पहुंचाने हेतु युक्ति का टोप धारण करने को कहा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि साधनों का विधान शास्त्रों में है, गुरु को भी शास्त्रों से ही ज्ञान प्राप्त होता है, तो हम भी शास्त्रों से ही ज्ञान प्राप्त कर लें। गुरु की क्या आवश्यकता है? तथापि यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि शास्त्रों में यत्र तत्र प्रकीर्ण साधनों में कौन साधन हमारे लिए अनुष्ठेय है? यह गुरु ही निश्चय करता है। अतः गुरु की वाणी का महत्त्व है। हम शास्त्रीय साधनों को भी गुरुमुख से प्राप्त कर निःसंदिग्ध रूप में उनके अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं। हम जानते हैं कि टोप दोनों कानों को ढँककर ठण्डक से बचाता है, अर्थात् टोप का आश्रयण करने पर हमें शरीर को जड़ बना देने वाली ठण्डक से मुक्ति मिलती है। जलकण या हिमकण जो वायु में मिले रहते हैं, टोप उनका अवरोध करता है, तथा केवल वायुमात्र को प्रवेश देता है। उसी प्रकार उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म को अन्नमयादि पंचकोशों से विभक्त कर शुद्धरूप में (जड़ांश से मुक्त रूप में) हम तभी ग्रहण कर पाते हैं जब हम गुरुकृपा से युक्ति का टोप धारण किये

रहते हैं। अतएव पंचकोशविवेकप्रकरण में पंचदशीकार ने युक्तिपूर्वक आत्मा का पंचकोश से विवेक (भेद) प्रतिपादित किया है—

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम्॥ (22)

सांसारिक घटपटादि पदार्थों के ज्ञान में घटादि का भान होता है; किन्तु तत्तद्विषयों का प्रमोष (त्याग) करने पर सर्वत्रानुस्यूत जो केवल बोध है वही तत्त्वरूप है। इसी प्रकार अन्नमयादि अनुभवसिद्ध पंचकोशों का परित्याग करने पर जो साक्षिबोध परिशिष्ट रूप में बचता है, वही स्वरूपभूत आत्मा है, उसे शून्य नहीं कहा जा सकता। पंचदशीकार का यह वचन युक्ति के द्वारा आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करता है। क्योंकि पञ्चकोश का परित्याग युक्तियों से ही होगा।

युक्ति को तर्क शब्द से अभिहित करते हैं। तर्क दो प्रकार के होते हैं— 1. ऐसे तर्क जो श्रुत्यर्थ के अनुग्राहक होते हैं तथा 2. ऐसे तर्क जो श्रुत्यर्थ के बाधक या विरोधी होते हैं। उनमें से प्रथम प्रकार के तर्क को ग्राह्य बतलाते हुए मनुस्मृति में कहा गया है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
(12/106)

ऋषि शब्द ज्ञानवान् का बोधक है, अतः वेद (आर्ष) तथा वेदमूलक स्मृतियों का, जो तर्करूप मीमांसा-न्यायों की दृष्टि से विचार करता है, वही धर्म को जान पाता है। **'तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्ष-प्रसंगः'** (2/1/11) इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में तर्क के दो भेद सावद्य-तर्क और निरवद्य-तर्क के रूप में स्वीकार किये गये हैं। सावद्य-तर्क गर्ह्य तर्क है जो वेदार्थ का विरोधी होता है। निरवद्य-तर्क प्रशंसित तर्क है जो वेदार्थानुगामी होता है।

इस विचार से यह स्पष्ट होता है कि युक्तियों को टोप की संज्ञा देने का आशय यह है कि युक्तियों का टोप बनाकर आचार्यचरण बुद्धि में जाड्य उत्पन्न करने वाले सावद्य-तर्क की दृष्टि से ग्रथित शब्दों को कर्णकुहर का आच्छादन

करने वाले उस टोप से रोकना चाहते हैं तथा ऐसे शब्द जो युक्तिरूप टोप से छनकर आ रहे हैं, अर्थात् निरवद्य-तर्क से प्रमित हैं उन्हीं का प्रवेश उन्हें अभीष्ट है, जिससे निष्कम्प प्रवृत्ति का बाधक संशयात्मक ज्ञान उत्पन्न न हो सके। संशय-ज्ञान सर्वार्थनाशक है। अतएव संशयात्मक ज्ञान की सर्वार्थनाशकता को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा गया है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ (4/40)

अनात्मज्ञ, श्रद्धाविरहित तथा संशयात्मा (सर्वत्र संशय करने वाला) तीनों ही विनष्ट होते हैं; किन्तु संशयात्मा तो सबसे अधिक दुर्गति को प्राप्त होता है। क्योंकि उसको तो न इस लोक में अभीष्ट वस्तु मिलती है, न परलोक में, न तो उसे कहीं सुख ही प्राप्त होता है। अतः संशयात्मक ज्ञान उत्पन्न करने वाले शब्दों को युक्तिरूप टोप से आचार्यचरण रोकना चाहते हैं।

यह अवश्य अवधेय है कि जैसे टोप की आवश्यकता सर्वदा न होने से ठण्डक का अनुभव न होने पर उसे धारण नहीं किया जाता, उसी प्रकार जब तक साधनाकाल है तब तक मनन के लिए आवश्यक तर्कों का आश्रयण करना होगा किन्तु साधनाकाल में भी स्वरूपविषयक निश्चयात्मक परोक्ष ज्ञान होने के बाद निदिध्यासनकाल में भी युक्तिरूपी टोप की आवश्यकता नहीं रह जाती। स्वरूप-साक्षात्कार होने के बाद तो इसकी आवश्यकता न होने से यह त्याज्य होता ही है।

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ.उप. 4/5/6) आत्मा का प्रत्यक्ष करने के लिए उसका श्रवण तदनन्तर मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। इस श्रुति के द्वारा आत्मदर्शन के साधन के रूप में श्रवणान्तरभावी मनन का संशयनिवर्तकतया उपयोग प्रतिपादित होता है। अतः यह युक्ति का टोप उपनिषद् से बोधित है। इसे आधुनिकोत्प्रेक्षित मानकर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। युक्ति को सर्वदा प्रधानता नहीं देनी है, केवल आत्मतत्त्वविषयक संशयों को दूर करने में इसका उपयोग करना है। स्वरूप का निर्धारण निर्विचिकित्स रूप से हो जाने पर तो युक्तियों को पहचान कर उनके

उपयोग की सीमा समाप्त होने के बाद तत्त्व का साक्षात्कार निदिध्यासन के द्वारा करना चाहिए। अतएव भगवान् श्रीचन्द्र ने मात्रा के अन्त में कहा है।

नानक पूता श्रीचन्द बोले। जुगत पछाड़े तत्त्व विरोले ॥

युक्ति से संसार की असारता (नश्वरता) को समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है। हमें तो इसी संसार में अनश्वर परमात्मा की खोज करनी है, जिसमें युक्ति ही हमारा अवलम्ब बनेगी; क्योंकि परमात्मा सर्वत्र दधि में घृत की तरह व्याप्त होने पर भी बिना युक्तिरूपी मथनी के प्राप्त नहीं होता। युक्ति से ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में सन्देह शनैः-शनैः दूर हो जाते हैं और इसी शरीर के भीतर ईश्वर का साक्षात्कार होता है। ईश्वर को प्रामाणिक ज्ञान का विषय करने में क्रमिक रूप से कई मानसिक अवस्थाओं को पार करना होता है। सर्वप्रथम 'असम्भावना मल' का क्षालन अपेक्षित होता है, जिसके रहते हम ईश्वर की सत्ता को कथमपि मानने को तैयार नहीं होते। 'ईश्वर नहीं है' सृष्टिचक्र स्वभावतः प्रवृत्त हो रहा है। परलोक नहीं है, जिसके भय से हमें धर्म-नियन्त्रित जीवन बिताने की आवश्यकता है, यह कहा जा रहा है। अश्रद्धा मल के रहते इन बुद्धियों का नैरन्तर्य बना रहता है। यह विचार हमारे भीतर स्वतः उठते हैं अथवा कभी-कभी इस सम्बन्ध में हमारे सुप्त संस्कारों को दूसरे लोग उद्बुद्ध कराते हैं तथा हम ईश्वर की सत्ता पर अविश्वास करते हैं। जब तक हम युक्ति के सहारे विचार कर ईश्वर को स्वीकार्यता की सीमा के भीतर नहीं लाते, तब तक ईश्वराभाव के साधक तथ्यों की ओर हमारा झुकाव होता है और हम रुचिपूर्वक नास्तिकों की बातें ही नहीं सुनते, मीमांसकों के कर्मवाद को आधार मानकर ईश्वर को निष्प्रयोजन बताते हुए अस्वीकार भी करते हैं, किन्तु हमारी स्वच्छन्दता यहीं विराम नहीं लेने देती, हम कर्मवाद को भी अश्रेयस्कर मानने के कारण अन्ततः स्वभाव या रुचि को प्राथमिकता देते हैं; क्योंकि हमारी स्वतन्त्र मानसिकता कर्म को आधार मानकर ईश्वर का निराकरण करने पर भी परलोकवाद को कथमपि उज्जृंभित करना नहीं चाहती। यतः परलोक को मान्यता देकर हम अप्रत्यक्ष रूप से उसके नियन्त्रक के रूप में ईश्वर को मान्य करने हेतु अपनी स्वीकृति देते हैं। अतः कर्मवाद को हम छोड़ते हैं; क्योंकि वह भोगभूमि से सम्बद्ध होता है। भोगभूमि परलोक हो या जन्मान्तर से

सम्बद्ध इहलोक। हम परलोक न भी मानें तो भी कर्मवाद में जन्मान्तर तो हमें मानना होगा।

कर्मवाद के पोषक मीमांसक परलोक एवं पुनर्जन्म दोनों ही मानते हैं। किन्तु इससे स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले आज के मानव को अपनी प्रवृत्ति पर अंकुश लगता दीख रहा है, अतः वह ईश्वर की सत्ता के निषेधक कर्मवाद का भी निषेध करता है। स्वच्छन्दता उसे प्रिय है, अतः वह कामचार, कामवाद, कामभक्षण (अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करना, बिना विचार किए जो मन में आये वही बोलना, विधि-प्रतिषेध का ध्यान किए बिना जो रुचिकर लगे वही खाना) में प्रवृत्त होता है। किन्तु ऐसी प्रवृत्तियों से उसका जीवन कष्टमय हो सकता है। मनुष्य का जीवन एक व्यक्ति का जीवन नहीं है, वह समाज या समूह में रहकर ही आनन्दित होता है। ऐसा समूह जो केवल मनुष्यों का नहीं है, पशु-पक्षी, कानन, पर्वत, निर्झर आदि उसके अभिन्न अंग हैं। ऐसा समूह उसकी इच्छा की पूर्ति करता है, अपने अनुकूल आचरण से अपने सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करता है। इस प्रकार जड़-चेतन सभी में उसकी आसक्ति हो जाती है। मानव की स्वेच्छाचारिता में यह समूह भी प्रतिकूल आचरण की ओर उन्मुख होता है और स्वेच्छाचारिता उसे दुरन्त कष्ट की ओर ले ही जाती है। समाज के हर व्यक्ति के स्वेच्छाचारी हो जाने पर समाज की क्या स्थिति होगी? यह सोचा नहीं जा सकता। यह भी अवधेय है कि ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य को छोड़कर कोई भी अन्य जीव स्वेच्छाचारी नहीं है। पशु-पक्षी तथा स्थावर वृक्ष आदि भी नियत व्यवहार करते देखे जाते हैं। ऋतुओं का प्रभाव नियत समय पर होता है। वसन्त पतझड़ लाता है, तो ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप में भी नवप्रसूत पत्ते हमें छाया प्रदान करते हैं। वर्षा ऋतु आते ही नदियाँ मर्यादाओं को तोड़ देती हैं। किन्तु शरद् ऋतु आते ही मर्यादा में बँध जाती हैं। इस प्रकार कालनियन्त्रित व्यवहार प्रकृति में सर्वदा मर्यादा की झलक देता है। यह मर्यादित व्यवहार मानव को भी मर्यादा में बँधने हेतु प्रेरित करता है। यह प्रेरणा हमें प्रकृति को देखकर ही नहीं, अपने जीवन को सुखमय बनाने की चिन्ता से भी होती है। हम युक्ति के बल पर यह सोचने को विवश हो जाते हैं कि हमारी तरह सभी लोग स्वेच्छाचारी हो गये तो मर्यादाविहीन समाज सबके लिए कष्टकर होगा।

युक्ति के द्वारा मनन करने पर तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वेच्छाचारिता हमें ऐसे दीर्घ रोगों के जाल में आबद्ध कर देती है, जिनसे हमारा शरीर किसी भी प्रयोजन-सिद्धि के उपयुक्त नहीं रह जाता, शरीर बोझ हो जाता है और चंचल मन उसे ढोने की सामर्थ्य नहीं जुटा पाता। अतः हम संयमित व्यवहार की ओर झुकते हैं। युक्तिपूर्ण चिन्तन हमें पुनर्जन्म को मानने हेतु प्रेरित करता है। क्योंकि किसी बालक को माता के उदर से ही मिला रोगमय शरीर हमें यह सोचने को विवश करता है कि इसके पूर्व यह ऐसे कर्मों में संलिप्त रहा है, जिनके फलभोग हेतु यह जीवन के आरम्भ में ही रोगी हो गया। कोई बालक, माता-पिता के द्वारा लिए गये कर्ज के बोझ से गर्भावस्था में ही दब जाता है तथा कोई उनके द्वारा अर्जित धन से कोटिपति हो जाता है। माता का उदर कर्मभूमि नहीं है, जहाँ तत्काल कर्मों से अपने को धनी या गरीब बनाया जा सके। किन्तु इन चिन्तनों से पुनर्जन्म की सत्ता आते ही हम उसके नियन्त्रक के रूप में एक अदृश्य शक्ति को भी मानने को विवश होते हैं। पुनर्जन्म से देह से अतिरिक्त आत्मा की भी सिद्धि होती है। जो चार्वाक मत, **'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'** (चिता की अग्नि में) जले हुए देह का पुनः आगमन कहाँ होगा, यह कहते हुए पुनर्जन्म को सन्देहाक्रान्त करता है। उसे पुनर्जन्मप्रापक पूर्वोद्धृत तर्कों का उत्तर देना ही होगा, जिनसे परलोक, ईश्वर (अदृश्य सत्ता) और शरीर से अतिरिक्त आत्मा या जीव की सत्ता का आभास होते ही संस्कारों की प्रबलता हमें उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक ज्ञान हेतु प्रेरित करने लगती है।

ऐसी स्थिति में हमें मार्गदर्शन हेतु 'गुरुमुखी बोली' की आवश्यकता होती है, जो युक्ति के टोप के सहारे हमारे अन्तःकरण में आकर हमें मार्गदर्शन कर सके, हमारी कुण्ठा को दूर कर सके तथा अवसाद-भरे जीवन में उल्लास की किरण ला सके। गुरुमुख से उच्चरित वाणी को समझने के लिए युक्तियों से उसका मनन अपेक्षित है।

यह युक्ति का टोप, क्षमा की टोपी के रहते हुए भी आवश्यक है। अतः यह नहीं सोचना चाहिए कि दोनों का एक साथ धारण कैसे होगा? आध्यात्मिक टोपी और टोप दोनों को एक साथ धारण करने में बाधा नहीं है। व्यवहार में भी कोई व्यक्ति प्रातः-सायं की सिहरन भरी ठण्डी में टोप एवं दिन में कम ठण्ड के

समय टोपी को धारण करता हुआ दोनों को साथ धारण करता है। क्षमा की टोपी शरीर की शोभा है, वह हमारे अनुरूप आत्मभाव की ओर इंगित करती है। वह ताप से हमारी रक्षा करती है; क्योंकि क्षमाशील मनुष्य कभी भी अन्तर्द्वन्द्वों तथा बाहर के दुःखप्रद प्रसंगों से क्षुब्ध नहीं होता। किन्तु टोप का कार्य इससे भिन्न है। वह कठोर सर्दी से हमारी रक्षा करता है, उसे धारण किये रहने पर निर्बाध गति से चलने वाली शीतल हवा, शरीर के भीतर सिहरन नहीं पैदा कर पाती। क्षमा की टोपी अहंकार (शिर) का भूषण है। अर्थात् अहंकार को ढँकती है, उसे दूर करती है। बिना अहंकार को दूर किए व्यवधानरहित होकर साधना के मार्ग में व्यक्ति चल नहीं पाता; क्योंकि अहंकार प्रतिपल बाधा खड़ी करता रहता है।

अब जिज्ञासा यह होती है कि युक्ति का टोप लगाकर किन शब्दों को तर्कप्रमित करने का प्रयास किया जाय? यतः वेद तथा वेदानुगामी मन्वादि स्मृतियों, पुराणों तथा महापुरुषों की वाणियों में उस तत्त्व का प्रतिपादन विभिन्न रूपों में विभिन्न अधिकारियों के लिए किया गया है। वेदार्थानुगामी होने से सभी का प्रामाण्य अपनी जगह पर है; किन्तु सबका आश्रयण हम नहीं कर सकते, अतः प्रत्येक साधक के लिए श्रवणीय तथा युक्ति के द्वारा मननीय शब्द का उपदेश आचार्यचरण ने 'गुरुमुखी बोली' इस मात्रा में किया है।

गुरुमुखी बोली

साधना परम्परा में गुरु का महत्त्व तथा गुरु से प्राप्त उपदेश रूप गुरुमुखी बोली का महत्त्व क्या है? इसे गोरखबानी में देखने पर सभी जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती हैं; क्योंकि अपने पदों में बार-बार गुरु की महिमा गाते हुए, गुरु गोरखनाथ थकते नहीं है। कुछ निदर्शन द्रष्टव्य हैं।

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा, पीयबा नींझर पांणी।
लंका छांड़ि पलंका जाइबा, तब गुरमुष लेबा बांणी॥

(सबदी 65, गो.बानी, पृ. 43)

उन्मना अवस्था में लीन रहना चाहिए, किसी से अपना भेद नहीं कहना चाहिए। अमृत के झरने का पानी पीना चाहिए। गुरुमुख से उपदेश प्राप्त करने के लिए राक्षसों की नगरी लंका को छोड़कर परलंका में भी जाना पड़े, तो जाना

चाहिए। अर्थात् कितने भी दुर्गम स्थान में दुर्जनों के बीच भी 'गुरु' हों, तो भी वहाँ जाकर उनके मुख से उपदेश प्राप्त करना चाहिए।

आकास तत सदा सिव जांण, तसि अभि अंतरि पद निरबांण।
प्यंडे परचांनैं गुरमुषि जोइ, बाहुडि आबागमन न होई ॥

(सबदी 169, गो.बानी, पृ. 77)

आकाशतत्त्व (पंचभूतों से भिन्न शून्य मण्डल) को सदाशिव (पूर्ण ब्रह्म) समझो। उसी के अभ्यन्तर (भीतर) निर्वाण पद है। इस शरीर में उसका परिचय मिल जाता है। गुरुमुख से इस पिण्ड में उसका परिचय प्राप्त करो, जिससे फिर आवागमन न हो।

कोई बादी कोई बिबादी, जोगी कौं बाद न करनां।
अठसठि तीरथ समंदि समावैं, यूं जोगी कौं गुरुमुषि जरनां ॥

(सबदी 13, गो.बानी, पृ. 25)

कोई तत्त्व जानने के लिए 'वाद' कथा करता है, कोई केवल दूसरे के मत का खण्डन करने हेतु विवाद (विरुद्धवदन) करता है। किन्तु योगी को इस प्रकार के वाद-विवाद में नहीं पड़ना है, उसे तो गुरु के वचन पर विश्वास करके उनके उपदेश को अपने में जीर्ण करना (जरनां) चाहिए, पचाना चाहिए, उससे आत्म-प्राप्ति करना चाहिए। योगी को गुरुवचन में कैसे विश्वास करना चाहिए, इसे दृष्टान्त से समझाया गया है। भारत की सम्पूर्ण 68 नदियों के किनारे स्थित तीर्थों का जल समुद्र में ही जाता है। सबका प्राप्ति-स्थान समुद्र ही है, सभी तीर्थ समुद्र में जाकर अपना अस्तित्व खो देते हैं, उसी प्रकार सभी उपदेश गुरु के मुख से मिले उपदेश में समा जाते हैं। गुरु के उपदेश से भिन्न किसी उपदेश पर आचरण की आवश्यकता शिष्य को नहीं है।

'गुरुमुखी' शब्द से गुरुमुखी (पंजाबी भाषा की) लिपि का ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि लिपि बोली नहीं जाती, उच्चारण तो भाषा, अर्थ प्रकाशक शब्दों का होता है। लिपि, भाषा के शब्दों की स्मारिका होती है। अतएव एक ही वाक्य को विभिन्न लिपियों में लिखने पर भी उच्चारण करने पर उसी भाषा का वाक्य उपस्थित होकर अर्थबोध कराता है। अतः 'गुरुमुखी' शब्द गुरु के मुख से सम्बद्ध वाणी का बोधक है, यह स्वीकार करना चाहिए। 'गुरुमुखस्येयं गुरुमुखी' इस

व्युत्पत्ति में पुंयोग में डीष् प्रत्यय कहना चाहिए। श्रीमद्भागवत **'न चेद् गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्राऽसती मतिः'** (7/5/29) में 'यदि गुरुमुख से यह मति तुमको नहीं मिली है, तो यह अकल्याणकारिणी असती मति कहाँ से प्राप्त हुई' यह कहते हुए हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद की बुद्धि को गुरुमुखी से भिन्न कहा है तथा यह भी कहा है कि गुरुमुख से उच्चरित शब्दों से जो मति नहीं प्राप्त होती, वह मति कल्याण करने वाली तथा समीचीन या सद्रूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाली नहीं होती।

हिरण्यकशिपु के वाक्य पर विचार करें तो वह स्पष्ट कह रहा है कि यदि गुरुवाक्यजन्य बुद्धि नहीं है तो वह अभद्रा है, अर्थात् उससे कल्याण नहीं होगा तथा वह बुद्धि समीचीन भी नहीं होगी। यद्यपि प्रह्लाद की बुद्धि कृष्णविषयक है, अतः उसे अभद्रा तथा असती कहना उचित नहीं है, तथापि जो वाणी गुरुमुखी नहीं है, उसे अभद्रा एवं असती कहने से यही स्पष्ट होता है कि गुरुमुख से उच्चरित वाक्य से होने वाली बुद्धि भद्र (कल्याण) प्राप्त कराने वाली तथा समीचीन होती है। अपने भाई हिरण्याक्ष का वध करने वाले विष्णु (कृष्ण) के प्रति हिरण्यकशिपु का रोषभाव स्वाभाविक ही है। वह जानता है कि कृष्ण कभी दैत्यवंश के अनुकूल नहीं हो सकते, अतः कृष्णविषयक मति को असती कह रहा है। सामान्य दृष्टि तो यही है कि गुरुमुखी मति से कल्याण होता है।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि यह मात्राशास्त्र सूत्र-शैली में लिखा गया है। सूत्रों में एक जगह उच्चारित शब्द कभी-कभी आगे के एकाधिक सूत्रों में अनुवृत्ति के द्वारा सम्बद्ध होते हैं। पाणिनि व्याकरण के अध्येता इस तथ्य से सुपरिचित हैं। प्रकृत प्रसंग में 'अकाल खिन्था' इस मात्रा-सूत्र में आये अकाल शब्द का अग्रिम तीन मात्राओं से सम्बन्ध किया जाय, तो अग्रिम मात्राओं का स्वरूप निम्न होगा—

अकाल निराश झोली। अकाल युक्ति का टोप।

तथा—

अकाल गुरुमुखी बोली।

अर्थ स्पष्ट है—अकाल कन्था को प्राप्त कराने वाली नैराश्य की झोली भी कालसम्बन्धरहित होगी, अर्थात् आशा का परित्याग कर उद्योगों का तब तक

निरन्तर अनुष्ठान करना है जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय। आत्मप्राप्ति के मार्ग में चलते हुए निरन्तर मननशील साधक को संशय भी सर्वदा होते रहते हैं। अतः युक्तिरूपी टोप का धारण भी अकाल है, अर्थात् तब तक युक्ति का टोप धारण करना है जब तक संशय दूर न हो जाय। आत्मतत्त्व की प्राप्ति हुए बिना संशयों का समूलोच्छेद नहीं होता है, अतएव—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मु.उप. 2/2/8)

मन्त्र में हृदयग्रन्थिभेदनपूर्वक सर्वसंशयनिवारण तथा भोगोन्मुख कर्मों का नाश, कार्य एवं कारण रूप में (पर-कारणात्मना, अवर-कार्यात्मना) आत्मतत्त्व को जान लेने पर ही होता है, यह प्रतिपादित किया गया है। अतः आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त युक्तियों के सहारे संशयोन्मूलन करते रहना चाहिए। इस प्रकार 'अकाल युक्ति का टोप' इस मात्रा से बोधित होगा।

अकाल शब्द का गुरुमुखी बोली के साथ सम्बन्ध करने पर यह अर्थ होगा कि हमारे गुरु के पांचभौतिक शरीर से जो वाणी निकल रही है, वह अकाल गुरु के मुख की वाणी है। काल के सम्बन्ध (प्रभाव) से रहित तो ईश्वर ही है। इस प्रकार गुरु एवं ईश्वर का अभेद प्रतिपादित कर आचार्यचरण यह बताना चाहते हैं कि शिष्य को ईश्वर एवं गुरु में भेद-दृष्टि नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत उसे ईश्वर की पूजा गुरुरूप में ही करनी चाहिए। गुरु के मुख से निकले वाक्यों को वेद का वाक्य मानकर उन्हें ही कल्याण का साधन समझना चाहिए। इस प्रकार अकाल शब्द का सम्बन्ध गुरु में न कर यदि गुरुमुखी बोली में किया जाय तो यह अर्थ होगा कि गुरुमुख से उच्चरित वाक्य कालविशेष में नहीं सर्वदा आदरणीय हैं। अतएव कहा जाता है—

'गुरुलोपो न कर्तव्यः स्वच्छन्दो यदि वा भवेत्' (गुरुगीता 102)
तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा सकल बन्ध-विनिर्मुक्त हो जाने पर भी गुरु का लोप नहीं करना चाहिए, अर्थात् सर्वदा गुरु की आज्ञा का पालन करते रहना चाहिए, यह उपदेश गुरुगीता दे रही है।

गोपालविलास में गुरु एवं परमात्मा में अभेद है, इस तथ्य को कहा गया है—

गुरु में तुम में भेद न देवा। गुरु सेवा सो तुम्हरी सेवा॥

इस प्रकार गुरु एवं ईश्वर का अभेद प्रतिपादन करके गुरुमुख से उच्चरित वाक्यों को वेदवत् स्वीकार्य रूप में व्यवस्थापित करने वाले आचार्यचरण के मन में यह तथ्य स्फुरित हुआ कि कलि के पापबहुल जीव तो गुरुपद की मर्यादा का भी लोप करेंगे। वे पावन गुरुपद को माया के आवरण में लाकर शिष्यों की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करेंगे। कण-लोभ से प्रेरित होकर प्रतारणा एवं वञ्चना का आश्रयण करेंगे। परिणामस्वरूप गुरु के ऊपर लोग विश्वास करना छोड़ देंगे तो बाह्याचार के अभाव में यह मानस क्रियायोग विरल ही नहीं लुप्तप्राय होगा। इतना ही नहीं, सांसारिक लोग तो बाह्याचार की प्रधानता में ही समूह से सम्पृक्त होते हैं। बाह्याचार ही उनका आकर्षण है। क्योंकि सभी लोग नैराश्यरूपी झोली और युक्तिरूपी टोप का सदुपयोग करने के अधिकारी नहीं होते। अतएव वेद ने आकर्षक प्रलोभनों से युक्त कर्म तथा निस्सीम रूप जलधि परमेश्वर की प्राप्ति कराने वाली उपासना का विधान करके परम तात्पर्य के रूप में प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार हेतु उपनिषद् भाग में श्रवणादि का विधान किया। यह आवश्यक भी है; क्योंकि बाह्य कर्मों के वैगुण्य का साक्षात्कार किये बिना उनका विधिवत् त्याग नहीं होता। अतः गुरुमुखी बोली का यह अर्थ होगा कि शिष्य को सर्वदा गुरुमुख से प्रतिपादित तथ्यों का ही प्रतिपादन करना चाहिए, अर्थात् वेदानुगामी शास्त्रों के ही मार्ग का प्रतिपादन करना चाहिए।

धर्म का चोला

धर्म का चोला, सत्य की सेली।
मर्यांद मेखला, ले गले मेली॥

इन तीन मात्राओं का अर्थ विचार-समन्वित रूप से करना संगति की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। अविद्या या विपरीत बुद्धि की निवृत्ति, धर्म एवं मर्यादा की रक्षा तथा सत्य के आचरण के लिए भी आवश्यक है। क्योंकि अविद्या के रहते सांसारिक पदार्थों को नित्य एवं सुख का साधन मानकर हम दृढ़ता से धर्माचरण, सत्याचरण एवं मर्यादाओं की रक्षा नहीं कर सकते। शरीर धर्माचरण का मूल

साधन है, उसे भोग का साधन मानकर हम धर्म को तिलाञ्जलि देते हैं। अविद्या के कारण ही यह विपरीत बुद्धि होती है। धर्म का मूल मन्त्र सत्य है। सत्य का पालन कर हम धर्म की रक्षा करते हैं। क्योंकि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। स्पष्ट है कि धर्म एवं सत्य को अत्यन्त पृथक् नहीं किया जा सकता। धर्म, सत्य एवं मर्यादा के आध्यात्मिक महत्त्व को ध्यान में रखकर आचार्यचरण ने 'धर्म का चोला', 'सत्य की सेली' 'मर्याद मेखला ले गले मेली' इन मात्राओं में भी धर्म, सत्य एवं मर्यादा को सर्वदा धारणीय बतलाया है।

'धर्म' शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ क्या है? इसे बताने के लिए किसी परिभाषा की आवश्यकता नहीं है, वह लोक प्रसिद्ध है। अतः आचार्यचरण ने महात्माओं के द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले 'चोला' या लबादा को 'धर्म' शब्द से अभिहित किया, जैसे–लबादा से शरीर ढँक जाता है, वैसे हमारा शरीर धर्म से आवृत्त है। प्रत्येक अंग का धर्माचरण का स्वभाव है, यह इससे ध्वनित होता है। गोरखबानी में धर्म के फल का वर्णन करते हुए कहा गया है—

दया धर्म नां बीज अणावो इणीं परिषेत्रे जावो।
षातां न षूटै देतां न निठै जम बार नहीं जाइ॥
मछींद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या नित नवेरड़ौं थाइ॥

(पद 2-3, रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 144)

दया धर्म का बीज मँगाओ, तब खेत में जाओं। फिर तो खेती ऐसा फल देगी कि खाने से खतम नहीं होगा, देने से नष्ट नहीं होगा और उसके प्रभाव से यमद्वार में नहीं जाना होगा। मत्स्येन्द्र के प्रसाद से यति गोरखनाथ का कहना है कि वह खेती नित्य नवीन बनी रहेगी।

गोरखबानी में प्रकाशित ग्यांनतिलक में केवल धर्म के मार्ग की चर्चा की गयी है।

कहैं नाथ धरम का पेंड़ा, संसे बूँद न लागै।

(ग्यांनतिलक 30, गो.बानी, पृ. 233)

'पेंड़ा' शब्द, प्रैणृ गतिप्रेरण श्लेषणेषु धातु से बने प्रैण का अपभ्रंश होकर 'मार्ग' वाची है। नाथ कहते हैं कि धर्म के मार्ग पर चलने से संशय की बूँद भी साधक को नहीं लगती।

इन दोनों पदों को देखने से धर्म के विषय में नाथ सम्प्रदाय की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। हम जानते हैं कि ब्रह्मज्ञान सम्पन्न महात्मा जीवों के कल्याण के लिए ही उपदेश करते हैं, उनका उसमें अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। अतएव धर्म के अक्षय फल को ध्यान में रखकर 'धर्म' के अभौतिक लबादे को धारण करने की चर्चा आचार्यचरण ने किया। वेद भी **'सत्यं वद, धर्मं चर'** (तै.उप. 1/11/1) कहते हुए सत्यवदन और धर्माचरण पर बल देता है। 'धर्माचरण' शब्द धर्म में स्वाभाविक प्रवृत्ति को बतलाता है। जैसे धर्म करने वाले को धार्मिक कहते हैं, उसी प्रकार लोक प्रसिद्ध अधर्म का आचरण करने वाले को अधार्मिक कहते हैं। इस सम्बन्ध में **'धर्मं चरति'** (4/4/41) यह पाणिनि सूत्र तथा अधर्माच्चेति वक्तव्यम् यह वार्तिक द्रष्टव्य है।

धर्म और अधर्म का यह निर्णय लोक प्रसिद्धि के आधार पर स्वीकार करने पर भी प्राणिवध के प्राप्त होने पर अनृतवदन का धर्म होना, सीतान्वेषण के प्रसंग में निशीथ में नग्नस्त्री वीक्षण का भी हनुमानजी के लिए अधर्मजनक न होना आदि ऐसे दृष्टान्त हैं, जिनसे असंदिग्ध रूप से धर्म एवं अधर्म का निर्णय नहीं हो पाता। अतः यह कहना होता है कि धर्म का तत्त्व अत्यधिक मनन के पश्चात् ज्ञात होता है। अतएव यक्ष ने युधिष्ठिर से कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(म.भा., वनपर्व, 313/17)

तर्क से धर्म का निर्णय नहीं किया जा सकता; क्योंकि अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार तर्क करने वाले लोग धर्मतत्त्व को अन्यथा रूप में प्रतिपादित करते रहते हैं। श्रुति (वेद) से भी धर्मस्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि भिन्न-भिन्न श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करती हैं। श्रुतियों का व्याख्यान करने वाले ऋषिगण भी भिन्न-भिन्न अर्थों का श्रुत्यर्थ के रूप में प्रतिपादन करने के कारण प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि धर्म का यही स्वरूप है, यह निर्णय उनके विरुद्ध मतों के कारण नहीं हो पाता। इस प्रकार धर्म का तत्त्व विचार्य कोटि में

ही रहने के कारण बुद्धि-गुहा में ही छिपा रह जाता है। अतः अनन्त वचनों से प्रतिपादित होने वाले धर्म का निर्णय श्रुति, स्मृति आदि से शक्य न होने के कारण; बहुजनसम्मत, महाजनसेवित धर्म का समादर करना चाहिए। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणो ह्यपि बोधव्यं बोधव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोधव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता 4/16-17)

में श्रुति-स्मृति-वचनों पर आधारित पुण्यजनक कर्मों का निर्णय दुःशक होने के कारण कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस विषय में मेधावी लोग भी संशय में पड़ जाते हैं, ऐसा कहा। अतः आगे अर्जुन से वे कहते हैं कि उस कर्म को तुझे बतलाता हूँ, जिसको जानकर तुम संसार (अशुभ) से मुक्त हो जाओगे। (4/16)

तुमको यह नहीं सोचना चाहिए कि लोकप्रसिद्ध शरीर-चेष्टा ही कर्म है तथा उसको न कर शान्त बैठे रहना अकर्म है; किन्तु शास्त्रविहित कर्म तथा शास्त्र से निषिद्ध विकर्म तथा तूष्णीभाव रूप (शान्त बैठना) अकर्म के बारे में भी बहुत कुछ जानना है; क्योंकि कर्म, अकर्म एवं विकर्म का स्वरूप दुर्ज्ञेय है। इससे भी धर्म की दुर्ज्ञेयता प्रतिपादित होती है। पूर्व में उद्धृत महाभारत श्लोक में **'नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्'** इसका अर्थ यह करना चाहिए कि ऐसा कोई मुनि नहीं जिसका मत सबके लिए प्रमाण हो, ऐसा अर्थ करने से विभिन्न अधिकारियों के लिए विभिन्न मत उपादेय हो सकते हैं। तथापि किसी का मत प्रमाण नहीं है, इसका आशय यदि यह किया जाय कि किसी का मत सबके लिए प्रमाण नहीं है तो यह कथन भी समीचीन नहीं होगा; क्योंकि इससे एक धर्म की सिद्धि नहीं होगी। यदि प्राप्त धर्मविधायक वचनों का समन्वय करके धर्म के एक स्वरूप के निर्धारण का प्रयास किया जाय तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण वचनों के उपलब्ध न होने से, सभी प्राप्त वचनों के समन्वय से लक्ष्य-सिद्धि नहीं होगी। अतः महापुरुषों के द्वारा जो परिगृहीत है वही धर्म है, यही कहना होगा। इसे

'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस वाक्य से श्लोक में स्पष्ट किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि महापुरुष (महाजन) ही धर्म का निर्णय करते हैं और वही उपदेश देते हैं। किन्तु धर्माचरण के बिना कल्याण नहीं होता है, अतः आचार्यचरण ने धर्म को चोला की उपमा देकर उसके धारण करने का अर्थात् धर्माचरण का विधान किया है। महाजन परिगृहीत ही धर्म है। इसे प्रमाणित करते हुए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में कहा है—

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते॥

(वा.प., ब्र.का. 31)

अविच्छिन्न परम्परा से अनुष्ठेय धर्म का मार्ग व्यवस्थित है, लोकप्रसिद्ध होने के कारण कोई उसे तर्क से बाधित नहीं कर सकता।

यद्यपि यह कह सकते हैं कि शरीर, मन और वाणी तीनों से धर्माचरण का उपदेश होना चाहिए, चोला तो केवल शरीर से सम्बद्ध होने के कारण शरीर से सम्बद्ध धर्म का ही निरूपण करेगा तथापि यह कथन समीचीन नहीं है; क्योंकि 'सत्य की सेली' इस मात्रा में जिह्वा से अनुष्ठेय धर्म का जाप जंगोटा में मन एवं जिह्वा दोनों से अनुष्ठेय धर्म का तथा 'प्रीति पितम्बर मन मृगछाला' में केवल मन से अनुष्ठेय धर्म का निरूपण होने से यहाँ शरीर से अनुष्ठेय धर्म का निरूपण उचित ही है। इसके अतिरिक्त चुल समुच्छ्राये धातु से बना 'चोल' शब्द चोला के साथ-साथ समुच्छ्रयण को भी कहता है, ऐसा स्वीकार कर चोला का सम्बन्ध शरीर से तथा समुच्छ्रयण का सम्बन्ध धर्मोन्मुख मन एवं वाणी से होने से भी आपत्ति का निरास प्रतिपादित कर सकते हैं।

आचार्यचरण का यह आशय कहा जा सकता है कि यद्यपि अकाल खिन्था को प्राप्त करके हम सर्वविध कर्तव्य एवं ऋण के भार से मुक्त हो गये हैं। हमारे लिए कोई कृत्य अनुष्ठेय नहीं है। उन्मनी अवस्था को प्राप्त करने के कारण दिग्वल्कल ही हमारे शरीराच्छादन के लिए पर्याप्त हैं, फिर भी लोकमर्यादाओं की रक्षा के लिए धर्म का चोला धारण करता हूँ। यही हमारी उन्नति का साधन है। 'चुल समुच्छ्राये' इस धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके चोल शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः यह उन्नति के साधन को शब्दमर्यादा से कहता है। चोलाः

इस बहुवचनान्त संस्कृत शब्द संस्कृत शब्द का अपभ्रंश 'चोला' हो सकता है। चोला (लबादा) का कार्य है शरीर का आच्छादन। अतः प्रवृत्ति धर्म के चोले को धारण कर मैं मानस योगप्रधान अपने वास्तविक स्वरूप को सर्वजनसुलभ नहीं होने देता, आशय यह है कि मैं धर्म के आचरण का उपदेश देता रहता हूँ, अतः लोग मुझे धर्माचरणपरायण ही स्वीकार करते हैं। धर्म शब्द उन निमित्तों का बोधन कराता है जिनसे प्रजा का धारण हो सके। यज्ञादि को धर्म शब्द से अभिहित करने का कारण भी यही है; क्योंकि यज्ञ से अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति होती है। अतएव गीता में कहा गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (3/10)

कर्म में अधिकार के साथ प्रजा की सृष्टि करके प्रजापति ने कहा—इस यज्ञ से तुम वृद्धि को प्राप्त करो, यह यज्ञ तुम्हारी कामनाओं की पूर्ति का साधन बने। इस प्रकार यज्ञ धर्म है। यज्ञरूप धर्म से देवताओं की पूजा (भजन) होती है, यह अर्थ, यज्ञ शब्द में प्रयुक्त यज् धातु के अर्थ के अनुगुण है। अतएव गीता (3/11) में भगवान् श्रीकृष्ण ने यज्ञ से देवताओं की भावना (पूजा) करने का उपदेश दिया। देवयजन का अधिकार उसे है जो स्वयं देवता बन जाय। देवयोनि सत्त्वप्रधान होती है। कृष्ण ने भी गीता (17/4) में **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'**–सात्त्विक लोग देवयजन करते हैं, यह कहा है। अतः देवत्वप्राप्ति के बिना (सत्त्वप्रधान हुए बिना) देवयजनरूप यज्ञ व्यर्थ होता है।

सत्य की सेली

'शील की लंगोटी' इस मात्रा पर विचार के प्रसंग में पृ. 190 पर गोरखबानी में 'पंचस्नान' की चर्चा की गयी है। वहाँ यतिवर गोरखनाथ ने सत्य के स्नान को प्रथम स्नान बतलाया है तथा निर्मलता हेतु किए जाने वाले पंचस्नान का फल ब्रह्मभाव की प्राप्ति बतलाया है। वे कहते हैं कि ये पाँच निर्मल स्नान गोरखबाल प्रतिदिन करते हैं। यहाँ 'बाल' शब्द ब्रह्म का वाचक है। सबदी 116-117, पृ. 60-61, गोरखबानी में अनाहद नाद कैसे प्राप्त होता है? तथा वृद्ध कैसे बाल होता है, यह स्पष्ट किया गया है। यह पाँच निर्मल स्नान प्रतिदिन

करने से गोरख ब्रह्मरूप हो गये तुम भी, इन स्नानों को नियम से करते हुए ब्रह्मभाव को प्राप्त करोगे, यह उनका आशय है।

लोक में सत्य का महत्त्व बहुत अधिक है। महापुरुषों के आचरण से जिस धर्म को हम लोक में व्यवस्थित देख रहे हैं, उसके प्रमुख घटक के रूप में सत्य की प्रतिष्ठा है। क्योंकि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इसीलिए महाभारत में भीष्म की निम्न उक्ति तीनों लोक तथा देवराज पद का भी परित्याग कर सत्यानुसरण पर बल देती है—

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाऽप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन॥

(म.भा., आदिपर्व, 103/15)

मैं तीनों लोक का राज्य, देवराज पद अथवा इनसे भी अधिक महनीय वस्तु का त्याग कर सकता हूँ; किन्तु कभी भी सत्य का त्याग नहीं कर सकता। इस प्रकार धर्म और सत्य का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। सत्य, धर्म का उत्पादक है। वह ईश्वर का स्वरूप भी है; क्योंकि उसके द्वारा लोक का नियमन होता है। इस सत्य को सेली (ऊन का जनेऊ) की तरह धारण करना चाहिए, यह आचार्यचरण के द्वारा बतलाया गया है। धर्म के चोला के भीतर ही सेली रहती है। अतः धर्म का घटक तो सत्यरूप सेली है; किन्तु शरीर से सर्वदा सम्बद्ध सेली, शरीर से सर्वदा सत्यानुष्ठान किया जाना चाहिए, इस बात को सूचित करती है। चोला तो स्नान, स्वाप (सोना) आदि के समय शरीर से पृथक् भी हो जाता है। किन्तु सेली कभी भी पृथक् नहीं होती। इस उपमा से स्पष्ट है कि भगवत्प्राप्ति हेतु यतमान साधक विभिन्न लौकिक धर्मों का हान (त्याग) एवं भगवद्धर्मों का उपादान करता हुआ भी सत्य का कभी परित्याग नहीं करता। सत्य उसका स्वभाव होता है तथा सत्य को वह वैसे ही अपनाए रहता है जैसे अग्नि अपने अस्तित्वपर्यन्त दाहकता को अपनाए रहती है। वह सत्य को बोलता है परन्तु प्रिय बोलता है, अप्रिय सत्य का उच्चारण नहीं करता तथा प्रिय असत्य को भी नहीं बोलता, यह उसकी मर्यादा है। देवत्वप्राप्ति का साधन सत्य है। अतएव सत्य को स्वर्ग-प्राप्ति का सोपान कहा गया है—

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव। (म.स्मृ. 8/8)

समुद्रतरण के साधन नौका की तरह सत्य भी स्वर्ग का साधन है। अतः धर्म को सत्य से समन्वित करने के लिए आचार्यचरण ने कहा। इस प्रकार स्वर्गरूप सुख का साधन होने से सत्य अवश्य आश्रयणीय है। उनका आशय है कि जैसे सेली को पहनकर महात्मवृन्द अपने शरीर के गौरव-वृद्धि की अनुभूति करते हैं; क्योंकि सेली को धारण करने से उस गौरवमयी परम्परा से सन्त जुड़ जाते हैं, जिसमें जाकर वे अपना उद्धार अवश्य करते हैं। उसी प्रकार सत्यरूप सेली से ही हम गौरव-वृद्धि समझते हैं। मैंने सत्य की सेली (काले ऊन का जनेऊ) धारण कर रखा है। आशय यह है कि जैसे यज्ञोपवीत वैदिक धर्मानुष्ठान का सूचक है, उसी प्रकार हमारी यह 'सत्य'रूपी सेली हमारे दृढ़ संकल्प एवं परमात्मप्राप्ति के लक्ष्य को सूचित कर रही है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि मनुप्रोक्त दश लक्षण धर्म में सत्य भी परिगणित है, तो धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध सभी की धर्मरूपता हो जाने से उससे पृथक् 'सत्य' को सेली के रूप में कहना उचित नहीं है, तथापि 'सत्य' को सेली बताकर आचार्यचरण उसकी अवश्यधार्यता स्पष्ट करना चाहते हैं, यह अवधेय है। इससे सत्य का विशेष महत्त्व ख्यापित होता है। प्रवृत्तिमार्ग की सूचना त्रैवर्णिक के द्वारा धारित यज्ञोपवीत से प्राप्त होती है तथा निवृत्तिमार्ग की सूचना महात्माओं की सेली देती है। **'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'** (2/30) इस योगसूत्र में सत्य को प्रथम 'योगांग' यम के रूप में बतलाया गया है, यह शेष योगांगों का उपलक्षण है। इस प्रकार आचार्यचरण योगांगों रूपी सेली से शरीर को आवृत्त कर योग को ही निवृत्तिमार्ग का प्रमुख साधन बता रहे हैं। सेली सर्वदा शरीर पर रहती है, अतः सत्य को सेली बताकर आचार्यचरण सर्वदा योगाङ्गों के अनुष्ठान पर बल दे रहे हैं। आचार्यचरण ने धर्मसामान्यरूपी चोला को सत्यरूपी सेली (यज्ञोपवीत) के साथ धारणीय बताया। आशय यह है कि निवृत्तिमार्ग में तुम अश्वमेधादि बाह्य द्रव्यसाध्य यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करोगे; किन्तु सूक्ष्म यज्ञ प्राणायाम तथा नामजपादि का अनुष्ठान सत्य-निष्ठा के साथ करो। सत्य परमात्मा का स्वरूप है। व्यवहार में सत्य का आग्रहपूर्वक आचरण करने पर सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतएव श्रीमद्भागवत में सत्यस्वरूप परमात्मा की एकता स्वीकार की गयी है—

नहि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥

(12/4/30)

अभिप्राय यह है कि सत्यस्वरूप परमात्मा का नानात्व अज्ञान के कारण जीव-ईश्वर आदि के रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः तो अभेद है, ईश्वर ही उपाधि के कारण जीव रूप में है। जैसे घटाकाश और महाकाश का, जलस्थ सूर्य एवं आकाशस्थ सूर्य का तथा शरीरस्थ वायु एवं बाह्य वायु का प्रतीयमान भेद उपाधिकृत है वस्तुतः नहीं, उसी प्रकार जीव-ईश्वर का भेद भी वास्तविक नहीं है। अतः सत्यरूपी सेली का त्याग मत करो। सत्य में जो नानात्व प्रतीत हो रहा है, उसे दूर करने का प्रयास करो। यह सत्यरूपी सेली कभी भी विकृत नहीं होती तथा इसको धारण करने वाला भी विक्रिया (जन्म-मरण की परम्परा) को प्राप्त नहीं होता।

मर्याद मेखला लै गले मेली

मेखला सामान्यतः कमर में धारण की जाती है। यह मर्यादा या आचार की कुलक्रमानुगत अथवा गुरुक्रमागत परम्परा है, जिसके अबाधित होने से हम कुलधर्मों एवं सम्प्रदाय के आचारों का पालन सन्देहरहित होकर करते हैं।

मर्यादा, संस्था, धारणा, स्थिति आदि पर्यायवाची शब्द हैं, अतएव अमरकोश में कहा गया है—

विशिष्टाज्ञा च संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः। (2/8/26)

मर्यादा में यथास्थिति का अतिक्रमण नहीं होता। वेद ने मर्यादा की स्थापना करने हेतु कहा—**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** (तै.उप., शीक्षावल्ली, अनु. 11, मं.-2) माता को देवता समझो, पिता को देवता समझो, आचार्य को देवता समझो। इस मर्यादा की स्थापना का फल यह होता है कि माता-पिता या गुरु के क्रुद्ध होकर अपशब्द प्रयोग करने पर भी पुत्र अथवा शिष्य मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। वह तो गुरु आदि के वाक्यों से अपनी कमी का ज्ञान कर उसे सुधारने का प्रयास करता है। केवल छोटे ही नहीं बड़े लोग भी मर्यादा में बँधते हैं। उनका छोटों के प्रति देववत् आचरण छोटों के

कल्याणार्थ होता ही है। तभी तो बिना विचार के भी बड़ों की आज्ञा का पालन करने का निर्देश देते हुए कहा गया है—**'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'** (रघु.म.का. 14/46) (गुरुओं की आज्ञा पर विचार न करके उसका पालन करना चाहिए)।

सत्य तो यह है कि माता-पिता, गुरु आदि के अनुशासन में रहकर जब हमारी दुष्प्रवृत्तियों पर अल्पवय में ही नियन्त्रण हो जाता है, तो मर्यादित जीवन जीने के हम अभ्यासी हो जाते हैं। मर्यादित जीवन का यह अभ्यास बड़े होने पर भी बना रहता है।

विधि एवं निषेध, जिनके पालन एवं परिवर्जन की बाध्यता मनुष्य पर होती है, मर्यादा-स्यन्दिनी (नदी) के ही दो किनारे हैं। शिष्यों एवं महापुरुषों के अविच्छिन्न परम्परा से परिगृहीत आचरण से हम मर्यादा को समझ सकते हैं। परन्तु 'धर्म का चोला' एवं 'सत्य की सेली' के साथ 'मर्यादा की मेखला' को भी आचार्यचरण ने गले में डालने की बात कहकर हमें विचार करने हेतु प्रेरित किया है। सामान्य मेखला कमर में धारण की जाती है। क्योंकि वह भौतिक है। वह मुञ्ज या किसी अन्य पदार्थ से बनती है। उसको बनाने वाला कोई एक व्यक्ति होता है; परन्तु मर्यादा की मेखला एक व्यक्ति नहीं बनाता, इसका निर्माण शिष्ट परम्परा करती है। यह तो परमेश्वरप्रदत्त एक वरदान है, जिसे व्यक्तिविशेष नहीं, प्राणिमात्र धारण करता है।

मनुष्य शरीर को मर्यादा का पुर कहते हैं। 'स्थूल शरीर' मन एवं वाणी के मर्यादित होने पर ही यह पूरी तरह मर्यादा का पालन करता है। इस प्रकार मर्यादा पालन हेतु, यही तीन घटक अभीष्ट हैं, जिनमें से किसी के भी अमर्यादित होने पर शरीर (पुर) को मर्यादित नहीं कहा जा सकता। शरीर की मर्यादा उचित कर्मों से परिलक्षित होती है। यह उचित कर्म शास्त्रविहित कर्म हैं, जिनके अनुष्ठान से हम साक्षात् या परम्परया मनुष्य शरीर के द्वारा प्राप्य ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं। मानस कर्म मानसिक चिन्तन हैं, जिनके द्वारा परहितनिरत होकर हम पुण्यार्जन करते हैं। मन के मर्यादित होने पर हम अकार्यों से बचते हैं तथा मानसिक ताप से मुक्त रहते हैं।

वाणी के मर्यादित होने पर हम प्रिय सत्य को बोलते हैं तथा कटूक्ति का परिहार कर सर्वप्रिय होते हैं और शारीर, मानस एवं वाङ्मय तप का अनुष्ठान कर देवत्व को प्राप्त करते हैं। अमरकोश में—

स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा। (2/6/108)

त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात् मेखला तन्निबन्धनम्। (2/8/90)

इन दो स्थलों पर मेखला शब्द का अर्थनिर्देश है। **'मखं गतिं लाति कः पृषोदरादिः'** ऐसा कहते हुए अमरकोश-टीकाकार ने मेखला को गत्याधान करने वाली बताया। यहाँ म के अ को ए होगा मख शब्द यज्ञपरक होगा तो भी मेखला यज्ञों के द्वारा हमारी लक्ष्यप्राप्ति शीघ्रगति से करायेगी, यह द्योतित होगा। गीता में वर्णित इन्द्रियसंयम तथा प्राणाग्निहोत्र आदि ऐसे यज्ञ हैं जिनमें मानवमात्र का अधिकार है। अतः सभी मर्यादा की मेखला को धारण कर सकते हैं। 'मां ईं लक्ष्मीं ईखति' (ईख गतौ) इस विग्रह में मा पूर्वक ईख धातु से बाहुलकात् कलच् प्रत्यय तथा टाप् करके मेखला शब्द बनेगा, यह व्युत्पत्ति भी अमरकोश (2/8/90) की टीका में दी गयी है।

यज्ञानुष्ठान की मर्यादा भगवत्प्राप्ति है अर्थात् भगवत्प्राप्ति तक 'यज्ञ' देव-पूजा आदि करना चाहिए। अतएव **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन एतदेव विदित्वा मुनिर्भवति'** (बृ.उप. 4/4/22)—इस आत्मतत्त्व को ब्राह्मण (ब्रह्मप्रतिपित्सु) लोग यज्ञ-दान एवं अनाशक तप से जानने की इच्छा करते हैं। इसको जानकर ही मुनि होते हैं। यह श्रुतिवाक्य ब्रह्म को ही यज्ञ, दान तथा अनाशक तप से प्राप्य बतलाता हुआ मर्यादा या सीमा बतलाता है। यज्ञ चाहे द्रव्यसाधन अग्निहोत्रादि हो या दृढ़-संकल्पसाध्य प्राणायामादि, सबके अनुष्ठान की अवधि आत्मतत्त्व की प्राप्ति ही है। अतः यज्ञानुष्ठान के अवधिभूत ब्रह्म की प्राप्ति के साधनों को सूचित करने वाली मेखला को आचार्यचरण गले में धारणीय बताते हैं। कमर में जिस मेखला का धारण होता है, वह यज्ञोपवीत धारण करने वाले त्रैवर्णिक के द्वारा वाङ्मनःकायरूप साधनों से अनुष्ठेय विहित कर्मों को सूचित करती है किन्तु सेली के साथ गले में धारित होने वाली मेखला कपड़े की कफनी होती है, इसको गले में धारण करने का लौकिक प्रयोजन गले एवं शरीर को शीत से बचाना हो

सकता है। अतः कफ का निरोध करने के कारण इसे (कफानीक) कफनी कहना उचित है। यह मेखला मौन विरति निरन्तर ध्यान आदि ब्रह्मप्राप्ति के साक्षात् साधनों को सूचित करती है। यह आशय अग्रिम मात्रा के साथ पौर्वापर्यक्रम में इस मात्रा को देखने से स्पष्ट होता है।

यदि मेखला का द्वितीय अर्थ (खड्गादि का धारण स्थान या म्यान) स्वीकार करें तो मर्यादा की मेखला में सम्पूर्ण धर्म-कर्मादि निहित हैं, यह अर्थ ध्वनित होगा, जिसकी आवश्यकता मानवमात्र के कल्याण के लिए है। क्योंकि मेखला सम्पूर्ण धर्म-कर्मादि का आधार है।

'मर्याद मेखला लै गले मेली' इस मात्रा में यह स्पष्ट किया गया है कि मर्यादा की मेखला को लेकर गले में पहना जाता है। अतः इसके सुनते ही यह जिज्ञासा होती है कि यह कहाँ से प्राप्त होगी? इस मेखला का गले में मेलन स्थापन कौन करेगा? केवल यहीं नहीं अन्यत्र भी जहाँ मात्रा में 'लै' शब्द का प्रयोग है, वहाँ हर स्थल पर यह विचारणीय होगा। इस प्रसंग में 'ब्रह्म अचला लै पहिरै सुजान' 'हरिभक्ति मृगानि लै पहिरै गुरुपूता' 'स्याह सफेद जरद सुरखाई, जो लै पहिरै सो गुरु भाई' 'तोड़ चूड़ा और जंजीर, लै पहिरै साधु उदासी धीर' तथा 'ऐसी मात्र लै पहिरै कोय, आवागमन मिटावे सोय' इत्यादि मात्राएँ अवधेय हैं।

हम जानते हैं कि मर्यादाओं का वर्णन शास्त्रों में तथा शास्त्रीय ज्ञान एवं आचारसम्पन्न विद्वत्परम्परा एवं संतपरम्परा में मिलता है। इन मर्यादाओं का ज्ञान प्राप्त करने हेतु हमें गुरु की शरण में या महापुरुषों की शरण में जाना होगा। वहीं से मर्यादारूपी मेखला को प्राप्त करना होगा अथवा यह कहना अधिक समीचीन होगा कि अनुशासन में रहने वाले शिष्य के गले में मर्यादा की मेखला गुरुदेव स्वयं डाल देते हैं। अर्थात् गुरु का मर्यादित आचरण उनकी साधु निष्ठा, भगवन्निष्ठा तथा परदुःखकातरता, त्याग, परोपकार आदि के मर्यादित भाव, शिष्य में शनैः शनैः संक्रान्त होते हैं। इस प्रकार मर्यादा के भाव को वह गुरु से लेकर पहनता है।

अमरकोश में मर्यादा, धारणा और स्थिति को पर्याय बतलाया गया है। स्पष्ट है कि मर्यादा लोक को धारण करती है, वही लोक की स्थिति में भी निमित्त है। यह मर्यादा प्रभु का स्वरूप भी है; क्योंकि **'एष सेतुर्विधरणः'** (बृ.उप.

4/4/22) यह श्रुति, उसको ही विशेष रूप से धारण करने वाले के रूप में बताती है। भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने प्रकृत श्रुति के भाष्य में कहा है—**तदाहैषां भूरादीनां ब्रह्मलोकान्तानां लोकानामसम्भेदायासम्भिन्नमर्यादायै। परमेश्वरेण सेतुवद् अविधार्यमाणा लोकाः सम्भिन्नमर्यादाः स्युः**'। भूलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोकों की मर्यादा की रक्षा के लिए परमेश्वर सेतु का कार्य करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मर्यादापूर्वक लोकों को धारण करने वाले प्रभु से प्रेम करने वालों को प्रभु-प्राप्ति की इच्छा से सर्वदा मर्यादा का पालन करना होगा। काल, वय एवं स्वभाव आदि सभी मर्यादा ही हैं। कालरूपी भगवान् मर्त्यलोक की सभी वस्तुओं का क्षय करते हैं। यह मर्त्यलोक की मर्यादा है। इसी मर्यादा की रक्षा हेतु भगवान् सगुण साकार रूप में लावण्यपूर्ण लीलाविग्रह धारण कर कृत्य-समाप्ति के अनन्तर उसका भी तिरोधान करते हैं।

मर्यादि मेखला को गले में डालने का आशय यह भी कहा जा सकता है कि गले के ऊपर शिर तथा नीचे शरीर के शेष भाग हैं। शिरोभाग में चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसनरूप चार ज्ञानेन्द्रियों तथा शरीरव्यापी त्वगिन्द्रिय का भी प्रमुख भाग है। कर्मेन्द्रियाँ प्रायः गले के नीचे के भाग में हैं। गले से मेखला का सम्बन्ध दिखाकर आचार्यचरण दोनों भागों को मर्यादित करने का उपदेश दे रहे हैं। अर्थात् मध्यमणि न्याय से गले में स्थित मेखला सभी कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को मर्यादित आचरण के द्वारा यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्ति की प्रेरणा दे रही है। शिर अहंकार का प्रतीक है, मर्यादा का उससे भी सम्बन्ध कर उसे भी मर्यादित करने का उपदेश दिया जा रहा है। अहंकार के मर्यादित होने पर धीरे-धीरे उसकी बाधकता समाप्त होगी और भगवद्भक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा; क्योंकि अपने को तृण से भी छोटा तथा सुमेरु से भी सहनशील बनाकर भक्ति की जा सकती है। अतएव कहा गया है—

तृणादपि सुनीचेन मेरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(चैत.म.प्र., शिक्षाष्टक 3)

अर्थ स्पष्ट है। जो अपने को तृण से भी छोटा ओर सुमेरु से भी सहनशील बनाता है, जो स्वयं मान की अपेक्षा न कर सबको मान देता है, वही सर्वदा भगवान् का कीर्तन कर सकता है।

अहंकार मर्यादित होने पर सत्य और धर्म का आचरण मर्यादा के साथ होता है, अतः हमने मर्यादा की मेखला गले में धारण कर ली है। मर्यादाओं की सात संख्या ऋग्वेद में कही गयी है—**'सप्त मर्यादा कवयस्त-तक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोऽगात्'** (7/5/33) इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋङ्-निरुक्तकार ने भ्रूणहत्या, ब्रह्महत्या, परतल्पगमन (तल्प-स्त्री), पातक करके असत्य भाषण, दुष्कर्म की बार-बार आवृत्ति, मदिरापान और स्तेय (चोरी) के रूप में सात मर्यादाओं का परिगणन किया है। इनमें से एक भी मर्यादा का उल्लंघन करके व्यक्ति पापिष्ठ होता है और उसे ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। अतएव यमराज ने नचिकेता से कहा—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(काठ.उप. 1/2/24)

जो श्रुति-स्मृति में निषिद्ध कर्म से विरत नहीं है, इन्द्रियलौल्य के कारण अशान्त या अनुपरत है, जो विक्षिप्त चित्त वाला है, समाहित चित्त होने पर भी चित्त की विषय-विरति (समाधान) से प्राप्त होने वाले पुण्यलोकों की प्राप्ति की इच्छा करता है। ऐसा पुरुष आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर पाता। इसके विपरीत जो दुश्चरित से विरत है, इन्द्रियलौल्य के कारण जो अशान्त नहीं है; किन्तु समाहित चित्त वाला है, जिसका चित्त कहीं भी व्यापृत (आसक्त) न होने से शान्त है, ऐसा पुरुष गुरु के सान्निध्य में प्रज्ञान के द्वारा इस आत्मा को प्राप्त करता है। हम जानते हैं कि उस तत्त्व की प्राप्ति के लिए ही निवृत्तिमार्ग में धर्म का चोला और सत्य की सेली का धारण हुआ है। अतः दुश्चरितानाचरणरूप मर्यादा की मेखला का भी धारण आवश्यक है, जिससे तत्त्व-प्राप्ति हो सके।

ध्यान का बटुआ

आचार्यचरण ने मर्यादा की मेखला के अनन्तर ध्यान के बटुए को भी धारण करने का उपदेश दिया है। यतः ध्यान के लिए मर्यादा पालन आवश्यक है। यह परम्परा सर्वविदित है कि विरक्त लोग एक छोटा सा झोला (बटुआ) कन्धे से लटकाए जाने वाले बड़े झोले में रखते हैं। उसमें दैनन्दिन व्यवहार की उपयोगी वस्तुएँ रहती हैं। इनका नामग्रहण-पुरस्सर उल्लेख आचार्यचरण ने

सूईदान, अचला, जंगडोरा आदि के रूप में आगे किया है। मात्रा-शास्त्र में 'ध्यान' से सम्बद्ध दो मात्राएँ 'ध्यान का बटुआ' और निराश मठ निरन्तर 'ध्यान' मिलती हैं। इससे ध्यान का विशेष महत्त्व बोधित होता है। योगशास्त्र में ध्यान एक योगाङ्ग के रूप में प्रसिद्ध है। उससे समाधि प्राप्त होती है। नाथ सम्प्रदाय में योगियों की परम्परा में भी ध्यान का विशेष महत्त्व गोरखबानी में देखने को मिलता है। नाथ सम्प्रदाय में भी बटवा (बटुआ) पास रखने की परम्परा थी। अतएव गोरखबानी में कहा गया है—

तजो कहरि नजरि भभूत, बटबा फाउड़ि लेउ हाथ।
एता आरंभ परिहरौ सिद्धौ, यों कथंत जती गोरषनाथ॥

(दयाबोध 3, गो.बानी, पृ. 256)

यति गोरखनाथ कहते हैं कि—हे सिद्धों! बच्चो का दृष्टि दोष (नजर) दूर करने के लिए बघनखा पहनाना, भभूत (भस्म) से झाड़ना छोड़ दो। बटवा और फाउड़ी हाथ में लो। पशुओं की हिंसा आलम्भ भी छोड़ दो।

भौतिक बटवा पास रखने के स्थान पर ध्यान के बटुआ को आचार्यचरण ने महत्त्व दिया। गोरखबानी में कुछ ध्यान के पद द्रष्टव्य है—

जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरा न मसीत।

(सबदी 69, गो.बानी, पृ. 45)

जोगी परमपद का ध्यान करते हैं, जहाँ न देवालय है, न मसजिद।

अहो निसि समा ध्यांन। निरन्तर रमेबा राम।
कथै गोरषनाथ ग्यांन। पाइआ परम निधांन॥

(राग असवारी 33, गो.बानी, पृ. 146)

रात दिन एक समान अथवा सम अवस्था (जब दोनों श्वास चल रही हो) में ध्यान करना चाहिए। निरन्तर राम में रमना चाहिए। गोरखनाथ वह ध्यान कहते हैं, जिससे उन्हें परम निधान ब्रह्म पद प्राप्त हुआ है।

आसण दिढ करि धरौ धियानं, अहनिस सुमिरौ ब्रह्म गियानं।

(पद, रागरामग्री 1-30, गो.बानी, पृ. 143)

दृढ़ आसन पर बैठकर ध्यान करो और रात-दिन ज्ञानस्वरूप अर्थात् सबको प्रकाशित करने वाले ब्रह्म का स्मरण करो।

इन पदों में ध्यान का वर्णन गुरु गोरखनाथ करते हैं। आचार्यचरण का कथन है कि हमने भी बटुआ धारण करने की परम्परा के गुणावगुण का विचार कर उसे अत्यावश्यक समझकर धारण किया है, जो मर्यादा की मेखला के साथ शोभा पा रहा है। वह बटुआ भौतिक कपास निर्मित न होकर मनःपाश का सर्जक ध्यान है, जिसमें परमात्मा, भक्ति-सूत्र के पराधीन होकर (भक्ति के डोरे से बँधकर) निश्चेष्ट पड़ा रहता है। अर्थात् हमारा बटुआ परमावश्यक वस्तु परमात्मतत्त्व को धारण करता है। परमात्मा का निरन्तर अनुध्यान किये बिना जीव पूर्व वर्णित मर्यादाओं का पालन नहीं कर सकता। अतएव भगवद्ध्यानपरायणता का महत्त्व बतलाते हुए ब्रह्मा जी ने श्रीमद्भागवत में कहा है—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥
(2/6/33)

हे नारद! मेरी वाणी असत्य नहीं होती, मेरे मन की भी मृषा गति नहीं है। मेरी इन्द्रियाँ असत्पथ में नहीं जातीं; क्योंकि मैंने भक्ति के उद्रेकयुक्त मन से भगवान् को हृदय में धारण किया है। मैं उत्कण्ठापूर्वक उनका ध्यान करता हूँ। भगवान् हरि को उत्कण्ठापूर्वक मन में धारण करने का फल बताते हुए ब्रह्मा जी यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वाणी, मन एवं इन्द्रियों की सत्यार्थविषयता हमारे प्रयास के प्रभाव के कारण नहीं है प्रत्युत यह मेरे हृदय में हरि के वास का फल है कि हमारी वाणी से असत्य कथन नहीं होता। मेरा मन विषय-चिन्तन नहीं करता तथा मेरी इन्द्रियाँ शास्त्रविहित मर्यादा का उल्लंघन नहीं करतीं। ध्यान के द्वारा ईश्वर में चित्त को लीन करके मर्यादाओं का पालन करते हुए गुरुमुखी वाणी से उपदिष्ट ब्रह्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार किया जा सकता है। यह भौतिक बटुआ उस लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता; क्योंकि इससे ध्यान नहीं हो सकता।

प्रत्यय (ज्ञान) की एकतानता ही ध्यान है। एकतानता एकाकारता है। अतः विजातीय प्रत्यय (दूसरे विषय के ज्ञान) से रहित एक वस्तु का ज्ञान ही प्रत्यय की एकतानता है। योगसूत्र में योगांगों के वर्णन के प्रसंग में (यो.सू. 2/29)

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' यह कहते हुए ध्यान को समाधि का पूर्वभावी बतलाया गया है। क्योंकि ध्यान के द्वारा अनीश्वर गुणों का नाश होता है। यह अनीश्वर गुण, ऐसे गुण हैं, जिनका नियमन आसानी से नहीं होता। अल्पार्थक नञ् का ईश्वर के साथ समास करने पर यह अर्थ प्राप्त होगा। भगवान् के ध्यान से भगवत्कृपा होने के कारण इन पर नियन्त्रण होता है। इस प्रकार काम आदि स्वाभाविक शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवत इसे स्पष्ट करता है—

प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्विषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

(3/28/11)

प्राणायाम से वात-पित्त-कफ आदि शरीर के दोषों को दूर करें, धारणा (वायु के साथ मन का स्थिरीकरण-स्थिर करना) के द्वारा किल्विष (पापों को) दूर करना चाहिए। प्रत्याहार के द्वारा शब्द-स्पर्श आदि विषय के संसर्ग (सम्बन्ध) को दूर करना चाहिए तथा ध्यान के द्वारा रागादि अनीश्वर गुणों को दूर करना चाहिए।

राग आदि को अनीश्वर गुण कहने से यह ध्वनित होता है कि इनका कोई ईश्वर या नियन्त्रक नहीं है, अर्थात् इनका नियन्त्रण कठिनाई से होता है। ध्यान के द्वारा राग अर्थात् आसक्ति दूर होती है। आसक्ति विषयानुराग है, जिसके रहते न चाहते हुए भी चित्त में विषय स्फुरण होता है। आसक्ति के अभाव में विषय का स्फुरण रुकने पर सबीज समाधि होती है। इसके अनन्तर निर्बीज समाधि होती है। यह क्रम प्रकृत मात्रा के विचार-प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि आचार्यचरण ने प्रकृत प्रसंग में 'ध्यान का बटुआ' 'नृत्त का सूईदान' तथा 'ब्रह्म अचला लै पहिरै सुजान' इन तीनों मात्राओं के द्वारा उपर्युक्त क्रम को ही पुष्ट किया है। ध्यान के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, यह तथ्य उपनिषद् में वर्णित है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वे.उप. 1/14)

अपने शरीर को अधरारणि (नीचे की अरणि) तथा प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यानरूपी निर्मन्थन के अभ्यास से उस ब्रह्म का ज्ञान हो सकता

है, ब्रह्मरूप अग्नि को प्राप्त किया जा सकता है। उसे अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में जाना जा सकता है।

यद्यपि यतिगण की ओर से यह आक्षेप हो सकता है कि जैसे ध्यान के बटुए को आप नितान्त आवश्यक बता रहे हैं, उसी प्रकार यह बटुआ भी अवश्य धारणीय है; क्योंकि इसके अभाव में अत्यावश्यक वस्तुओं के पास न होने पर स्वच्छन्द विचरण में बाधा होगी; क्योंकि हम उन आवश्यक वस्तुओं के लिए परापेक्षी होंगे, तो ध्यान बाधित होगा। अतः ध्यान के बटुए को मन से तथा भौतिक बटुए को कंधे से संसक्त करना आवश्यक है। एक की भी उपेक्षा हमारे लिए उचित नहीं है।

तथापि यह आक्षेप सुविचारित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि आचार्यचरण ने यह कहा है कि 'सुजान को ध्यान का बटुआ, नृत्त का सुईदान और ब्रह्म अचला प्राप्त होता है सभी को नहीं'। यहाँ सुजान शब्द सुज्ञान का वाचक है। सुज्ञान वह है, जिसका ज्ञान शोभन विषयों का अवलम्ब करता है। अतः सुजान होकर ध्यान का बटुआ प्राप्त होने की स्थिति तक भौतिक बटुआ को धारण किया जा सकता है। किन्तु यह भी अवधेय है कि भौतिक वस्तुओं की सन्निधि से सुख की अपेक्षा दुःख अधिक प्राप्त होता है। निवृत्तिमार्ग का पथिक जब सांसारिक वासनाओं को छोड़कर दृढ़ संकल्प के साथ ब्रह्मप्राप्ति हेतु दीर्घपथ पर चल चुका है, जिसमें उसे गुरु का आश्रय प्राप्त है, तो उसे संग्रह की नहीं त्याग की बुद्धि को प्रधानता देनी चाहिए। यह नहीं भूलना चाहिए कि लौकिक साधनों से सर्वदा हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। द्रुपदजा 'द्रौपदी' का चीर तुरी वेमा आदि लौकिक साधनों से युक्त कोई कुविन्द नहीं बढ़ा सकता था, गज का उद्धार सुख के साथी बन्धुजन नहीं कर सकते थे, तो हम उस नित्य कुविन्द का आश्रयण क्यों न करें, जो बिना किसी सामग्री के क्षण भर में द्रौपदी के चीर को ही नहीं बढ़ाता, अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि भी करता है। हम उस बन्धु की वरिवस्या क्यों न करें जो हमारे सुख एवं दुःख दोनों में समभाव से साथ है। जो अनुग्रह के लिए ब्रह्मादि देवों की स्तुति की अपेक्षा तो करता है किन्तु विपद्ग्रस्त गज की पुकार पर उपचार की अपेक्षा नहीं करता।

अतः आचार्यचरण का आशय यह है कि हम आर्त हों या अर्थार्थी हों प्रत्येक स्थिति में भक्ति का सहारा लेना चाहिए। भौतिक वस्तुओं का सहारा लेने पर उनकी प्राप्ति के लिए धनमदान्ध लोगों की सन्तुष्टि के लिए कुछ न कुछ उपचार अवश्य करना होगा। इसलिए भगवन्निष्ठा को दृढ़ करते हुए हमें निरन्तर उन्हीं का ध्यान करना चाहिए। उन्हीं को ध्यान के बटुआ में स्थिर बनाना चाहिए। ऐसी स्थिति में अनन्य भाव से चिन्तन होने पर वह साधन-साध्य दोनों बनते हैं, अर्थात् उनके ध्यान से हम प्रत्येक वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। वही संसार के उपादानकारण हैं। उपादानकारण उसको कहते हैं जिसे कार्य की उपलब्धि के लिए संगृहीत किया जाता है। जैसे घट के लिए मृत्तिका, तेल के लिए तिल आदि। भगवान् निमित्तकारण तथा उपादानकारण दोनों ही हैं। अतः भगवान् की भक्ति करने पर वे हमारी आवश्यकतानुसार सब कुछ बन जाते हैं। हिरण्यकशिपु को मारने के लिए नृसिंह बनते हैं। क्योंकि बिना उसे मारे भक्त की रक्षा नहीं हो पायेगी, ब्रह्मा के मोह के लिए ग्वालबाल, गोवत्स, वेणुदण्ड आदि बनते हैं। अतः प्रत्येक सांसारिक वस्तु उनकी कृपा से तत्काल उपलब्ध हो सकती है। इसी भगवन्निष्ठा को दृढ़ करते हुए श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवांघ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥ (2/2/5)

अर्थ स्पष्ट है कि शरीर के लिए आवश्यक वस्त्र हमें मार्ग में प्रक्षिप्तरूप में प्राप्त हो सकते हैं। भोजन के लिए फल की भिक्षा तरुओं से प्राप्त हो सकती है। परोपकार का व्रत लिए सर्वदा बहने वाली नदियाँ जल की आवश्यकता की पूर्ति कर रही हैं। वे सूखी नहीं है। पर्वतों की गुफा तथा वृक्षों के कोटर आदि वर्षा तथा आतप से हमारी रक्षा करते हुए हमारे वासस्थान की समस्या का निदान कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि सर्वत्र सर्वदा पर्वत गुहा आदि उपलब्ध नहीं होते, तो ऐसी स्थिति में वास आदि के लिए आश्रयदाताओं की अपेक्षा करनी होगी, तो इस आशङ्का का निराकरण करने हेतु कहा जा रहा है कि कभी भी न पराजित होने वाले परमात्मा हमारी रक्षा कर रहे हैं। फिर कौन सी ऐसी वस्तु है जिसकी प्राप्ति के लिए विद्वान् भी धनिकों की अनुवृत्ति करते हैं।

'ध्यान का बटुआ' इस मात्रा में यह विचारणीय है कि ध्यान किसका किया जाय? प्रत्याहार (इन्द्रियों का विषय-वैमुख्य-सम्पादन) के द्वारा विषय-सम्बन्ध को दूर किया जाता है। ऐसी स्थिति में विषयस्फुरण के अभाव में भगवान् के सगुण रूप का ही ध्यान होगा, निर्गुण का तो कोई स्वरूप ही नहीं है, जिसका चिन्तन किया जा सके। सगुण रूप के ध्यान के द्वारा किल्विष का नाश होता है। यह तथ्य—**'त्वय्यस्तभावाद-विशुद्धबुद्धयः'** आप में भक्तिभाव न होने से जिनकी बुद्धि-शुद्धि नहीं हुई है। (श्रीमद्भागवत-10/2/32) में वर्णित है।

भक्ति तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न स्मृति है। उसी से किल्विष दूर होकर बुद्धि (अन्तःकरण) शुद्ध होती है। अतएव श्रीमद्भागवत में आगे कहा गया है—

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥

(10/2/37)

इस श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामी का वचन—'तस्माद् भक्त्यैव मोक्ष इत्युपसंहरन्ति—शृण्वन्निति' विशेष महत्त्व रखता है। भक्ति से ही मोक्ष होता है। यह कथन भक्ति के अभाव में हृदय के विशुद्धि का अभाव द्योतित करता है। इस श्लोक में वर्णित भक्ति का प्रकार अनुपम है। भगवान् के मंगल नाम-रूप को; श्रवण, गृणन (कहना), संस्मरण करना तथा कराना एवं चिन्तन चार क्रियाओं का कर्म बतलाया गया है। श्रीधर स्वामी ने संस्मरण (दूसरों को स्मरण कराना) को भी पंचमी क्रिया के रूप में कहा है। यह पाँचों क्रियायें शरीर से विभिन्न कर्मों का अनुष्ठान करते हुए होंगी, अतएव श्लोक में यह कहा गया है कि आवश्यक क्रियाओं को करते समय (क्रियासु) अथवा देवार्चन आदि करते समय जो लोग भगवान् के मंगलमय रूप का स्मरण करते हैं अथवा दूसरों को उसकी स्मृति कराते हैं, भगवान् के नाम का उच्चारण करते हैं अथवा श्रवण करते हैं अथवा उनके रूप का चिन्तन करते हैं तथा इस प्रकार करते हुए अपने मन को प्रभु के चरणकमलों में लगाए रहते हैं, वे पुनः संसार में जन्म नहीं लेते। इससे स्पष्ट है कि उनके सभी पाप नष्ट हो चुके हैं।

यद्यपि श्रवण, कीर्तन आदि के साथ संस्मरण तथा चिन्तन को भी पाप-नाशक कहा गया है। फिर भी सबके लिए स्वतन्त्र रूप से पापनाशक होने से ध्यान में (चिन्तन में) पापनाशकता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। भगवान् के संस्मरण एवं चिन्तन में क्या भेद है? इस पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि संस्मरण गुण कर्मोपस्थापक शब्दराशि के सूक्ष्मोच्चारणपूर्वक उन स्वरूपों में व्यवस्थित प्रभु का चिन्तन है। जबकि ध्यान भगवान् के हृदय-कमल में अवस्थित स्वरूप के विभिन्न अवयवों का चिन्तन है, जो **'सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दम्'** (3/28/21) भगवान् के चरणारविन्द का प्रारम्भ में चिन्तन करना चाहिए इत्यादि रूप में विहित है।

भगवान् के ध्यान से पाप नष्ट होता है। अनन्त जन्मों में संचित पापों का नाश इस जन्म में किस प्रकार हो रहा है अथवा अब तक कितना पांप नष्ट हुआ? इत्यादि का ज्ञान तो नहीं होता; क्योंकि पाप का प्रत्यक्ष होता तो उसका नाश भी प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता। किन्तु सम्पूर्ण पापों के नष्ट हो जाने पर भगवान् का दर्शन होता है। इससे पापक्षय का अनुमान होता है। अतएव भगवद्वचन है कि—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भागवत-11/14/27)

विषयों का ध्यान करने वाले का चित्त विषयों में लीन होता है; किन्तु मेरा अनुस्मरण करने वालों का चित्त मुझमें लीन होता है। भगवान् में चित्त का प्रविलय (लीन होना) क्या है? इसे हम सगुण स्वरूप तथा निर्गुण स्वरूप को दृष्टिगत कर समझ सकते हैं। सगुण स्वरूप में चित्त के लय का तात्पर्य है नाम, रूप, लीलाधाम आदि में चित्त का लय होना। निरन्तर नामस्मरण, रूपानुचिन्तन, लीलाओं का अनुध्यान तथा धाम की दिव्यता आदि का चिन्तन करते हुए अथवा दर्शन करते हुए चित्त निरन्तर भगवदाकार बना रहता है। इस स्थिति में चित्त का सर्वथा लय नहीं होता तथापि अन्याकारता नहीं होती। इस प्रकार लौकिक किसी भी वस्तु का स्मरण न होने से चित्त का लौकिक दृष्टि से लय रहता है, यद्यपि भगवदाकारता रहती है।

निर्गुण स्वरूप के साक्षात्कार में स्थिति इससे भिन्न होती है। इस स्थिति में चित्त का लय पूर्ण रूप से हो जाता है। चित्त के लय से तात्पर्य वृत्तियों के लय से है। ऊपर उदाहृत भागवत-वचन में 'प्रविलीयते' शब्द का प्रयोग है। प्र उपसर्ग से द्योतित होने वाला प्रकृष्ट लय 'सर्वथा वृत्तिशून्यता' ही है। यह प्रकर्ष या अधिकता सगुण स्वरूप के साक्षात्कार की अपेक्षा बतलाई जा रही है। सगुण के साक्षात्कार में भगवदाकार चित्तवृत्ति बनी रहती है। वृत्ति का सर्वथा लय हो जाने पर सगुण स्वरूप का भान ही नहीं होगा। श्रीधरस्वामी ने श्रीमद्भागवत 3/28/34 **'एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो'** इस प्रकार ध्यान मार्ग से भगवान् में प्रेम प्राप्त करके इत्यादि श्लोक की व्याख्या में सबीज योग एवं निर्बीज योग की व्याख्या करते हुए विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनका कथन है— **'तत्र निर्बीजयोगे यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्'॥** (भगवद्गीता 6/26) **'इत्यादिगीतोक्त-मार्गेण क्रियमाणोऽपि दुष्करः समाधिः'**। अर्थात् निर्बीज समाधि के लिए गीता में बताए गये उपायों—चञ्चल मन अस्थिर होने के कारण जिन-जिन विषयों में जाता है, वहाँ से उसे निगृहीत कर आत्मा में ही स्थापित करना चाहिए, इत्यादि का अनुष्ठान करने पर समाधि में बहुत क्लेश है। सबीज समाधि तो सुकर है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—**'सबीजे तु सुकरः। तत्र हि परमानन्दमूर्तौ हरौ ध्यायमानेऽयत्नत एव चित्तोपरमो भवति'**। सबीज समाधि में परमानन्द-चिन्मूर्तिस्वरूप हरि का ध्यान करने पर बिना प्रयास के ही चित्त उपरत हो जाता है। स्पष्ट है कि निर्बीज समाधि के लिए प्रयतमान योगी चित्त को विषयों से हटाने का प्रयास करता है। किन्तु चित्त आसानी से उपरत नहीं होता। सबीज समाधि के लिए प्रयासरत साधक भगवान् के स्वरूप का ध्यान करता है। इस ध्यान से चित्त सरलतया शान्त हो जाता है। इसके अनन्तर सगुण का दर्शन और निर्गुण का साक्षात्कार दोनों होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'ध्यान' के अभ्यास से पापों के नष्ट होने पर भगवान् के चतुर्भुज आदि स्वरूप का दर्शन तथा निर्गुण का साक्षात्कार दोनों ही होता है। ध्यान और साक्षात्कार के इस क्रम को—'ध्यान का बटुआ', 'नृत्त का सूईदान', 'ब्रह्म अचला ले पहिरै सुजान' इन मात्राओं में व्यक्त किया गया है।

निराश मठ निरन्तर ध्यान आदि मात्राओं में विशेष रूप से निर्गुण विषयक ध्यान और साक्षात्कार का वर्णन है।

नृत्त का सूइदान

ध्यानरूपी बटुए में 'नृत्त का सूइदान' और 'ब्रह्मरूपी अचला' दो वस्तुएँ अन्तर्निहित हैं। जिनकी प्राप्ति ध्यान के परिपक्व होने पर होती है। 'नृती गात्रविक्षेपे' धातु से भाव अर्थ में क्तप्रत्यय **'नपुंसके भावे क्तः'** सूत्र से किया जाय तो नर्तनं नृत्तम्–इस व्युत्पत्ति में गात्रविक्षेप का नाम नृत्त होगा। इसमें नाचने वाला केवल गात्रविक्षेप करता है, अपने अंगों से ही हाव-भाव प्रदर्शित करता है, गान तथा वाद्य नहीं रहते। नृत्य में अंगविक्षेप के साथ नर्तक के द्वारा गायन भी किया जाता है। किन्तु नृत्य को नहीं नृत्त को सूइदान के रूप में ध्यान के बटुए में रक्षित बताया गया है। अब प्रश्न यह है कि गात्रविक्षेप किसका लिया जाय? स्वाभाविक रूप से उत्तर होगा कि ध्यान करने वाले का ही गात्रविक्षेप होगा; क्योंकि भगवान् का ध्यान करने वाला भक्त ही भक्त्युद्रेक में नाचता है। अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भागवत 11/14/24)

जिसकी वाणी गद्गदा या अस्पष्टाक्षरा है, जिसमें वर्ण स्पष्ट नहीं होते हैं, जिसका चित्त द्रवित होता है, भावोद्रेक में जो अधिकतर रोता रहता है, कभी-कभी लोकानपेक्ष कारणों से हँसता है, कभी लज्जा का त्याग कर उच्च स्वर से गाता है, साथ ही नृत्य भी करता है, ऐसा मेरा भक्त, भक्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण भुवन को पवित्र करता है।

यह बात सत्य है कि भक्त नृत्य करता है किन्तु साथ में लज्जा त्याग कर उच्च स्वर से गायन भी करता है, इसे भी भागवत का यही वचन प्रमाणित कर रहा है। अतः गान के साथ होने वाला यह नर्तन 'नृत्त' में नहीं समाविष्ट हो सकता। यहाँ आचार्यचरण ने नृत्त का उल्लेख किया है नृत्य का नहीं। अतः यह

कहना होगा कि केवल नर्तन या समुच्छ्रयण तो भक्त के अन्तःकरण में भगवान् के सगुण स्वरूप का होता है और इसी अलौकिक रूपराशि को देखकर भक्त अपनी सुध खोकर नाचता-गाता है। अतएव श्रीमद्भागवत में नारद जी ने कहा—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥

(1/6/17)

भक्ति से चित्त को वशीभूत करके जब मैं भगवान् के चरणकमल का ध्यान कर रहा था और दर्शन की उत्कण्ठा से मेरे नेत्रों में अश्रुबिन्दु आ रहे थे, उस समय हृदय में सर्वप्रथम हरि का प्राकट्य हुआ। यही भगवत्स्वरूप का सम्मूर्च्छनरूप नृत्त है, जो ध्यान के बटुए के भीतर होता है। इसका अनुभव केवल भक्त करता है। किन्तु भक्त के नर्तन एवं गायन का अनुभव अन्य लोग करते हैं। यह सही भी है कि बटुए में रखी हुई वस्तु को बटुए का स्वामी ही जानता है अन्य लोग नहीं जान पाते। अतः भक्त के नर्तन को बटुए में बन्द कहना उचित नहीं है। उसका नर्तन तो प्रकट है जिसे सभी लोग देखते हैं।

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि निर्गुण के साक्षात्कार के पहले साधक के चित्त में सगुण स्वरूप का प्राकट्य अवश्यम्भावी है, वहाँ भगवान् का नर्तन अवश्य होता है। अतः यह सूचित होता है कि आचार्यचरण शुष्क ज्ञान के पक्षपाती नहीं हैं, वह तो श्रीमद्भागवत की उस परम्परा के पोषक हैं, जिसमें अहंकारपूर्वक भक्ति का अनादर कर चलने वाले साधक का पतन अवश्य स्वीकार किया गया है। प्रमाण हेतु **'येऽन्येऽरविन्दाक्ष'** यह श्लोक तथा विशेष विवरण पृ. 320 पर द्रष्टव्य।

भगवद्भक्तों के साथ ऐसा नहीं होता; क्योंकि भक्तों की रक्षा भक्तवत्सल भगवान् करते हैं और वह सभी विघ्नों को दूर कर लक्ष्य प्राप्ति कराते हैं। इस तथ्य को अग्रिम श्लोक में बताया गया है—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(10/2/33)

यह अग्रिम श्लोक है जो भगवान् में दृढ़ अनुराग रखने वाले भक्तों की विजय सभी प्रकार के विघ्नों पर बताता है तथा उनकी लक्ष्यप्राप्ति को सूचित करता है। क्योंकि इसमें बताया गया है कि आपके भक्त विघ्न करने वाले विनायकों के समूह की रक्षा करने वालों के शिरों पर विचरण करते हैं। अतएव आचार्यचरण ने हरिभक्ति मृगानि को धारण करने की बात कही है, यह तथ्य आगे के वर्णन से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार आचार्यचरण ने स्पष्ट किया कि ध्यान के बटुआ में 'नृत्त का सूइदान' अवश्य रखना चाहिए। सूइदान में सूचीसूत्ररूप में स्थित सर्वत्र अनुस्यूत प्रभु का नर्तन होता है, इससे निर्वासन अन्तःकरण में प्राकट्य सूचित होता है।

अब एक जिज्ञासा और होती है कि नृत्त के सूइदान की ब्रह्म अचला के सन्दर्भ में उपयोगिता क्या है? सूइदान में सूई धागा आदि रहते हैं। धागे के बिना सूई से कोई कार्य नहीं हो सकता। हम जानते हैं कि सूई के द्वारा वस्त्र की सिलाई की जाती है। यद्यपि अचला में सूई का कोई उपयोग नहीं है; क्योंकि वह तो ऐसा वस्त्र है जिसे बिना सिले ही पहना जाता है। फिर भी वस्त्र के जीर्ण होने पर सच्छिद्रता की दशा में सिलने की आवश्यकता पड़ सकती है। किन्तु प्रकृत प्रसंग में यह विचारणीय है कि 'ब्रह्म' जब निर्विकार है, तो उसकी विक्रिया या 'सच्छिद्रता' तो सम्भव ही नहीं है फिर 'नृत्त' के सूइदान की संगति क्या है? इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि 'ब्रह्म' निर्गुण निर्विकार तो है किन्तु उसकी निर्विकारता का ज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक मन (अन्तःकरण) मल एवं विक्षेपों से शून्य नहीं हो जाता। मल एवं विक्षेप ही आवरण हैं, जिनके कारण आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, अर्थात् आवरण के रहते ब्रह्म का स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता, वह विकारयुक्त ही प्रतीत होता है। भक्ति के तीव्र प्रवाह में अन्तःकरण का मालिन्य धुलता है। 'नृत्त' उस प्रवाह का ही सूचक है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'नृत्त' के सूइदान का उपयोग विकार को दूर करने में है, सच्छिद्रता को दूर करने में है। सच्छिद्रता का तात्पर्य सखण्डता में है। जैसे सच्छिद्र होने पर वस्त्र सखण्ड प्रतीत होता है, अखण्ड नहीं, उसी प्रकार जीव एवं ब्रह्म के रूप में चेतन ब्रह्म अज्ञानरूप उपाधिवशात् सखण्ड प्रतीत हो रहा है। नृत्त के सूइदान से वस्त्र के सिलने पर वह अखण्ड या अच्छिद्र हो जाता है। ब्रह्म

भी नृत्त के सूईदान का उपयोग होने पर अखण्ड हो जाता है अर्थात् जीव, ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

विकृत वस्त्र को कोई धारण नहीं करता। अतः विकार को दूर करने हेतु नृत्त के सूईदान की उपयोगिता है। शुकदेव, वामदेव प्रभृति ब्रह्मज्ञानियों को गर्भ में ही ज्ञान-प्राप्ति होने के कारण विकार-प्राप्ति की सम्भावना के अभाव में नृत्त के सूईदान की कोई उपयोगिता नहीं है, यह नहीं सोचना चाहिए; क्योंकि भक्ति के बिना ज्ञान नहीं होता और भक्ति में नर्तन आदि सम्भावित हैं ही, तो हमें यह मानना चाहिए कि गर्भ में आने से पहले प्राप्त शरीर में ही उन्होंने 'नृत्त के सूईदान' का उपयोग किया है। ज्ञान के लिए अपेक्षित निष्काम भक्ति का अनुष्ठान किया है, जो समय आने पर इस जन्म में फल दे रही है। इस जन्म में ज्ञानी के भी चित्त का आर्कषण सगुण स्वरूप द्वारा होने पर नर्तन आदि की सम्भावना है।

ब्रह्म अंचला लै पहिरै सुजान

दूसरी आवश्यक वस्तु जो इस बटुए में निगूढ़ है, ब्रह्मरूपी अंचला है। आचार्यचरण ने 'ब्रह्म अंचला लै पहिरै सुजान' इस मात्रा में यह प्रतिपादित किया है कि ब्रह्मरूपी अंचला को सुजान लेकर पहनता है। कहाँ से लेकर अंचला पहनता है? इसका उत्तर होगा बटुए से। क्योंकि उसी में अवधूत की आवश्यक सामग्री का निक्षेप है। आशय स्पष्ट है कि ध्यान के बटुए के भीतर ही नृत्त का सूइदान तथा ब्रह्म अंचला दोनों हैं। किन्तु दोनों की उपलब्धि का क्रम वही है जिसे आचार्यचरण ने मात्रा में दिया है। यही इस बटुए कि विशेषता है कि नृत्त के सूईदान को प्राप्त करने के अनन्तर ही ब्रह्म अचला की प्राप्ति होती है। अर्थात् भक्ति से विह्वल चित्त में भगवान् के सगुण स्वरूप की उपलब्धि होने के अनन्तर निर्गुण व्यापक परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। तीव्र वैराग्य के द्वारा यह अंचला प्राप्त होता है; क्योंकि वह चल नहीं होता शरीर के गतिशील होने पर भी वह अचल (लज्जारक्षणार्थ दृढ़) तो होता है। मन की अचलता का वह प्रतीक होता है। इसीलिए महात्मवृन्द के धारणीय वस्त्र को अंचला शब्द से व्यवहृत किया जाता है। सभी वस्त्र को अचला नहीं कहते। ब्रह्म तो कूटस्थ अविकारी होने से अचल है ही, अचल मन से वृत्तिशून्य मन से गृहीत होने के कारण वह अचल

कहा जाता है। ध्यान में जब तक मन ध्येयाकार है तब तक वह अचल नहीं होता, अचल तो वह तभी होगा जब किसी का ध्यान न करे, अर्थात् कोई वृत्ति न उठे।

मन में सर्वदा विचार उठते रहते हैं। इन्हीं विचारों को मन की वृत्ति कहते हैं। यह क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। ध्यान में किसी एक वस्तु का ही बहुत देर तक चिन्तन किया जाता है। अतएव **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** (यो.सू. 3/2) में इसे स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि ने सजातीय प्रत्यय-प्रवाह को ही ध्यान शब्द से अभिहित किया है। इस अवस्था में सर्वथा मन का निरोध तो नहीं होता किन्तु बहुत अंशों में निग्रह हो जाता है। प्रतिक्षण अलग-अलग वस्तुओं का चिन्तन करने वाला मन इस समय एक वस्तु का ही लगातार चिन्तन करता है। जब इस वस्तु का भी चिन्तन समाप्त हो जाता है, अर्थात् मैं इस वस्तु का ध्यान कर रहा हूँ यह भाव मिट जाता है, उस समय न ध्यान करने वाला होता है न जिसका ध्यान किया जा रहा है वह होता है न ध्यान होता है। कर्तृत्व भाव का लोप होते ही क्रिया और कर्म दोनों का लोप हो जाता है। यह तुरीयावस्था होती है। यह अवस्था जाग्रत अवस्था से भिन्न होती है; क्योंकि इसमें किसी जागतिक पदार्थ का ज्ञान मन से नहीं हो रहा है। यह ध्यातव्य है कि इस तुरीयावस्था में योगी को सर्वदा आनन्दानुभूति होती है। यह सुषुप्ति नहीं है; क्योंकि सुषुप्ति में मन से ज्ञान की अनुभूति नहीं होती। इस अवस्था में जीव-ब्रह्म के अभेद का साक्षात्कार होता है। यह अवधेय है कि घटः सन्-घड़ा सत्य है। पटः सन्-वस्त्र सत्य है। आदि ज्ञानों में भी सद्रूप से ब्रह्म विषय होता है। किन्तु इसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं कहते; क्योंकि इसमें घटपटादि का भी भान होने से ब्रह्म के अद्वितीयत्व का अवगाहन नहीं होता। मन की वृत्तियों का निरोध होने पर उसकी अखण्डता, सद्रूपता, चिद्रूपता आदि का जो सर्वविध धर्मधर्मीभावविनिर्मुक्त भान होता है, वह ब्रह्मसाक्षात्कार है। क्योंकि यह अद्वितीय वस्तुविषयक है। जब ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है तो सर्वदा उसका (सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का) भान होता रहता है। अर्थात् जैसे वस्त्र को सर्वदा धारण किया जाता है उसी प्रकार अब ब्रह्मरूपी अंचला को महात्मा निरन्तर धारण किये रहते हैं। जैसे अंचला हमारे स्थूल शरीर का आच्छादन करता है, उसी प्रकार यह ब्रह्मरूपी अंचला भी केवल

हमारे स्थूल शरीर का ही नहीं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आच्छादन करता है। यह उसको आभास बताकर उसकी प्रतीति के अभाव को बोधगम्य बनाता हुआ अचला का काम करता है। इस प्रकार जगत् की सत्यता का तिरोधानपूर्वक ब्रह्मरूप में उसका अवभासन ही उसका आच्छादन कहा जाय तो असमीचीन नहीं होगा।

अचल ब्रह्म चलन या विकाररहित कूटस्थ है। चल शब्द को यदि गतिसूचक माना जाय तो चलन गति होगी और अचल शब्द गतिरहित ब्रह्म का बोधक होगा। सोपाधिक ब्रह्म गतिशील कहलाता है। जैसे घट की गतिशीलता से घट के भीतर रहने वाला आकाश गतिशील कहलाता है, उसी प्रकार उपाधि (अन्तःकरण) की गतिशीलता उससे सम्बद्ध ब्रह्म को भी लोकान्तरगामी अथवा शरीरान्तरगामी बनाती है। 'ब्रह्म' शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट हो रहा है, वृंहण या वृद्धि करने वाला ब्रह्म नाना रूपों को धारण करता है, किन्तु स्वयं अविक्रिय रहता है; क्योंकि ब्रह्म के विकृत होने पर वह सर्वदा नहीं रहेगा।

यदि ब्रह्म के सगुण रूप को 'ब्रह्म अंचला लै पहिरै सुजान' का प्रतिपाद्य कहा जाय तो अचलत्व की उपपत्ति करनी होगी, जिसकी दो दृष्टि हो सकती है—हम यह कह सकते हैं कि अचला में जो नञ् (अ) आया है उसका 'अल्प' अर्थ है नञ् के अल्पार्थक होने से अचल शब्द अल्पचलन या विकृति वाले ब्रह्म का बोधक होगा। यह सीमित विक्रिया क्या है? इसका यदि विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि भगवान् चतुर्भुज रूप में अपने भक्तों को दर्शन देते हैं। इस चतुर्भुज रूप में कभी-कभी विक्रिया प्रतीत होती है और नृसिंह, वराह आदि रूपों में भी आ जाते हैं। राम-कृष्ण आदि के रूप में दो भुजा वाले भी होते हैं, अतः यहाँ भी व्यभिचार है अर्थात् चार भुजा नहीं है, यह नहीं सोचना चाहिए; क्योंकि दोनों ही अवतारों में चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन कराने के बाद भगवान् प्राकृत शिशु हुए हैं। अथवा—

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥

(श्रीमद्भागवत 1/3/5)

श्रीमद्भागवत में वर्णित, नाना अवतारों के बीजभूत 'नारायण' स्वरूप को, जो अव्यय है, जो कार्यावसान के समय सभी स्वरूपों का प्रवेशस्थान (निधान) है, जो सबका उद्गम स्थान है, यह सभी प्राणियों का भी निधान है, जिसके अंशभूत ब्रह्मा के अंश ऋषिगण से देव, तिर्यक् (पक्षी आदि), नर आदि की सृष्टि होती है, मात्रा-शास्त्र की दृष्टि से इस सगुण ब्रह्म को भी अचल कह सकते हैं।

अस्तु, मात्रा में ब्रह्मरूपी 'अंचला' को लेकर पहनने की बात कही गयी है। अतः दो बातें विचारणीय हैं—ब्रह्म अंचला को कहाँ से लिया जाना है? उसका परिधान कैसे होगा? परिधान का अभिप्राय क्या है? ध्यान के बटुआ में नृत्त का सूईदान तथा ब्रह्मरूपी अंचला दोनों ही हैं। व्यापक ब्रह्म ध्यान के बटुआ में कैसे रहेगा? यह शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि अन्तःकरण में अभिव्यक्त होने के कारण ही उसे अन्तःकरण में स्थित कहा जाता है। अन्तःकरण की वृत्ति ही ध्यान है, अतः वृत्ति यदि ब्रह्माकार हो गयी तो ध्यान के बटुआ में ब्रह्म की अवस्थिति हो गयी, यह कहा जायेगा।

ब्रह्म अंचला को लेकर पहनने का आशय है, उसकी वस्त्र की तरह सर्वाच्छादकता को समझना। इस मात्रा के द्वारा आचार्यचरण ने—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' (ईश.उप., मन्त्र 1) के अर्थ की ओर संकेत किया है। क्योंकि परमात्मा (ब्रह्म) के द्वारा यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सत् स्वरूप के द्वारा आच्छादित है। सभी स्वरूपों में वही परमात्मा है, यही उसका आच्छादक स्वरूप है। जब हम उस स्वरूप के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेंगे, उस रूप में अपने को जान पायेंगे तो हम स्वस्वरूपाभिन्न ब्रह्म को सर्वाच्छादक समझकर उसे धारण करेंगे। (पृ. 200 पर मन्त्र का विशेष अर्थ द्रष्टव्य) ब्रह्मरूपी अंचला का तात्पर्य है ध्यान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार करना।

यह अवश्य अवधेय है कि ब्रह्म अंचला को लेकर सुजान पहनता है। 'सुजान' का अर्थ है शोभन या अच्छा ज्ञान वाला। ऐसा वही हो सकता है, जिसको विषयों में रुचि नहीं है। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता 3/17)

जो आत्मा में निष्ठा रखने वाला मनुष्य आत्मरति है, अर्थात् आत्मा में ही रमण करता है विषयों में नहीं, जो आत्मा से ही तृप्त है अन्य रस से नहीं (आत्मतृप्त), जो पशु-पुत्र-हिरण्य आदि के लाभ से अथवा रोग आदि की निवृत्ति से संतुष्ट नहीं होता आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसका कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं है। आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसन्तुष्टि मनोवृत्ति के भेद हैं, जिनका भासन साक्षी के द्वारा होता है। इन तीनों वृत्तियों के प्रदर्शन का प्रयोजन इस प्रकार है। हम जानते हैं कि आत्मा सबको निरुपाधिक रूप में प्रिय है, अतः सब लोग आत्मरति हैं; क्योंकि स्त्री आदि में भी प्रीति आत्मार्थत्वेन (आत्मा के लिए प्रीतिकर होने से) होती है। किन्तु सब लोग आत्मतृप्त नहीं होते क्योंकि वे रुचि के अनुसार मिष्ठान्न आदि खाकर तृप्ति का अनुभव करते हैं, उसके पहले उन्हें अतृप्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार वे क्लेशों[96] से पीड़ित रहते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि मन्द जठराग्नि वाले लोग न स्त्री आदि में रति करते हैं, न मिष्ठान्न आदि से उनकी तृप्ति होती है, फिर भी वे अज्ञानी लोग आत्मसंतुष्ट नहीं कहे जा सकते; क्योंकि वे लोग जठराग्नि को बढ़ाने के लिए औषध प्राप्ति हेतु इधर-उधर भटकते हैं, अर्थात् वे अन्यसापेक्ष सुख एवं सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। केवल ज्ञानी ही आत्मा में रति, तृप्ति और संतुष्टि का अनुभव करता है। शोभन या अच्छा ज्ञान आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार है। आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति ही ब्रह्म अंचला पहनता है। सगुणोपासक भक्त भी सगुण स्वरूप का दर्शन कर आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार सरलता से करते हैं, अतः वे भी सुजान होकर ब्रह्म अंचला पहनते हैं। यहाँ **'शोभनं ज्ञानं परमात्मविषयकं यस्य असौ सुज्ञानः'**। जिसको परमात्मविषयक ज्ञान है वही सुज्ञान कहलाता है, यह व्युत्पत्ति स्वीकार की गयी है। सुज्ञान का ही अपभ्रंश सुजान है।

गोरखबानी में आत्मा (जीवात्मा) की ब्रह्म के रूप में प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

प्रथमे प्रणऊं गुरु के पाया।
जिन मोहि आत्म ब्रह्म लषाया॥

(प्रांण संकली-1, गो.बानी, पृ. 183)

सर्वप्रथम मैं गुरु चरणों की वन्दना करता हूँ, जिन्होंने आत्मा को ब्रह्म रूप में प्रत्यक्ष करा दिया। यह प्राप्ति पूर्व वर्णित रीति से हृदय देश में ही होती है।

किन्तु जिज्ञासुओं को एक शंका कष्ट देती रहती है। यदि हृदय को ब्रह्म की प्राप्ति या अभिव्यक्ति का स्थान स्वीकार करते हैं तो हमारे दोष से ईश्वर सम्पृक्त क्यों नहीं होता? वह निर्लेप कैसे बना रहता है, अर्थात् यह ब्रह्मरूपी अचला सर्वदा पहनने पर भी मलयुक्त क्यों नहीं होता? इस शंका का समाधान करते हुए आचार्यचरण ने मात्रा के अगले सूत्र को पढ़ा है।

बहुरंगी मोरछड़ निर्लेप विष्टी

ब्रह्म अचला को लेकर 'सुज्ञान' पहनता है, यह पहले बताया गया। ध्यान के बटुआ से उसे वह पाता है, यह कहें तो बटुआ में अचला नहीं रहता, वहाँ से पाना कैसे सम्भव है, यह आपत्ति होगी। अतः यह कहेंगे कि ध्यान के द्वारा जगत् में प्रविष्ट परमात्मा को वह प्राप्त करता है, इस तथ्य को यहाँ आचार्यचरण स्पष्ट कर रहे हैं।

मोरछढ़ मयूरछद का अपभ्रंश है, जिसे मोरपंख का गुच्छा या चँवर कहा जा सकता है। योगीजन मोरछड़ अपने पास में रखते थे, जिससे झाड़कर सामान्य रोगों ज्वर आदि को दूर किया जाता था। महात्माओं की मोरछड़ सम्बन्धी जिज्ञासा के उपशम हेतु भगवान् श्रीचन्द्र कहते हैं—आपका मयूरछद कुछ रंगों का है। ब्रह्मदृष्टि वाले हमारे जैसे महात्माओं के लिए तो हमारे स्वरूप में नित्य अभिव्यक्ति को प्राप्त कर रहे अनन्त ब्रह्माण्ड ही बहुरंगी मोरछड़ हैं। ब्रह्म में सम्पूर्ण प्रपंच अध्यस्त है। अतः आत्मा या ब्रह्म में अध्यस्त सम्पूर्ण प्रपंच ही मोरछड़ है। इस बहुरंगी मोरछड़ की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है; क्योंकि पहले ब्रह्म अचला को लेकर पहनने की बात की गयी है। उसे ध्यान के बटुए से निकालने का अर्थ है चिन्तन या विचार से प्राप्त होना। विचार से वही वस्तु मिलती है जो वस्तुओं के समूह में मिली हुई है।

प्रकृत में संसार को बहुरंगी मोरछड़ बताकर 'ब्रह्म' को उसमें छिपा हुआ सूचित किया जा रहा है। मयूरच्छद (मोरछड़) शब्द में 'छदिरपवारणे' धातु है जो मयूरपिच्छ को उसका अपवारक (ढंकने वाला) बताती है। अब प्रश्न यह है कि इससे कौन ढँका जा रहा है? कौन तिरोहित हो रहा है? इसका उत्तर 'निर्लेप विष्टी' में दिया गया है। निर्लेप शब्द आवरण (लेप) रहित परमात्मा को बता रहा है। अतः यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि निर्लेप परमात्मा इस प्रपंच के भीतर प्रविष्ट है।

विष्टि शब्द की सिद्धि 'विश प्रवेशने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करके होती है। 'विशति क्लेशम् इति विष्टिः' जो क्लेश में प्रवेश करे उसे विष्टि कहते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश यह पाँच क्लेश हैं। क्योंकि यही चेतन को क्लेश पहुँचाते हैं। सांसारिक पदार्थों को अविद्यादि क्लेश सूचित करते हैं, अतः क्लेश में प्रवेश का अर्थ संसार के पदार्थों में, अविद्या के कार्यो में प्रवेश करना है। क्लेश शब्द बाधक या अवरोधक को कहता है, अतः ब्रह्मदर्शन के बाधक-भूत प्रपंच को क्लेश शब्द कहेगा। इसमें जो प्रवेश करे वह विष्टि कहलायेगा। इस व्युत्पत्ति को स्वीकार करने पर 'निर्लेपश्चासौ विष्टिः निर्लेपविष्टिः' यह कर्मधारयसमास स्वीकार करना होगा।

यदि 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से कर्म अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करके विष्टि शब्द की सिद्धि की जाय तो विष्टि शब्द, व्याप्ति के कर्मभूत शरीर तथा प्रपंच को कहेगा। अतः निर्लेप परमात्मा की व्याप्ति के कर्मभूत सम्पूर्ण प्रपंच का वाचक होगा निर्लेप-विष्टि शब्द। मोरछड़ भी प्रपंचभूत अनन्त ब्रह्माण्डों का वाचक है। अतः दोनों मात्राओं से अनन्त ब्रह्माण्ड में निर्लेप परमात्मा की व्याप्ति सिद्ध होगी।

निर्लेप परमात्मा की व्याप्ति का कर्म सम्पूर्ण प्रपंच उसी प्रकार है जैसे कि घी की व्याप्ति दधि में, तैल की व्याप्ति तिल में देखी जाती है। किन्तु प्रपंच में व्याप्त होकर भी वह निर्लेप है, अर्थात् प्रपंच की सुखदुःखमोहस्वभावता से वह अस्पृष्ट रहता है। प्रपञ्च में व्याप्त होकर भी उससे संस्पृष्ट न होना या निर्लेप रहना तभी सम्भव है जब प्रपञ्च उसमें कल्पित हो। जैसे रज्जु (रस्सी) में कल्पित सर्प के गुण-दोषों से रज्जु का कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म भी उसमें

कल्पित प्रपञ्च के गुणदोष से संसृष्ट नहीं होता। उसकी प्राप्ति ध्यान के द्वारा होती है, यह 'ध्यान का बटुआ' इस मात्रा में स्पष्ट किया जा चुका है।

गोरखबानी में शरीर के भीतर निर्वाण पद की प्राप्ति का वर्णन है—

जोग जुक्त जब पाओ ग्याना।
काया षोजौ पद नृबाना ॥2।।
सप्तदीप नव षंड ब्रह्मण्डा
धरती आकाश देवा रवि चंदा।
तजिबा तिहूँ लोक निवासा
तहाँ निरञ्जन जोति प्रकासा ॥3॥

(प्राणसंकली, गो.बानी, पृ. 183)

योग की युक्तियों से ज्ञान प्राप्त कर काया में निर्वाण पद प्राप्त करो।

सप्तद्वीप, नवखण्ड, ब्रह्माण्ड, धरती आकाश, सूर्यचन्द्र, देव तथा तीनों लोक में निवास को छोड़ दो, मन से इनका चिन्तन न करो। अपने शरीर के भीतर निवास करो। वही निरञ्जन ब्रह्म ज्योति प्रकाशमान है। आचार्यचरण बहुरंगी मोरछड़ से लोकों को बोधित कर रहे हैं।

अस्तु, प्रस्तुत प्रसंग में यह जिज्ञास्य है कि 'बहुरंगी मोरछड़' में निर्लेप की विष्टि का प्रयोजन क्या है? बहुरंगी मोरछड़ नाना रूप तथा नाना आकृति वाले संसार का बोधक है, अतः प्रयोजन की जिज्ञासा के पूर्व जगत् की नानारूपता तथा विभिन्नाकृतिमत्ता कैसे हुई? इसी की जिज्ञासा की जाय, तो द्वितीय जिज्ञासा के समाधान में सरलता होगी। जगत् के अनन्त पदार्थों को दृष्टिगत कर इस प्रश्न पर विचार करना कठिन है। यदि हम किसी एक श्रेणी (एक योनि) की एक इकाई के एक व्यक्ति की चर्चा करें, तो हम आसानी से तथ्यों को समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ एक गुलाब के पौधे को लें तथा छोटे पौधे से लेकर काँटे एवं फूलयुक्त पूर्ण विकसित गुलाब पर दृष्टिपात करें तो हमको निर्लेप की विष्टि या प्रवेश का आशय समझ में आने लगता है। उस पौधे को छोटे से बड़ा किसने किया, उसके लघुरूप में काँटे नहीं थे। अब काँटे कहाँ से आ गये? उसका तना कठोर काँटों वाला, पत्तियाँ मुलायम हरी, फूल लाल कोमल कैसे हुए? यदि यह

कहें कि उसके बीज का यह स्वभाव है तो भी यह जिज्ञासा होगी कि पौधे की ऊँचाई, मोटाई आदि का नियन्त्रण कैसे होता है? कुछ समय के बाद उसकी वृद्धि कैसे रुक जाती है? इन प्रश्नों की गहराई में जाने पर विचित्रशक्तिसम्पन्न परमात्मा के सान्निध्य एवं नियन्त्रण को स्वीकार करना पड़ता है। अतएव श्रुति कहती है—**'यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति'** (बृ.उप. 3/7/3) जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी का नियमन अन्तःस्थित होकर करता है।

परमात्मा विचित्र मायाशक्तिसम्पन्न हैं, अतः उनकी मायाशक्ति के द्वारा सभी जागतिक पदार्थों के उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा नाश आदि विकारों को नियन्त्रित किया जाता है। जगत् की सृष्टि करके परमात्मा उसमें प्रवेश कर गये हैं। **'तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्'** (तै.उप., ब्रह्मवल्ली, अनु. 6) इस वाक्य में प्रयुक्त 'सृष्ट्वा' में क्त्वा प्रत्यय के द्वारा पूर्वकाल का बोधन नहीं विवक्षित है। यहाँ 'मुखं व्यादाय स्वपिति' (मुंह खोलकर सो रहा है) आदि वाक्यों की तरह समान काल में क्त्वा प्रत्यय हुआ है। अतः सृष्टि के समय में ही ब्रह्म का उसमें प्रवेश बोधित हो रहा है। श्रुति में इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(काठ.उप. 2/2/9)

जैसे प्रकाशस्वरूप वह्नि के एक होने पर भी इस भूलोक में विभिन्न रूपों में वह प्रतीत होता है। उसी प्रकार अतिसूक्ष्म होने से एक रूप भी आत्मा सर्वदेह में प्रविष्ट होने पर विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है। अर्थात् निर्धर्मक आत्मा में विभिन्न धर्म प्रतीत होते हैं, जैसे—देह के जन्म लेने से वह अजन्मा, जन्मवान् प्रतीत होता है। देह के नष्ट होने पर नित्य होने पर भी 'नश्यति' इस व्यवहार का विषय हो जाता है। किन्तु इन व्यवहारों से जायमान अथवा तिरोधीयमान प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह अविक्रिय है। इस तथ्य को 'बहिश्च' यह शब्द बतलाता है। आत्मा प्रति देह में प्रविष्ट तो है ही सर्वव्यापक होने से वह देह के बाहर भी अविक्रिय रूप में है। अतः देह-प्रवेश के कारण प्रतीयमान विक्रिया आत्मा का

स्वभाव नहीं है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रतीयमान नामरूप का मिथ्यात्व सिद्ध होता है, आत्मा का नहीं।

प्रकृत प्रसंग में दृष्टान्तभूत मयूरपंख में जो विभिन्न रंग हैं वह जगत् में प्रतीयमान रूप के सूचक हैं। जैसे चँवर शिरोभाग में वायु के कम्पन से शीतलता प्रदान करती है, उसी प्रकार शिरोभाग से देह में प्रविष्ट जीवात्मा भी ब्रह्मरन्ध्र में अभिव्यक्त होकर अलौकिक सुख एवं शान्ति प्रदान करता है। अतएव श्रुति कहती है कि जो लोग इस शरीरस्थ आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं, उन्हें ही शान्ति एवं सुख मिलता है, अन्य लोगों को नहीं। इसे आगे स्पष्ट किया गया है। आत्मा के शरीरानुप्रवेश का वर्णन उसके उपलब्धि के स्थान को बताने के लिए है। इससे यह भी संकेत प्राप्त होता है कि आत्मा इसी शरीर में प्रविष्ट है तो इसे यहीं प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। अतएव आत्मसाक्षात्कार के बिना सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती, इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए श्रुति कहती है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(काठ.उप. 2/2/12)

वह परमात्मा सर्वगत होने पर भी स्वतन्त्र है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है, सम्पूर्ण जगत् उसके वश में है; क्योंकि वह सबकी अन्तरात्मा है; किन्तु उसने नामरूपोपाधि के भेद से अपने को नाना रूपों में कर दिया है। शरीर के भीतर हृदयाकाश में अर्थात् बुद्धि में चैतन्याकार में अभिव्यक्त होने वाले उस परमात्मा का जो लोग साक्षात्कार करते हैं उन्हें शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्य लोगों को नहीं। निर्लेप की विष्टि बताकर आचार्यचरण यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि निर्लेप असंग परमात्मा दुःखात्मक प्रपंच में प्रवेश करके नाना नाम एवं रूपों को मोरछड़ की तरह धारण कर चुका है। इस नामरूपात्मक प्रपंच में वह विकारी तथा नाशवान् प्रतीत हो रहा है; किन्तु वह प्रपंच के इन गुणों से निर्लिप्त है, इसको प्रयास करके जानना चाहिए।

यदि 'निर्लेपा विष्टिः निर्लेपविष्टिः' इस विग्रह को स्वीकार कर निर्लेप का क्तिन् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न विष्टि के साथ कर्मधारयसमास करें तो विष्टि में

निर्लेपता का अभिप्राय होगा प्रवेश की शुचिता। प्रायः यह देखा जाता है कि कहीं प्रवेश करने के बाद कोई भी व्यक्ति या वस्तु उन गुणों से पूर्णतः या अंशतः सम्पृक्त हो जाती है जो वहाँ विद्यमान रहते हैं। किन्तु यह प्रवेश ऐसा है जिसमें प्रविष्ट होने वाला निर्लेप या शुद्ध बना हुआ है। इस प्रकार बहुरंगी मोरछड़ में निर्लेप विष्टि बताने का आशय है, निर्लेप भी अधिकरण के गुणों से गुणवान् की तरह भासित होता है।

निर्लेप विष्टि से ध्वनित दृक्-दृश्य-सम्बन्धानुपपत्ति दृक् आत्मा तथा दृश्यप्रपंच के सम्बन्ध का युक्ति से उपपन्न न होना पर विचार प्रस्तुत है।

दृक् शब्द आत्मा का बोधक है। अद्वैत मत में वह ज्ञानरूप है, इस ज्ञान-रूप आत्मा के साथ विषय का जब तक सम्बन्ध नहीं होगा तब तक विषय का प्रकाशन नहीं होगा। नैयायिक के मत में 'ज्ञान' आत्मा का गुण है; किन्तु इस गुणात्मक ज्ञान का भी विषय के साथ कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं बन पाता। संयोग और समवाय दो अनाध्यासिक (वास्तविक) सम्बन्ध हैं। यह दोनों सम्बन्ध ज्ञेय घटपट आदि को ज्ञान के साथ सम्बद्ध नहीं करा पाते। नैयायिक ज्ञान और विषय का विषय-विषयिभाव सम्बन्ध मानते हैं, जो उपपन्न नहीं हो पाता। विषय-विषयिभाव को विषयित्व तथा विषयत्व रूप कहा जाय तो यह दोनों एक-एक में (विषय अथवा विषयी ज्ञान में) रहते हैं, अतः द्विष्ठ न होने से (दो में न रहने से) किसी को भी सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त विषयत्व क्या है? विषयित्व क्या है? इसका निरूपण भी नहीं किया जा सकता। पहले विषयत्व क्या है? इसका विचार करें, तो कुछ विकल्प सामने आते हैं—1. यदि यह कहा जाय कि ज्ञानजन्य फल के आधार को विषय कहते हैं, तो यह निश्चित करना होगा कि यह फल क्या है? यदि 'ज्ञातता' को ही मीमांसक की तरह फल कहा जाय तो यह उचित नहीं है; क्योंकि अतीत एवं अनागत विषयों में यह ज्ञातता नहीं रहती। यदि यह कहा जाय कि हान (छोड़ना) तथा उपादान (ग्रहण करना) ही फल है; क्योंकि ज्ञान के बाद ज्ञान के विषयभूत वस्तु का हान या उपादान देखा जाता है तो यह भी असंगत है; क्योंकि आकाशादि का हान एवं उपादान सम्भव नहीं है। एक दोष इस पक्ष में और है कि 'इदं कलधौतम्' यह सोना है, इस ज्ञान का विषय स्वर्णमल भी होने लगेगा, क्योंकि उसका त्याग होता है।

अतः इन सब दोषों के कारण ज्ञातता को ज्ञान का फल न मानकर अज्ञाननिवृत्ति को ही फल मानना चाहिए। 2. यदि यह कहा जाय कि ज्ञान का जो कर्म है, उसे ही ज्ञान-विषय कहते हैं तो यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि ईश्वर के ज्ञान और अतीत, अनागत पदार्थविषयक ज्ञान के कर्मकारक से जन्य न होने से वे निर्विषय हो जायेंगे। 3. यदि यह कहा जाय कि ज्ञान में जो भासित होता है (दृश्यमान है), उसे विषय कहते हैं, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि दृश्यमानत्व के विषयत्व-घटित होने से आत्माश्रय होगा। अर्थात् विषयत्व के लक्षण में विषयत्व का घटकतया प्रवेश होने से आत्माश्रय होगा। इस प्रकार विषयत्व क्या है? यह निश्चित नहीं हो पाता। अतः दृक् एवं दृश्य (ज्ञान और विषय) का कोई अनाध्यासिक सम्बन्ध (वास्तविक सम्बन्ध) न होने से तथा अवास्तविक सम्बन्ध के निर्लेपता का बाधक न होने से सर्वव्यापक परमात्मा का सर्वत्र अस्तित्व होने पर भी निर्लेपता उपपन्न हो जाती है। इसी प्रकार विषयित्व के भी सम्बन्धरूपता का खण्डन किया जा सकता है। अतः परमात्मा (दृक्) और जगत् (दृश्य) का सम्बन्ध न होने से 'निर्लेप विष्टि' कहना उचित है।

प्रकृत प्रसंग में तो 'विशति क्लेशम्' इस व्युत्पत्ति के आलोक में निर्लेप की विष्टि बताकर आचार्यचरण यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि शारीरक आत्मा शरीर के गुणों से कहीं भी स्पृष्ट नहीं होता। यह भी ध्वनित करना चाहते हैं कि यदि यह ज्ञान हो जाय कि बहुरंगी मोरछड़ में निर्लेप परमात्मा के प्रवेश से ही बहुत रंग आए हैं, जो प्रपंच के कण-कण में परमात्मा को बता रहे हैं, तो जीव निर्लेप परमात्मा में प्रवेश (विष्टि) कर जायेगा, आवागमन से मुक्त हो जायेगा। 'भव' रोग की निवृत्ति होगी। इस प्रकार आचार्यचरण ने यह स्पष्ट किया कि हमारे मोरछड़ से 'भव' रोग की निवृत्ति होती है, सामान्य ज्वर आदि की चर्चा ही क्या है? इस मयूरछद को भगवान् कृष्णावतार में भी धारण करते थे, अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(10/21/5)

यहाँ मयूरपिच्छ को शिर का भूषण (आपीड) बतलाया गया है तथा भगवान् को नटवर वपु 'श्रेष्ठ नट के समान शरीर वाला' कहा गया है। हम जानते हैं कि नट का शरीर वास्तविक नहीं होता, उसका वास्तविक शरीर तो प्रातीतिक शरीर से ढँक जाता है। इसी प्रकार भगवान् का सच्चिदानन्दमय शरीर इस दृश्यमान शरीर से ढँका हुआ है। स्पष्ट है कि बहुरंगी मोरछड़ से निर्लेप प्रभु का सर्वदा सम्बन्ध बतलाया गया है, चाहे वह सगुण स्वरूप में हो या निर्गुण स्वरूप में। निर्गुणरूप में परमात्मा सृष्टि का आधार है; क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च वहीं कल्पित है। सगुण रूप में वह नियन्त्रक भी है। यदि बहुरंगी मोरछड़ विचित्र शक्तिसम्पन्न मायाशक्ति को कहा जाय, तो भी उसके कार्यभूत जगत् में निर्लेप की विष्टि उपपन्न हो जायेगी। जैसे मोरछड़ को हिलाकर (शिर आदि के ऊपर घुमाकर) उसके स्पन्दन से रोग दूर किये जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के स्पन्दन से उसके विकारभूत सृष्टि के द्वारा जीवों को भवरोग से मुक्ति मिलती है; क्योंकि सृष्टि का प्रयोजन जीवों का उद्धार ही है।

निर्भव जंगडोरा

मोरछड़ (मयूरछद) या मयूर का चँवर एक डोरे से मयूर-पंखों को परस्पर संश्लिष्ट कर (जोड़कर) बनाया जाता है। इसी डोरे को जंगडोरा कहते हैं। आचार्यचरण कहते हैं कि मोरछड़ को बाँधने वाला जंगडोरा निर्भव है। निर्भव शब्द का अर्थ उत्पत्तिरहित है। **'भवात् निर्गतः निर्भवः'** इस व्युत्पत्ति में **'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या'**—'निर् आदि उपसर्गों का क्रान्त आदि अर्थों में पंचम्यन्त के साथ समास होता है' इस वार्तिक से समास करें तो निर्भव का अर्थ उत्पत्तिरहित होगा। हम प्रकृत में 'मोरछड़' पदवाच्य प्रपंच को जंगडोरा से बँधा बता रहे हैं। यह जंगडोरा 'निर्भव' है, अर्थात् उत्पत्तिरहित है। उत्पत्तिरहित जंगडोरा से मोरछड़ नियन्त्रित है। अनादि अविद्या उत्पत्तिरहित होने से जंगडोरा कही जा सकती है। उसी का कार्य अनन्त ब्रह्माण्ड है। अतः वह अविद्यारूप जंगडोरा से नियन्त्रित है, अविद्या का ही परिणाम है। अतएव वह केवल प्रतीत होता है, वस्तुतः नहीं है, फलतः अज्ञान-काल में कभी भी उसका अभाव नहीं होता तथा ज्ञानकाल में वह कभी वास्तविक या यथार्थ रूप में प्रतीत नहीं होता, इस रूप में उत्पत्त्यभावरूप जंगडोरा उसे नियन्त्रित किये रहता है। प्रपंच को

उत्पत्त्यभावरूप डोरे से बँधा बताकर आचार्यचरण 'अजातवाद' की ओर संकेत कर रहे हैं। अर्थात् मोरछड़पदवाच्य प्रपंच उत्पन्न ही नहीं हुआ है, केवल प्रतीत हो रहा है। यतः वह आविद्यक है।

यह अजातवाद अजाति या अजन्म का वाद है, जो वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। इसका अर्थ है कि घट-पट आदि कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ है। यह उचित भी है; क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होगा, उसकी सत्ता उत्पत्ति के बाद तो अवश्य माननी होगी। किन्तु यहाँ तीनों कालों में कोई पदार्थ नहीं है, इस अर्थ का प्रतिपादन **'नेह नानाऽस्ति किञ्चन'** (बृ.उप. 4/4/1) इस श्रुति से होता है। 'एकमेवाऽद्वितीयम्' (छा.उप. 6/2/1-2) ब्रह्म एक अद्वितीय है—यह श्रुतिवाक्य भी सजातीय भेद (दूसरे ब्रह्म से ब्रह्म का भेद), विजातीय भेद (घट-पट आदि व्यावहारिक तथा शुक्ति-रजत आदि प्रातिभासिक पदार्थों से ब्रह्म का भेद) तथा स्वगत भेद (यह भेद अवयवों वाले वृक्ष आदि में मिलता है, निरवयव आत्मा आदि में नहीं) शून्य ब्रह्म को बतलाता है। अतः आत्मा से भिन्न पदार्थों की तीनों कालों में सत्ता नहीं है, यह प्रतिपादित होता है। तीनों काल में सत्ता नहीं है, यह कहने का आशय यही है कि यह पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए, केवल प्रतीत हो रहे हैं। अस्तु, श्रुतिप्रमित इस अजातिवाद को तर्क के द्वारा कैसे बुद्धिगम्य बनाया जाय, एतदर्थ युक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं—चेतन (जीव) तथा अचेतन (जड़)। यह दोनों ही उत्पन्न नहीं हैं, यह समझने के लिए पहले चेतन जीवों की अनुत्पत्ति को समझाने का प्रयास किया जा रहा है। जैसे एक ही आकाश घटाकाश, मठाकाश इत्यादि औपाधिक भेद धारण करता है, वस्तुतः उसमें भेद नहीं है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा उपाधि-भेद से नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है। जीवभाव की समाप्ति को भी हम घटादि के दृष्टान्त से ही समझ सकते हैं। जैसे घट के लीन होने पर (नष्ट होने पर) घटाकाश, आकाश (महाकाश) में लीन हो जाता है। यह अवश्य अवधेय है कि घट, पट आदि आकाश की भेदक उपाधियों को तिरोहित करने हेतु ही प्रयास अपेक्षित है। उपाधि के तिरोधान के बाद घटाकाश को महाकाश में मिलाने हेतु कोई प्रयास नहीं किया जाता; क्योंकि उपाधि के कारण केवल भेद का भ्रम हो रहा है वस्तुतः भेद है ही नहीं, इसी प्रकार

उपाधिभूत अन्तःकरण के लीन होने पर जीव भी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। 'जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है' यह कथन ब्रह्म से भिन्न रूप में प्रमात्मक ज्ञान वाले जीव की ब्रह्मप्राप्ति नहीं बतलाता; अपितु जीव को 'मैं ब्रह्मभिन्न हूँ' इस प्रकार का जो भ्रम है, उसके निरास को सूचित करता है। इस भ्रम के दूर हो जाने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है।

यदि जीव ब्रह्म का अवयव अथवा विकार हो तो उसमें ब्रह्म का भेद कहा जाय अथवा उसकी उत्पत्ति कही जाय? जैसे दूध का विकार है दही, तो वह दूध से भिन्न है तथा उसकी उत्पत्ति भी देखी जाती है। जैसे घट का अवयव है कपाल, तो वह मृत्तिका से उत्पन्न भी है घट से भिन्न भी है। किन्तु जीव, ब्रह्म का अवयव अथवा विकार नहीं है, जैसे महाकाश का घटाकाश अवयव अथवा विकार नहीं है; क्योंकि अवयव और अवयवी का औपाधिक भेद नहीं होता तथा यदि जीव अवयव नहीं है तो वह विकार भी नहीं हो सकता; क्योंकि सावयव पदार्थों में ही विकार देखा जाता है।

अचेतन वर्ग (भोग्य वर्ग) की उत्पत्ति नहीं सम्भव है। जागतिक अचेतन पदार्थसंघात (अवयवसमूह) रूप हैं—जिसे **'संघातपरार्थत्वात्'** (सां.का. 17) इस सांख्य-कारिका में स्पष्ट रूप से कहा गया है। इन संघातों में शरीररूप संघात सबसे महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि इसी के भोग के लिए अन्य संघात हैं। इस प्रधान संघात की अनुपपत्ति को समझकर हम सभी संघातों के विषय में इस प्रकार की धारणा को दृढ़ कर सकते हैं। हम देखते हैं कि स्वप्न के सभी शरीर चाहे वह मनुष्य, पशु-पक्षी, सरीसृप (सर्प आदि जो पृथ्वी पर रेंगते हैं) आदि किसी भी योनि से सम्बद्ध हों, सुख-दुःख आदि का भोग करते हुए भी अन्त में मिथ्या रूप में गृहीत होते हैं। इसी तरह जाग्रदवस्था के शरीर भी मायाकार्य होने से मिथ्या हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर अन्तःकरण आदि उपाधियों के सत्य होने के कारण जीव-ब्रह्म का भेद तात्त्विक है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म शुद्ध है जीव मलिन है, अतः जीव-ब्रह्म का भेद मानना चाहिए तो यह उचित नहीं है; क्योंकि जैसे बालकों को धूम्र आदि मल के सन्निधान में आकाश मलिन दिखता है, उसी प्रकार अविवेकी लोगों को आत्मा मलिन दिखाई देता है।

स्वप्नदृष्टान्त की एक युक्ति प्रदर्शित कर पदार्थों (संघातों) का वैतथ्य (मिथ्यात्व) बतलाया जा सकता है। दो प्रकार के पदार्थ स्वप्नावस्था तथा जाग्रदवस्था में प्रतीत होते हैं—1. चित्त के भीतर कल्पनाजगत् में प्रतीयमान पदार्थ, 2. बाह्य संसार में चित्त की वृत्ति से गृहीत होने वाले घट-पट आदि पदार्थ। स्वप्नावस्था में यह दोनों प्रकार के पदार्थ मिथ्या हैं, मायाकल्पित हैं, ऐसा मानने में किसी को आपत्ति नहीं है, तो जाग्रदवस्था के भी दोनों प्रकार के पदार्थ मिथ्या हैं, मायाकृत हैं, यह मानने में वैमत्य नहीं होना चाहिए; क्योंकि दोनों में दृश्यत्व तुल्य है।

अस्तु, जागतिक पदार्थों को मिथ्या स्वीकार करने पर सृष्टिप्रतिपादक एवं भेदप्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य निश्चित करना होगा? क्योंकि '**यत्परः शब्दः स शब्दार्थः**'—'वक्ता, जिस अर्थ का बोध कराने की इच्छा से शब्द का उच्चारण करता है वही शब्दार्थ होता है' इस नियम से सृष्टि-वाक्यों का तात्पर्य सृष्टि में नहीं है, तो किस प्रयोजन से यह वाक्य उच्चरित है, यह स्पष्ट करना होगा? माण्डूक्योपनिषद् में इसका विवेचन करते हुए कहा गया है—

मृल्लोहविस्फुल्लिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥

(मा.उप., अ.प्र.का. 15)

मृत्तिका, लोह तथा विस्फुलिंग आदि का दृष्टान्त देकर जो भिन्न-भिन्न सृष्टिप्रकार कहे गये हैं, वे (सृष्टिप्रकार या सृष्टिभेद) जीव तथा परमात्मा की ऐक्यबुद्धि के अवतार के उपाय हैं, सृष्टि-प्रतिपादन में उनका तात्पर्य नहीं है। अवतार शब्द प्रकृत में अवगम या ज्ञान का बोधक है। तृ धातु भी प्लवन या गति का बोधक होने से प्रकृत में गम् धातु की तरह ज्ञानार्थक होगा। सृष्टि-प्रतिपादक वाक्य तीन प्रकार के उत्पत्ति-क्रम में सृष्टि बतलाते हैं। कहीं आकाश आदि के क्रम से सृष्टि सुनी जाती है—जैसे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः' (तै.उप., ब्र.व., अनु. 1) इत्यादि वाक्य में आकाशादि क्रम से सृष्टि सुनी गयी है। कहीं तेज आदि के क्रम से सृष्टि सुनी जाती है। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा.उप. 6/2/3) उस 'सत्' शब्द से बोधित होने वाले चेतन ने विचार किया कि 'बहुत रूप में हो

जाँय' अतः प्रकृष्ट रूप में उत्पन्न होना चाहिए। ऐसा विचार कर उसने 'तेज' की सृष्टि किया। इस प्रकार तेज की सृष्टि प्रथम सृष्टि होती है। कहीं प्राण आदि के क्रम से सृष्टि सुनी जाती है। **'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुरित्यादि'** (प्र.उप. 6/4) उस ईश्वर ने हिरण्यगर्भ नाम के 'प्राण' की रचना किया, जो अन्तरात्मा स्वरूप है। प्राण से श्रद्धा तथा श्रद्धा से आकाश, वायु आदि की सृष्टि किया। इन तीनों प्रकारों के अतिरिक्त अक्रम से भी सृष्टि सुनी जाती है। श्रुति का तात्पर्य सृष्टि में होने पर सभी श्रुतियों को सृष्टि में प्रमाण माना जायेगा तो कौन सा क्रम स्वीकार्य होगा? आकाशादि क्रम को प्रामाणिक कहें तो अन्य श्रुति से प्रमाणित तेज आदि क्रम अथवा प्राणादि क्रम प्रमाण क्यों नहीं? यह प्रश्न होगा। अतः परस्पर विरुद्ध होने से कोई भी क्रम स्वीकार्य नहीं होगा। फलतः श्रुति का तात्पर्य सृष्टि के प्रतिपादन में नहीं है, यह कहेंगे तो सृष्टि-क्रम के श्रुति के प्रतिपादन का विषय न होने से, विरोध का परिहार हो जायेगा और श्रुतियों को जीव-परमात्मा की ऐक्यबुद्धि के अवतार के उपाय के रूप में स्वीकार करने पर उनकी व्यर्थता भी नहीं होगी। जीव एवं परमात्मा की ऐक्य-बुद्धि या एकत्व-ज्ञान में सृष्टि का उपयोग कर्मानुष्ठानपुरस्सर अन्तःकरण-शुद्धि के द्वारा ज्ञान (अभेद-साक्षात्कार) कराने में है।

इस प्रकार श्रुति का सृष्टि के प्रतिपादन में तात्पर्य न होने पर अजातिवाद का सिद्धान्त पुष्ट होगा, जो 'निर्भव जंगडोरा' इस मात्रा में प्रतिपादित है। भेद-प्रतिपादक श्रुतियों को भेदपरक मानने पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध भेद का अनुवादक होने से, अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियों की अपेक्षा हीन बल वाली होने से, वे अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियों का बाध नहीं कर पायेंगी।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु.उप. 3/1/1) इत्यादि पूर्वोद्धृत श्रुति, जीव, ईश्वर के भेद का प्रतिपादन नहीं करती; क्योंकि पैंगिरहस्य-ब्राह्मण में इसका बुद्धि एवं जीवपरक व्याख्यान मिलता है। अतः यह कहना कि इस श्रुति से ईश्वर एवं जीव का भेद प्रतिपादित होता है, उचित नहीं है। अस्तु, अन्य श्रुतियों पर भी विचार किया जा सकता है, अर्थात् भेदपरक ऐसी अन्य श्रुतियाँ उदाहृत की जा सकती हैं, जिनका तात्पर्य जीव-ब्रह्म एवं जीव-जगत् के भेद में है, तथापि भेदपरक श्रुतियों को प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत भेद का प्रतिपादक होने के कारण

अनुवादक कहना होगा, अतः उनका बल क्षीण होगा, इसे नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार भेदपरक श्रुतियों से वास्तविक भेद की सिद्धि नहीं होगी और प्रातीतिक भेद शुक्ति-रजत की तरह वस्तु की सत्ता को नहीं ला सकता। अतः सृष्टिपरक श्रुतियों को जीव-ब्रह्मैक्य-बोधन के उपायपरक मानने से 'अजातिवाद' की पुष्टि होती है, जिसे प्रकृत मात्रा में संकेतित किया गया है।

'निर्भव जंगडोरा' का अर्थ उत्पत्तिरहित परमात्मा भी हो सकता है। इस अर्थ में सृष्टि को अजात या अनुत्पन्न न मानकर सत्य भी मानें तो परमात्मा के सृष्टि का नियन्त्रक होने में कोई अनुपपत्ति नहीं होती। जंगडोरा, जैसे मोरछड़ को बाँधे रहता है अर्थात् मोरछड़ 'जंगडोरा' से नियन्त्रित रहता है, उसी प्रकार प्रपंचरूपी 'मोरछड़' को परमात्मा नियन्त्रित रखते हैं। अतएव श्रुति कहती है–**'एष सेतुर्विधरणः'** (बृ.उप. 4/4/22) यही परमात्मा ही धारण करने वाले सेतु हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण में सर्वनियन्त्रित्व का वर्णन विस्तार से मिलता है। **'यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमान्तरो यमयति'**–'जिसका पृथिवी शरीर है जो पृथिवी के भीतर होकर उसे नियन्त्रित करता है' (बृ.उप. 3/7/3) इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। किन्तु ऐसा मानने पर निर्लेप शब्द भी परमात्मा को कहें और निर्भव शब्द भी उसी को कहें तो एक ही अर्थ का दो बार कथन होने से द्विरुक्ति दोष होगा, जो सारगर्भ मात्रासूत्रों की दृष्टि से उचित नहीं है।

जंगडोरा से हम मोरछड़ को बाँधते हैं। जंगडोरा प्रविष्ट होकर ही बाँधने का या नियन्त्रण का कार्य करता है। निर्लेप या असंग सर्वव्यापक परमात्मा जंगडोरा है, तो उसका प्रवेश श्रुति के द्वारा पृथिवी आदि के भीतर नियन्ता के रूप में बतलाया गया है। इस प्रकार निर्गुण का वर्णन किया गया है।

यदि जंगडोरारूप परमात्मा को सगुण-साकार कहा जाय तो 'नाकोद्रिष्टी' के साथ मिलकर दोनों मात्राओं का अर्थ होगा निर्भव जंगडोरारूप परमात्मा स्वर्ग से ऊपर विष्णुलोक में, शिवलोक में अथवा ब्रह्मा रूप कहें तो सत्यलोक में (ब्रह्मलोक में) प्रविष्ट है। त्रिदेवों (रजःप्रधान ब्रह्मा, सत्त्वप्रधान विष्णु तथा तमः-प्रधान शिव) का निवास स्वर्ग में नहीं है तथा त्रिदेव इन्द्रादि देवों से सर्वदा सम्पृक्त नहीं रहते; क्योंकि इन्द्र आदि देवता कर्मानुसार आधिकारिक पदों पर

नियतकाल के लिए कार्य करते हैं, त्रिदेव उनके रक्षक तथा पोषक हैं। वेद-मर्यादा का पालन कराने हेतु नियन्त्रण की प्रक्रिया में इन्द्र आदि देवता अहर्निश संलग्न हैं। जब इनके ऊपर कोई संकट होता है तो त्रिदेव की शरण में जाते हैं और त्रिदेव इनकी सहायता भी करते हैं। किन्तु त्रिदेव में से किसी का भी स्वर्ग में रहना प्रमाणित नहीं होता। यह उचित भी है क्योंकि स्वर्ग तो भोगभूमि है। जो स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किये गये अग्निहोत्र आदि कर्मों (**स्वर्गकामो यजेत**–'स्वर्ग की कामना हो तो यजन करे' आदि वाक्यों से अग्निहोत्र विहित है) से प्राप्त होता है तथा कर्मफल का भोग समाप्त होने पर, स्वर्ग से पतन भी होता है। स्वर्ग के नियन्ता इन्द्र तथा अन्य देवता भी कर्म से ही अपने पदों (इन्द्रादि रूप में देवभाव) को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार स्वर्ग का सम्बन्ध फल की कामना से किये गये कर्मों से ही है। अतः कर्मफल का भोग जिसे नहीं प्राप्त करना है, वह वहाँ किसी भी रूप में नहीं जाता। किन्तु कर्म से स्वर्ग तथा स्वर्ग से च्युत होने पर पुनः स्वर्गप्राप्ति के लिए कर्म यह क्रम लगातार चलता रहता है, जिससे विवेकी व्यक्ति को वैराग्य होता है और स्वर्ग से ऊपर के लोकों में प्रवेश की इच्छा करने लगता है।

यदि 'निर्भव जंगडोरा' का अर्थ भव रहित, उत्पत्ति रहित अर्थात् विचलन रहित सीधी चलने वाली दृढ़ श्वास किया जाय, तो यह श्वास ही नासिका के अग्र भाग में दृष्टि होने पर 'ब्रह्मरन्ध्र' में मन को पहुँचाकर, शरीर के भीतर स्थित ऊर्ध्व लोकों से सम्बन्ध कराने के कारण उन लोकों को बाधने वाले 'जंगडोरा' का काम करेगी। इस प्रकार निर्लेप परमात्मा को शरीर के भीतर प्राप्त करने के उपाय का उपदेश आचार्यचरण कर रहे हैं, जो अगली मात्रा में उद्धृत गोरखबानी से भी पुष्ट होता है।

पूर्व रीति से अजातिवाद का प्रतिपादन करने से उत्तम अधिकारी को वैराग्य होगा; किन्तु बहुरंगी मोरछड़ में निर्लेप विष्टि के प्रतिपादन से यह सूचित होता है कि दृक् चेतन आत्मा तथा दृश्य का सम्बन्ध नहीं होता। दृश्य के वास्तविक होने पर तो दृक्-द्रष्टा आत्मा का दृश्य के साथ सम्बन्ध अवश्य होता, अतः दृग्-दृश्य के सम्बन्धाभाव[77] से भी जगत् का मिथ्यात्व आता है। दृश्य पदार्थों की श्रेणी में सत्यस्वर्गादि लोक भी आते हैं, जिनकी प्राप्ति कर्मों के द्वारा होती है। कर्मों से

प्राप्त होने वाले इन लोकों की अनित्यता एवं अस्थिरता को देखकर विवेकशील व्यक्ति को सत्यस्वर्गादि लोकों से भी 'उद्वेग' होता है। वे लोग कभी भी स्वर्गादि लोकों को नहीं चाहते, इसी तथ्य को 'नाको द्विष्टी' इस मात्रा में कहा गया है।

नाकोद्विष्टी

नासिका और दृष्टि के सम्बन्ध की चर्चा इस मात्रा में की गयी है, यह कहा जा सकता है; क्योंकि इस सम्बन्ध का योग की दृष्टि से अधिक महत्त्व है। नासिका और दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली सबदी निम्न रूप में गोरखबानी में भी मिलती है—

नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम ना आयबा, बहुरि न पीयबा षीरं॥

(275, गो.बानी, पृ. 103)

नासिका के अग्र भाग में दोनों भौंहो के बीच में रात-दिन स्थिर रहो अर्थात् दृष्टि को स्थिर रखो। इससे आवागमन मिट जायेगा। माता के गर्भ में नहीं आना होगा, उसका दूध नहीं पीना होगा।

नासिका के अग्रभाग के अवलोकन हेतु भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं—

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ (6/13)

स्थिर होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देखते हुए तथा दिशाओं को न देखते हुए आत्म शुद्धि के लिए योग करना चाहिए। नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करने से लय की निवृत्ति होती है तथा दिशाओं को न देखने से विक्षेप की निवृत्ति होती है।

इस गोरखबानी और गीता के अनुरूप इस मात्रा का पाठ नाकोद्दिष्टी हो, तो नाक (नासिका) के ऊपर या भूमध्य में (उद्दिष्टी) दृष्टि को स्थिर करना चाहिए, यह अर्थ लाभ होगा। यदि 'नाकोद्विष्टी' पाठ ही है, तो 'नाक' शब्द स्वर्ग का वाचक है। 'उद्विष्टि' शब्द में उद् उपसर्ग तथा विश धातु और क्तिन् प्रत्यय है। उद्विष्टि का अर्थ होगा ऊपर प्रवेश, किससे ऊपर प्रवेश? इस जिज्ञासा की शान्ति स्वर्गवाची नाक शब्द से होगी और स्वर्ग से अर्थात्

स्वर्गोपलक्षित नाशवान् सभी लोकों से ऊपर के लोक 'आत्मलोक' में 'प्रवेश' (उद्विष्टि) यह प्रकृत मात्रा का अर्थ होगा। **'एष ब्रह्मलोकः'** (बृ.उप. 4/3/32) श्रुति का शङ्कराचार्य ने **'ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः'** ब्रह्म ही लोक है, यह व्याख्यान किया है। इस प्रकार आत्मा या ब्रह्म को भी 'लोक' शब्द से उपनिषद् में व्यवहृत किया गया है। गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र में भी गजेन्द्र ने आत्मा को लोक शब्द से अभिहित किया है। **'इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवस्तस्यात्म-लोकावरणस्य मोक्षम्'** (श्रीमद्भाग. 8/3/25) यह वाक्य इसमें प्रमाण है। जिसका काल से भी विप्लव (ध्वंस) नहीं होता ऐसे आत्मलोक के आवरणभूत 'अज्ञान' का मोक्ष या निवृत्ति मैं चाहता हूँ। अस्तु, यदि गत्यर्थक अक धातु से भाव अर्थ में क प्रत्यय (घञर्थे कविधानम्) करें तो 'अकनम्' इस भाव-व्युत्पत्ति में 'अकः' शब्द की सिद्धि होगी, जो गमन का वाचक होगा। न तथा अकः का 'सुप्सुपा' से समास करें तो 'नाकः' शब्द गत्यभाव का वाचक होगा। नाक शब्द से **'नाकः अस्यास्ति'** इस व्युत्पत्ति में 'अर्शआद्यच्'–प्रत्यय करें तो नाकशब्द ही सिद्ध होगा जो जिसमें गत्यभाव अर्थात् जन्मान्तर-प्राप्ति का अभाव होता है,[98] उस आत्मा को कहेगा। आत्मा के सम्बन्ध से गत्यभाव या जन्माभाव होने का आशय है आत्मा का साक्षात्कार होने के अनन्तर जन्माभाव का होना। किन्तु नाक शब्द का यह अर्थ करने पर भी 'नाकोद्विष्टी' का अर्थ नाक शब्दवाच्य आत्मा की प्राप्ति के लिए ऊपर प्रवेश या विषय का त्याग अर्थ करना होगा। प्रपञ्च या सृष्टि का मायिक होना 'निर्भव जंगडोरा' में प्रतिपादित है। परन्तु प्रकृत व्युत्पत्ति में अनेक वृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है, अतः इस गौरवग्रस्त पक्ष को छोड़कर पूर्व समास का ही आश्रयण उचित है।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों से ऊपर के लोक में जिसकी प्रवेश की इच्छा है, वह कर्ममार्ग को छोड़ देगा। हम जानते हैं कि कर्म में व्यापृत (लगे) होने पर चित्त को भी शान्ति नहीं मिलती और शरीर को भी क्लेश होता है। साथ ही कर्म जब नश्वर फल देने वाले हैं, तो तीव्र वैराग्यसम्पन्न मुमुक्षु को उनके अनुष्ठान से अभीष्ट फलरूप परमात्मप्राप्ति भी नहीं होती है। अतः वह आत्मप्राप्ति हेतु भक्तिमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग का आश्रयण करता है। वैराग्य के साथ आसक्ति के भी रहने पर तो भक्तिमार्ग उचित फल देता है; किन्तु तीव्र वैराग्यसम्पन्न व्यक्ति के लिए ज्ञानमार्ग ही है। यह पूर्व में 'निर्णीत'

किया गया है। अतः आगे 'जाप जंगोटा, सिफत उड़ानी' इत्यादि मात्राओं में ज्ञान मार्ग के पथिक के उपकारक योगमार्ग का वर्णन किया गया है।

'नाकोद्विष्टी' का अर्थ यह भी बताया गया है, स्वर्ग से ऊपर के लोकों में अथवा सबसे उत्कृष्ट लोक 'आत्मलोक' में प्रवेश। इस प्रवेश की इच्छा उस व्यक्ति की होती है, जो संसार के अजातत्व को समझते हुए मिथ्यात्व को समझ लेता है अथवा जो निर्भव जंगडोरा के रूप में परमात्मा को जगत् का नियन्त्रक जान लेता है। वह क्षयिष्णु स्वर्गादि भोगों की उपेक्षा करके ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति हेतु प्रयास करता है। यह प्रयास सत्त्वादि गुणों की वृद्धि में सफल होता है, अतएव गीता (14/18) में कहा गया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

शास्त्रीय ज्ञान और कर्म, जो सत्त्वप्रधान लोगों के लिए विहित हैं, उनको अनुष्ठित करने वाले लोग मृत्यु के अनन्तर ज्ञानकर्म के तारतम्य से सत्यलोक-पर्यन्त के देवलोकों को प्राप्त होते हैं। लोभादिपूर्वक राजस कर्मों को करने वाले लोग मध्यम लोक (मनुष्यलोक, जहाँ पुण्य-पाप मिश्रित हैं) में उत्पन्न होते हैं तथा जघन्य गुण के रूप में ख्यात तृतीयगुण रजोगुण से नियन्त्रित होकर निद्रा, आलस्य आदि में प्रवृत्त लोग तमोगुण की प्रधानता के कारण नरक को प्राप्त करते हैं और तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी की योनि) में जाते हैं।

'नाकोद्विष्टी' में प्रयुक्त 'उद्' उपसर्ग ऊर्ध्वलोकों में प्रवेश को सूचित करता है। प्रकृत गीता-श्लोक में भी ऊर्ध्व, मध्यम एवं अधोलोकों की चर्चा की गयी है। मध्यम लोक पृथिवी है। अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल यह अधोलोक हैं, जहाँ स्वर्ग से भी अधिक भोगादि प्राप्त होते हैं। स्वर्गी जन भी इनमें से कुछ लोकों की प्राप्ति की कामना करते हैं। अतएव बलि को भगवान् विष्णु ने कहा है—तुम सुतल लोक में जाओ, जहाँ जाने हेतु स्वर्ग के लोग भी प्रार्थना करते हैं। भगवान् का वचन निम्न है—

इन्द्रसेन! महाराज! याहि भो भद्रमस्तु ते।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः॥

(श्रीमद्भागवत 8/22/33)

हे महाराज इन्द्रसेन (बलि)! आप अपने जाति-बन्धुओं के साथ सुतल लोक को जाइये, आपका कल्याण हो, इस सुतल लोक को प्राप्त करने की इच्छा स्वर्ग के निवासी भी करते हैं।

कं सुखं तद्विरुद्धम् अकं दुखम्, नाऽस्त्यकमत्र इति नाकः—न भ्राण्नपान्न वेदा ना सत्या नमुचि नकुल नख नपुंसक नक्षत्र नक्र नाकेषु प्रकृत्या (पा.सू. 6/3/75) **इति न लोपो न**'– 'क' शब्द सुखवाची है, उसके विरुद्ध दुःख को 'अक' शब्द कहेगा, यह 'अक' शब्द वाच्य दुःख जहाँ नहीं है, वह नाक कहलायेगा। न और अक का समास करने पर सूत्र 6/3/75 से न लोप का अभाव होगा। इस प्रकार 'नाक' शब्द सिद्ध होता है।

यदि पूर्व वर्णित रीति से 'नाक' शब्द का अर्थ गत्यभाव या जन्माभाव किया जाय, तो 'नाक' शब्द को यौगिक मानते हुए पृ. 266 पर उक्त समास एवं व्युत्पत्ति कहनी होगी। इस तरह 'नाक' शब्द गत्यभाव या उत्क्रमणाभाव को कहेगा। उत्क्रान्ति या उत्क्रमण प्राणों का होता है और अज्ञानी जीव एक शरीर को छोड़कर भोगप्रापक दूसरा शरीर प्राप्त करते हैं; किन्तु ब्रह्मविद् के विषय में श्रुति कहती है—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति'।

(बृ.उप. 4/4/6)

उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं सम्यक् प्रकार से लीन हो जाते हैं। ब्रह्मविद् के प्राणों अर्थात् वाक् आदि इन्द्रियों का उत्क्रमण नहीं होता। इसका आशय है कि प्राणोत्क्रमण-पूर्वक वह दूसरा शरीर नहीं प्राप्त करता, क्योंकि अज्ञानावस्था में ही विवश होकर एक के बाद दूसरा जन्म होता रहता है। ब्रह्मविद् तो घटाकाश जैसे महाकाश में मिलता है, उसी प्रकार अन्तःकरण आदि उपाधियों के अभाव में ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। उसके प्राण उस शरीर से उत्क्रमण तो करते हैं; किन्तु दूसरा शरीर न मिलने से यहीं लीन हो जाते हैं। इस प्रकार प्राण की उत्क्रान्ति जन्म को सूचित करती है। अतः नाक शब्द का अर्थ जन्माभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि नाक और उद्विष्टि का 'नाकार्थम् उद्विष्टिः नाकोद्विष्टिः' यह मध्यमपदलोपी समास कहें, तो जन्माभाव के लिए ऊर्ध्वलोक में प्रवेश ही 'नाकोद्विष्टी' का अर्थ होगा।

हम जानते हैं कि कर्म और भोग का एक आवर्त है, जिसके अनुसार कर्म से भोग और भोगसमाप्ति के बाद पुनः भोगार्थ कर्म यह परम्परा चलती रहती है। इस प्रकार सर्वदा गति या जन्म प्राप्त होता रहता है। इस परम्परा से मुक्ति पाने हेतु क्रम-मुक्ति के सोपान से ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति अथवा आत्मप्राप्ति आवश्यक है। अतः आत्मप्राप्ति के लिए तथा स्वर्ग से ऊपर के लोकों में प्रवेश पाने के लिए फल की कामनाओं को छोड़कर निष्काम कर्म, उपासना तथा योग आदि का आश्रय लेना होगा। स्वर्ग से ऊपर के लोक कौन से हैं? इसे जानने के लिए लोकों की स्थिति का संक्षिप्त विवरण **'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'** (यो.सू. 3/26) में द्रष्टव्य।

जाप जंगोटा

मात्रा में जाप और जप दोनों शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। 'सोऽहं जप सच माल पिरोती' तथा जाप, जंगोटा यह दो मात्राएँ दोनों के उदाहरण हैं। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ का ध्वनन करता है, अथवा जाप के प्रयोग का कोई विशेष प्रयोजन है? योगियों की परम्परा में किस प्रकार प्रयोग होता था, यह तो अनुसंधेय है, किन्तु गोरखबानी में कहा गया है कि—

अवधू जाप जपौ जपमाली चीन्हौ जाप जप्यां फल होई।
अगम जाप जपीला गोरष, चीन्हत बिरला कोई॥

(गो.बानी, पृ. 120)

जपमाली को पहचान कर जाप जपने से ब्रह्मानुभूति रूप फल होता है, गोरख ने ऐसा अगम जाप किया है, जिसको कोई विरला ही जानता है। गोरखबानी के कई पदों में अन्यत्र भी 'जाप' का प्रयोग है।

जे जाप सकल सिष्टि उतपंनां ते जाप श्रीगोरषनाथ कथियां।

(पद रागरामग्री-2, पृ. 121)

अजपा 'जाप' जपंता गोरष अतीत अनुपम ग्यांनं।

(पद-4, रागरामग्री, पृ. 121)

छसै संहस इकीसौ जाप अनहद उपजै आपहि आप।

(पद-3, रागरामग्री, पृ. 143)

इस प्रकार सोऽहं सोऽहं को 'अजपा जाप' बताया गया तथा गोरखबानी में ही 'जत जोगोटा' कह कर जत (यत) प्रयत्न को जोगोटा बतलाया गया है।

मात्रा में आचार्यचरण 'जाप' को 'जंगोटा' कह रहे हैं। यह जाप 'सोऽहं सोऽहं' का जप है, जिसे 'सोऽहं सोऽहं अजपा गाई' इस गोरखबानी में स्पष्ट किया गया है (गो.बानी, पृ. 143)।

यद्यपि 'सोऽहं जप सच माल पिरोती' इस मात्रा में पुनः सोऽहं जप की विधि होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है तथापि 'सिफत उड़ानी ' इस अग्रिम मात्रा के सान्निध्य से उड्यानबन्धपूर्वक यहाँ जप का विधान होने तथा आगे की मात्रा में श्वासों की अथवा चेतन की सच्ची माला से बिना प्रयास के जप होते रहने की चर्चा स्वीकार करने से पुनरुक्ति वारित हो जाती है।

अथवा यह कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि 'सोऽहं सोऽहं' इस अजपा मन्त्र के उत्पादक ऊँकार के जप को ही 'जाप' शब्द से कहा जा रहा है। ॐ को इस मन्त्र का 'उत्पादक' गोरखबानी में बतलाया गया है।

अह निसि बाइ मन्त्र कौणें रे उपाइ,
ध्यंने ध्यंने अष्यरे जे देवै रे बुझाइ।
ताका मैं चेला बाबू सो गुरू हमारा,
ऊँकार आछै बाबू मूल मन्त्र धारा।
ॐकार ब्यापीले सकल संसारा।
ॐकार नाभी हृदैं देव गुर सोई,
ऊँकार साधे बिना सिधि न होई॥

(पद-1, रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 117)

उस पवन मन्त्र (बाइ मन्त्र जो वायुरूप श्वास के द्वारा निरन्तर जपा जाता है) का मूल (उपाइ) उत्पत्तिकर्ता ऊँकार है, उसी से सारी सृष्टि की धारा निकली है। ऊँकार सारे संसार में व्याप रहा है। ऊँकार ही नाभि में मणिपूरचक्र में तथा हृदय देश में अनाहत चक्र में निवास कर रहा है। ऊँकार ही देवता है, ऊँकार ही गुरु है, ऊँकार को साधै बिना सिद्धि नहीं होती। आगे ॐ से अभिव्यक्त नाद में ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को लीन बतलाया गया है।

अस्तु, 'ॐकार को साधे बिना सिद्धि नहीं होती' यह कहकर ऊँकार की साधना को अवश्य कर्तव्य बतलाया गया है। अतः यह कह सकते हैं कि 'जाप जंगोटा' के द्वारा आचार्यचरण ऊँकार की साधना का विधान करते हैं। यह साधना कैसे होगी, इसे 'सिफत उड़ानी' इस मात्रा से संकेतित करते हैं।

योगियों की कमर में संलग्न मृगचर्म जिससे उनकी जाँघ ढकी रहती है, जंगोटा कही जाती है। योगीगण इसे योग का साधन स्वीकार करते हैं। जंगोटा को धारण करने से विरति की भावना बढ़ती है तथा योग से प्राप्त होने वाले लक्ष्य के प्रति समर्पण की भावना दृढ़ होती है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अन्तर्मन से की जाने वाली साधना का बाह्य परिवेश या परिधान से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य परिवेश तथा परिधान व्यक्ति के लक्ष्य के प्रति समर्पण एवं दृढ़ संकल्प के द्योतक हैं। इनको देखकर स्वाभाविक रूप से लोग श्रद्धावनत होते हैं तथा योगी के लिए हर सम्भव प्रयास करके अपेक्षित साधनों को उपलब्ध कराने का प्रयास करते हैं। एक कारण यह भी है कि सर्वदा शुद्ध रहने वाला एक टिकाऊ आवरण मृगचर्म के रूप में प्राप्त होता है, जिससे शरीर के कटिभाग का आच्छादन तो होता ही है, मृगचर्म के सर्वथा शुद्ध होने के कारण अन्य आच्छादनों की तरह इस आच्छादन की शुद्धि अथवा अशुद्धिविषयक विचार यति के मन को बाधित नहीं करते।

यह अवश्य अवधेय है कि जाप को जंगोटा कहकर आचार्यचरण जप का कटिभाग अर्थात् कटि से उपलक्षित मूलाधार चक्र से सम्बन्ध बताना चाहते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा यह 6 चक्र हैं। ॐकार को नाभि चक्र में स्थित और हृदय देश से सम्बद्ध कहा गया है। जप का ब्रह्मचर्य से बहुत अधिक सम्बन्ध है। अतएव आठ अंगों वाले योग के प्रथम अंग के रूप में वर्णित यम के भीतर ब्रह्मचर्य का परिगणन किया गया है। इसे हम 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (2/30) इस योगसूत्र में देख सकते हैं। जपसमूहरूप जाप का भी ब्रह्मचर्य से अविनाभाव सम्बन्ध है। बिना ब्रह्मचर्य के निरन्तर अथवा अधिक समय तक जप नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य, अष्टविध मैथुन का विवर्जन या न करना है—

दर्शनं स्पर्शनं केलिः स्मरणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥

स्त्री जाति का दर्शन करना, उसका स्पर्श करना, केलि (कामप्रयुक्त कामोत्तेजक क्रीडाविशेष) करना, उनका स्मरण करना, एकान्त में उनसे बातें करना (गुह्य भाषण), मैथुन की या स्पर्शादि की संकल्पना (संकल्प), मैथुनादि का निश्चय, मैथुन क्रिया की निर्वृत्ति (मैथुन में प्रवृत्ति) इत्यादि रूप में वर्णित मैथुन, विषय के चिन्तन के द्वारा जप की निरन्तरता को बाधित करता है।

यह कहना कि जाप और जंगोटा दोनों के आदि में जकार है, अतः आचार्यचरण ने जाप की उपमा जंगोटा से दे दी, जिससे अनुप्रासजन्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होगी, उचित नहीं है; क्योंकि जंगोटा कमर में धारण किया जाता है, अतः बिना किसी अन्य अभिप्राय के जाप से उसकी उपमा देना जिज्ञासा को शान्त नहीं कर पायेगा। अस्तु, जप शब्द की जगह जाप शब्द का प्रयोग क्यों किया गया, यह भी विचारणीय है। सन्त परम्परा के प्रयोग का अनुसरण कर यह प्रयोग किया गया है, यह कहा जाय, तो यह गोरखबानी के पूर्व में उद्धृत प्रयोगों के अनुसार उचित प्रतीत होता है। यह कहें कि जप और जाप एक-दूसरे के पर्याय के रूप में लोक में प्रयुक्त होते हैं, तो यह उचित नहीं है; क्योंकि संस्कृत-वाङ्मय में तो जप शब्द का ही प्रयोग है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (यो.सू. 1/28)

यह योगसूत्र प्रणव के अर्थ के ध्यानपुरस्सर जप का विधान करता है।

आचार्यचरण जीवमात्र के कल्याण के लिए सार्वकालिक उपदेशप्रधान मात्राशास्त्र की रचना कर रहे हैं। अतः उन्होंने मन को कामादि दोषों से रहित बनाने हेतु उपलब्ध तीनों उपायों अष्टांग योग, निष्काम कर्मयोग, एवं भक्तियोग को साधन के रूप में वर्णित किया। पूर्व में ध्यानयोग को सम्यक् ज्ञान का अन्तरंग साधन कहा गया है, जो अष्टांग योग का ही एक अंग है। ध्यानमार्ग से चलकर सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों को हम प्राप्त करते हैं, यह पूर्व में संकेतित किया गया है। सगुणोपासक भक्तों के लिए भगवान् के सगुण स्वरूप का ध्यान कल्याणकारक होता है। किन्तु निर्गुणोपासक ऊँकार या प्रणव की

उपासना करते हैं। इसका संकेत 'जाप जंगोटा' इस मात्रा में मिलता है। ओंकार ही श्रुति में आलम्बनरूप से वर्णित है, आलम्बन उसे कहते हैं, जिसका अवलम्ब लिया जाय। ऊँकार का अवलम्बन ब्रह्मप्राप्ति के लिए होता है। अतएव श्रुति ने कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(काठ.उप. 1/2/17)

यह ओंकाररूप आलम्बन ब्रह्मप्राप्ति के लिए बताए गये सभी आलम्बनों (उपायों) में श्रेष्ठ है; क्योंकि यह परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) तथा अपर ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) दोनों को विषय करता है। इस आलम्बन को जानकर, साधक ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त करता है, और वह ब्रह्म की तरह ही उपास्य हो जाता है। ऊँकारस्वरूप आलम्बन के ज्ञान का अर्थ है उसकी उपासना। प्रणव की उपासना करने से, जैसा अधिकारी होता है उसी तरह का फल उसे प्राप्त होता है। सगुण की प्राप्ति की इच्छा है तो सगुण की प्राप्ति होती है। निर्गुण की प्राप्ति की इच्छा हो तो निर्गुण की प्राप्ति होती है। इसीलिए ओंकार को श्रेष्ठ आलम्बन कहा गया है। ऊँकार की उपासना ऊँकार जप है, जिसे 'जाप जंगोटा' इस मात्रा में आचार्यचरण ने बतलाया है।

इस ओंकार की उपासना का फल आगे बतलाया गया है। यमराज नचिकेता से कहते हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

(काठ.उप. 1/2/20)

उस आत्मतत्त्व को अकाम (अक्रतु-कामनारहित व्यक्ति जिसकी बुद्धि दिखलाई पड़ने वाले अथवा न दिखलाई पड़ने वाले सभी प्रकार के विषयों से उपरत हो गयी है) व्यक्ति प्राप्त करता है। अणु से भी अणुतर (छोटे से भी छोटा) तथा महान् से भी महत्तर बड़ा यह आत्मतत्त्व हृदयदेश में आत्मरूप से स्थित है। आत्मा को अणु से अणुतर तथा महत् से भी महत्तर कहने का आशय यह है कि जो भी वस्तु प्रपञ्च में है, चाहे वह परिमाण में छोटी हो या बड़ी, आत्मा के

सम्बन्ध से ही सत्ता प्राप्त करती है, अतः सबको स्वरूप या सत्ता देने के कारण आत्मा उनसे भी सूक्ष्म है, जो प्रणवोपासना से प्राप्त होता है। क्योंकि प्रणव की उपासना से शरीर को धारण करने में साधनभूत सभी धातु शब्द वाच्य करण (इन्द्रियाँ) अत्यन्त प्रसाद (प्रसन्नता) को प्राप्त होते हैं। इन करणों में सभी ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु आदि तथा मन एवं वाणी भी संगृहीत हैं। प्रणवोपासना का प्रभाव सभी के ऊपर पड़ता है तथा सभी निगृहीत होकर सन्मार्ग में चलते हैं। यतः प्रणव की उपासना से मन आदि दृष्ट एवं अदृष्ट सभी विषयों से उपरत हो जाते हैं। प्रणवोपासना का विधान योगसूत्र (1/28) में किया गया है। जो 'अलख पुरुष का सुमिरहु नाव' इस मात्रा में आचार्यचरण के द्वारा भी उल्लिखित है। किन्तु विचार करें तो प्रणव का जप तथा उसके अर्थ की भावना का विधान, जो सूत्र में किया गया है, अर्थज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं है, अतः प्रणवार्थ पर विचार प्रस्तुत है। महिम्नस्तोत्र में प्रणव के अर्थ का विचार करते हुए कहा गया है—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ।।

(महिम्न. 27 श्लोक)

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने श्लोक की व्याख्या निम्न रूप में की है— हे पीड़ित लोगों को अभय दान देने वाले (शरणद) प्रभो! ओम् पद अवयव-शक्ति तथा समुदाय-शक्ति के द्वारा आपको सब प्रकार से द्वितीयरहित (अद्वितीय) प्रतिपादित करता है। यह ओंकार अवयव-शक्ति के द्वारा वाक्य होने पर भी समुदाय-शक्ति के द्वारा पंकज आदि योगरूढ़ पदों की तरह 'पद' भी है।

यदि ओम् शब्द में योगरूढ़ी नहीं स्वीकार की जाती तो भी 'अ' 'उ' 'म्' तीनों का समास स्वीकार करने से, समास की प्रातिपदिक[99] संज्ञा होने पर सुबन्तता होगी और सुबन्त[100] को पद कहा जायेगा। अतएव पुष्पदन्त ने 'ओम्' को पद कहा है। इस ओम् पद को समस्त कहने का अर्थ है समास से निष्पन्न या संक्षिप्त कहना। अतः अकार, उकार एवं मकार का समास सूचित हो रहा है।

व्यस्तम् का अर्थ है भिन्नम्, अतः यह सूचित हो रहा है कि अकार-उकार-मकार रूप तीन स्वतन्त्र पद इसमें घटक रूप में प्रविष्ट हैं। यह प्रविष्टि अवयव-शक्ति को बोधित करती है। यह समस्तम् और व्यस्तम् पद 'त्वां' के भी विशेषण हैं। अतः 'समस्तम्' के योग से सर्वात्मक तुझे (शिव को) तथा 'व्यस्तम्' के योग से आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि भेदों से भिन्न रूपों में प्रतीत होने वाले तुझे (शिव को) यह समस्त तथा व्यस्त ओंकार बोधित करता है, यह अर्थ होता है। व्यस्त ओंकारपद व्यस्तशिव को बोधित करता है तथा समस्त ओंकारपद समस्त शिव को बोधित करता है, यह निष्कृष्ट अर्थ है।

व्यस्त ओंकार पद की वाचकता पहले बतलाते हुए कहते हैं—त्रयीं वेदत्रयीं—तीनों वेदों को, जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूप अन्तःकरण की तीन वृत्तियों को (तिस्रो वृत्तीः) (यह विश्व तैजस एवं प्राज्ञ का भी उपलक्षण है) तथा तीनों भुवनों को (भूः, भुवः एवं स्वः यह तीन भुवन हैं) (यह भी विराट् हिरण्यगर्भ तथा अव्याकृत का उपलक्षण है), ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर इन तीनों देवताओं को (यह तीनों देवताओं के कर्म सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का उपलक्षण है), ओंकार के घटक तीनों वर्णों अकार-उकार तथा मकार के द्वारा ओम्पद कहता है। श्लोक में वर्णित है कि अकार आदि वर्ण क्रम से तीनों वेद, तीनों अन्तःकरण की वृत्तियों, तीनों भुवनों तथा तीनों देवताओं को कहते हैं। अतः यह निष्कर्ष होता है कि ऋग्वेद, जाग्रदवस्था, भूर्लोक तथा ब्रह्मा यह चारों अकार के वाच्य हैं। यजुर्वेद, स्वप्नावस्था, भुवर्लोक और विष्णु यह चारों उकार के वाच्य हैं। इसी प्रकार सामवेद, सुषुप्त्यवस्था, स्वर्लोक और महेश्वर को मकार बोधित करता है। माण्डूक्य, नृसिंहतापनीय तथा अथर्वशिखोपनिषद् आदि ग्रन्थों में यह तथा अन्य जो भेद कहे गये हैं, उनकी भी वाच्यता ओंकार के तीनों घटक पदों से कहनी चाहिए, जिससे न्यूनता का परिहार हो सके और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, अधियज्ञ आदि अन्यत्र वर्णित भेदों का भी संग्रह हो सके। फलतः इस प्रकार की योजना होगी—**'सर्वप्रपञ्चाकारेण व्यस्तं त्वाम् अकारोकार-मकारैर्व्यस्तम् ओमिति पदमभिदधत् त्वां गृणाति'**—सम्पूर्ण प्रपंच के रूप में विभक्त आपको (शिव को) अकार, उकार एवं मकार रूप भिन्न-भिन्न घटक वर्णों के द्वारा व्यस्त ओम्पद बाोधित करता है।

अ, उ, म इन तीनों वर्णों की बोधकता को बताने के बाद अर्धमात्रारूप चतुर्थ वर्ण की वाचकता को उपर्युक्त श्लोक के तृतीय पाद—

'तीर्णविकृति तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः'।

के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस तुरीय वर्ण का अन्य वर्ण के सहारा के बिना उच्चारण सम्भव न होने पर भी मकार का देर तक उच्चारण (प्लुतोच्चारण) होने के कारण यह अणु ध्वनियाँ (सूक्ष्म ध्वनियाँ) उत्पन्न प्रतीत होती हैं। तृतीय पाद का अर्थ इस प्रकार है। सभी विकारों से परे आपका जो चतुर्थ रूप (तुरीय धाम) है, जो अखण्डचैतन्यात्मक है, उसको (अर्ध मात्रा रूप में समस्त) ओम् पद समुदाय-शक्ति से बोधित करता है। ओम् पद समुदाय-शक्ति से कैसे बोधित करता है? यह रहस्य 'ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः' के द्वारा व्यक्त किया गया है। यहाँ शंका यह होती है कि 'ओम्' पद में चौथी मात्रा जिसे ध्वनिरूप कहा जा रहा है, दिखाई नहीं देती। यदि मकार के बाद अर्धमात्रा को स्वीकार किया जाय तो भी वह एक ध्वनिरूप वर्ण है, जिसका बोधन करने के लिए 'ध्वनिभिः' यह बहुवचन असंगत है। इसके समाधान के लिए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि अर्धमात्रा के एक होने पर भी उसका प्लुत रूप में उच्चारण होने पर चिरकाल तक अनुवृत्त होने वाली यह ध्वनि अनेक ध्वनि रूप प्रतीत होती है। अतः 'ध्वनिभिः' यह बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इन ध्वनियों के द्वारा सूक्ष्म ओम् शब्द का निष्पादन किया जाता है। क्योंकि क्रमिक रूप से अ, उ, म का उच्चारण हो चुका है। इस समय जब अन्तिम वर्ण अर्धमात्रारूप मकार का प्लुतोच्चारण हो रहा है, तो उस ध्वनि रूप में समस्त 'ओम्' शब्द समुदाय शक्ति से तुरीयब्रह्म का बोधन करता है।

इस प्रकार अ, उ, म तथा अर्धमात्रा रूप पदों के अर्थ का अभिधान करने से अखण्डवाक्यार्थ की सिद्धि अर्थतः उक्त हो जाती है। क्योंकि स्थूलप्रपञ्च से उपहित चैतन्य अकार का अर्थ है और स्थूल प्रपञ्चांश का त्याग करके केवल चैतन्यमात्र उससे लक्षित होता है। सूक्ष्मप्रपञ्चोपहित चैतन्य उकार का अर्थ है और सूक्ष्म प्रपञ्चांश का त्याग करके केवल चैतन्यमात्र ही उकार से भी लक्षित होता है। स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार के प्रपञ्च की कारणभूत माया से उपहित चैतन्य मकार का अर्थ है और मायांश का परित्याग करके चैतन्य मात्र मकार से लक्षित होता

है। अर्धमात्रा का वाच्य अर्थ तुरीयत्व सर्वानुगतत्वोपहित चैतन्य है तथा तुरीयत्व, सर्वानुगतत्वरूप उपाधि का परित्याग होने पर केवल चैतन्यमात्र अर्धमात्रा से लक्षित होता है।

इस प्रकार चारों (अकार, उकार, मकार तथा अर्धमात्रा) का लक्ष्यार्थ एक ही शुद्ध चैतन्य होने से एकार्थबोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य होता है एवं अभेद-बोध होने से परिपूर्ण अद्वितीय चैतन्य मात्र की सिद्धि, सर्वद्वैत का उपमर्दन तथा माया कार्य की निवृत्ति के द्वारा होती है। अतः माया तथा माया-कार्य का पृथगवस्थान नहीं होता; क्योंकि अधिष्ठान-साक्षात्कार के बाद अधिष्ठान में अध्यस्त वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती। त्रयी (तीनों वेद) आदि का वाक्यार्थ-बोध में उपयोग न होने पर भी उपासना में उपयोग होने से उनका पृथगभिधान किया गया है। त्रयी आदि का बोध में उपयोग न होने का आशय स्पष्ट है। ओम् यह एक वाक्य है, जिसमें अ, उ, म तथा अर्धमात्रा रूप घटक वर्णों के शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ को ऊपर बताया गया है। अभेद-बोध में सबके लक्ष्यार्थ का उपयोग है, जिसको पूर्व में बताया गया है, और लक्ष्यार्थ-बोध के लिए इनके शक्यार्थ का उपयोग है, अतः त्रयी आदि का ओम् रूप वाक्य के अर्थ में कहीं उपयोग नहीं है। अतः सर्वद्वितीयशून्य प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म प्रणव वाक्य का अर्थ है। 'तत्त्वमसि' आदि अन्य महावाक्यों का भी यही अर्थ है।

इस प्रकार प्रणवोपासना का वर्णन किया गया; किन्तु उसके अर्थ के अतिदुरूह होने से उसकी भावना सबके द्वारा नहीं की जा सकती तथा प्रणव के जप में स्त्री, शूद्र आदि का सामान्यतः अधिकार भी नहीं है। अतः सबके उद्धार के लिए ईश्वर के अन्य नामों के जप का विधान शिवमहिम्नस्तोत्र में किया गया है—

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सह महाँ-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देवश्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते ॥28॥

पुष्पदन्त कहते हैं—हे देव! आपके जो भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव तथा भीम और ईशान आदि आठ नाम हैं, इन नामों को भक्तिभाव से

सुनने के लिए ब्रह्मा आदि देवताओं के श्रोत्र (देवश्रुति) भी उत्कण्ठित रहते हैं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि इन नामों में श्रुति भी उत्कृष्ट रूप से बोधकतया प्रवृत्त होती है, अर्थात् श्रुति भी इन नामों का बोधन कर्मपुरस्सर करती है। श्रुत्यर्थ के अनुगामी पुराण और स्मृतियाँ भी इनका आख्यान करती हैं। पुष्पदन्त की भक्ति उत्कृष्ट है। वे कहते हैं कि जिसके नाम के प्रति देवताओं का इतना आकर्षण है, वहाँ हम लोगों की बात ही क्या है? देवता इन नामों के प्रति निष्कारण आकर्षित नहीं हैं। भगवान् के नाम सभी पुरुषार्थों को देने वाले हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि जिसका नाम इतना महत्त्वशाली है, वह स्वयं कितना पुण्यविग्रह वाला होगा? यह विचार मन में आते ही भक्त्युद्रेक से महेश्वरस्वरूप शिव-विग्रह को प्रणाम करते हुए कहते हैं—अपने दर्शन से तृप्त करने वाले इस जगद्रक्षक धाम को मेरा नमस्कार है। सबके शरणभूत इस धाम के लिए और कोई योग्य उपचार (सम्मान का तरीका) नहीं दिखाई पड़ता, अतः केवल नमस्कार समर्पित करते हैं। **'धाम शक्तौ प्रभावे च तेजोमन्दिरजन्मसु'** इस विश्वकोश के अनुसार धाम शब्द के शक्ति-प्रभाव-तेज-मन्दिर और जन्म अर्थ हैं। पुष्पदन्त ने सबके शरणभूत चित्स्वरूप को धाम शब्द से कहा है।

भक्ति का उद्रेक ही पुष्पदन्त जैसे अगणित भक्तों का उद्धार करता है तथा सभी नाम और धाम से चिपकने के बाद उपचार को भूल जाते हैं। भक्ति से द्रवीभूत चित्त प्रभु के आकर्षण का केन्द्र बनता है। किन्तु वैधी भक्ति प्रेम को मर्यादाओं में बाँधती है। अतः आचार्यचरण मर्यादाओं के पाश से अलग रहकर अलख पुरुष का नाम स्मरण करने तथा उसका जप करने की बात करते हैं। अलख पुरुष का जो भी नाम आपको प्रिय हो, उसका आप स्मरण करें, उसका जप करें। वे पुष्पदन्त की तरह अभिधानाष्टक अथवा प्रणवोच्चारण की ग्राह्यता का विधान नहीं करते। अतः गुरु की आज्ञा के अनुसार शिष्य को प्रणव जप अथवा अन्य नामों का जप करना चाहिए, यह आशय भी कहा जा सकता है।

आचार्यचरण कहते हैं कि 'जप' ही वास्तविक जंगोटा है; क्योंकि उसी के निरन्तर अभ्यास से इन्द्रियों की बहिर्मुखता शान्त होती है और मन ईश्वर प्रसाद के द्वारा योग के योग्य बनता है। अतएव भगवान् कहते हैं—

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम्॥

(श्रीमद्भागवत 11/15/35)

सिद्धियों का मैं ही कारण और पति, पिता या पालन करने वाला हूँ। केवल सिद्धियों का ही नहीं मोक्ष (योग), मोक्ष-साधन ज्ञान (सांख्य), धर्म तथा धर्म के उपदेष्टा ब्रह्मवादी लोगों का भी प्रभु एवं पति हूँ। योगसूत्र में तो स्पष्ट रूप में कहा गया है—**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्** (यो.सू. 2/45) ईश्वर में सम्पूर्ण भावों को समर्पित कर देने से समाधि की सिद्धि होती है, जिससे सभी ईप्सित वस्तुओं को वह सत्य (अवितथ) रूप में जानता है, चाहे वह वस्तु देशान्तर, देहान्तर या कालान्तर से सम्बद्ध हो। योगमार्ग के पथिक प्रणव या ओंकार को योगरूप समाधि का साधन मानते हैं। अतः प्रकृत में ओंकार जप को 'जंगोटा' कहा जा सकता है, अन्य नामों का भी जप यहाँ विहित है; क्योंकि प्रणवोपासना या नामस्मरण का पूर्व में विधान हो चुका है। प्रणव के निरन्तर दीर्घकालिक जप से स्फीत (प्रवृद्ध–बहुत बड़े) आकाश में उड़ने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इसका संकेत 'सिफत उड़ानी' इस मात्रा में किया गया है।

सिफत उड़ानी

गोरखबानी में 'उड़ानी' के अर्थ में उडियानी तथा उडियाणी दोनों का प्रयोग मिलता है।

तत बणिजील्यौ तत बणिजील्यौ ज्यूं मोरा मन पतियाई।
सहज गोरषनाथ बणिज कराई, पंच बलद नौ गाई।
सहज सुभावै बाषर ल्याई मोरे मन उड़ियांनी आई॥

(पद-1, रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 123)

तत्त्व का इस प्रकार बाणिज्य करो कि मेरे मन में विश्वास हो जाय कि खरा बाणिज्य है। गोरखनाथ सहज ज्ञान का बाणिज्य करते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय बैल (वलद) है और नव रन्ध्र (चक्षु, श्रोत्र आदि नव छिद्र) गायों के समान हैं। इनके लिए सहज भाव का बाखर बनाया गया। अर्थात् इन सभी की प्रवृत्ति सहज (रागद्वेषादि शून्य) हो गयी, जिससे मेरा मन ऊँची उड़ान लेने लगा।

स्पष्ट है कि मन में उडियानी तब आई जब इन्द्रियों में सहज भाव आया उनकी विषय प्रवणता छूट गई। मन में उडियानी आने से वह प्राण के साथ ऊर्ध्वगामी हुआ। मन इन्द्रियों का नियन्ता है, अतः उनका नियमन करता हुआ वह विषयों के चतुर्दिक् घूमता रहता है, इन्द्रियों में सहजता आने पर वह भी सहज हो जाता है। गोरखबानी के सिष्या दरसन में उडियाणी का प्रयोग है।

मूल चक्र तहाँ प्रगटै ज्यंदू,
पलटै काया थिर होइ कंधू।
मूल बंध बज्र कछोटा पकड़िबा थीरं,
सत उडियांणीं बंधिबा बीरं ॥

(गो.बानी, सिष्या दर्शन, पृ. 179)

मूल चक्र में ज्यंद जिंद (जीवन हेतु प्राण प्रकट होते हैं, शरीर स्थिर हो जाता है (कंध-स्कंध शरीर)। मूलबन्ध से वज्र कौपीन को स्थिर करेंगे। उडियान बंध से प्राण वीर को बाँध देंगे।

इस प्रकार शरीर को स्थिर कर उडियान बन्ध से प्राणको बाँधने से प्राण की ऊर्ध्व गति होगी और कुम्भक के द्वारा 'नाद' की प्राप्ति होगी, यह आगे बताया गया है।

'सिफत उड़ानी' यह मात्रा किस प्रकार इन दोनों अर्थों में संगत होती है, इस दृष्टि से अर्थ विचार करते हैं। यदि स्फीत आकाश में उड़ने की सामर्थ्य यह मात्रा का अर्थ किया जाय तो, इस सामर्थ्य-प्राप्ति का आशय है आकाश में अपनी इच्छानुसार कहीं भी जाने की सामर्थ्य-प्राप्ति। योगांगों के अनुष्ठान से यह सामर्थ्य प्राप्त होती है। इसका स्पष्ट उल्लेख—**'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्'** (3/42) इस योगसूत्र में मिलता है।

जाप जंगोटा सिफत उड़ानी । सिंगी शब्द अनाहत गुरुवाणी ॥

इन मात्राओं में योग की ही चर्चा आचार्यचरण ने की है। अतः जाप को प्रणवजपपरक व्याख्यान के द्वारा बताया गया है और 'सिफत उड़ानी' को स्फीत आकाश में उड़ने की सामर्थ्य बताया जा रहा है। उपर्युक्त योगसूत्र के भाष्य में

स्पष्ट किया गया है कि आकाश काय (शरीर) को अवकाश देता है। क्योंकि सभी मूर्त वस्तुओं को अवकाश देना आकाश का धर्म (गुण) है। काय एवं आकाश के इस सम्बन्ध को जीतकर अथवा अत्यन्त लघुभूत तूल-रूई तथा परमाणु आदि से समापत्ति (अत्यन्त अभेद) को प्राप्त कर, सम्बन्ध को जीतने के कारण, योगी लघु हो जाता है। सम्बन्ध भेद में होते हैं। अत्यन्त अभेद या एकत्व के आने पर सम्बन्ध नहीं बनता; क्योंकि सम्बन्ध का कार्य दो वस्तुओं को जोड़ना है, उनमें अभेद होने पर सम्बन्ध का कोई कार्य नहीं रह जाता। जैसे-जैसे योगी हल्का (लघु) होता हुआ रूई की अथवा चन्द्र-किरण आदि की समता प्राप्त करता है, वह अपनी इच्छानुसार आकाशगमन के योग्य हो जाता है। लघु होकर योगी जब मन को नासिका के अग्रभाग में स्थापित कर उसका विचलन रोक देता है, तो वह आकाश में अपनी इच्छानुसार उड़ने लगता है। प्रणव या ओंकार के जप से मन का भ्रमण रुकता है। अतएव 'जाप जंगोटा' के बाद 'सिफत उड़ानी' इस मात्रा में स्फीत आकाश में उड़ने की बात कही जा रही है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज द्वारा 'मनीषी की लोकयात्रा' नाम से स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज की जीवनचर्या का संग्रह प्रकाशित कराया गया है। उसमें यह वर्णन है कि स्वामी विशुद्धानन्द जी जालन्धर से वर्दवान (पश्चिम बंगाल) 15-20 मिनट में आकाशमार्ग से गये थे। वे प्रतिदिन तिब्बत में ज्ञानगंज स्थित योगाश्रम में भी यहाँ से जाते थे, यह वर्णित है। लघुता (छोटापन/हल्कापन) का फल यह होता है कि वह जल में पैरों से चलता है। वह मकड़ी के जाले में भी विहार करता है, सूर्य-चन्द्रमा की किरणों में भी वह विहार करता है और इस प्रकार यथेष्ट आकाश गति को प्राप्त करता है। **'ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति'** (इसके अनन्तर इच्छानुसार आकाश में गति योगी की होती है–यो.सू.भाष्य 3/42)। यह भाष्य-वाक्य ही 'सिफत उड़ानी' इस मात्रा का मूल है।

ऊपर वर्णित योगभाष्य में सिद्धि का क्रम बतलाते हुए आकाशगमन को वर्णित किया गया है। योगी के शरीर में लघुता आने पर पहले वह जल में पैर से चलने की सामर्थ्य प्राप्त करता है। इससे भी अधिक लघुता आने पर वह मकड़ी के जाले में विहार करता है। यहाँ भी एक अवलम्ब है। इसके आगे लघुता के बढ़ने पर सूर्य-चन्द्रमा की किरणों का अवलम्ब प्राप्त कर विहार करता

है तथा अन्त में यथेष्ट आकाश गति को प्राप्त करता है। किन्तु योगी, इस सिद्धि को प्राप्त कर यहीं विराम नहीं लेता, अपितु योगाभ्यास को बढ़ाता हुआ अनाहत नाद को प्राप्त करता है, जिसमें तृप्ति को प्राप्त करता हुआ वह विषयों से पूर्णतः पराङ्मुख होकर ब्रह्मप्राप्ति करता है। इसी अनाहत नाद को आचार्यचरण आगे मात्रा में शृंगी का शब्द कह रहे हैं।

योगाभ्यास से प्राप्त सिद्धियाँ लोगों को चमत्कृत करती हैं तथा कभी-कभी लोकदृष्टि वाला साधक उनसे आकृष्ट होकर अपने लक्ष्य से च्युत भी हो जाता है। गुर्वनुग्रह से इन सिद्धियों के जाल से बाहर निकले तो भी लक्ष्य-प्राप्ति में विलम्ब तो हो ही जाता है। अतः भगवान् की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील साधक सिद्धियों की उपेक्षा करता है। सामान्य साधकों के लिए सिद्धियों का आकर्षण है; क्योंकि 'आकाशगमन', दूर-श्रवण, दर्शन आदि की सिद्धियाँ प्राप्त होने पर साधक अल्पप्रयास से अत्यल्प समय में ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकता है अथवा बिना गये भी कहीं की बात सुन सकता है। अतिव्यवहित वस्तु को भी देख सकता है। यही कारण है कि बहिर्मुख योगीजन प्रायः इन सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। सिद्धि-प्राप्ति के लिए उनके द्वारा किये जाने वाला प्रयास यह बताता है कि उनका मुख्य लक्ष्य भगवान् की प्राप्ति नहीं है। भगवान् की प्राप्ति के लिए प्रयास करने वाले साधक को भी सिद्धियाँ पथभ्रष्ट करने के लिए प्राप्त होती हैं, किन्तु जब उनका तिरस्कार कर वह आगे बढता है, तो उसे भगवत्प्राप्ति होती है। सिद्धियाँ तो बिना इच्छा के भी प्राप्त होती हैं किन्तु उसे विचलित नहीं कर पातीं। तथ्य तो यह है कि केवल सिद्धि के लिए प्रयास करने पर उनकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥

(11/15/1)

अतः किसी योगी को यह जिज्ञासा हुई कि आपने 'आकाशगमन' की सिद्धि प्राप्त की है या नहीं?

आचार्यचरण का उत्तर 'सिफत उड़ानी' इस मात्रा में समाहित है। उनका कथन है कि हम आकाशगमन की सिद्धि के लिए तो प्रयास नहीं कर रहे हैं।

क्योंकि आत्मज्ञान में अनुपयोगी यह सिद्धि विशेष महत्त्व की नहीं है किन्तु स्फीत में ही हम उड़ान भरने का प्रयास कर रहे हैं अथवा उड़ रहे हैं। 'स्फाई ओप्यायी वृद्धौ' धातु से भाव में क्त प्रत्यय करके स्फीत शब्द निष्पन्न होगा, जिसका अर्थ विस्तृत होगा। स्फीत में उड़ान का प्रसंग है और उड़ान तो आकाश में ही होती है। किन्तु स्फीत को आकाश का विशेषण स्वीकार करने पर यह आशंका होती है कि आकाश तो स्फीत या विस्तृत है ही तो फिर स्फीत विशेषण लगाने का आशय क्या है? हम जानते हैं कि वह आकाश जिसका कोई व्यक्ति उपयोग करता है उसकी लम्बाई-चौड़ाई सीमित है तथा वह विस्तृत आकाश का एक हिस्सा है किन्तु चिदाकाश की परिमाप बहुत अधिक है। यह दोनों भौंहों के बीच में यौगिक प्रक्रिया के अनन्तर प्रतीयमान आकाश है, जिसके भीतर स्थित प्रकाशपुंज में हमें गुर्वनुग्रह से सम्पूर्ण लोकलोकान्तर तथा देश-देशान्तर में स्थित पदार्थों का भान होता है। इस प्रकार इस चिदाकाश की परिमाप भूताकाश की अपेक्षा बहुत बढ़ जाती है। क्योंकि इसमें केवल भूलोक से सम्बद्ध वस्तुओं का ही भान नहीं होता, प्रत्युत गुर्वनुग्रह से लोकान्तर की वस्तुओं का भी भान हो सकता है। इस प्रकार चिदाकाश भूताकाश से स्फीत हो जाता है। यदि स्फीत शब्द से ब्रह्म को लिया जाय तो **'सिफत उड़ानी'** इस मात्रा का आध्यात्मिक अर्थ यह होगा कि हमने उड़कर भवसागर को पार करके ब्रह्म-प्राप्ति कर ली है अथवा हमारी उड़ान स्फीत ब्रह्म की प्राप्ति के लिए है। 'उड़ानी' शब्द का प्रयोग कर आचार्यचरण यह बताना चाहते हैं कि हम संसार से संसृष्ट नहीं हुए, उससे असम्बद्ध रहकर ही उसे ऊपर से पार कर चुके हैं। हमें स्फीत ब्रह्म की प्राप्ति हो चुकी है। हम उसी में प्रभूत (स्फीत) उड़ान भर रहे हैं। समाधि-सुख का आनन्द ले रहे हैं। सिद्धियाँ तो इस स्थिति में हमारे वश में हैं, वे हमारी किङ्कर हैं, आपके लिए उनका महत्त्व होगा। हमको तो विना इच्छा के ही सिद्धियाँ उपलब्ध हैं, किन्तु हम उनसे ऊपर उठकर समाधि-सुख का आनन्द ले रहे हैं। स्फीत शब्द अगर प्रवृद्धकाल को कहता हो, तो सिफत उड़ानी का अर्थ प्रवृद्धकाल में उड़ने की योग्यता को प्राप्त करना या दीर्घकालजीवी होना होगा।

यदि 'उड़ानी' शब्द से उडियान बन्ध को लिया जाय तो 'स्फीत या प्रवृद्ध उडियान वन्ध से प्राण को पूर्णरूप से ऊर्ध्व मुख कर हम ब्रह्म प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, यह अर्थ होगा।

सिंगी शब्द अनाहत गुरुबाणी

नाथ सम्प्रदाय के महात्मा शृंगनिर्मित (सींग से बनी हुई) छोटी-सी तुरही गले में सेली (काले ऊन से बना जनेऊ, जिसे निर्वाणी महात्मवृन्द धारण करते हैं) से बाँधकर लटकाए रहते हैं। भोजन के समय गाँव में प्रवेश करते हुए महात्मवृन्द इस तुरही को बजाते हैं। ऐसी अवधारणा है कि वीतराग सन्तों की तुरही का शब्द जिनके कान में पड़ता है वह सर्वदा सुखी व निरोग रहते हैं। आचार्यचरण के पास शृंगी न देखकर महात्मवृन्द के भीतर जो जिज्ञासा का भाव था उसे शान्त करने की दृष्टि से 'सिंगी शब्द अनाहत गुरुबाणी' इस मात्रा का उच्चारण श्रीचन्द्र प्रभु ने किया। आशय यह है कि आप यतिवृन्द शृंगी के शब्द से लोककल्याण करने का उपक्रम करते हैं; किन्तु शृंगी के शब्द से लोक-कल्याण होगा ही, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, उसके लिए तो महात्मा का अवितथ संकल्प तथा उसकी सत्यनिष्ठा आदि अपेक्षित हैं। हमारे पास तो चर्मचक्षुगोचर शृंगी नहीं है किन्तु गुर्वनुग्रह से हमें प्राप्त 'अनाहत नाद' ही लोककल्याणकारक शृंगी शब्द है। इस अनाहत नाद की ध्वनि के लिए कोई अतिरिक्त प्रयास अब हमें नहीं करना है। गोरखबानी में भी 'अनाहत' को सिंगी नाद का गया है—

अजर कथा नहिं वाद विवादं, अनाहद सींगी बाइबा नादं।

(सिष्या दर्शन, गो.बानी, पृ. 180)

पूर्व में उडियानबन्ध की चर्चा गोरखबानी के आधार पर की गयी है, उसी के आगे का यह पद है, जिसमें बताया गया है कि उडियानबन्ध लगाकर, प्राण को ऊर्ध्वमुख कर कुम्भक के द्वारा शृंगी शब्द की तरह का अनाहत नाद प्राप्त होता है। यह अजर कथा है, ऐसा शब्द है, जो कभी जीर्ण नहीं होता, समाप्त नहीं होता। वाद जल्प वितण्डा आदि कथाओं में वाद-विवाद होता है, किन्तु इस अजर कथा में वाद-विवाद नहीं है। साधना करते हुए गुर्वनुग्रह से प्राप्त यह नाद श्रद्धावान् साधक की सामर्थ्य को द्योतित करता है। सद्वृत्त लोगों का कल्याण करने की उसकी यह सामर्थ्य अनितर साधारण होती है। अनाहत नाद ऐसा शब्द है जो शरीर के भीतर सुनाई देता है। उस ध्वनि का आकर्षण ऐसा होता है कि साधक का चित्त बाह्य विषयों से उपरत हो जाता है तथा वह अनाहत शब्द के

रूप में अनेक प्रकार की ध्वनि को सुनने में तल्लीन रहता है। इस शब्द को अनाहत नाद कहने का तात्पर्य स्पष्ट है। अन्य सभी शब्द अभिघात से उत्पन्न होते हैं, जैसे—कण्ठ तालु आदि स्थानों में वायु के अभिघात या टकराव से ही ध्वन्यात्मक शब्द उत्पन्न होता है। यह तो विना किसी स्थान के आहत हुए ही उत्पन्न होता है। अतः अनाहत नाद कहलाता है। इसके लिए साधक को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इस रूप में भी अन्य शब्दों से इसकी विशेषता द्योतित होती है। बिना आघात के होने वाला यह नाद सर्वदा चलता रहता है। अनाहतनाद की प्राप्ति साधक की विशेष स्थिति को द्योतित करती है। नाद-प्राप्ति के बाद उसे आत्म-प्राप्ति अवश्य होती है, कितने समय में आत्मसाक्षात्कार होगा, वह अपेक्षित समय तो गुरु-कृपाधीन होता है।

प्रकृत में अनाहत को गुरुवाणी कहा गया है। यहाँ गुरुवाणी शब्द का अर्थ, 'गुरुकृपातः प्राप्ता वाणी गुरुवाणी' इस विग्रह में समास करने पर, गुरुकृपा से प्राप्त वाणी होगा। अनाहत गुरुवाणी का एक अर्थ अनाहत गुरु की वाणी भी किया जा सकता है। आहत का अर्थ काम-क्रोध आदि से पीड़ित करें तो अनाहत वह होगा जो काम-क्रोधादि से पीड़ित नहीं होता। काम-क्रोध आदि का प्रभाव ब्रह्मज्ञानी पर नहीं होता। ईश्वर पर भी नहीं होता। अतः वही उनसे अनाहत हो सकता है। अतएव श्रुति कहती है—**'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्'** (बृ.उप. 4/4/12) आत्मा को यदि पुरुष आत्मरूप में (संसार के पदार्थों से असंसृष्ट रूप में) जान जाता है अर्थात् मेरा यह स्वरूप है यह बोध उसे हो जाता है, तो वह शरीर को रक्षितव्य नहीं समझता; क्योंकि वह अपने को आत्मरूप में जान चुका है। शरीर से अलग समझ चुका है। इससे यह ध्वनित होता है कि केवल पुरुषार्थ के बल पर योग की इस सामर्थ्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, योग की सम्पूर्ण सिद्धियाँ गुरुकृपा से ही प्राप्त होती हैं। अनाहतनाद योग की अग्रिम सिद्धियों का सोपान है, जिसके प्राप्त हो जाने पर साधक बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट न होकर उसी की मधुरिमा का आस्वादन करता रहता है। अतएव **'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी'** (यो.सू. 1/35) के भाष्य में कहा गया है।

जिह्वा के अग्रभाग में धारणा, ध्यान, समाधि तीनों को करने पर दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है। यह शब्द अनाहतनाद है। इसकी सूचना हमें—

'जिह्वामूले शब्दसंविदित्येता वृत्तय' इत्यादि भाष्य-वाक्य से मिलती है। अतएव वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या में कहा है—इन वृत्तियों के होने पर अल्पकाल में ही चित्त ईश्वरसाक्षात्कार की अथवा विवेकख्याति की स्थिति को प्राप्त करता है। इस प्रकार नाद-प्राप्ति ईश्वर-प्राप्ति या ज्ञान (विवेकख्याति) को सूचित करता है। गोरखबानी के पृ. 271 पर परिशिष्ट 3 में 'गोरषगोपालं लो' शीर्षक के नीचे **'अनहद ईश्वर सबद'** यह वाक्य मिलता है। अतः ईश्वर शब्द होने के कारण उसे गुरुवाणी कहा जा रहा है।

अनाहत को गुरुवाणी कहने का एक आशय यह भी है कि अनाहतनाद प्राप्त होने पर गुरु की वाणी अनाहत (अव्याहत) हो जाती है। अर्थात् शिष्य की प्रवृत्ति सर्वदा अपने लक्ष्य की ओर होने से वह सर्वदा गुरु की आज्ञा का पालन करता रहता है। यही कारण है कि वह यहीं विराम नहीं करता, अपितु योगाभ्यास को बढ़ाता हुआ, अनाहतनाद में तृप्ति को प्राप्त करता हुआ, विषयों से पूर्णतः पराङ्मुख होकर ब्रह्म-प्राप्ति करता है। इसी अनाहतनाद को आचार्यचरण शृंगी का शब्द कह रहे हैं।

अनाहतनाद को गुरु या परमेश्वर की वाणी बताया गया है। इसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि जब बिना हमारे किसी प्रयास के ध्वनि हो रही है तो यह ध्वनि किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न की जा रही है, यह मान लेना उचित है। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि उस ध्वनि का उत्पादक, परमेश्वर से भिन्न कोई भी नहीं हो सकता; क्योंकि हमारे शरीर के भीतर ध्वनि हो रही है। अतः वह गुरु या परमेश्वर की वाणी है।

तुरही (शृंगी) के शब्द से महात्माओं के भिक्षार्थ आने की सूचना मिल जाती है। उसी प्रकार अनाहतनाद से ब्रह्म-प्राप्ति की सूचना मिलती है। अतएव आचार्यचरण कहते हैं कि यह अनाहतनाद हमें गुरुवाणी, ईश्वर की वाणी के रूप में मिला हुआ है। जैसे अन्धकार में व्यक्ति का परिचय वाणी या शब्द से होता है तथा अन्धकार समाप्त होने के बाद उसका प्रत्यक्षात्मक परिचय भी हो जाता है, उसी प्रकार अनाहतनादरूप गुरुवाणी से ईश्वर का पूर्वानुमान (उसकी सत्ता का अनुमान) होने के बाद शीघ्र ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है। गुरु शब्द ईश्वर या ब्रह्म का वाचक है। गुरुवाणी गुरु (ईश्वर) की ओर से शिष्य का आवाहन है,

जिसके द्वारा गुरु की प्राप्ति होती है। जैसे रात्रि के अँधेरे में दिग्विभ्रम को प्राप्त करने वाला पथिक, दूर से पुकारने वाले अपने बन्धु के शब्दों का अनुसरण करता हुआ, शनैः-शनैः शब्द की ओर बढ़ता हुआ उसे प्राप्त करता है, उसी प्रकार अनाहतनाद को प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी नाद के आकर्षण में चलता हुआ विषयों की मानसिक सन्निधि से कोशों दूर रहकर क्रमशः ईश्वर को प्राप्त करता है। अनाहत को गुरुवाणी कहने का आशय यही है। वह गुरु को प्राप्त कराने वाली वाणी है।

ऊपर 'ब्रह्म अंचला लै पहिरै सुजान' इस मात्रा में 'ब्रह्म अचला' को लेकर पहनने की चर्चा की गयी है। यह ब्रह्मरूपी अचला सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार का है, यह भी संकेतित किया गया है। प्रकृत में 'जाप जंगोटा, सिफत उड़ानी, सिंगी शब्द अनाहत गुरुबाणी' इन मात्राओं से निर्गुण ब्रह्मरूप अचला की प्राप्ति बताई गयी है; किन्तु जाप से सगुण ब्रह्म की प्राप्ति को नकारा नहीं जा सकता।

यद्यपि यह शंका हो सकती है कि 'ध्यान का बटुआ' से ब्रह्म अचला की प्राप्ति ऊपर कही गयी है, फिर यहाँ 'जाप जंगोटा' आदि के द्वारा पुनः उसकी प्राप्ति बताना समीचीन नहीं है; क्योंकि इससे एक ही वस्तु की प्राप्ति हेतु दूसरे उपाय का बोधन हो रहा है, जिससे पुनरुक्ति हो रही है। किन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि ध्यान की स्थिति प्राप्त करने के लिए जप आदि पूर्ववर्ती साधन अवश्य अनुष्ठेय हैं। मन को ध्यान के योग्य बनाने के लिए तीन साधन श्रीमद्भागवतपुराण में बतलाए गये हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः॥

(11/20/24)

हे उद्धव! यम-नियम आदि योगमार्ग का अनुष्ठान अथवा आन्वीक्षिकी पदवाच्य आत्मविद्या का अनुशीलन या हमारी अर्चा उपासना आदि का अनुष्ठान किए बिना व्यक्ति का मन योग्य परमात्मा (जिसमें मन को लगाया जा सके) का स्मरण नहीं कर सकता। योग्य का स्मरण करने का आशय है परमात्मा का निरन्तर अनुध्यान, जिसका श्रेष्ठ या सर्वजनसुलभ उपाय योगानुष्ठान है। अतएव

श्रीकृष्ण ने उसे सर्वप्रथम कहा है। भगवान् ने यह भी कहा है कि इन्हीं से मन, योग्य वस्तु का स्मरण करता है अन्य से नहीं। अतः योग आदि से भिन्न उपायों का अनुष्ठान निषिद्ध हो जाता है। अतएव भागवत में कहा गया है कि यदि[101] योगी अथवा भक्त प्रमाद से विगर्हित कर्म (निषिद्ध कर्म) करता है, तो वह उससे शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त आदि का अनुष्ठान न कर योग से ही उसे जला डाले। इसका आशय यह है कि योगी अपने योगाभ्यास के अतिरिक्त अन्य कर्मों को न करे। क्योंकि वचन में अन्य कर्मों के निषेधक एवकार का प्रयोग है। भक्त के लिए भी यह वचन प्रायश्चित आदि का निषेध करता है, वह नामकीर्तन आदि के द्वारा पाप का प्रायश्चित कर सकता है।

इनमें आन्वीक्षिकी आत्मविद्या है। इसमें विचार के द्वारा जीव एवं ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण करते हुए ब्रह्मप्राप्ति की जाती है। जीव एवं ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में वर्णित तत् एवं त्वम् पद के अर्थों का शोधन है। **'ममार्चोपासनाभिर्वा'** (श्रीमद्भाग. 11/20/24) यह कहते हुए भगवद्-विग्रह (मूर्ति) की अर्चना एवं भगवान् की उपासना को सबसे अन्त में भगवान् ने बतलाया क्योंकि वह सर्वसुलभ नहीं है, असुलभ होने का कारण मन में श्रद्धा और एकाग्रता का अभाव है। योगपथ में सभी मनुष्यों का अधिकार है। अतः उसे सर्वप्रथम बतलाया गया है।

योगमार्ग भी भक्तिमार्ग ही है, अतएव ईश्वर-प्रणिधान का बार-बार उल्लेख योगसूत्र-भाष्य में मिलता है। योग की सभी सिद्धियाँ भगवत्कृपा से ही मिलती हैं। यह तथ्य भक्ति का महत्त्व बतलाता हुआ, योग को भक्तिमार्ग बतलाता है। गीता में श्रीकृष्ण ने मन एवं इन्द्रियों के निग्रह हेतु भक्ति को आवश्यक बतलाया है। अतः चित्तवृत्तिनिरोध रूप योग भक्तिमार्ग है। आचार्यचरण भी भक्तिसमन्वित योग को बहुत महत्त्व देते हैं।

'शर्म की मुद्रा, शिव विभूता हरि भक्ति मृगानी ले पहिरै गुरुपूता' इन मात्राओं में वर्णित भक्तिमार्ग उपर्युक्त कथन को पुष्ट करता है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पाप होने पर प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। केवल यौगिक उपायों से कल्याण नहीं होगा; क्योंकि प्रायश्चित्त सत्त्वरूप अन्तःकरण का शोधक होने से नित्य-नैमित्तिक कर्मों की तरह गुण है। हिंसा

आदि तो अशुद्धिकारक होने से त्याज्य हैं। अतः प्रायश्चित्त के बिना योग से अन्तःकरण का कैसे शोधन होगा? इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं क्या गुण है क्या दोष है? यह शास्त्र के द्वारा बताया गया है, अपने-अपने अधिकार में जो निष्ठा है वही गुण कहलाता है। वस्तुतः शास्त्र के द्वारा कर्मों के गुण-दोष का विधान आसक्ति को छोड़ने के लिए किया गया है; क्योंकि फल में आसक्ति के कारण मनुष्य कर्म में आसक्ति करता है, यह बन्धन है। विधि-प्रतिषेध का नियम कर्म का नियमन या संकोचन करता है। विहित को करना है, निषिद्ध को नहीं करना है, इस प्रकार सब कर्मों की कर्तव्यता नहीं रह जाती। यही कर्म का संकोचन है। अतएव भागवत (10/84/35) में कहा गया है—

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः।
यच्छ्रद्धया यजेद् विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः॥

कर्म से कर्म का निर्हार (निवृत्ति) करने हेतु यज्ञों के द्वारा श्रद्धापूर्वक सर्वयज्ञेश्वर विष्णु के यजन (पूजन) का विधान किया गया है। आशय यह है कि भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करने से फलासक्ति के अभाव में कर्म के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। अतः शास्त्रों का तात्पर्य कर्म के विधान में नहीं उनसे निवृत्ति में है; क्योंकि कर्म जाति (उत्पत्ति) से ही अशुद्ध है। इस तथ्य को—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः॥
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया॥

(श्रीमद्भागवत 11/20/26)

यह वचन प्रमाणित करता है। श्रीधर स्वामी ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि प्रवृत्ति ही पुरुष का मालिन्य है; क्योंकि वह स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही दूषित होता है। सहसा सभी प्रवृत्तियों को रोका नहीं जा सकता। अतः विधि-निषेध के द्वारा उसको (प्रवृत्ति को) न्यून करने के द्वारा उसको रोका जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने भक्तों तथा योगियों के लिए प्रायश्चित्त की अकरणीयता को स्पष्ट किया है। कर्म को उत्पत्ति से ही अशुद्ध कहा गया है क्योंकि उसका फल से सम्बन्ध है तथा कर्मानुष्ठान में क्लेश भी है।

शर्म की मुद्रा

नाथ सम्प्रदाय में भी मुद्रा धारण करने की परम्परा है। अतएव गोरखबानी में मुद्रा के विषय में कहा गया है।

मन बैराग मुंद्रा जोई रूपं। बदंत गोरष एतत अनूपं।

(सिष्यादर्शन, गो.बानी, पृ. 180)

मन वैराग्य पूर्ण हो और ज्योति के रूप का दर्शन रूप मुद्रा हो यह अनुपम तत्त्व है, ऐसा गोरखनाथ जी कहते हैं।

इसके आगे गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि (कानों में मुद्रा पहनने की आवश्यकता नहीं है) गुरु मत्स्येन्द्र नाथ की शिक्षा को कानों में पहनों।

अजाचीकभिक्ष्या आइबि थांनं, गुरु मछींद्र नाथ नी सिछ्या पहरिबा कांनं। (सिष्यादर्शन, गो.बानी, पृ. 181)

इस प्रकार सन्त समाज में मुद्रा धारण का प्रचलन था, यह स्पष्ट होता है।

अनाहतनाद प्राप्त होने के बाद अविस्मरणीय सुख प्राप्त होता है। 'शर्म' शब्द से बोधित होने वाले सुख को आचार्यचरण विवेकशील महात्माओं की मुद्रा बतलाते हैं। कुछ यतिवर कानों में विशेष प्रकार के कुण्डल पहनते हैं, जिसे मुद्रा कहा जाता है। इस विशेष कर्णाभूषण का 'मुद्रा' यह अन्वर्थ या गुण के अनुरूप नाम है। मुद्रा शब्द का अर्थ होता है मुत् या प्रसन्नता को लाने वाला। 'मुद्' शब्द सुख का पर्याय है। क्योंकि—

मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः।
स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च॥

(1/4/24)

इस अमरकोश में शर्म और सुख को पर्याय के रूप में उद्धृत किया गया है। यतिवृन्द मुद्रा को सुखप्रद स्वीकार करते हैं।

कर्णवेध (कर्ण का छेदन) तो कुण्डल आदि आभूषणों को धारण करने के लिए होता है। कर्णवेध एक संस्कार भी है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कार का आधान करने वाला है। मुद्रा कर्णाभूषण है। अतः मुद्रा के धारण करने से स्वर्ण धारण का फल तो प्राप्त होता ही है, इसके अतिरिक्त मुद्रा से कौन-सा सुख प्राप्त

होगा? यह विचारणीय है। यतः शर्म की मुद्रा है और शर्म तो सुख ही है। अतः शंका होती है सुख किस सुख को लायेगा? सुख तो सुख-साधन से प्राप्त है। इस जिज्ञासा की शान्ति ब्रह्मसाक्षात्कारजन्य सुख की प्राप्ति होने पर हो जाती है। क्योंकि शर्म की मुद्रा इसी प्रकृष्ट सुख को ज्ञापित करती है। हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि विषयवती प्रवृत्ति से मन को स्थिरता प्राप्त होती है। मन की स्थिरता वृत्ति की न्यूनता एवं अन्ततः वृत्ति की शून्यता को प्राप्त कराती है, जो समाधि का सूचक है।

अतः यह कहना चाहिए कि अनाहतनाद की प्राप्ति से व्यंजित होने वाला सुख अथवा इन्द्रियों की विषयप्रवणता को रोकने से प्राप्त होने वाला ससीम सुख उस असीम सुख का व्यञ्जक (ज्ञापक) है, जो आत्मसाक्षात्कार से प्राप्त होता है।

मुद्रा शब्द का प्रयोग 'मुहर' को अभिहित करने के लिए भी होता है। पहले भी मुद्रांकित पत्रों को साथ लेकर ही लोग राजदरबार में प्रवेश पाने के अधिकारी होते थे। हरिवंशपुराण में द्वारिका में प्रवेश पाने के लिए मुद्रांकित पत्र का प्रवेशार्थी के पास में होना आवश्यक बताया गया है।

मुद्रया सह गच्छन्तु राज्ञां ये गन्तुमीप्सवः।
न चाऽमुद्र्यः प्रवेष्टव्यो द्वारपालस्य पश्यतः॥

(3/74/24)

जो लोग राजा के पास जाना चाहते हैं, उन्हें मुद्रांकित परिचयपत्र साथ लाना चाहिए तथा द्वारपाल का यह कर्तव्य है कि जो लोग परिचयपत्र साथ नहीं लाए हैं उन्हें वह राजसभा में प्रवेश न दे। यह श्लोक इसमें प्रमाण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा से राजसभा में बिना बाधा के प्रवेश हो जाता है। यह शर्म की मुद्रा भी स्वप्रकाश ब्रह्म की निर्बाध प्राप्ति कराने के कारण संग्रहणीय एवं महत्त्वपूर्ण है। मुद्रा इस द्व्यर्थक शब्द का प्रयोग भी आचार्यचरण ने इसी भाव का द्योतन करने के लिए किया है। 'राजृ दीप्तौ' धातु से निष्पन्न राज शब्द स्वप्रकाश ब्रह्म को उपलक्षित करता है। अतः राजस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कराने में मुद्रा का महत्त्व सुस्पष्ट है। शर्म शब्द सुख का वाचक है, शर्म की ही मुद्रा है जो अन्य सुख को लाती है। अतः यह कहना चाहिए कि सम्प्रज्ञात-समाधिजन्य सुख शर्म की मुद्रा है तथा इससे प्राप्त होने वाला सुख

असम्प्रज्ञातसमाधिजन्य सुख है। क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है।

'मुदं राति ददाति इति मुद्रा' इस व्युत्पत्ति में मुद्रा शब्द सुख देने वाले का बोधक है। ब्रह्म सुखरूप है। अतः शर्म की मुद्रा 'ब्रह्म' (सुख) को देने वाली है। शर्म का शाब्दिक अर्थ है अशुभ को दूर करने वाला, 'शृ हिंसायाम्' इस हिंसार्थक-धातु से मनिन् प्रत्यय (सर्वधातुभ्यो मनिन्) होकर बनने वाला शर्म शब्द इस अर्थ को कहता है। अशुभ दूर होने से सुख की प्राप्ति तो होती ही है; क्योंकि सुख-प्राप्ति का बाधक अशुभ ही है। शर्म का एक पर्याय शात भी अमरकोश में दिया गया है। **'श्यति दुखम् इति शातः'** इस व्युत्पत्ति में (उणा.सू. 3/85) से निष्पन्न शात दुःख को दूर करने वाले को कहता है। 'ब्रह्मज्ञान' से दुःख दूर हो जाता है, यह **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** (ईश.उप., मं. 7) इस श्रुति से प्रमाणित है। शर्म की मुद्रा कल्याणकारी कर्मों का सूचक है। क्योंकि बिना कल्याणकारी कर्म किए सुखस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः शर्म या जीवों का कल्याण ही स्वप्रकाश ब्रह्म से मिलने हेतु अनुज्ञासूचक मुद्रा है। ईश्वर की वाणी स्वरूप वेद एवं वेदानुगामी शास्त्रों में सबके कल्याण की कामना की गयी है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

सभी के सुखी होने, आरोग्य एवं कल्याण प्राप्त करने तथा दुःखी न होने की कामना हमारे लिए यही सन्देश देती है कि हम किसी के सुख में बाधक न हों, किसी को किसी भी प्रकार से रुग्ण होने में सहायक न बनें, सबके सर्वविध कल्याण का अनुमोदन करें तथा किसी को किसी भी प्रकार से दुःखी न करें। अतः सर्वथा कल्याणकारी कर्म हमारे लिए अनुष्ठेय रह जाते हैं। कल्याणकारी कर्म यदि सम्भव न हो तो कल्याण की भावना करे; किन्तु कथमपि अकल्याणकारी कर्म न करे, जिससे किसी का अहित हो। अतएव **'मैत्र्यादिषु बलानि'** (3/23) इस योगसूत्र-भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि मैत्री, करुणा और मुदिता इन तीन वृत्तियों की भावना करनी चाहिए। सुखी लोगों में मैत्री भावना करनी चाहिए, इस भावना से प्राप्त बल के द्वारा योगी जीवलोक को

सुखी करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है। इस प्रकार वह सबका हित करता है। दुखी लोगों में करुणा की भावना करके करुणा बल को प्राप्त करता है। इस बल से प्राणियों को दुःख से तथा दुःख हेतुओं से छुटकारा दिलाता है। पुण्यशीलों में मुदिता की भावना करके योगी मुदिता बल को प्राप्त करता है। इस मुदिता बल से जीवलोक के माध्यस्थ्य को प्राप्त करता है। अर्थात् वह किसी का द्वेष्य या आत्यन्तिक मित्र नहीं रहता। जैसे मध्यस्थ पर सभी लोग विश्वास करते हैं, उसी प्रकार मुदिता बल प्राप्त करने वाला योगी सबके लिए अद्वेष्य तथा विश्वासपात्र होता है। मैत्री आदि की भावना करने से प्राप्त बल अवन्ध्यवीर्य होते हैं। अवन्ध्यवीर्यता के आशय से मैत्रीभावना से प्राप्त वीर्य के सम्बन्ध में विचार करें तो स्पष्ट होगा कि ऐसा योगी यदि किसी को सुखी करना चाहता है तो वह ऐसा करने में सफल होगा, उसके प्रयत्न को बाधित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार करुणा की भावना से बल प्राप्त करने वाला योगी किसी के दुःख को दूर करना चाहता है तो उसका भी प्रयत्न निष्फल नहीं हो सकता। पापशील पुरुष जो सर्वदा पापाचरण कर रहे हैं, उनकी उपेक्षा करने को कहा गया है। उपेक्षा का अर्थ उदासीनता है। योगी पापशील पुरुषों की उपेक्षा करेगा, वहाँ भावना की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैत्री आदि भावना से जैसे हमें लोगों को सुखी करने या उनके दुःख को दूर करने हेतु बल मिलते हैं, वैसा यहाँ कोई बल नहीं है; क्योंकि उपेक्षा के द्वारा हम केवल तदाकार वृत्ति को रोकते हैं। इस प्रकार शर्म की मुद्रा को धारण करने वाला योगी न केवल परमात्मा की प्राप्ति कर अपने को आनन्दित करता है, अपितु जागतिक जीवों के दुःख को दूर कर उन्हें भी सुखी बनाता है।

इस प्रकार वह 'तारहु गांव' इस मात्रा-सूत्र में वर्णित एवं समूह के उद्धार के लिए अपेक्षित बल प्राप्त करता है।

शिव विभूता

स्वात्माराम यतिगण शरीर में विभूति का लेप करते हैं। यह विभूति रोमकूपों को बन्द करके शीत आदि से यति की रक्षा करती है। आचार्यचरण के विभूतिविरहित शरीर को देखकर यतिगण उन्हें वीतराग सन्तों की परम्परा में अनुस्यूत न होने वाला स्वच्छन्दचारी महात्मा समझने के कारण कौतूहल की दृष्टि

से देख रहे हैं। नेत्रों से मन के भाव के प्रकट होने के कारण आचार्यचरण ने अपने द्वारा धारित की गयी विभूति को 'शिव विभूता' इस मात्रा के द्वारा स्पष्ट किया है।

आशय स्पष्ट है 'शिव' को ही अपनी विभूति बताकर श्रीचन्द्र प्रभु यह बताना चाहते हैं कि जैसे भस्म-(विभूति) लिप्त शरीर के रोमकूपों के बन्द होने से वात सहभावी शैत्यबाधा नहीं होती, उसी प्रकार हमारी इस शिवात्मक विभूति से मन के ओतप्रोत होने के कारण वासनात्मक छिद्रों के सर्वथा निरुद्ध हो जाने से विषयाकांक्षा पिशाची अब हमें भीति नहीं दे पाती। विभूत्यात्मक शिवस्वरूप ब्रह्म में मन के लीन हो जाने के कारण अब बाह्य शरीर की सुध न होने से, उसको प्राप्त होने वाली बाधाओं तथा सुखकर प्रसंगों के साथ उसका (मन का) कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे बाह्यविभूति सम्पूर्ण शरीर पर दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार शिवात्मक यह विभूति अन्तःकण (मन) की सम्पूर्ण वृत्तियों का उद्देश्य बन रही है। अर्थात् प्रपंच की जड़ता का परित्याग कर वह साधक केवल शिवस्वरूप ब्रह्म को ही सर्वत्र 'सत्ता' रूप से व्याप्त देख रहा है।

शिव को विभूति के रूप में वर्णित करने का आशय अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों से युक्त होना भी हो सकता है। यतः **'विभूतिर्भूतिरैश्वर्य-मणिमादिकमष्टधा'** (अमरकोश 1/1/36) के अनुसार 'विभूति' 'भूति' 'ऐश्वर्य' यह तीनों शब्द अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावशायिता इन आठ सिद्धियों के वाचक हैं, यह अमरकोश टीका 'रामाश्रमी' में वर्णित है। यद्यपि—

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणाध्यानपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाश्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत् कामस्तदवस्यति ।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥

(11/15/3-5)

इन भागवत-श्लोकों में 18 सिद्धियों का वर्णन है। अतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त अमरकोश-वाक्य प्रधान सिद्धियों का ही अनुवादक है। क्योंकि श्रीमद्भागवत के उक्त वचनों में 8 प्रधान सिद्धियाँ तथा 10 अप्रधान सिद्धियाँ वर्णित हैं। आठ प्रधान सिद्धियों को श्लोक सं. 11/15/3-5 में बतलाया गया है। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व एवं कामावशायिता में प्रथम तीन सिद्धियाँ देह से सम्बद्ध हैं। **'अणोर्भावः अणिमा'** इस व्युत्पत्ति में अणु शब्द से मनिन् प्रत्यय (5/1/11) करने से निष्पन्न अणिमा शब्द अणुभाव की प्राप्ति को कहता है। अणिमा की सिद्धि प्राप्त होने पर शरीर का परिमाप 'अणु परिमाण' हो जाता है। अणु परिमाण सबसे छोटा परिमाण है, जो सामान्यतः चक्षुगोचर नहीं होता। **'लघोर्भावः लघिमा'** इस व्युत्पत्ति में लघु शब्द से इमनिच् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न लघिमा शब्द अतिशय लघुत्व का द्योतन करता है। इस सिद्धि के आने पर शरीर में अत्यधिक हल्कापन या गुरुत्वहीनता आ जाती है। महिमा की सिद्धि आने पर साधक की इच्छा हो तो शरीर का परिमाप इतना बढ़ जाता है कि पूरे ब्रह्माण्ड में उसका समावेश नहीं हो सकेगा। 'प्राप्ति' नाम की सिद्धि होने पर अंगुलि के अग्रभाग से चन्द्रमा आदि की प्राप्ति की जा सकती है। अर्थात् अंगुलि के अग्रभाग से चन्द्रमा का स्पर्श किया जा सकता है। श्रीधर स्वामी तत्तत्प्राणियों के इन्द्रियों के साथ अधिष्ठातृ देवता के रूप में सम्बन्ध को 'प्राप्ति' सिद्धि कहते हैं। प्राकाम्य की सिद्धि होने पर इच्छा का विघात नहीं होता। अमरकोश टीका 'रामाश्रमी' के अनुसार यह सिद्धियों का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में 'प्राकाश्य' सिद्धि का उल्लेख है। प्राकाम्य के स्थान पर प्राकाश्य सिद्धि को स्वीकार करने पर तो पुनरुक्ति दोष नहीं होगा; क्योंकि अलौकिक पदार्थ जो शास्त्रों में दृष्ट हैं या समर्थ पुरुषों से श्रुत हैं तथा दर्शनयोग्य हैं, ऐसे पदार्थ जो भूविवर आदि में छिपे हैं, उनको देखने की तथा भोग करने की सामर्थ्य ही प्राकाश्य सिद्धि से प्राप्त होती है। **'ईशिनो भावः ईशिता'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न इन् प्रत्ययान्त ईशी शब्द से भावार्थक तल् प्रत्यय के द्वारा ईशिता शब्द की सिद्धि होगी। इस सामर्थ्य के द्वारा ईश्वर माया को प्रेरित करता है। इस तथ्य को श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है। अन्य लोग ईशिता को मायांश का प्रेरण कहते हैं। **'वशिनो भावः वशिता'** इस व्युत्पत्ति

में निष्पन्न वशिता शब्द उस सामर्थ्य को द्योतित करता है, जिसके द्वारा भूमि में भी जल की तरह उन्मज्जन और निमज्जन किया जा सकता है। भागवत में **'गुणेष्वसंगो वशिता'** कहा गया है। विषय-भोग में आसक्ति न रहना वशिता है। कामावशायिता शब्द की सिद्धि **'कामावशायिनो भावः'** इस व्युत्पत्ति में होती है। इसके प्राप्त होने पर सत्य-संकल्पता आती है। भागवत में **'यत्कामस्तदवस्यति'** यह कहकर स्पष्ट किया गया है कि जिस-जिस सुख की कामना साधक करता है उसकी सीमा को वह प्राप्त करता है। **'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च'** (यो.सू. 3/45) में सिद्धियों का वर्णन है।

इन सिद्धियों के बारे में श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है—**'एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः'** (11/15/5) तथा **'तासामष्टौ मत्प्रधानाः'** यह वाक्य भी उपलब्ध है। इस वाक्य के द्वारा भगवान् यह स्पष्ट कर रहे हैं कि इन आठ सिद्धियों का स्वभावतः मुख्य आश्रय मैं ही हूँ तथा जो लोग हमारे स्वरूप का साक्षात्कार कर चुके हैं, उनमें थोड़ा न्यून भाव में यह सिद्धियाँ रहती हैं। इस प्रकार परमेश्वर में ही प्रधानतया रहने के कारण इन आठ प्रधान सिद्धियों को 'शिव विभूता' शब्द से आचार्यचरण ने अभिहित किया है। स्पष्ट है कि शिवस्वरूप परमात्मा में रहने वाली विभूतियाँ हमारे भीतर हैं, यह कहकर आचार्यचरण अपनी ब्रह्मरूपता को स्पष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार शर्म की मुद्रा के साथ शिव विभूता की संगति भी होती है; क्योंकि शर्म की मुद्रा से द्योतित ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर यह सिद्धियाँ आती हैं। उसी क्रम में उनका वर्णन भी है। इस तथ्य को श्रीधर स्वामी ने टीका में **'मत्स्वरूपं प्राप्तेषु किञ्चिन्न्यूना भवन्ति'** जो लोग हमारे स्वरूप को प्राप्त कर लिए हैं, उनमें ये सिद्धियाँ कुछ न्यून भाव में रहती हैं, इस रूप में स्पष्ट किया है।

शेष 10 सिद्धियाँ सत्त्वोत्कर्षहेतुक हैं। इनका वर्णन निम्न रूप में है—

अनूर्मिमत्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथा सङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाऽप्रतिहता गतिः॥

(श्रीमद्भाग. 11/15/6-7)

1. इस शरीर में क्षुत्पिपासादिराहित्य 2. दूर की वस्तु को देखना 3. दूर देश का शब्द सुनना 4. मन के वेग के साथ शरीर की गति 5. कामरूप (अभीष्ट रूप) की प्राप्ति 6. परकाय प्रवेश 7. स्वेच्छामृत्यु 8. देवताओं की अप्सराओं के साथ होने वाली क्रीड़ा का अनुदर्शन या प्राप्ति 9. संकल्पानुरूप प्राप्ति 10. अप्रतिहत गतिवाली आज्ञा, यह 10 गुणहेतुक सिद्धियाँ हैं। इनके अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियों का भी वर्णन भागवत में मिलता है—

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः॥

(श्रीमद्भागवत 11/15/8-9)

त्रिकालज्ञता, शीतोष्णाद्यनभिभवः, परचित्ताद्यभिज्ञता (दूसरे के मन के भावों को जानना), अग्नि-जल (सूर्य, विष) आदि का स्तम्भन तथा अपराजय, यह पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। अपराजय शब्द से भूतों से अपराजय (पराजय के न होने) का बोध किया जाय अथवा अन्य कोई तात्पर्य है? यह संशय नहीं करना चाहिए; क्योंकि भूतों से ही नहीं, कहीं से भी पराजय का न होना यही अर्थ श्लोक-सं. 11/15/31 के सम्वाद से प्राप्त होता है। वहाँ **'सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः**—पूर्वकथित सिद्धियाँ पूर्ण रूप से (अशेषतः) मेरे उपासक को प्राप्त होती हैं' यह कथन पूर्ण रूप से अपराजय को बतलाता हुआ भक्त को सर्वथा अपराजेय बतलाता है। किन्तु यह विचारणीय हो जाता है कि यदि सभी सिद्धियों को शिवविभूति शब्द से कहा जा रहा है तो अशिव विभूतियाँ क्या हैं? अर्थात् शिवशब्द यदि 'विभूता' का विशेषण है तो उसका व्यावर्त्य क्या है? हम जानते हैं कि शर्म की मुद्रा के बाद 'शिव-विभूति' की प्राप्ति का वर्णन आचार्यचरण कर रहे हैं और अनाहत गुरुवाणी के बाद शर्म की मुद्रा की चर्चा है। इस वर्णनाक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनाहतनाद से प्राप्त सुख को बताकर उसके अनन्तर प्राप्त होने वाली सिद्धियों को 'शिव विभूता' शब्द कह रहा है। इस मात्रा पर विचार कर हम यह कह सकते हैं कि सिद्धियों के दो विभाग हैं—1. शिव सिद्धियाँ—जो साधक के अधीन रहकर उसके कल्याण के मार्ग का अवरोध नहीं करती हैं तथा शिवत्वप्राप्ति के अनन्तर

प्राप्त होती हैं। शिवात्मक परब्रह्म से सम्बद्ध होने के कारण अथवा शिवस्वरूप महात्मवृन्द से सम्बद्ध होने के कारण इन सिद्धियों को शिवविभूति या शिवसिद्धि भी कह सकते हैं, जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है। 2. अशिव सिद्धियाँ— जो अन्तराय (विघ्न) स्वरूप हैं, जिनके वशीभूत होकर साधक शिवत्व की प्राप्ति के लक्ष्य को भूल जाता है। इस प्रकार का विभाग न स्वीकार करने पर विभूतियों का शिव विशेषण व्यर्थ होगा। दूसरे प्रकार की सिद्धियों के समूह में हम **'सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता'** (श्रीमद्भागवत 11/15/3) इस श्लोक में वर्णित शेष दस सिद्धियों का तथा पाँच क्षुद्र सिद्धियों का भी परिगणन कर सकते हैं। आठ प्रधान सिद्धियाँ तो भगवत्स्वरूपता प्राप्ति के बिना नही आतीं।

पूर्व-वर्णित सभी सिद्धियाँ धारणा-योगपारग यतियों के द्वारा बताई गई हैं, ऐसा स्पष्ट संकेत श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त श्लोक में मिलता है। इस कथन का आशय यह है कि धारणारूप योगांग में पराकाष्ठा प्राप्त करने के अनन्तर ही इन सिद्धियों की प्राप्ति होती है। श्रीधर स्वामी ने भागवत व्याख्या में 'धारणा' को 'अष्टादश' संख्याक बताकर यह स्पष्ट किया है कि एक धारणा से एक सिद्धि प्राप्त होती है। धारणा से 18 सिद्धियों की प्राप्ति का वर्णन यह भी सूचित करता है कि पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ जो त्रिकालज्ञता आदि के रूप में परिगणित हैं, उनकी प्राप्ति धारणा से पूर्व की स्थिति में ही हो जाती है। हम जानते हैं कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि आठ योगांगों में यम-नियम और आसन प्रधानतः शरीर से सम्बद्ध हैं। आसन-सिद्धि के अनन्तर प्राणायाम किया जा सकता है। प्राणायाम से मनोनिग्रह होता है, जिससे शनैः-शनैः इन्द्रियों के विषय-वैमुख्य या प्रत्याहार का प्रारम्भ होता है। क्षुद्र सिद्धियाँ प्रत्याहार तथा धारणा की प्रारम्भिक अवस्था में प्राप्त हो सकती हैं। इसके पश्चात् 'अष्टादश' 18 सिद्धियाँ धारणा के द्वारा ही प्राप्त होती हैं। श्रीमद्भागवत में किस धारणा से कौन सी सिद्धि प्राप्त होती है? इसका वर्णन मिलता है।

भगवद्-ध्यान से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ ही 'शिवविभूति' शब्द से अभिहित हैं; क्योंकि भगवत्कृपा से इनकी प्राप्ति होती है। भगवत्कृपा के लिए भगवद्भक्ति आवश्यक है। अतः आचार्यचरण यह स्पष्ट कर रहे हैं कि योग की सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त कराने वाली हरिभक्ति को नहीं छोड़ना चाहिए। प्रायः

यह देखा जाता है कि योगबल प्राप्त होने पर अदृढ़ आस्था वाले योगी भक्तिविमुख हो जाते हैं। किन्तु ऐसा करने से वे परमपद से वंचित हो जाते हैं। क्योंकि भक्ति के अभाव में साक्षात्कार नहीं हो पाता। अतएव अगली मात्रा में हरिभक्तिरूपी मृगचर्म धारण करने का विधान किया गया है।

हरिभक्ति मृगानि लै पहिरै गुरुपूता

यह मात्रा निवृत्ति (मार्ग) के (योगाभ्यासी) साधकों के लिए विशेष महत्त्व रखती है। यतिवृन्द स्नान के अनन्तर सम्पूर्ण शरीर में विभूति का लेप करके कटिभाग में मृगचर्म धारण करते हैं, जिसे जाप-जंगोटा में बताया गया है। ऐसी प्रसिद्धि है कि मृगचर्म का आस्तरण कर उसके ऊपर आसीन योगी का मन कामवासना से अत्यधिक तप्त नहीं होता। अतएव गीता में **'चैलाजिनकुशोत्तरम्'** (श्रीमद्भगवद्गीता 6/11) यह कहते हुए अजिन का वस्त्रान्तरिततया आसन के रूप में उपयोग करने का विधान मिलता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि मृगचर्म को धारण करने से उसका 'आसन' के रूप में उपयोग तो नहीं होगा, तथापि आसनरहित भूतल पर बैठने में आसन के रूप में तथा शयन के समय मृगचर्म आस्तरण के रूप में उपयोग में आ सकता है। अतः आचार्यचरण के शरीर को देखकर यतिगण के मन में मृगचर्मविषयक जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। फलतः उनकी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आचार्यचरण ने हरिभक्तिरूपी मृगचर्म की चर्चा की। किन्तु यह हरिभक्तिरूपी मृगचर्म 'गुरुपूत' को प्राप्त होता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि गुरु के द्वारा पवित्रीकृत साधक अनाहत गुरुवाणी, शर्म की मुद्रा की प्राप्ति के अनन्तर शिवविभूतापद-प्रतिपाद्य सिद्धियों को प्राप्त करता है। किन्तु यह सिद्धियाँ उसके लिए बाधक नहीं होतीं; क्योंकि हरि भक्तिरूपी मृगचर्म (मृगानि) उसका रक्षा करती है। यह ऐसी हरि-भक्ति है, जो विषयों को मृग की तरह खोजने वाले मन को विषयवैमुख्य हेतु प्रेरित करती है, जिससे साधक मन को विषयविमुख कर सिद्धियों को प्राप्त करता है। इसके अनन्तर वह निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। गोरखबानी में ब्रह्म पद को हरिपद कहा गया है।

बदंत गोरष इम हरिपद जांनां ॥6॥

(पद-12 रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 119)

गुणाधिक्य-प्रयुक्त स्नेहाधिक्य जिस शिष्य के ऊपर है वही गुरुपूत कहलाता है। क्योंकि वही गुरुदेव भगवान् की कृपावर्षिणी दृष्टि से पवित्र होता है। यदि गुरु के द्वारा पवित्रीकृत इस अर्थ को 'गुरुपूत' शब्द कह रहा हो तो निम्नभाव उससे द्योतित होगा। शरीरधारी जीव तब तक अपवित्र रहता है जब तक वह मायाकार्य मलरूप प्रपंच में आसक्त रहता है, यतः मल सम्बन्ध ही अपवित्रता का कारण है। अतएव 'अविद्या' को मल शब्द से अभिहित किया जाता है। आगम ग्रन्थ 'अष्टप्रकरण' के रत्नत्रयपरीक्षा की 233 वीं कारिका—

सा तु संविदविज्ञाता तैस्तैर्भावैर्विवर्तते।
मलोपरुद्धदृक्शक्तेर्नरस्येवोडुराद् पशोः॥

में यह स्पष्ट किया गया है। जैसे तिमिरदोष से दुष्ट चक्षु वाले व्यक्ति को एक ही चन्द्रमा अनेक दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार मलरुद्ध ज्ञानशक्ति वाले पुरुष के लिए एक ही चेतनात्मिका संवित् अनेक रूपों में विवर्तभाव को प्राप्त होती है। इस सर्वातिशायी अविद्यामल को गुरुकृपा से ही हम दूर कर सकते हैं। अतएव आचार्यचरण ने कहा कि 'गुरुपूत ही हरिभक्ति मृगानि को लेकर पहनता है'। गुरुपूता शब्द की सिद्धि 'गुरुणा पूयते' इस व्युत्पत्ति में कर्मार्थक क्त प्रत्यय के द्वारा की गयी है, जिससे गुरुकृत पवन क्रिया कर्म को गुरुपूत शब्द कहेगा। हम जानते हैं कि जो अपवित्र है वही पवित्र किया जाता है। शिष्य को गुरु के द्वारा पवित्र किया जा रहा है। इसका अर्थ है कि शिष्य अपवित्र है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि शिष्य के दोष क्या हैं? तथा गुरु उनको किस प्रकार दूर करता है? किन्तु इससे पहले यह देखना होगा कि वह गुण कौन से हैं, जिनसे आकृष्ट होकर गुरु शिष्य के ऊपर अनुग्रह करता है।

इस सम्बन्ध में विचार करते समय यह स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है कि सामान्य अज्ञानी जीवों की दृष्टि तथा ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न सर्वज्ञ गुरु की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है। हमारी दृष्टि सीमित है। हम इन्द्रियों से सम्बद्ध वस्तुओं का ग्रहण करते हैं। हमारी यह ग्रहणक्षमता वर्तमान वस्तुओं तक ही सीमित है। किन्तु योगजसामर्थ्यसम्पन्न गुरुवृन्द अतर्कणीय सामर्थ्य से युक्त होते हैं। उनकी दृष्टि सम्बद्ध एवं वर्तमान पर ही नहीं, व्यवहित अतीत एवं सुदूर स्थित अनागत की भी समीक्षा करती है। वस्तु की वर्तमानकालिक सत्ता या असत्ता का उनकी

दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। वे चित्त के स्पन्दन को भी जानते हैं। अन्तःकरण के अन्तस्तल में सुप्त वासनाएँ भी उनकी दृष्टि से अदृष्ट नहीं हैं। अतः उनकी दृष्टि विशाल एवं अपरिमित है। हमारी दृष्टि स्थूल एवं ससीम है, जिसके द्वारा हम वर्तमान जीवन एवं अपने चतुर्दिक् व्याप्त परिवेश पर भी सूक्ष्म दृष्टि नहीं रख पाते, भविष्यकालिक वस्तुओं की समीक्षा की बात तो अलग है। यही कारण है कि हम जिसे वर्तमान में दोषयुक्त एवं हेय समझते हैं, वह अपने प्राक्तन कर्मों एवं उदात्त-भविष्य की दृष्टि से कभी-कभी योगीजन को अत्यधिक प्रिय हो जाता है। वे उसके अन्तर्मन में निहित दृढ़ संकल्प-शक्ति उद्देश्य के प्रति समर्पण एवं महापुरुषों में अनितरसाधारण निष्ठा को देखकर उसके लिए अध्यात्म का रहस्य खोल देते हैं। साधना के जटिल पक्ष को सुगम बना देते हैं। उनका सम्बल पाकर वह निरीह व्यक्ति कठोर से कठोर तप करने में भी समर्थ होता है। यही कारण है कि अंगुलिमाल जैसा हिंसाविहारी भी बुद्ध जैसे अहिंसक का अनुग्रह-भाजन बन गया। गणिका, गीध और अजामिल प्रभुकृपा के निदर्शन बन गये। महापुरुषों की इस प्रकार कालातिगामी दृष्टि से पूत होने वाले लोकन्यक्कृत पुरुषों की सत्कृति हेतु ही भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (9/30)
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ (9/31)

अर्थ स्पष्ट है, अति कुत्सित आचार वाला व्यक्ति भी यदि अनन्य भाव से मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए; क्योंकि उसने दृढ़ निश्चय कर लिया है। इस भजन के प्रभाव से दुराचारी पुरुष भी कुत्सित आचरण को छोड़कर यथाशीघ्र धर्मात्मा हो जाता है। हे अर्जुन! जो लोग मेरे भक्ति के माहात्म्य में शंका कर पूर्वाभ्यस्त दुरित से मेरे भक्त के नाश की आशंका करते हैं, उन्हें तुम सगर्व प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। भगवद्भक्ति से व्यक्ति शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर सकता है, गुरुभक्ति से नहीं। यह आशंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि गुरु एवं ईश्वर में भेद न होने से गुरुभक्ति एवं ईश्वर-

भक्ति दो भिन्न साधन नहीं हैं। अतएव कार्ष्णिप्रवर आचार्यचरण श्री गोपालदास जी महाराज ने कहा है—

गुरु में तुममें भेद न देवा। गुरु सेवा सो तुमरी सेवा ॥ आदि।

हरिभक्ति को मृगचर्म के रूप में धारण करने हेतु उपदेश भी साभिप्राय है। क्योंकि 'शिव विभूता' के साथ 'शिवभक्ति' को मृगचर्म के रूप में धारण करने का उपदेश नहीं हुआ; क्योंकि **'हरति इति हरिः'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न हरि शब्द उस तत्त्व का बोध कराता है जो हमारे दुर्गुणों अथवा मायामूलक सम्पूर्ण प्रपञ्च का हरण करता है। निवृत्तिमार्ग के पथिक को माया की परिधि के बाहर जाना है तो संहरण में प्रवृत्त हरि की भक्ति उसकी प्रतिपल सहायता करेगी। हरि और हर शब्दों का एक ही अर्थ है, तथापि—

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत्॥

(श्रीमद्भाग. 10/88/5)

इस भागवत वचन के अनुसार गुणातीत अवस्था की प्राप्ति के लिए हरि की भक्ति को आवश्यक समझ कर आचार्यचरण ने 'हरि भक्ति मृगानि' धारण करने को कहा। यह अवधेय है कि शिव को तो विभूति की आवश्यकता है; क्योंकि वह कल्याणमय है, कल्याणकारक है। अतः शिव के साथ विभूति की चर्चा आचार्यचरण ने किया। हरि के साथ विभूति की चर्चा नहीं हुई।

यह परम्परा है कि जलस्नान के अनन्तर भस्मस्नान (विभूति-लेप) करके यतिगण मृगचर्म धारण करते हैं। स्पष्ट है जल से पवित्रीकृत शरीर को दुबारा भस्म से पवित्र करते हैं। अतः द्विरावृत्त पवित्रीकरण प्रयास का सूचक यह द्व्यर्थक विभूति शब्द प्रयुक्त है, जो अणिमादि ऐश्वर्य को भी बोधित करता है। किन्तु मन को पवित्र करने की सामर्थ्य न तो जल में है, न विभूति में, वह तो गुरुकृपा से प्राप्त मार्ग पर चलने से ही पवित्र हो सकता है। इसी दृष्टि से आचार्यचरण ने 'गुरुपूता' शब्द का प्रयोग किया है। अतएव गुरुगीता में कहा गया है—

गुरुदर्शितमार्गेण मनःशुद्धिं तु कारयेत्।
अनित्यं खण्डयेत् सर्वं यत्किञ्चिदात्मगोचरम् ॥ (99)

गुरु के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुवर्तन कर मन की शुद्धि करनी चाहिए। अनित्य वस्तुओं का चिन्तन जब तक मन से होता रहता है, अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त अनित्य वस्तु गोचर मन की वृत्ति होती रहती है, तब तक मन की अशुद्धि बनी रहती है। स्पष्ट है कि वासनारूप मल के कारण ही यह विक्षेप होता रहता है। जब गुरु द्वारा प्रदत्त मार्ग पर चलकर साधक सम्पूर्ण अनात्मपदार्थों को अशुचि एवं विनाशशील समझने के बाद मन की अनित्य गोचर वृत्ति का निरोध कर देता है तो उसका मन शुद्ध कहलाता है। इसी तथ्य को 'अनित्यं खण्डयेत् सर्वम्' इस द्वितीय पंक्ति में बतलाया गया है। 'आत्मगोचरम्'-शब्द में प्रयुक्त आत्म शब्द 'मन' का वाचक है। हम जानते हैं कि आत्म शब्द चित्त आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है, अतएव हैमकोश में कहा गया है—

आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे।
परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः ॥

(2/261-262)

आत्म शब्द का प्रयोग चित्त, धृति, यत्न, बुद्धि, कलेवर, परमात्मा, जीव, सूर्य (अर्क), अग्नि और वायु इन सभी अर्थों में होता है।

गुरुगीता के उपर्युक्त वचन से यह स्पष्ट होता है कि अनात्मपदार्थ-गोचर वृत्ति ही मन की अशुद्धि है। उसको दूर करने का आशय है मन को वृत्तिशून्य करना। किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर यह विचारणीय हो जाता है कि मन के वृत्तिशून्य हो जाने के पश्चात् 'हरिभक्ति' की आवश्यकता क्या है? वृत्तिशून्यता के पहले (जड़गोचर-वृत्ति-निरोध से पहले) तो उसकी आवश्यकता समझ में आती है। **'यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं तावन्ममाराधनतत्परो भवेत्'** जब तक सम्पूर्ण प्रपंच को भगवत्स्वरूप में न देखने लगे, जब तक प्रपंच में भगवदाकार वृत्ति न हो जाय, तब तक हरिभक्ति करनी चाहिए। किन्तु यह आक्षेप सुविचार-प्रसूत नहीं मालूम होता; क्योंकि विचार करने पर हरिभक्ति की सर्वदा आवश्यकता प्रतीत होती है।

'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (यो.सू. 1/47) इस योगसूत्र के भाष्य में निर्विचार का वैशारद्य क्या है? इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **'अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य**

रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्'। आशय है कि रजोगुण एवं तमोगुण का उपचय ही अशुद्धि है? उसी को आवरण मल कहते हैं। इसके व्यपगत होने पर प्रकाश स्वभाव वाले बुद्धिसत्त्व का स्वच्छ स्थिति-प्रवाह ही वैशारद्य कहा जाता है। निर्विचार समाधि का इस प्रकार का वैशारद्य प्राप्त होने पर योगी का अध्यात्मप्रसाद होता है और ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। यह अध्यात्मप्रसाद भूतार्थविषयक होता है। यह क्रमाननुरोधी प्रज्ञालोक है। प्रज्ञा का ऐसा प्रकाश है जिसमें एक साथ अनेक वस्तुओं का भान होता है। ज्ञानजनक सामग्री (इन्द्रियविषयसंयोग आदि) से ज्ञान होने पर क्रम अपेक्षित है तथा इससे सीमित वस्तुओं का ज्ञान होता है, प्रज्ञालोक तो युगपद् (एक साथ) अनेक वस्तुओं का प्रकाशन करता है। सद्गुरुदेव इस सामर्थ्य से युक्त होते हैं, अतः शिष्य के गुण-दोषों का विचार कर उसकी भक्ति से आवर्जित होकर उसे अपनाते हैं।

'हरिभक्ति मृगानि ले पहिरै गुरुपूता' इस मात्रा में प्रयुक्त गुरुशब्द को लौकिक ब्रह्मविद् गुरु का बोधक कहें तो भी यह कहेंगे कि सामान्यतः 'गुरुपूत' को ही 'हरिभक्ति मृगानि' मिलती है। गोपियों की श्रेणी के विशेष कोटि के भक्त इसके अपवाद हैं अथवा यह कहें कि हरिरूप गुरु से पवित्र हैं।

हरिभक्ति मृगानि को धारण करने के बाद ज्ञान की उपर्युक्त गोदड़ी को लेकर यतिगण विचरण करते हैं। मृगानि को कटिभाग में धारण कर गोदड़ी से पूरे शरीर को आवश्यकतानुसार प्रावृत किया जाता है अथवा उसे अपने साथ लेकर यतिगण चलते हैं। अतः मृगानि के बाद गोदड़ी का स्मरण होना स्वाभाविक है। आचार्यचरण, ज्ञान के सभी साधनों का वर्णन, 'ज्ञान की गोदड़ी' इस मात्रा के प्राधान्यतः वर्णन के व्याज से कर रहे हैं। सन्तों की जिज्ञासा थी कि हमारी गोदड़ी में तो आड़े-तिरछे-लम्बे धागे लगे रहते हैं। जब गोदड़ी फटने लगती है तो उसमें पुराने कपड़ों को जोड़कर उसे पुनः व्यवहार्य बना लिया जाता है। गोदड़ी को प्रायः बदला नहीं जाता। जैसे-जैसे वह पुरानी होती जाती है तथा उसमें छिद्र होते जाते हैं, नये-नये पेवन (पदबन्ध टल्ली) को लगाकर छिद्रों को बन्द कर दिया जाता है। किन्तु आपकी ज्ञान-गोदड़ी का तो सूत और धागे से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, यह कैसी गोदड़ी है? आचार्यचरण ने जिज्ञासा के

शमन के लिए प्रत्युत्तर में ज्ञान की गोदड़ी के सूत एवं धागे का वर्णन सन्तोष और विवेक के रूप में किया है।

सन्तोष और विवेक दोनों का आत्म कल्याण हेतु उपयोग कितना है? इसे हम सन्तपरम्मंरा में विभिन्नरूपों में इनके वर्णन को देखकर समझ सकते हैं; गोरखबानी (पृ. 254 पर) परिशिष्ट-क4, 'सिष्टपुराण' शीर्षक से सम्बद्ध बहुत महत्त्वपूर्ण वाक्यों के संग्रह में 'सन्तोष उपरांति सुख नाहीं' वाक्य भी मिलता है। यह वाक्य सन्तोष को सबसे श्रेष्ठ सुख बतलाया है। सन्तोष से उपरितन (उपरांति) कोई सुख नहीं है। यह कहने से सन्तोष से अनुत्तम सुख लाभ की प्राप्ति बतलाने वाले योग सूत्र से संवाद प्राप्त होता है।

'बमेक फाहुड़ी' यह वाक्य भी गोरखबानी के पृ. 198 पर 'अभै मात्रा योग' शीर्षक के अन्तर्गत प्राप्त होता है। यहाँ 'वमेक' शब्द विवेक का वाचक है। फाहुड़ी 'धूनी' की राख हटाने वाली लकड़ी की कुदाल है। आचार्यचरण ने मात्रा में 'धीरज को फहुड़ी' बतलाया है। जैसे–फहुड़ी का उपयोग न करने पर 'धूनी' की राख न हटने से आग प्रदीप्त नहीं होती उसी प्रकार 'विवेक' का उपयोग न करने पर सत् एवं असत् (अच्छा और बुरा अथवा ग्राह्य और त्याज्य) के बोधपूर्वक संग्रह एवं निरसन के अभाव में हम जीवन के बहुमूल्य समय का आत्मज्ञान हेतु सही दिशा में उपयोग न कर पाने के कारण 'मोक्ष' से वंचित हो जाते हैं।

सन्तोष सूत, विवेक धागे

ज्ञान की गोदड़ी में **'सन्तोष सूत'** तथा **'विवेक धागे'** लगे हुए हैं। यह मानने पर शङ्का होती है कि पूर्वमात्रा में **'हरिभक्ति मृगानि'** की चर्चा आई है, तो सन्तोष सूत और विवेक धागों का सम्बन्ध उसी से कहना चाहिए; किन्तु यह उचित नहीं है; क्योंकि मृगानि में सूत और धागे नहीं होते, साथ ही **'अनेक टल्ली तहां लागे'** इस मात्रा में आया तहां शब्द भी इसका बाधक है। मृगानि के सूत एवं धागों की चर्चा होती तो 'अनेक टल्ली यहाँ लागे' इस प्रकार 'यहाँ' शब्द का प्रयोग किया जाता; क्योंकि वह अव्यवहित पूर्व मात्रा में उच्चरित है, तहां शब्द का प्रयोग तो दूरवर्ती गोदड़ी का ही सूचक है।

सन्तोष के सूत गोदड़ी में लगे हैं, यह कहने का आशय है कि सन्तोष इस गोदड़ी का जनक है।

नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः।
सव्येष्टृदक्षिणस्थौ च संज्ञा रथकुटुम्बिनः॥

(अमरकोश, 2/8/59-60)

इस वाक्य के अनुसार नियन्त्रण करने वाला (नियन्ता), अच्छी तरह से चलाने वाला या प्रेरणा देने वाला (प्राजिता), अनभीष्ट दिशा से उपरत करने वाला (यन्ता), दासी पुत्र सारथि (क्षत्ता) तथा सव्येष्टृ—वामभाग में स्थित होने वाला, दक्षिणस्थ—दक्षिण में स्थित होने वाला, रथकुटुम्बी—रथ को धारण करने वाला अर्थ है।

सर्वं स्यात्तैजसं लोहं विकारस्त्वयसः कुशी।
क्षारः काचोऽथ चपलो रसः सूतश्च पारदे॥

(2/9/99)

इस अमरकोश के अनुसार सूत शब्द पारद (पारा) का वाचक है। 'शिवेन सूयते स्म' इस व्युत्पत्ति में 'षु प्रसवे' धातु से क्त प्रत्यय करके सूत शब्द बनता है, भगवान् शिव से 'पारद' की उत्पत्ति सुनी जाती है। अतएव अमरकोश टीका में यह व्युत्पत्ति दी गयी है। विश्वकोश के अनुसार—

सूतस्तु सारथौ तक्ष्णि क्षत्रियाद् ब्राह्मणीसुते।
वन्दिपारदयोः पुंसि प्रसूते प्रेरिते त्रिषु॥ (56/11)

सूत शब्द के सारथि, बढ़ई, क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र, बन्दी तथा पारद यह पाँच अर्थ हैं (मेदिनीकोश में यही पाठ है)। **'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः'** (अमरकोश 2/10/3) के अनुसार भी ब्राह्मणी माता एवं क्षत्रिय पिता से उत्पन्न पुत्र को सूत कहा गया है—'षु प्रसवे' धातु से क्त प्रत्यय कर सूत शब्द बना है।

'सूतः तष्टरि सारथौ' (3/3/62) इस अमरकोश के अनुसार सूत शब्द के बढ़ई और सारथि अर्थ हैं। उपर्युक्त कोश-वाक्यों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि सूत शब्द दो प्रकार का मिलता है—1. पुल्लिंग 2. त्रिलिंग। पुल्लिंग सूत

शब्द के सारथि, बढ़ई, ब्राह्मणी माता में क्षत्रिय से उत्पन्न पुत्र, बन्दी तथा पारद यह पाँच अर्थ हैं। तीनों लिंगों में प्रयुक्त होने वाले सूत शब्द का प्रसूत (उत्पन्न) तथा प्रेरित अर्थ है। अस्तु, इस अनेकार्थक 'सूत' शब्द के प्रयोग से प्रकृत में जिन अर्थों का ध्वनन होता है, उन पर दृष्टिपात करें तो निम्न अर्थ प्रकाश में आते हैं।

यदि सारथि अर्थ में सूत को लिया जाय तो जैसे सारथि रथ का नियन्त्रण करता है, उसी प्रकार सन्तोष भी ज्ञानगोदड़ी का नियन्त्रक होगा। असन्तुष्ट रहने पर कमी का अनुभव करने वाला जीव सर्वदा इच्छाओं के उदित होने से अशान्त रहता है। सन्तोष के आने पर धीरे-धीरे इच्छाएँ कम होती हैं और पूर्ण सन्तोष वृत्ति के उदय होने पर तो वह पूर्णतः शान्त हो जाता है। यह सन्तोष आत्म-प्राप्ति का साधन है। अतएव योगदर्शन में **'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः'** (2/32)—शौच, सन्निहित साधन से अधिक की प्राप्ति की इच्छाभावरूप सन्तोष, द्वन्द्वसहनरूप तप, मोक्षशास्त्रों के अध्ययन अथवा प्रणव-जप रूप स्वाध्याय तथा परमगुरु परमात्मा में सभी कर्मों के समर्पणरूप ईश्वरप्रणिधान को नियम बतलाते हुए सन्तोष को योगांग बतलाया गया है। सम् उपसर्गपूर्वक 'तुष् प्रीतौ' धातु से सन्तोष शब्द बनता है, जो उपसर्ग एवं धातु के अर्थ के योग से समीचीन प्रीति का वाचक है। समीचीन प्रीति वह है जो सर्वदा बनी रहे, कभी जिसका अभाव न हो अथवा जिसमें कभी न्यूनता न हो। ऐसी प्रीति विषयों में सम्भव नहीं है, प्रीति की एकरूपता तो अपनी आत्मा या अपने स्वरूप में ही होती है। भक्तों की भगवान् में प्रीति निरन्तर वर्धमान होती है। क्योंकि वे भगवान् की रूपमाधुरी के पान से कभी भी तृप्त नहीं होते। यह भक्ति और ज्ञान का अन्तर है।

यदि सूत शब्द बढ़ई का वाचक हो तो सन्तोष रूप सूत को बढ़ई की तरह लकड़ियों को सँवारना होगा, उन्हें परस्पर मिलाना होगा तथा उनसे दरवाजे, गवाक्ष आदि बनाकर उन्हें हमारे उपयोग में लाने योग्य करना होगा। हम जानते हैं कि घर हमें शीत, आतप तथा वर्षा से बचाता है। उस घर में लकड़ियाँ, दरवाजे एवं खिड़की के रूप में अनियमित व्यक्ति तथा अनभीष्ट वायु आदि का प्रवेश वारित करती हैं। सन्तोष भी हमें लौकिक तापों से बचाता है, इच्छाओं को सीमित कर अर्थार्जन के क्लेश को समाप्त करता है और इस प्रकार

एकार्थाभिनिवेश को समाप्त कर विरोध के अवसर को नगण्य करता हुआ जीवों को परस्पर प्रेमपाश में आबद्ध करता है। इतना ही नहीं, अनुत्तम सुखरूप परमात्मा की भी प्राप्ति कराता है। बढ़ई का एक कार्य वृद्धि करना भी है; क्योंकि वह लकड़ियों को जोड़कर बढ़ाता है। **'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः'** (यो.सू. 2/42) सन्तोष से अनुत्तम सुख, जिससे बढ़कर सुख नहीं है, जो सुख की सीमा है, ऐसे सुख की प्राप्ति होती है, यह योगसूत्र सन्तोष से परमात्मा की प्राप्ति बतलाता है; क्योंकि वही सुख की सीमा है। यह सन्तोषरूप बढ़ई भी तो हमारी आध्यात्मिक शक्ति या मानसिक शक्ति को बढ़ाता है, अतएव कहा गया है—

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते॥

(श्रीमद्भागवत 7/15/19)

तथा—

मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥

(श्रीमद्भागवत 7/15/17)

असन्तुष्ट विप्र का तेज, विद्या, तप, यश, सब कुछ इन्द्रियनिग्रह के अभाव में क्षीण हो जाता है तथा ज्ञान ह्रास को प्राप्त होता है। इसके विपरीत मुझ परमात्मा से सर्वदा सन्तुष्ट रहने वाले के लिए सभी दिशाएँ सुखकर होती हैं। जैसे कंकण एवं काँटों से पादत्राण रक्षा करता है, उसी प्रकार सन्तोष दुःखद प्रसंगों से हमारी रक्षा करता है।

'सूत' शब्द का 'बन्दी' अर्थ करें तो 'सन्तोष' के साथ आंजस्येन समन्वित होता है; क्योकि बन्दी का कार्य है अपने स्वामी का गुणगान करना। हम जानते हैं कि सन्तोषी व्यक्ति को सर्वदा जगन्नियन्ता प्रभु के गुणानुवाद का अवसर प्राप्त होता है।

'सूत' शब्द से पारद (पारा) को विवक्षित करके यदि पारा का साम्य सन्तोष में देखें तो स्पष्ट है कि 'पारं ददाति' (डुदाञ् दाने आतोऽनुपसर्गे कः-अमरकोश रामाश्रमी) जो पार या अन्त को दे वह पारद है, यह अर्थ सन्तोष में घटता है।

सन्तोष-वृत्ति को अपनाकर अधिक समय प्रभु के भजन में देकर, हम संसार के पार या अन्तभूत सीमाभूत (जगत् के अधिष्ठानभूत) परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होने वाले सूत शब्द का प्रसूत (उत्पन्न) अर्थ लें तो सन्तोष को प्रसूत या उत्पन्न कहने का आशय होगा कि वह अब तिरोहित नहीं होगा, प्रसूत प्राणी आदि की तरह सत्ता में रहेगा, तो किसी भी प्रकार से ऐसा सन्तोषी व्यक्ति ऐहलौकिक, पारलौकिक भोगों के प्रलोभन में नहीं आयेगा; क्योंकि भोगों के प्रलोभन से उसके अस्तित्व को खतरा हो सकता है। ऐसा सन्तोष ज्ञान की गोदड़ी से उत्पन्न होगा अथवा पराभक्ति प्राप्त होने पर उत्पन्न होगा, उसके पहले इसकी सम्भावना नहीं के बराबर की जा सकती।

यदि सूत का प्रेरक अर्थ स्वीकार करें तो सन्तोष किसका प्रेरक है, यह विचार करना होगा। स्पष्ट है कि ऐसे सन्तोष से प्रेरित पूर्ववर्णित रीति से पराभक्ति या ज्ञान या तदनुकूल प्रवृत्ति ही हो सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि सूत से गोदड़ी बनती है, अतः गोदड़ी से सूत को प्रेरित या उत्पन्न कहना असंगत है; किन्तु भगवत्कृपा से ही ज्ञान या भक्ति मिलती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर हम यह कह सकते हैं कि ज्ञान की गोदड़ी में प्रयुक्त 'ज्ञान' शब्द, ज्ञानप्रद प्रभु को कहता है और उसी की कृपा से सन्तोष की प्राप्ति होती है। ऐसा मान लेने पर असंगति नहीं रह जाती; क्योंकि सन्तोष अब भगवान् से प्रसूत या प्राप्त है।

सन्तोष के अभाव में विवेक जागृत नहीं होता; क्योंकि सन्तोष के अभाव में लोभ की बहुलता बुद्धिसत्त्व को आवृत्त किये रहती है, अतः विवेक को धागारूप में वर्णित किया गया है। बिना विवेक के ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, यह आगे बताया गया है। अतः आचार्यचरण ने सन्तोष एवं विवेक दोनों का साथ-साथ उल्लेख किया है। ऊपर हमने आचार्यचरण की समीक्षात्मक दृष्टि की चर्चा की है। अतः **हरिभक्ति मृगानि** और **ज्ञान की गोदड़ी** के सम्बन्ध में आचार्यचरण का दृष्टिकोण निम्न रूप में समझ सकते हैं—

भगवान् की भक्ति मृगचर्म है, अतः वह स्वभावतः कोमल एवं चिकनी है, जब कि ज्ञान की गोदड़ी में अनेक टल्ली लगे होने से तथा धागों से सिले जाने के कारण उसमें कोमलता एवं चिकनाई दोनों नहीं है। मृगाजिन चित्त को अपनी ओर आकर्षित करता है, जब कि ज्ञान की गोदड़ी को गुरु का प्रसाद मानकर

प्रयासपूर्वक ढोना पड़ता है। मृगाजिनरूपी भक्ति में सहसा विकृत होने या नष्ट होने का भय नहीं है, जबकि गोदड़ी में यह भय सर्वदा बना रहता है।

सन्तोष को सूत और विवेक को धागा बताकर सन्तोष एवं विवेक का 'ज्ञान-गोदड़ी' की उत्पत्ति में महत्त्व बतलाया गया है। साथ ही **'अनेक टल्ली तहां लागे'** यह कहकर गोदड़ी की प्राचीनता को भी बतलाया गया है। गोदड़ी के टल्ली से उसके जराजीर्ण कलेवर का अनुमान होता है। क्योंकि टल्ली की अधिकता गोदड़ी की व्यवहार्यता की दीर्घकालावधि को सूचित करती है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सन्तोषरूपी सूत और विवेकरूपी धागों का ज्ञान की गोदड़ी के साथ जो विशेष सम्बन्ध है, उसके ऊपर पहले विचार होना चाहिए; क्योंकि नित्य अविक्रिय ब्रह्मरूप ज्ञान को ही 'गोदड़ी' शब्द से ऊपर अभिहित किया गया माना जाय, तो जो स्वतः निरवयव एवं नित्य है, इसके फटने या पुराने होने की बात ही नहीं है, फिर सूत, धागे, टल्ली किसलिए? यह भी देखना होगा कि सन्तोष को सूत और विवेक को धागा कहकर आचार्यचरण ने सूत और धागे में जो भेद किया है, उसका कारण क्या है?

ज्ञान की गोदड़ी में सन्तोष को सूत कहा गया है। **'सीव्यते स्म इति स्यूतः'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न 'स्यूत' शब्द मुख्य रूप से बुन कर तैयार हुई गोदड़ी को कहेगा तथा गौड़ रूप से उन धागों को कहेगा जो कन्था की उत्पत्ति में अर्थात् कन्था को बुन कर तैयार करने में काम आते हैं।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि स्यूत शब्द जब सिले हुए वस्त्र को कहता है, तो उसके अपभ्रंश सूत शब्द को भी डोरे को नहीं कहना चाहिए। तथापि अपभ्रंश शब्दों के विषय में अर्थवाचकता के नियमों का आकलन करें तो यह शंका निर्मूल हो जाती है। **'पुंयोगादाख्यायाम्'** (पा.सू. 4/1/48) के भाष्य में कहा गया है—

चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद्भवति तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति—चार प्रकार से शब्द अपने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को अभिहित करने लगता है—

1. **तात्स्थ्यात्**—उसमें (वाच्यार्थ में) स्थित होने के कारण मञ्च में स्थित बालक मञ्च शब्द के वाच्य होते हैं, अर्थात् बालकों में मञ्चत्व का

आरोप होता है। मुख्य मञ्चत्व धर्म मञ्च में ही रहता है। अतः **मञ्चाः क्रोशन्ति**—मंच चिल्ला रहे हैं, इस वाक्य का अर्थ, मञ्च में स्थित बालक आह्वान कर रहे हैं, यह होता है।

2. **ताद्धर्म्यात्**—किसी वस्तु के धर्मों (गुणों) के अन्यत्र अतिदिष्ट होने से, जैसे महाभाष्यटीकाकार ने ताद्धर्म्यात् का उदाहरण **'सिंहो माणवकः'** दिया है। यहाँ सिंह-वृत्ति शौर्य, क्रूरता आदि धर्मों के माणवक में दिखाई देने से वहाँ सिंहत्व का आरोप होता है। इस प्रकार **'अतस्मिन् सिंहभिन्ने माणवके स इति सिंह इति भवति'** 'सिंह से भिन्न माणवक में सिंह है' यह कथन सार्थक होता है।

3. **तत्सामीप्यात्**—उसके समीप होने से जैसे **'गङ्गायां घोषः'** इस वाक्य में गंगा (वाच्यार्थ) के समीप होने वाला तीर (किनारा) गंगा शब्द का वाच्य हो गया।

4. **तत्साहचर्यात्**—वाच्यार्थ के साथ होने वाला भी शब्द का वाच्य हो जाता है। **यष्टीः प्रवेशय**—(यष्टिओं को प्रवेश कराओ) कहने पर यष्टि दण्ड के साथ संयुक्त रहने वाला यष्टिधारी भी प्रविष्ट होता है, अर्थात् यष्टि शब्द का अर्थ यष्टिधारी हो गया।

इसी साहचर्य नियम के आधार पर सिली हुई बुनी हुई गोदड़ी को कहने वाला स्यूत शब्द सहचरित गोदड़ी में होने वाले धागे को भी कहेगा। स्यूत का ही अपभ्रंश सूत है, तो वह भी धागों को कहेगा।

अथवा 'सूत्र' का अपभ्रंश सूत को कहने पर सरलता से अर्थबोध हो सकता है। गोदड़ी को बनाते समय जितने चातुर्य या विवेक की आवश्यकता होती है, उससे कम विवेक की आवश्यकता गोदड़ी के जीर्ण हो जाने पर उसके छिद्रों को ढँकने के लिए टल्ली (प्रियबन्ध-पेवन) लगाते समय नहीं होती है; क्योंकि गोदड़ी के जीर्ण होने के कारण इस समय सिलाई के उपयोग में आने वाले सूतों को जल्दी स्थिर आधार नहीं मिल पाता, जिससे वे टल्ली को सहारा देने में असमर्थ होने लगते हैं। अतः इस समय भी विवेक की आवश्यकता होती है।

इसी विवेक को धागा कहा गया है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि धागा और सूत में अन्तर क्या है? इसका आशय यह है कि लम्बे धागे जिनको विविक्त कर (अलग-अलग करके) चौड़ाई के धागे चलाए जाते हैं, उन्हें विवेक कहा गया तथा चौड़ाई के धागे जिनको पड़ने पर कपड़ा बुना जाता है, उन्हें सूत कहा गया। हम जानते हैं कि सन्तोष एवं विवेक के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। **'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः'** (2/42) यह योगसूत्र सन्तोष के द्वारा सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति बतलाता है। सर्वोत्तम सुख ब्रह्मरूप सुख ही है। यतः **'कं ब्रह्म'** इस श्रुतिवाक्य में ब्रह्म को सुखरूप कहा गया है। सन्तोष के द्वारा ब्रह्मसुख की प्राप्ति होती है, यह कथन स्पष्ट कर रहा है कि सन्तोष में परम्परया ब्रह्मसुखजनकता है। अतएव गोस्वामी तुलसीदास जी ने नवधा भक्ति की गणना के प्रसंग में सन्तोष को अष्टमी भक्ति के रूप में उल्लिखित किया है—

आठों यथालाभ सन्तोषा, सपनेहु नहिं देखिअ पर दोषा।

(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा 35 के बाद)

किन्तु सन्तोष के साथ परदोष-दर्शनाभाव को भी भक्ति का साधन बताकर सन्तोष के साथ उसके दृढ़ सम्बन्ध को सूचित कर दिया। यथालाभ सन्तोष के साथ इसको कहने का आशय यह है कि जैसे लाभ से दृष्टि को हटाकर लोभ को जीता जा सकता है, उसी प्रकार दूसरों के दोषों की ओर से दृष्टि को हटाकर हम अनायास होने वाले पापों से बच सकते हैं। दूसरों की ओर दृष्टि होने पर कभी न कभी उनका अभिलाप या कथन भी होगा। दोषों का यह कथन निन्दा के अभिप्राय से होगा और निन्दा बहुत बड़े पाप के रूप में परिगणित है। गोस्वामी जी ने **'परनिन्दा सम अघ न खगेशा'** (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा 120 के बाद) इस पंक्ति में निन्दाजनित पातक की गुरुता को स्पष्ट किया है। पाप करने वाले को जो स्थान मिलता है, वही स्थान निन्दा करने वाले को भी मिलता है, इसलिए निन्दा त्याज्य है। अतएव कहा गया है—

'यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्याऽपि तद्भवेत्'।

'पाप करने वाले को जो यातनास्थान प्राप्त होता है, उसी प्रकार की यातना उस पातकी की निन्दा करने वाले को भी प्राप्त होती है।' इस वचन के द्वारा निन्दा को पापाचरण के तुल्य कहा गया है। अतः परदोषसंलपन का दोष न प्राप्त

हो सके, एतदर्थ परदोषों के दर्शन से ही बचना चाहिए। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि 'सन्तोष सूत' इस मात्रा में प्रयुक्त सन्तोष शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। हमें प्रतिपल लाभोन्मुखी दृष्टि को ही नहीं रोकना है, सन्निहित अत्यावश्यक साधनों से अधिक साधनों के संग्रह की इच्छा से भी विरत होना है। क्योंकि वह भी लाभ है। मनोवृत्ति को भी ज्ञानसाधन चक्षुरादि के नियन्त्रण के द्वारा नियन्त्रित करना है, उसे भी अनियत की प्राप्तिरूप लाभ से विरत करना है। परदोष, जिनकी स्मृति भी चित्त में क्षोभ पैदा करती है, उनसे बचना है। इस प्रकार पुनः विषयोन्मुखता तथा तद्द्वारा विषयप्राप्तिरूप लाभ से मन को विरत करना है। गुण और दोष दोनों ही लक्ष्य पर स्थिर दृष्टि को विचलित करने के कारण दोष ही हैं, अतः उन दोनों से अपने को विरत कर लेना भी सन्तोष की परिधि के भीतर आता है। अतएव कहा गया है—

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषः गुणस्तूभयवर्जितः॥

(श्रीमद्भागवत 11/19/45)

दृष्टि चाहे गुणपरक हो या दोष का अन्वेषण करने वाली, दोनों ही दोष हैं। गुण तो दोनों की उपेक्षा ही है। आत्मा से भिन्न दृष्टि के समीचीन न होने से दोनों की उपेक्षा ही अपेक्षा का विषय होने से गुण है। दोनों ही विकार हैं। दोनों में मन का स्थैर्य न होने से संग्राह्यता नहीं है। सन्तोष समीचीन तृप्ति है, तो सन्तोष की अवस्था में दोष की ओर बुद्धि नहीं जायेगी, वह साधक तो भगवद्गुण, नाम, धाम आदि में ही तृप्ति का अनुभव करेगा। दूसरे के दोष या गुण की ओर ध्यान नहीं देगा।

अनेक टल्ली तहां लागे

अस्तु, इस प्रकार ज्ञान की गोदड़ी से सन्तोष और विवेक का सम्बन्ध तो स्थापित हो जाता है; किन्तु यह आशंका बनी हुई है कि 'ज्ञान की गोदड़ी' के साथ टल्ली का क्या सम्बन्ध है? भौतिक गोदड़ी में टल्ली भले ही लगें, इस नित्य निर्विकार गोदड़ी से टल्ली का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यदि ब्रह्म के परोक्ष-ज्ञान या शास्त्रजन्य परोक्ष-ज्ञान को 'गोदड़ी' कहें, जैसा पूर्व में वर्णित है, तो भी परोक्ष-ज्ञानरूप गुण में 'टल्ली' का योजन कैसे होगा? किन्तु आचार्यचरण

टल्ली की बात कर रहे हैं, तो आशय को स्पष्ट करने के लिए उसका सम्बन्ध तो अवश्य स्पष्ट करना होगा? इस सम्बन्ध में आगे विचार प्रस्तुत है, जिसके सार के रूप में यह कहा जा सकता है कि असंग ज्ञानात्मक सद्रूप ब्रह्म में नामरूप का सम्बन्ध ही टल्ली है। हम जानते हैं कि ब्रह्म को सद्रूप, चिद्रूप तथा आनन्दरूप कहा गया है। किन्तु जागतिक पदार्थों में ब्रह्म के यह तीन गुण तथा नाम और रूप इन पाँच की प्रतीति होती है, जो ब्रह्म से इनके सम्बन्ध को सूचित करती है। अतएव वाक्यसुधा में कहा गया है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

(वाक्यसुधा 20)

जागतिक पदार्थों में अस्तित्व, 'भानविषयत्व, प्रियता', रूप एवं नाम इन पाँच गुणों का भान होता है। अर्थात् जागतिक पदार्थों की सत्ता का हमें अनुभव होता है। वे भान के विषय भी होते हैं अन्यथा ज्ञात न होते। उनमें प्रियत्व की प्रतीति होती है। यतः उनका रूप हमारी दृष्टि का आवर्जन करता है तथा किसी न किसी शब्द नाम के द्वारा हम उनका व्यवहार करते हैं। किन्तु यह सभी गुण प्रपञ्चान्तःपाती पदार्थों के ही नहीं हैं। प्रथम तीन गुण तो ब्रह्म से सम्बद्ध हैं। केवल नाम और रूप ही जगत् का है। यही नाम-रूप विक्रिया है जो निर्विकार ब्रह्म के मायासम्बन्ध को सूचित करती है। अतः विक्रिया से सम्बद्ध नाम-रूप ही टल्लो है। नाम तथा रूप (घट नाम है तथा घट की आकृति रूप है) जागतिक पदार्थों में मिलते हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक होने से 'अनेकता' का प्रतिपादन भी युक्तियुक्त है। अनन्त ब्रह्माण्ड तथा उनमें रहने वाले असंख्य प्राणी इयत्ता से परिच्छिन्न नहीं होते। इन ब्रह्माण्डों तथा प्राणियों की उत्पत्ति का आधार सद्रूप ब्रह्म ही है। ब्रह्म ने ही इनको धारण किया है। अतः अनन्त सत्तात्मक ब्रह्म में आकाश में स्थित तारागण की भाँति उनकी प्रतीति हो रही है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म के असंग होने से ब्रह्माण्डसर्जनी माया और कन्था के टल्ली से उसकी सम्बद्धता नहीं कही जा सकती, तथापि उनके आध्यासिक सम्बन्ध का निराकरण न होने से उसे सर्वथा असम्बद्ध भी नहीं कह सकते। अतः ब्रह्म से अनादि सम्बन्ध रखने वाली माया के कार्यभूत अनन्त ब्रह्माण्डों को ही अनेकों टल्ली से बोधित किया जा रहा है। ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति

एवं लय होने के कारण यह नित्य नहीं है तथा इनके अध्यस्त होने से अधिष्ठानभूत ब्रह्म में इनकी आश्रयता भी बनती है। अर्थात् ब्रह्म इनका आश्रय भी होता है। टल्ली विकार है, जैसे गोदड़ी में विजातीय विकारभूत टल्ली उसको व्यवहार्य बनाने के लिए लगाए जाते हैं, उसी प्रकार विकारभूत नामरूपात्मक अनन्त ब्रह्माण्ड, ब्रह्म को विकार सम्बन्ध से व्यवहार्य बना रहे हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सन्तोष सूत और विवेकरूपी धागा तो 'ब्रह्म अचला' में भी है; क्योंकि कोई भी वस्त्र सूत और धागा के बिना नहीं बन सकता तथा ब्रह्म अचला यह मात्रा सन्निहित भी है। अतः उसी से सूत एवं धागा का सम्बन्ध कहना चाहिए, तथापि अचला में टल्ली या पेबन्द का सम्बन्ध न होने से यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता। सुरति की सूई से सिलाई भी गोदड़ी की ही सम्भव है, अचला की नहीं। अतएव आचार्यचरण आगे सुरति की सूई से सिलाई की चर्चा करते हैं।

सुरति की सूई लै सद्गुरु सीवै

'सुरति' 'निरति' दो ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग योगमार्ग में अधिक देखने को मिलता है। गोरखबानी में मछीन्द्र गोरखबोध के रूप में संगृहीत प्रश्नोत्तर में इन दोनों का परिचय बतलाते हुए कहा गया है—

अवधू सबद अनाहद सुरति सोचित
निरति निरालंभ लागै बंध।
दुबध्या मेटि सहज मैं रहै,
ऐसा विचार मछिंद्र कहै॥

(84, गो.बानी, पृ. 215)

सुरति सोचित की जगह एक प्रति में सु(चित) पाठ भी है। इससे सुचित या शोभन चित्त ही सुरति है। यह स्पष्ट होता है। सुचित्त रूप सुरति को कैसे जाना जाय? इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

अवधू सुरति मुषि बैठे, सुरति मुषि चलै।
सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै।
सुरति निरति मैं नृभै रहै, ऐसा विचार मछिंद्र कहै॥

(82 गो.बानी, पृ. 215)

सुरति में होकर-सुचित्त में होकर अर्थात् द्वन्द्व रहित चित्त या प्रसादयुक्त चित्त की अवस्था में बैठना चाहिए, प्रसाद युक्त चित्त की अवस्था में चलना चाहिए, ऐसे ही चित्त की अवस्था में बोलना चाहिए, सुरति में ही किसी से मिलना चाहिए। अन्त में 'सुरति निरति मैं नृभै रहै' यह वाक्य मिलता है, जो सुरति निरति दोनों अवस्थाओं में निर्भय होकर रहने का उपदेश देता है। अनिष्ट प्राप्ति की आशंका अथवा इष्ट की अप्राप्ति की आशंका दोनों से भय होता है। अतः इस वाक्य से यह बोधित होता है कि दोनों प्रकार की आशंका से रहित होकर सुरति की अवस्था प्राप्त होगी।

यह अवधेय है कि 'सबद अनाहत, सुरति सोचित' यह कथन 'अनाहत' शब्द की प्राप्ति के बाद सुरति की अवस्था अथवा सुचित की अवस्था को बता रहा है। अतः ब्रह्म में अथवा आत्मा में 'शोभन रति' को 'सुरति' शब्द कहेगा।यतः आत्मा में रति होने पर ही भयरहित अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था को **'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'** (बृ.उप. 4/2/4) हे जनक! अभय ब्रह्म को तुमने प्राप्त कर लिया है, यह कहते हुए याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट किया है।

'निरति निरालंभ लागै बन्ध' पद 84, निरति की अवस्था को निरालंभ बन्ध की अवस्था बतलाता है। आलंभ शब्द हिंसा या पीड़ा को कहता है। इसके विपरीत 'निरालंभ' शब्द हिंसा या पीड़ा के अभाव को बोधित करता हुआ ऐसी अवस्था को सूचित करता है, जिसमें बिना किसी पीड़ा या मानसिक कष्ट के 'ऊर्ध्वबन्ध' सहज रूप में लगता है। इस बन्ध से प्राण के साथ मन ऊपर की ओर उन्मुख रहता है। इसके अतिरिक्त मछीन्द्र गोरषबोध में सुरतिनिरति का सूचक निम्न पद मिलता है—

अवधू सुरति सो साधिक सबद सो सिधि।
आप सों माया पर सो रिधि।
दुहूँ कौ मेटि निरति मैं रहै, ऐसा विचार मछिंद्र कहै।

(108, गो.बानी, पृ. 219)

सुरति से साधक होता है, सबद (अनाहत शब्द) से सिद्धियों की प्राप्ति सूचित होती है। जिसे मात्रा में, 'शिवविभूता' इस मात्रा से स्पष्ट किया गया है। आशय यह है कि सिद्धियों की प्राप्ति में भी जो आत्मा में ही रति रखता है,

साधक बना रहता है, वही अहंकार मिटने पर (आपा) तत्त्व की प्राप्ति से 'रिद्धि' को प्राप्त करता है। किन्तु रिद्धि और सिद्धि दोनों को छोड़कर 'निरति' में रहना चाहिए यह कथन ऊर्ध्वबन्ध की अवस्था में रहना चाहिए, प्राण को ऊपर की ओर उन्मुख रखना चाहिए, यह बतलाता है। रिद्धि के त्याग का आशय 'मैं परमात्मा या परब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार की भावना का त्याग। यतः सर्वसंकल्प विकल्प के त्याग से ही आत्मा में 'निरति' पूर्णरूप से रति, प्राप्त की जा सकती है। सुरति और निरति शब्द शोभन रति तथा पूर्णरति को कहते हैं। इन पदों में इस अवस्था की प्राप्ति जैसे होती है, उस अवस्था की सूचना, अर्थात् चित्त की विशेष स्थिति की सूचना हमें मिलती है। इनसे भिन्न अन्य पदों में भी सुरति का उल्लेख मिलता है। द्रष्टव्य गोरखबानी, पृ. 47,58,92,228,234 आदि।

पूर्व मात्राओं के सन्दर्भ को देखें, तो अब तक 'ज्ञान गोदड़ी' के उत्पादक सूत-धागे एवं टल्ली (पेबन्द) का निरूपण हो जाने के बाद भी सन्तों के मन में यह जिज्ञासा बनी रही कि हमारी रूई से बनी भौतिक गोदड़ी तो सद्गुरुदेव से प्राप्त होती है। उसे लौकिक सुई से सद्गुरुदेव ही सिलते हैं; किन्तु आपने अपनी ज्ञान की गोदड़ी के सिलने वाले का परिचय नहीं दिया तथा यह भी नहीं बताया कि यह 'अभौतिक' गोदड़ी किस सुई से सिली गई है। अतः आचार्यचरण ने सन्तोष सूत और विवेक धागे को बताने के बाद 'सुरति की सूई लै सद्गुरु सीवे' इस मात्रा के द्वारा ज्ञान की गोदड़ी में उपयोग की गई सूई और इसके निर्माता 'सद्गुरुदेव' का परिचय दिया। अवधेय है कि पूर्व में 'नृत्त का सूइदान' बतलाया गया है, जो ध्यान के बटुआ में है। किन्तु सूइदान में जो सूई रखी है, वह सुरति की है, इस तथ्य को यहाँ प्रकट किया जा रहा है। इस मात्रा के द्वारा आचार्यचरण ने स्पष्ट कर दिया कि भौतिक गोदड़ी को तो गुरु के निर्देश से और कोई भी तैयार कर सकता है तथा सिली हुई गोदड़ी को गुरुदेव शिष्य को प्रदान कर सकते हैं। किन्तु यह ज्ञान की गोदड़ी तो सद्गुरुदेव के द्वारा ही सुरति की सूई से बनाई जाती है। इसे सिलने की सामर्थ्य दूसरे व्यक्ति में है ही नहीं। क्योंकि श्रुति कहती है **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** (काठ.उप. 1/2/23), जिसका यह साधक अनन्यभाव से वरण करता है, अर्थात् जो आत्मा में अनन्य अनुराग सम्पन्न है, उसी के द्वारा वह प्राप्त होता है।

सुरति शब्द से शोभन रति या गुणप्रयुक्त निर्व्याज प्रेम द्योतित होता है। सन्तोष के कारण धनलिप्सा, साधनलिप्सा, संग्रह एवं विषयोपभोग से विरत शिष्य के अन्दर आत्मा एवं अनात्मा का विवेक दृढ़ हो जाता है। तब सद्गुरुदेव भगवान् का निर्व्याज स्नेह शिष्य के उद्धार हेतु उन्हें प्रेरित करता है। गुरुदेव के अनुग्रह के बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अतएव यमराज ने नचिकेता से कहा— **'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति'** (काठ.उप. 1/2/8) अनन्यदर्शी या अपृथग्दर्शी (आत्मा से पृथग्रूप में किसी वस्तु को न देखने वाले) आचार्य से उपदेश प्राप्त होने के बाद अगति, अज्ञान नहीं रहता, ज्ञान होता हीं है।

यह अवधेय है कि 'हरिभक्ति मृगानि लै पहिरै गुरुपूता' इस मात्रा में जैसे हरिभक्ति मृगानि को लेकर पहनने की बात कही गयी है, उसी प्रकार सुरति की सूई को लेने की बात यहाँ कही जा रही है। अतः पूर्व की भाँति ही यहाँ भी जिज्ञासा होती है कि गोदड़ी को सिलना है तो सूई तो लेनी ही पड़ेगी, उसके बिना सिलाई हो नहीं सकती, तो ले शब्द के द्वारा उसको कहने का आशय क्या है? हम जानते हैं कि 'चरणकमल में सुरति हमारी' इस मात्रा के द्वारा शिष्य की सुरति का वर्णन आगे किया गया है। सुरति शोभन रति या निर्व्याज प्रेम है। जब शिष्य की सुरति गुरुचरणों में लग जाती है तो गुरुदेव को यह इच्छा होती है कि शिष्य का उद्धार हो जाय और गुरुदेव शिष्य के लिए ज्ञान गोदड़ी का निर्माण करते हैं। अतः शिष्य के द्वारा गुरुचरणों में लगाई गई सुरति ही ज्ञान गोदड़ी की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसी सुरति की सूई को लेकर गुरुदेव भगवान् गोदड़ी का निर्माण करते हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि मनोवृत्ति विशेष रूप 'सुरति' व्यक्ति विशेष के मन में ही रहेगी तो शिष्य की सुरति का गुरु में संक्रमण सम्भव नहीं है, तथापि आप्तकाम गुरु में ज्ञान-गोदड़ी के निर्माण की रुचि का पैदा होना असम्भव होने से यह कहना उचित है कि शिष्य की सुरति के अनन्तर गुरुदेव के मन में शिष्य को आत्मज्ञान सम्पन्न करने की जो इच्छा उत्पन्न होती है वह भी सुरतिजन्य होने से सुरति-शब्द-वाच्य है, जिसके द्वारा ज्ञान-गोदड़ी का निर्माण होता है। अतएव सुरति की सूई को लेने की बात कही जा रही है। शिष्य की सुरति तब तक पूर्ण नहीं है जब तक उसके द्वारा गुरुदेव का आकर्षण न हो जाय। आकर्षण ही यह बतलाता है कि उन्होंने शिष्य की सुरति का ग्रहण कर लिया।

ज्ञान-गोदड़ी से सम्बद्ध एक और जिज्ञासा यह होती है कि क्या नित्य ज्ञानरूप गोदड़ी की सिलाई की जा सकती है? यदि इसे स्वीकार किया जाता है, जैसा कि आचार्यचरण ने स्वयं कहा है तो उसका प्रकार क्या है? तथा सिलाई का उद्देश्य क्या है? अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो यह जिज्ञास्य है कि सिलाई ही क्या है? कबीर ने तो भौतिक झीनी चादर, शरीर को 10 माह[102] में बुनने का संकेत किया है। उनके अनुसार साईं स्वामी ईश्वर इस शरीररूपी चादर को 10 माह में बुनता है। 10 मास में गर्भ की पुष्टि आदि को देखते हुए ही परीक्षित् को 'दशमास्य' कहा गया है। परीक्षित् की गर्भ में रक्षा करने वाले प्रभु उनके देखते-देखते ही अन्तर्हित होते हैं। अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

विधूय तदमेयात्मा भगवान् धर्मगुब्विभुः।
मिषतो दशमास्यस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः॥

(1/12/11)

धर्म की रक्षा करने वाले भगवान् ने अस्त्र तेज को निरस्त किया और 10मास वाले परीक्षित के देखते-देखते ही अन्तर्हित हो गये। अस्तु, शरीर तो अवयवी है, अतः उसको 10 मास में बुना जाय, यह बात तो समझ में आती है किन्तु ज्ञान की गोदड़ी की सिलाई की बात समझ में नहीं आती।

तथापि सूक्ष्म विचार कर इसे समझा जा सकता है। ज्ञान-प्राप्ति के क्रम का वर्णन करते हुए कहा गया है—

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन् अभ्यासेन च पाचयेत्॥

(उपसंहार, तर्कसंग्रह, दीपिका टीका)

नित्य-नैमित्तिक कर्मों के द्वारा दुरित (पाप) क्षय करते हुए ज्ञान को विमल बनाकर अभ्यास के द्वारा उसका पाचन करें। ज्ञान का 'पाचन' उसकी दृढ़ता है, जो गुर्वनुग्रह से होती है। ज्ञान की दृढता को समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि सम्प्रज्ञात-समाधि में आत्मा का प्रकाशन होने पर भी क्लेशों को

क्षीण कर, कर्मबन्धनों की शिथिलता का सम्पादन होने पर असम्प्रज्ञात-समाधि या निर्बीज-समाधि की प्राप्ति ही ज्ञान की दृढता है, यही ज्ञान-गोदड़ी की सिलाई है। जैसे सिलाई से भौतिक गोदड़ी में दृढ़ता एवं टिकाऊपन आता है, उसी प्रकार ज्ञान को भी अभ्यास के द्वारा दृढ़ किया जाता है। सिलाई करने वाले के मनोयोग से सिलाई अच्छी होती है, अतएव 'सुरति' की सुई का उल्लेख किया गया है। हम जानते हैं कि गोदड़ी को तैयार करने में कई कपड़े लगते हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म का परोक्ष-ज्ञान अथवा शास्त्रजन्य परोक्ष-ज्ञान ही प्राथमिक वस्त्र है, जिसके ऊपर श्रद्धा, सतत प्रयत्न तथा ईश्वरानुग्रह आदि के योग से ब्रह्मज्ञान रूप गोदड़ी की प्राप्ति होती है, यही लौकिक गोदड़ी से इसका साम्य है। ज्ञान का पाचन प्रपञ्च का प्रविलापन है, जो शनैः शनैः अभ्यास के द्वारा होता है। योगवासिष्ठ में चित्तनाश (चित्त में प्रपञ्च के स्फुरण के अभाव) हेतु योग एवं ज्ञान रूप दो उपाय बतलाये गये हैं। योग चित्तवृत्ति का निरोध है और ज्ञान सम्यगवेक्षण (सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मरूप में देखना) है। इन दोनों में पूर्णता की प्राप्ति में समय लगता है। दीर्घकालिक अभ्यास के बाद यह पूर्णता प्राप्त होती है। यतः प्रपञ्च का प्रविलापन ही ज्ञान की प्राप्ति है। अतः क्रमिक प्रविलापन को ज्ञान का पाचन कहा जा सकता है। योगशास्त्र में चित्तनाश का क्रम 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (4/34) के आधार पर पूर्व में बतलाया गया है। पूर्णता की प्राप्ति भक्ति के अभाव में सम्भव नहीं है। अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि गुरुरूप परमेश्वर की भक्ति के अभाव में व्यक्ति ज्ञानप्राप्ति के सन्निकट पहुँचने पर भी गिर जाता है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष! विमुक्तिमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

(10/2/32)

ब्रह्मा आदि देवगण गर्भस्थ विष्णु की स्तुति करते हुए कहते हैं—हे अरविन्द-नेत्र, प्रभो! ऐसे लोग जो आपके चरणों में श्रद्धा नहीं रखते उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं हो पाती। अथवा आप में श्रद्धाभाव न होने पर लोग केवल शुष्कवाद

में ही लगे रहते हैं, अतः उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं होता। क्योंकि भगवत्प्राप्ति तो विशुद्ध बुद्धि (अन्तःकरण) के बिना नहीं हो पाती। अविशुद्ध बुद्धि का फल यह होता है कि ऐसे लोग अनेक जन्मों की तपस्या के बाद कठिनाई से मोक्ष के सन्निकट पहुँचकर भी (सत्कुल प्रसूति के अनन्तर तपःश्रुताध्ययनादि सम्पन्न होकर भी) विघ्नों से अभिभूत होने से अपने लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं, अर्थात् आत्म-साक्षात्कारपुरस्सर मोक्ष नहीं प्राप्त करते। अतः गुर्वनुग्रह आवश्यक है। परमेश्वर की कृपा से प्राप्त गुरु को ही अध्यात्म जगत् में परमेश्वर शब्द से अभिहित किया जाता है। इस तथ्य का प्रकाशन श्रीमद्भागवत में स्वयं श्रीकृष्ण ने किया है—

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया॥

(11/27/9)

प्रतिमा में (अर्चायां), यज्ञभूमि में (स्थण्डिले[103]), अग्नि में, सूर्य में, जल में, अपने हृदय में अथवा ब्राह्मण में विभिन्न प्रकार की पूजा-सामग्री से भक्तियुक्त चित्त वाले पुरुष को अपने गुरुस्वरूप मुझ परमेश्वर की पूजा छलछद्मरहित होकर करनी चाहिए। स्वगुरु की 'अमाया' से अर्चा ही शिष्य की सुरति है, जिसके द्वारा गुर्वनुग्रह से ज्ञान कन्था का निर्माण होता है। 'द्विज' शब्द ब्रह्मनिष्ठ गुरु का बोधक है; क्योंकि माता के उदर से जन्म लेने के बाद आत्मा के अपरोक्ष साक्षात्कार रूप ज्ञान संस्कार से वह पुनः उत्पन्न होता है। यद्यपि ज्ञान की योग्यता प्राप्ति में विलम्ब होता है, योग्यता प्राप्ति के अनन्तर ज्ञान तो निमेष मात्र में हो सकता है; किन्तु उसके लिए गुर्वनुग्रह अपेक्षित है। ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता को अर्जित किये बिना, ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ज्ञान-योग्यताप्राप्तिपूर्वक ज्ञान-प्राप्ति तक सावधानी अपेक्षित है। काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का वर्जन तथा गुरु के निर्देशों का पालन सावधानीपूर्वक करते हुए हम इस लम्बी यात्रा को पूरी करते हैं। यही ज्ञान-गोदड़ी का परिरक्षण है। यदि हम ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता-प्राप्ति के अनुकूल आचरण नहीं करते तथा विपरीत आचरण के द्वारा गुरु, देवता, द्विजादि का अभिशाप प्राप्त करते हैं, तो ज्ञान से वञ्चित होते जाते हैं। इस प्रकार हम भावी गोदड़ी का विनाश करते हैं तथा सावधानीपूर्वक विहित आचरण करने पर भावी गोदड़ी की रक्षा करते हैं। गोदड़ी की इस प्रकार रक्षा का फल है निर्भव

(भवरहित) या जन्मरहित अवस्था की प्राप्ति; क्योंकि '**विद्वान् नामरूपाद्-विमुक्तः**' (मु.उप. 3/2/8) यह श्रुति नामरूपात्मक प्रपञ्च से ज्ञान के अनन्तंर मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए जरामरणादिरहित कैवल्यावस्था को सूचित करती है। श्रुतिप्रतिपादित इसी अवस्था की ओर इंगित करते हुए आचार्यचरण ने '**जो राखै सो निर्भउ थीवै**' इस मात्रा के द्वारा निर्भव अवस्था का प्रतिपादन किया है। यह अवधेय है कि अपने उद्धार हेतु शिष्य जब गुरु की शरणागति करता है तभी से गुरुदेव भगवान् उसकी सुरति या शोभन निष्ठा को लेकर ज्ञान-गोदड़ी का निर्माण (सिलाई) आरम्भ कर देते हैं। पूर्व में 'ज्ञान की गोदड़ी' इस मात्रा के व्याख्यान के अवसर पर ज्ञान-साधन एवं ब्रह्मज्ञान (परोक्ष-ज्ञान) दोनों को 'ज्ञान की गोदड़ी' कहा गया है। गुरुदेव पहले शिष्य को ज्ञान-साधन का अनुष्ठान कराते हैं। इसके बाद उसे ज्ञान-प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सद्गुरुदेव को इस गोदड़ी को सिलने में समय लगता है तथा सुरति की सूई से ही इस गोदड़ी का निर्माण आरम्भ होता है।

जो राखै सो निर्भउ थीवै

प्रकृत मात्रा में 'जो राखै यह साधनभाग है और 'सो निर्भउ थीवै' यह ज्ञान-गोदड़ी के रक्षण की फलश्रुति है। जैसे गुरु के प्रसाद के रूप में प्राप्त भौतिक कन्था की प्रयासपूर्वक रक्षा करता हुआ साधक शीतातपादि से पांचभौतिक शरीर का त्राण करता हुआ आनन्दानुभूतिपुरस्सर लक्ष्य-प्राप्ति के द्वारा कृतकृत्यता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार गुरुकृपा से प्राप्त ज्ञानरूप प्रसाद को गुरुचरणों में निष्ठा के द्वारा दृढ़ करता हुआ शिष्य जराजन्मादिवर्जित मोक्षावस्था को प्राप्त करता है। ज्ञान का दृढ़ीकरण आवश्यक है क्योंकि अदृढ़ ज्ञान नष्ट हो जाता है। अतएव श्रीमद्भागवत-माहात्म्य में कहा गया है—

अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम्। (5/73)

अदृढ़ ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा प्रमाद से श्रुत (वेद) नष्ट हो जाता है। अदृढ़ ज्ञान परोक्ष ज्ञान है जो विषय का पूर्ण परिचय नहीं करा पाता।

यह अवश्य अवधेय है कि शिष्य के अपने प्रयास के बिना गुरुकृपा प्रायः फलद नहीं होती। दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

शिष्य के प्रयास को सम्बल एवं सफलता देने वाली गुरुकृपा ही है; किन्तु शिष्य का प्रयास एवं उसकी श्रद्धा गुरुकृपा-पीयूष-भाजन बनने में सहायक है। इसी तथ्य को प्रकृत मात्रा का 'जो राखै' यह शब्दसमूह सूचित कर रहा है। अतएव गुरुभक्ति से सर्वविध बाधा का दूरीकरण सम्भव है, इस तथ्य को नारद-युधिष्ठिर-सम्वाद के निम्न श्लोकों के माध्यम से श्रीमद्भागवत में प्रकट किया गया है—

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेच्छया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा तरेत्॥

(7/15/22-25)

प्रकृत प्रसंग में कामादि दोषों पर विजय प्राप्त करने के उपायों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि असंकल्प (सम्यक् कल्पनाभाव दुःखदोषानुदर्शन-पुरस्सर संकल्पाभाव) के द्वारा काम को जीतना चाहिए। काम पर विजय प्राप्त कर काम के त्याग के द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए। क्या हितसाधन है तथा किससे अहित होता है? इसके विचार के द्वारा अधिक अर्थ को अनर्थकारी समझकर लोभ को जीतना चाहिए। अद्वैत, एक ब्रह्मतत्त्व, सर्वत्र व्यापक है, इस प्रकार का अनुसंधान करते हुए भय को जीतना चाहिए। यतः द्वैत-बुद्धि के रहते भय समाप्त नहीं होता। अतः आत्मा एवं अनात्मा का विचार करके आन्वीक्षिकी रूप आत्मविद्या के द्वारा आत्मा की नित्यता एवं अनात्म पदार्थों की ध्रुवविनाशिता को समझकर शोक एवं मोह का त्याग करना चाहिए। सात्विक लोग, जिनमें सत्त्व का उत्कर्ष तथा रज एवं तम का अभिभव है, उनकी सेवा के द्वारा शनैः-शनैः दम्भ का त्याग करना चाहिए। योगमार्ग में बाधक लोकवार्ता आदि का मौन के द्वारा त्याग करना चाहिए। शरीर में ममता के त्यागपुरस्सर उसके परिरक्षण की

इच्छा को छोड़कर हिंसा का त्याग करना चाहिए। शरीर में ममता होने पर किसी प्राणी के द्वारा उसको बाधा पहुँचाए जाने पर अथवा अभीष्ट सुख-साधनों का विनाश करने पर व्यक्ति उसकी हिंसा करता है। शरीररक्षणविषयक तीव्र इच्छा के अभाव में हिंसा का स्वतः त्याग होता है और व्यक्ति अहिंसक हो जाता है।

कृपा के द्वारा भूतों से प्राप्त होने वाले दुःखों का परित्याग करना चाहिए। **'कृपया भूतजं दुःखम्'**—जिन भूतों से भय प्राप्त हो रहा है उनके प्रति हिताचरण के द्वारा उस भय का प्रतीकार करना चाहिए। आशय यह है कि पृथिवी जल तेज वायु आदि भूतों से उतनी मात्रा में अपने को सम्बद्ध करना चाहिए, जितने की शरीर को अपेक्षा है, न्यूनाधिक भाव में भूतों का अहितकारी होना दृष्ट है। अतः न्यूनाधिक मात्रा में भूतों का परिवर्जन एवं आवश्यक मात्रा में सेवन ही कृपा है। भूत शब्द से पाञ्चभौतिक शरीरधारी प्राणी भी लिए जा सकते हैं, उनके प्रति कृपा के भाव से प्राणियों से प्राप्त होने वाले भय समाप्त होते हैं। दैवोपसर्ग (दैवी उत्पात) निमित्तक व्यर्थ मनःपीड़ा (अकारण मन में व्याकुलता भय आदि का भाव) आदि को समाधि के द्वारा दूर करना चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति में विनायकोपसर्ग से उपसृष्ट (पीड़ित) व्यक्ति का लक्षण करते हुए कहा गया है—

विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्ततः।

(याज्ञ.स्मृ., गणपतिकल्प-प्रकरण 274)

जो व्यक्ति विनायकोपसर्ग से बाधित होता है उसका मन उत्साहहीन होता है तथा किसी भी क्रिया का फल उसे प्राप्त नहीं होता। वह बिना निमित्त के ही दीनता को प्राप्त होता है। यह दैवोपसर्ग है जो समाधि से दूर होता है।

शरीर के दुःखों को योगज वीर्य (प्राणयाम के बल) से दूर करना चाहिए। निद्रा की अधिकता योगानुष्ठान में बाधक है, अतः सात्त्विक आहार आदि का सेवन करके निद्रा को जीतना चाहिए। रज एवं तम को सत्त्व का आश्रयण करके जीतना चाहिए तथा सत्त्व को उपशम के द्वारा जीतना चाहिए, प्रवृद्ध करना चाहिए। प्रकृत वर्णित भागवत-श्लोकों में धर्म एवं मोक्ष के साधन शरीर एवं मन को बाधित करने वाले विभिन्न प्रकार के दोषों को दूर करने के लिए अनेक उपाय बतलाए गए, किन्तु अन्त में सभी दोषों को दूर करने के लिए गुरुभक्तिरूप एक ही प्रबल उपाय का उल्लेख किया गया है। गुरु में अविचल भक्ति के द्वारा

उपरिवर्णित शरीर मानस दोष तथा निद्रारूप योगान्तराय को भी सरलता से जीता जा सकता है।

इन बाधक तत्त्वों पर विजय प्राप्त किये बिना योगमार्ग का अनुष्ठान कर ज्ञान-प्राप्ति नहीं की जा सकती। अतः गुरुभक्ति के द्वारा शनैः-शनैः उनके उपशम की चर्चा की गयी। इससे स्पष्ट होता है कि गुरु के चरणों में दृढ़ अनुराग होने पर उनकी कृपा से ही सभी योगान्तराय दूर होते हैं। इसीलिए आचार्यचरण ने प्रकृत मात्रा में स्पष्ट किया है कि शिष्य की सुरतिरूपी सुई को लेकर ही सद्गुरुदेव इस ज्ञान-कन्था को सिलते हैं। यद्यपि इस प्रसंग में यह शंका होती है कि मनुष्य शरीरधारी गुरु में भक्ति के प्रकर्ष से सभी अन्तरायों का उपशम कैसे होगा? वह तो स्वयं इन अन्तरायों से बाधित हो रहे हैं। तथापि यह शंका स्वभाविक रूप से समीचीन नहीं है, अतएव गुरु की साक्षात् भगवद्रूपता का वर्णन करते हुए नारद जी कहते हैं—

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥

(श्रीमद्भाग. 7/15/26)

एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको वै मन्यते नरम्॥

(7/15/27)

ज्ञानरूपी दीप के प्रदाता साक्षात् भगवत्स्वरूप गुरु में यदि कोई व्यक्ति मर्त्य बुद्धि रखता है अर्थात् गुरु को परमात्मा न समझकर मरणधर्मा मनुष्य समझता है तो उसका शास्त्रश्रवण कुञ्जरशौच की तरह व्यर्थ है। जैसे हस्ती स्नान के पश्चात् तालाब से बाहर आकर पुनः धूलधूसरित होकर स्नान द्वारा प्राप्त शुचिता को तत्काल नष्ट कर देता है, उसी प्रकार गुरु में मनुष्यबुद्धि करने वाला व्यक्ति शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित गुरु की भगवत्ता का अपलाप कर शास्त्राध्ययन के श्रम को व्यर्थ कर देता है।

अतः गुरु में मनुष्य बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। गुरु तो साक्षात् परमेश्वर हैं, जिनके चरणकमलों का ध्यान योगेश्वर लोग अपने अन्तःकरण में करते हैं। किन्तु लोगों की यह विपरीत बुद्धि है कि गुरु को मनुष्य समझते हैं। आशय यह है कि

गुरु में परमेश्वर बुद्धि रखने पर गुरुकृपा और परमेश्वर-कृपा में कोई भेद नहीं होता और सभी अन्तराय गुरुभक्ति से दूर हो जाते हैं।

स्याह सफेद जरद सुरखाई। जो लै पहिरै सो गुरुभाई ॥

का व्याख्यान प्रस्तुत है। प्रकृत मात्रा में इस गोदड़ी को लेकर पहनने का विधान है। इसके पहले 'ब्रह्म अचला ले पहिरै सुजान' इस मात्रा के द्वारा ब्रह्म अचला के पहनने का विधान किया गया है तथा हरिभक्तिरूप मृगचर्म (मृगानि) को भी धारण करने या पहनने का विधान हुआ है। किन्तु इन धारणीय वस्तुओं के विषय में विचार करने पर एक जिज्ञासा होती है—अचला और मृगचर्म का धारण तो उचित है, किन्तु गोदड़ी को धारण करने का आशय क्या है? अर्थात् गोदड़ी जब ओढ़ने या बिछाने की वस्तु है, तो उसे धारण करने की बात क्यों की जा रही है? किन्तु एक दिव्य विभूति के मुख से यह बात निकल रही है, तो किस उद्देश्य को लेकर यह विधान हो रहा है, इस पर तो विचार करना ही होगा।

हम जानते हैं कि अचला एवं मृगचर्म को जो धारण किए हुए हैं, गोदड़ी उनके ओढ़ने या बिछाने के ही काम आती है। किन्तु ऐसे यतिगण जो दिग्वासा हैं अथवा केवल कौपीन धारण किए हुए हैं, उनकी कन्था का उपयोग, आवश्यकता होने पर शीत, आतप आदि के निवारणार्थ तथा लज्जानिवारणार्थ परिधान के रूप में भी हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परिधानरूप आवरणरहित या परिधानरहित होने पर ही गोदड़ी का धारण होता है। अतः दार्शनिक दृष्टि से अविद्यारूप आवरणरहित निरावरण व्यक्ति को ज्ञानरूपी गोदड़ी का परिधान प्राप्त होता है। क्योंकि ज्ञान होने पर अविद्या तिरोहित हो जाती है। यदि निरावरण होने का आशय वासना से रहित होना कहा जाय, तो निर्वासन प्रेम से प्राप्त होने वाले प्रभु को ज्ञान (साधनों) से प्राप्त होने वाली गोदड़ी के रूप मे स्वीकार कर सकते हैं।

ज्ञान-साधनों से या कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर अनुष्ठेय साधनों जैसे नाम-जप आदि से सगुण एवं निर्गुण दोनों स्वरूपों का साक्षात्कार होता है। इस तथ्य को हम रामचरिमानस बालकाण्ड दोहा संख्या 20 के बाद अन्तिम चौपाई **'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी'** के अर्थ का मनन कर समझ सकते हैं। क्योंकि गोस्वामी जी निर्गुण एवं सगुण

के बीच नाम को शोभन (अच्छा) साक्षी बता रहे हैं, जो दोनों का साक्षात् द्रष्टा है। उस नाम-रूप-साक्षी को दोनों का प्रबोध करने वाला चतुर द्विभाषिया बता रहे हैं। उनका आशय है कि नाम जैसे दुभाषिया का आदरपूर्वक सेवन करने से निर्गुण एवं सगुण दोनों का प्रबोध होता है। इस प्रकार नाम जैसे एक ही साधन से निर्गुण-सगुण दोनों का साक्षात्कार होता है, यह स्पष्ट है। इस व्याख्यान के आलोक में सगुण रूप को भी ज्ञान से प्राप्त होने वाली गोदड़ी (ज्ञान की गोदड़ी) कहा जा सकता है। यह सगुण प्रभु रूपी गोदड़ी या कन्था ऐसी होगी जिसके स्याह, सफेद, जरद, सुरखाई आदि रंग भी होंगे। क्योंकि भगवदवतारों के सम्बन्ध में इन वर्णों की चर्चा आगे की गयी है।

एक बात और विचारणीय है, आचार्यचरण ने ज्ञान की गोदड़ी को दो प्रकार से अपने पास रखने या अपने से सम्बद्ध करने को कहा है—1. **जो राखै सो निर्भउ थीवै**, 2. **जो ले पहिरै सो गुरुभाई**। यह दो मात्रा-सूत्र क्रमशः रक्षण एवं परिधान (पहनना) का विधान कर रहे हैं। इन दोनों का सम्बन्ध ज्ञान गोदड़ी से होने पर भी दोनों में अन्तर स्पष्ट करने हेतु हम यह कह सकते हैं कि जो आत्मा का प्रत्यक्ष करने के अनन्तर उसी में पूर्णतया तृप्ति का अनुभव करता है, वह शरीर धारण न करते हुए ज्ञान का रक्षण करता हुआ निर्भव या उत्पत्ति (जन्म) रहित हो जाता है। किन्तु जो अधिकारप्राप्त लोग ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर लोककल्याणार्थ समय-समय पर शरीर धारण करते रहते हैं, वे भगवदवतारों की तरह लोकोपकार करने के कारण गुरुरूप परमात्मा के सम्बन्ध से भाई की तरह हैं। यह अवधेय है कि लोक में किसी वस्तु का रक्षण करते समय हम उसका सीमित या नियन्त्रित उपयोग करते हैं। कम से कम उपयोग से वह वस्तु अधिक समय तक रक्षित रहती है। किन्तु इससे हम संसार या सांसारिक लोगों से सम्बन्धरहित होते हैं। लोग उसका यथेच्छ उपयोग करना चाहते हैं, अतः वस्तु न मिलने पर वस्तु के स्वामी से सम्बन्ध नहीं रखते। इसी प्रकार ज्ञान की गोदड़ी की जो रक्षा करता है वह भवरहित अर्थात् कर्माधीन जन्मरहित हो जाता है। ज्ञान की गोदड़ी की रक्षा का एक आशय ज्ञान से प्राप्त होने वाली अपनी सामर्थ्य का लोकोपकार में उपयोग न करना भी है। पर्वतों की कन्दराओं में रहने वाले ज्ञानी योगी संसार से सम्पर्क न होने के कारण जगत् को प्रत्यक्ष रूप में उपकृत नहीं

करते, यह सर्वानुभूत है; किन्तु वे भी योग्य अधिकारी को किसी न किसी व्याज से उपदेश करते ही हैं तथा साधन-प्राप्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति कराकर ज्ञान की गोदड़ी की रक्षा करते हैं।

किन्तु जब गुरु की आज्ञा से अथवा स्वान्तःप्रेरणा से योगी सांसारिक जीवों के बीच में रहता है, तो वह अपनी सामर्थ्य का उपयोग लोकोपकार हेतु करता है। गुरु की सामर्थ्य के विषय में संशय नहीं करना चाहिए। वह तो अनेक जन्मों के कर्मों के नाश करने की सामर्थ्य रखते हैं।

अनेकजन्मसम्प्राप्तसर्वकर्मविदाहिने ।
स्वात्मज्ञानप्रभावेण तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

(गुरुगीता 73)

यह गुरुगीता का वचन इसमें प्रमाण है। इसी सामर्थ्य से गुरु अपने सन्मार्गगामी शिष्य की रक्षा, आवश्यकता होने पर मृत्यु के भय से भी करता है। **'कालमृत्युभयाद्वापि गुरू रक्षति पार्वति'** (गुरुगीता 105)। हे पार्वति! सर्वसंहारक मृत्यु के भय से भी गुरु रक्षा करता है, इस तथ्य को यह गुरुगीता-वचन हमें अवगत कराता है। शिष्यों की रक्षा के लिए गुरु को नाना प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, निग्रह एवं अनुग्रहरूप पाँच कार्यों के लिए उसे (गुरुरूप ज्ञानी को) जो नाना प्रकार के शरीर धारण करने होते हैं, उनकी तुलना परमेश्वर के शुक्ल, पीत, रक्त तथा कृष्ण वर्ण वाले युगानुरूप प्रसिद्ध अवतार विग्रहों से की जा सकती है (जिनकी चर्चा आगे की गयी है)। अतः आचार्यचरण ने इन्हीं रंगों को गोदड़ी का रंग बताया। 'गोदड़ी' शब्द शरीर को कह सकता है, क्योंकि इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में रहने पर भी उसी प्रकार दिखाई नहीं पड़तीं, जैसे दरी (गुफा) में स्थित वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। अतः यह स्थूल शरीर इन्द्रियों को आच्छादित करने के कारण दरी की तरह है। फलतः इन्द्रियों के लिए दरी के समान होने के कारण इसे गोदरी (गोदड़ी) कहा जा सकता है। इस शरीर के नाना रंगों का वर्णन आगे किया गया है। ऐसा ज्ञानी सर्वदा निर्भव या भव (संसार) सम्बन्ध-रहित या उत्पत्तिरहित नहीं है, वह तो नाना रूपों में उत्पन्न होता रहता है अथवा यह कह सकते हैं कि वह इन रूपों को धारण करता हुआ भी कर्म का बन्धन न होने से निर्भव है। ज्ञानी अपनी इच्छा

से इन शरीरों को धारण करता है। अर्थात् सगुण विग्रहरूप गोदड़ी को लेकर पहनता है। अतः 'जो ले पहिरै' यह कहा गया।

इस ज्ञानरूपी गोदड़ी का स्याह, सफेद, जरद, सुरखाई यह चार विशेषण दिया गया है। स्याह शब्द श्याम या कृष्ण वर्ण का द्योतक है, जरद पीला को कहता है तथा सुरखाई शब्द लाल रंग का बोधक है। सफेद तो श्वेत का अपभ्रंश है ही। यदि जरद को जराद का अपभ्रंश माना जाय तो उसका अर्थ जरा या वृद्धावस्था का नाश करने वाला होगा। ज्ञान होने के पश्चात् जरा, मृत्यु एवं जन्म आदि का अभाव होता है। अतः इस कन्था को जरा का नाश करने वाली कहा गया है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रंगवाचक स्याह, सफेद और सुरखाई शब्दों के साथ आया हुआ जरद शब्द भी रंगवाचक ही होगा। अतः उसे जराद का अपभ्रंश समझकर 'जरा का अन्त करने वाला' यह अर्थ करना उचित नहीं है। तथापि यह स्पष्ट है कि भौतिक गोदड़ी के प्रसंग में जरद का अर्थ पीला भले हो जाय, ज्ञान-कन्था के लिए तो यही अर्थ उपयुक्त है; क्योंकि ज्ञान से जरा का नाश होता है। यद्यपि पुनः यह शंका होती है कि ज्ञान-कन्था में कोई रंग होता ही नहीं। रंग तो भौतिक पदार्थों के सहभावी हैं, ज्ञान-कन्था तो निर्लेप या सर्वविध सम्बन्धरहित एवं अव्यवहार्य है, तो उसके रंगों का वर्णन न्यायोचित कैसे हो सकता है? यह शंका रंगों के आधार पर प्रतिपादित विभिन्न भगवद्विग्रहों को लेकर समाहित हो सकती है।

बालक श्रीकृष्ण के नामकरण के अवसर पर श्रीमद्भागवत में गर्गाचार्य ने नन्द जी को बताया है कि शुक्ल, रक्त एवं पीत वर्ण के युगानुरूप शरीरों का धारण, तुम्हारा यह बालक करता आया है। इस समय इसने कृष्ण वर्ण का शरीर धारण किया है, अतः यह 'कृष्ण' नाम से व्यवहृत होगा। तथ्य-प्रतिपादक श्लोक निम्न है—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥

(10/8/13)

प्रकृत श्लोक में प्रयुक्त अनुयुग शब्द युगानुरूप वर्णों को सूचित करता है। हम जानते हैं कि द्वापर युग के अन्त में कृष्णावतार हुआ था तथा जिस दिन[104]

प्रभु श्रीकृष्ण ने अपने इस लीलाविग्रह का तिरोधान किया, उसी दिन से कलियुग का प्रारम्भ हो गया। अतः द्वापर के अन्त में कृष्णावतार हुआ तो उसके पूर्व युग में पीत वर्ण के अवतार का वर्णन मिलना चाहिए; किन्तु स्फुट शब्दों में इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता, फिर भी **'सुवर्णवर्णो हेमाङ्गः'** (विष्णुसहस्रनाम-92) इस वचन के द्वारा महाभारत में भगवान् के स्वर्णसदृश पीत रूप वाले स्वरूप का वर्णन मिलता है। अतः अनन्त अवतारों में कहीं पीत रूप वाला अवतार भी हुआ होगा, यह अनुमान होता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि शुक्ल, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण के शरीर प्रभु धारण करते हैं। भगवान्, सत् चित् आनन्द स्वरूप हैं, अतएव उन्हें चिद्घनवपु के रूप में कार्ष्णि कलापाचार्य जी ने भी स्मृत किया है। किन्तु यह चिदानन्दमय विग्रह लोकदृष्टिगोचर नहीं होता, यह तो ज्ञानगम्य है। अतएव गोस्वामी जी ने **'ज्ञानगम्य जय रघुराई'** (रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 210 के बाद, अहिल्या स्तुति) कहते हुए श्रीराम को ज्ञानगम्य कहा है। किन्तु भगवद्विग्रह की ज्ञानगम्यता की यह बात विचारणीय हो जाती है। क्योंकि राम का विग्रह चक्षुगोचर हो रहा है, वह स्पर्शादि का विषय भी है, तो उसे ज्ञानगम्य कहने का आशय है, विग्रह की सर्वथा प्रतिभासमानशरीरता का न होना। साथ ही साथ एक रूप में व्यवस्थिति का अभाव भी एक कारण है, जिससे उसे चक्षुगोचर नहीं कहा गया। भगवद्विग्रह भाव के अनुसार चक्षुगोचर होता है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत में कंस-वध के प्रसंग में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥

(10/43/16)

इस श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामी ने कहा है कि शृंगार आदि सर्व-रसमूर्ति भगवान् ने लोगों के अभिप्राय के अनुसार नाना रूपों को धारण किया; किन्तु किसी एक स्वरूप में सर्वचक्षुगोचर नहीं हो रहे थे, यह तथ्य है। भगवान् के दशविध स्वरूप का दर्शन अपनी भावना के अनुसार अज्ञानी दर्शकों को

हुआ। कंस, चाणूर आदि मल्लों को वज्र के समान कठोर अंगों वाले मल्ल के रूप में, सामान्य लोगों को श्रेष्ठ नर के रूप में, स्त्रियों को शरीरधारी कामदेव के रूप में, गोपों को अपने स्वजन के रूप में, दुष्ट राजाओं को शासक (नियन्ता) के रूप में, अपने माता-पिता को शिशु के रूप में, कंस को मृत्यु के रूप में, भगवान् के स्वरूप एवं सामर्थ्य से अनभिज्ञ लोगों को विराट् अर्थात् न्यूनतायुक्त अथवा असम्पूर्ण रूप में। विराट् शब्द का यह अर्थ **'विकलः अपर्याप्तो राजते इति तथा'** इस श्रीधरीसम्मत व्युत्पत्ति के आधार पर किया गया है। योगियों को परमतत्त्व ब्रह्म के रूप में तथा यदुवंशियों को श्रेष्ठ देवता के रूप में बलराम जी के साथ रंगभूमि में विचरण करते हुए माधव श्रीकृष्ण दिखाई पड़ते थे। एक ही समय में एक ही तत्त्व की नाना रूपों में प्रतीति होने से यह सिद्ध होता है कि कोई विग्रह व्यवस्थित नहीं है; क्योंकि सभी विग्रह मायिक हैं। अतएव 'माधव' शब्द का प्रयोग किया गया है। माया के पति (मायाया धवः पतिः) श्रीकृष्ण नानारूपों में माया के कारण दिखाई पड़ रहे थे, यह तथ्य इस शब्द से ध्वनित हो रहा है। यदि यह कहा जाय कि रंगभूमिगत कृष्ण का दशविध स्वरूप भले ही दृष्टिगोचर हुआ हो; किन्तु सर्वत्र द्विभुज श्रीकृष्ण ही दीखते थे। अतः यह द्विभुज विग्रह ही है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; यतः अर्जुन को सर्वदा चतुर्भुज रूप का ही दर्शन होता था, शेष पांडवों को द्विभुज रूप का। भीम आदि को कभी-कभी चतुर्भुज रूप का दर्शन होता था (द्रष्टव्य, गीता-11/46)।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

(11/46)

अर्जुन कहते हैं—हे प्रभो! किरीटधारी, चक्रहस्त, गदाधारी पूर्व के चतुर्भुज रूप में आपको देखना चाहता हूँ। अतः हे सहस्त्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! उसी चतुर्भुज स्वरूप में आप अवस्थित होने की कृपा करें। मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है कि इस वर्णन के आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अर्जुन को चतुर्भुज स्वरूप ही सर्वदा दिखाई देता था। श्रीमद्भागवत के परिशीलन से स्पष्ट होता है कि शेष पांडवों को कभी-कभी चतुर्भज रूप

दीखता था। अतः स्पष्ट है कि यह सभी रूप मायिक हैं। वस्तुतः कृष्ण न द्विभुज हैं, न चतुर्भुज, न बहुभुज हैं, वे तो चिद्घनवपु हैं। किन्तु भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके अपनी मायाशक्ति से नाना रूपों में दिखाई पड़ते हैं[105]। उनमें नाम-रूप नहीं हैं, फिर भी स्वरूपों का आविर्भाव शुक्ल, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्णों में होता है। अतएव ऊपर कहा गया है कि चिन्मय वपु ही कभी शुक्ल रूप में, कभी रक्त रूप में, कभी पीत रूप में और कभी कृष्ण रूप में दृष्टिगोचर होता है। भगवान् के चिन्मय वपु का इन रंगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। रंग तो केवल प्रतीत होते हैं। यही अविद्या की अन्यथाकारिता है, जो अतत्स्थ (उसमें न रहने वाले) गुणों को भी तत्रस्थित (वहाँ स्थित) रूप में प्रद्योतित करती है।

यह विचार सच्चिदानन्दस्वरूप भगवद्विग्रह से असम्बद्ध (उसमें न होने वाले) रंगों की भगवदिच्छा से सम्बद्धता को स्पष्ट करता है। प्रकृत प्रसंग में भगवद्विग्रह सम्बन्धी वर्णन का तात्पर्य यही है कि साधक जब योगमार्ग का अनुष्ठान करता हुआ गुर्वनुग्रह से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तो वह ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है तथा विभिन्न स्वरूपों को धारण करने की सामर्थ्य उसमें आ जाती है। इसीलिए आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि ब्रह्मज्ञानसम्पन्न होकर शिष्य जब ज्ञान-गोदड़ी को प्राप्त कर लेता है, अपने को ब्रह्मरूप समझ लेता है। तब वह भगवान् की तरह ही शुक्ल, रक्त, पीत एवं कृष्ण शरीरों को स्वेच्छा से धारण करने में समर्थ हो जाता है। जो इस ज्ञान की गोदड़ी को लेकर पहन लेता है, अर्थात् अद्वैतात्मसाक्षात्कार को दृढ़ कर लेता है, वही गुरुभाई है। 'गुरुभाई' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि असीम सामर्थ्यसम्पन्न ज्ञानप्रदाता गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर जो आत्मसाक्षात्कार के द्वारा पूर्व शिष्यों की समता प्राप्त कर लेता है, उसी का गुरुभाई नाम सार्थक है; क्योंकि उसने गुरु के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाला तादात्म्य प्राप्त कर भ्रातृत्व प्राप्त कर लिया है। 'गुरुभाई' शब्द का प्रयोग यहाँ विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि गुरु शब्द उद्धार करने वाले का बोधक है। उद्धार का अर्थ है ज्ञान-प्राप्ति कराकर शिष्य को जन्म-मरण-परम्परा से मुक्त करना। अतः यह कहा जा सकता है कि शिष्य गुरु की तरह सामर्थ्यवान् होकर अन्य शिष्यों की तरह गुरु का सहायक (गुरु की तरह ही शिष्यों का उद्धार करने वाला) बन गया, गुरुभाई बन गया। लोक में भाई सहायक होता है, अतः

ऐसा कहना साभिप्राय है। जैसे एक पिता से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न गुण-धर्मों वाले पुत्र भाई कहलाते हैं, उसी प्रकार एक निर्गुण निराकार ब्रह्म की सत्ता का साक्षात्कार करने वाले तथा ब्रह्मज्ञान के अनन्तर तद्रूपता को प्राप्त करने वाले ज्ञानी सन्त गुरुभाई कहे जा रहे हैं।

जैसे भगवान् का चिद्घनवपु चर्मचक्षुगोचर नहीं होता; किन्तु कृपा होने पर शुक्ल, रक्त, पीत, कृष्ण आदि किसी न किसी रूप में वे भक्तानुग्रहार्थ दृश्य होते हैं तथा भक्तों का कल्याण करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानसम्पन्न साधक नाना रूपों में आकर जीवों का कल्याण करते हैं। लौकिक कन्था के साथ श्याम, श्वेत, पीत तथा रक्त रंगों का सम्बन्ध तो स्पष्ट है। महात्मवृन्द किसी भी रंग की कन्था लेकर उसे धारण कर सकें, किसी भी युग में शरीर धारण करने में समर्थ हो सकें, तभी वे गुरु से ज्ञानदाय प्राप्त कर गुरुभाई कहलाने के योग्य हो सकते हैं। गुरु से प्राप्त कन्था के प्रति निष्ठा एवं प्रतिबद्धता गुरुनिष्ठा को सूचित करती है। इसी निष्ठा से शिष्य, ज्ञान का दाय, ब्रह्म साक्षात्कार रूप अपना भाग जो गुरु से प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करता है, ज्ञानी बनता है।

चारों प्रकार की गोदड़ी को स्वेच्छया धारणीय बताकर आचार्यचरण प्रकृत मात्रा में कह रहे हैं कि उनका किसी भी रंग के वस्त्र के प्रति आग्रह नहीं है। तथापि यह अवश्य अवधेय है कि दीक्षाग्रहण के बाद धारणीय वस्त्र का निर्देश आचार्यपरम्परा या गुरु के द्वारा ही होता है, उसमें शिष्य की स्वतन्त्रता नहीं रहती। यद्यपि ऐसा स्वीकार करने पर वस्त्र को लेकर पहनने की बात संगत नहीं हो पाती। क्योंकि शिष्य यदि अपनी इच्छा से वस्त्र लेकर पहनने में स्वतन्त्र हो तब इस उक्ति की चरितार्थता है। यह भी ध्यातव्य है कि श्याम-पीत-कृष्ण किसी भी वर्ण का वस्त्र जो धारण करते हैं, वह कुछ काल तक ही उसको धारण करते हैं अथवा आश्रम आदि न बदलने पर सर्वदा उसी को धारण करते हैं; किन्तु स्वेच्छानुसार वस्त्रों को बदलते रहें, ऐसी स्वतन्त्रता नहीं है। ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि के वेष आश्रमानुसार नियत हैं। निर्वाण सन्तों के वेष भी नियत हैं। इस नियत वेष की अपनी मर्यादा है, जिसका पालन यतिगण करते हैं। प्रकृत मात्रा की स्थिति कुछ दूसरी है। आचार्यचरण यह कहना चाहते हैं कि श्याम, श्वेत, पीत अथवा रक्त वर्ण की कोई कन्था लेकर जो पहनने में समर्थ है, वही गुरुभाई

है। अतः एक ही गुरुभाई में चारों कन्था लेकर पहनने की सामर्थ्य के आने पर उसके गुरुभाई होने की सार्थकता बताई जा रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से योगज सामर्थ्य आने पर ही विभिन्न शरीर धारण करने की सामर्थ्य तथा गुरु के संदेशों के प्रचारण की सामर्थ्य आती है, अतः अग्रिम मात्रा में योगाग्नि के उद्दीपन का संकेत है, जिससे हम यह सामर्थ्य प्राप्त कर सकें।

हरिभक्ति मृगानी के बाद आचार्यचरण को **ज्ञान की गोदड़ी** की याद आती है, जिसके रंगो की चर्चा चल रही है और वह गोदड़ी के सूत और धागों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। ज्ञान की प्राप्ति, भक्ति के बिना नहीं होती। अतः ज्ञान और भक्ति का नित्य सम्बन्ध बलात् ज्ञान की गोदड़ी की स्मृति कराता है। भक्ति से ज्ञान होता है, यह कथन एक साध्य-साधन-सम्बन्ध को सूचित करता है, जिसमें साधन-भक्ति, ज्ञान की सामग्री के रूप में व्यवहृत होती है। साध्य-भक्ति ज्ञान के अनन्तर होती है। ज्ञानी भीष्म अपने को एकान्त-भक्त कहते हैं—

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।
यन्मेऽसूँस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः॥

(श्रीमद्भागवत 1/9/22)

युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए यह वाक्य भीष्म ने कहा है। वे कहते हैं—हे राजन्! एकान्त-भक्तों पर भगवान् की यह अनुकम्पा देखो, मेरे प्राण छोड़ने के समय कृष्ण चक्षुगोचर हो गये। भीष्म ज्ञानी थे, यह तथ्य भागवत की भीष्म-स्तुति से स्पष्ट होता है—

तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥

(श्रीमद्भागवत 1/9/42)

भीष्म का यह कथन उनकी अभेद दृष्टि को व्यक्त करता है। वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य प्राणियों की दृष्टि में अलग-अलग प्रतीत होता है, उसी प्रकार अपने द्वारा निर्मित शरीरधारियों के हृदय में स्थित एक अजन्मा परमात्मा को जो अधिष्ठान (अधिकरण) के भेद से नाना प्रतीत हो रहा है, मैंने भेद-विभ्रम के समाप्त हो जाने से सम्यग्रूप से (यथार्थ रूप में) प्राप्त कर लिया है। प्रतीयमान भेद के औपाधिक होने से वस्तुतः परमात्मा का मुझसे भेद नहीं है। वह आकाश

की तरह एक होने पर भी घट-पट आदि प्रतीयमान उपाधियों के भेद से भिन्न प्रतीत होते हैं। केवल भीष्म की ही नहीं, ध्रुव-प्रह्लाद आदि सभी भक्तों की स्तुतियाँ इसी प्रकार की हैं। किन्तु लोक में भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग के भेद को लेकर जो कटुता फैल रही है उसको दूर करने तथा भक्तिमार्ग की ऋजुता एवं ज्ञानमार्ग की दुर्गमता को स्पष्ट करने हेतु आचार्यचरण ने एक समीक्षात्मक दृष्टि प्रस्तुत की है।

इस प्रकार ज्ञान की गोदड़ी की प्राप्ति के उपाय, उसका फल संसार निवृत्ति आदि का वर्णन किया गया। ज्ञान की प्राप्ति में क्षमा, शील, वैराग्य, युक्ति, धर्म, सत्य, मर्यादा, ध्यान, जप, सन्तोष, विवेक, हरिभक्ति आदि का विशेष महत्त्व भी बतलाया गया। अब इस सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है कि केवल योगमार्ग से अमनीभाव की स्थिति, ऐसी स्थिति जिसमें मन नहीं के बराबर होता है, कैसे प्राप्त की जा सकती है? इसके लिए योगचर्या की आवश्यकता है। योगचर्या का आरम्भ धूनी से होता है। अतः आचार्यचरण ने आत्मस्वरूप अग्नि की धूनी की चर्चा की है।

त्रैगुण चकमक अग्नि मथ पाई, दुःख सुख धूनी देहि जलाई।

यह मात्रा अष्टांगयोगजनित आध्यात्मिक वीर्यसम्पन्न महात्माओं की अलौकिक धूनी के बारे में स्पष्ट रूप से संकेत दे रही है। हम जानते हैं कि महात्माओं की धूनी निरन्तर जलती रहती है। ऐसे आवरकों से धूनी के स्थल को आच्छादित कर दिया जाता है, जिससे वर्षा तथा वायु के प्रभाव से अग्नि बुझ न सके। एक बार प्रकट की गयी अग्नि शताब्दियों तक जलती रहती है। किन्तु पहली बार धूनी जलाई जाती है तो अग्निमन्थन के द्वारा दारु (लकड़ी) में अन्तर्हित अग्नि को प्रकट किया जाता है तथा उसी की ज्योति के आलोक में साधक अपनी साधना की दीर्घ यात्रा को पूरी करता है। शमी की लकड़ी इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त मानी जाती है, पीपल की भी अरणि बनती है। शमी, नित्य शमयुक्त साधक का उपलक्षक है। इससे यह सूचित होता है कि 'शम' या अत्यन्त उपशान्ति के होने पर ज्ञान की 'अग्नि' अवश्य प्रकट होती है। अग्निमन्थन की प्रक्रिया में दो अरणि होती है—आधारभूत अरणि, अधरारणि तथा ऊपर की लकड़ी जिससे रज्जु के द्वारा मन्थन क्रिया होती है, उत्तरारणि

कहलाती है। वेग से मन्थन से अग्नि की छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, जिनकी प्रयत्नपूर्वक शुष्क तृण अथवा तूल (रूई) का सहारा देकर रक्षा करना आवश्यक होता है। प्रारम्भ में उनके बुझने का डर रहता है; किन्तु वही विस्फुलिंग शुष्क काष्ठ का सहारा पाकर ऐसी ज्वालामालिनी का स्वरूप ग्रहण करते हैं, जिसके कुक्षि-कुहर में दृढ़ एवं स्थूल वृक्षों की अविकल शाखाएँ भी बहुत समय तक अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर पातीं। धूनी की यह प्रचण्ड ज्वाला समीपवर्ती जीवों के शैत्य का अपनोदन करती हुई दूरस्थित जीवों के अन्तःकरण में सान्निध्य पाने की आशा का संचार भी करती है। किन्तु आध्यात्मिक अग्निमन्थन की प्रक्रिया कुछ भिन्न है। उसमें भी उत्तरारणि और अधरारणि का प्रयोग तो होता है, परन्तु मन्थन की प्रक्रिया शरीर के भीतर ही चलती है, बाहर से तो शरीर निष्पन्द एवं निश्चेष्ट दिखाई देता है। उपनिषद् में अग्निमन्थन की इस प्रक्रिया में देह को अरणि (अधरारणि) तथा 'प्रणव' को उत्तरारणि स्वीकार किया गया है (पूर्व में पृ. 237 पर उद्धृत) **'स्वदेहमरणिं कृत्वा'** इत्यादि मन्त्र इसमें प्रमाण है।

अपनी देह को अरणि तथा प्रणव को उत्तरारणि बनाकर निरन्तर प्रणव का ध्यान करते हुए इसी प्रणवध्यानरूप निर्मन्थन का अभ्यास बढ़ाकर उस प्रसिद्ध देव (स्वप्रकाश परमात्मा) का साक्षात्कार किया जा सकता है। इस देहारणि में प्रणवारणि से निरन्तर मन्थन का अभ्यास ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण इस मात्रा में है। यहाँ त्रैगुण शब्द से अकार, उकार और मकार रूप तीन अवयवों वाले प्रणव का ग्रहण किया गया है। सत्त्व, रज एवं तम में एक-एक की प्रधानता वाले त्रिदेव के अविभक्त रूपात्मक शुद्ध ब्रह्म का वाचक यह प्रणव है। **'प्रणूयते इति प्रणवः'** इस व्युत्पत्ति में प्र उपसर्गपूर्वक णू धातु से अप् प्रत्यय करके प्रणव शब्द बनेगा, जो प्रकृष्ट स्तुति-विषय का वाचक होगा। भगवत्प्राप्ति का उत्तम साधन होने से ऊँकाररूप प्रणव की स्तुति की जाती है। भगवदभिधान (भगवान् का वाचक) होने से भी यह स्तुति का विषय है। त्रिगुणात्मक मायाकार्य होने से भी इसे त्रिगुणात्मक कहा जा सकता है। इसी त्रिगुणात्मक ऊँकार से चकमक रूप अन्तःकरण का मन्थन करके अग्नि (परमात्मा) की प्राप्ति कही जा रही है। मन्थन अधरारणिरूपी अन्तःकरण का

होगा, जिससे धीरे-धीरे मनोदोषों के दूर होने से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। यही मन्थन से प्रकट होने वाली अग्नि है। अतएव गोरखबानी में **'ब्रह्म अगनि पहिरबा चीरं'** ब्रह्म अग्नि का वस्त्र (चीर) पहनूँगा। सबदी 68, गो.बानी, पृ. 44 में ब्रह्म को अग्नि कहा गया है। गोरखबानी, पृ. 227 पर ग्यान तिलक का 6वाँ पद विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

चकमक ठरकैं अगिनि झरै यूं, दध मथि घृत करि लीया।
आपा मांही आपा प्रगट्या, तब गुरु सन्देसा दीया॥

जैसे चकमक पत्थर पर रगड़ करने से अग्नि झरती है, अग्नि निकलती है। जैसे दही को मथने पर घी निकलता है, उसी प्रकार अपने आप में आत्मा प्रकट हो जाय। हम अपने को शरीर नहीं आत्मा ब्रह्म समझ लें, तो समझना चाहिए कि गुरु ने शिक्षा दिया है। इस अग्नि की ज्वाला में सुख एवं दुःख दोनों जल जाते हैं। क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार अर्थात् जीव-ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार होने पर देहात्मबुद्धि मिट जाती है और उसके बाद कार्यसहित अविद्या के बाधित होने से जागतिक पदार्थों में आभास बुद्धि की दृढ़ता होने पर उनकी सुखसाधनता तथा दुःखसाधनता दोनों का ही अभाव हो जाता है। इस प्रकार सुख एवं दुःख दोनों ही मिटते हैं। अतएव श्रुति कहती है—**'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'** (छा.उप. 8/12/1) देहाध्यास के मिट जाने पर, शरीर में आत्मबुद्धि के अभाव में प्रिय एवं अप्रिय का संस्पर्श नहीं होता। हम जानते हैं कि प्रियत्व बुद्धि, सुख का कारण है तथा अप्रियत्व बुद्धि, दुःख का कारण है, अतः प्रिय एवं अप्रिय के संस्पर्श के अभाव में सुख-दुःख का अभाव होना स्वाभाविक है। सुख एवं दुःख का स्पर्श नहीं होता, यह कहने का आशय है कि सुख–दुःख उस पर प्रभाव नहीं डालते; क्योंकि उसका मोह नष्ट हो गया है। वह निश्चित रूप से जान गया है कि आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ न होने से न तो किसी का संयोग था, न अब वियोग है।

प्रकृत प्रसंग में उपरिवर्णित उपनिषद्वाक्य के अनुसार प्रणव को लोहा तथा अन्तःकरण को चकमक पत्थर बताया गया। प्रणव का जप करना ही शरीर का घर्षण है। इसी घर्षणरूप मन्थन से परमात्मसाक्षात्काररूप अग्नि प्रकट होती है। इस तथ्य को निम्न उपनिषद्वाक्य भी पुष्ट करता है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन भेत्तव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मु.उप. 2/2/4)

इस उपनिषद्वाक्य में प्रणव को धनुष, आत्मा (मन) को शर (बाण) तथा ब्रह्म को शर से विद्ध होने वाला लक्ष्य कहा गया है। अप्रमादपूर्वक शरसंधान के द्वारा लक्ष्य का भेदन किया जा सकता है। जैसे बाण लक्ष्य का भेदन कर उसमें प्रविष्ट होकर तद्रूप हो जाता है, बाहर न निकलने पर उसी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मन को भी तद्रूप कर देने का उपदेश दिया गया है। जब तक मन में वृत्तियाँ होती रहती हैं, मन अनात्माकार में रहता है। प्राणायाम आदि के द्वारा वृत्तिशून्य होने पर वह ब्रह्माकार हो जाता है। इसीलिए शर की तरह 'तन्मय' होने की अपेक्षा साधक से की गयी है। इस पक्ष में प्रणवरूपी धनुष पर मनरूपी शर का सन्धान, प्रणव का मानसिक जप है। किन्तु अग्नि-मन्थन की प्रक्रिया तो पूर्व उपनिषद्वाक्य में ही मिलती है। इस वाक्य में तो लक्ष्य का भेदन वर्णित है, अतः इस रूप में मात्रा का अर्थकरण सर्वथा प्रसंगानुरूप नहीं कहा जा सकता। तथापि दोनों उपनिषद्वाक्यों से प्रतिपादित ब्रह्म एक ही है, अतः दोष नहीं है। केवल प्रतिपादक शब्द में भेद है तथापि शब्दानुपूर्वी तथा अर्थ दोनों का साम्य होने से पूर्ववाक्य ही प्रसंगानुरूप कहा जा सकता है; क्योंकि अग्निमन्थन का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन वही करता है।

'दुःख सुख धूनी देहि जलाई' इस मात्रा में दुःख का पहले उल्लेख किया गया है; क्योंकि दुःख की ही अधिकता है सुख तो अत्यल्प है। हम जानते हैं कि इच्छा की पूर्ति में सुख है तथा उसका विघात होने पर (इच्छापूर्ति न होने पर) दुःख होता है। प्रतिदिन बहुत अधिक इच्छाएँ होती हैं तथा उनमें से असंख्य इच्छायें पूर्ण न होने पर दुःख का कारण बनती हैं। अतः दुःख ही अधिक है सुख की मात्रा अत्यल्प है। जो सुख प्रतीत होता है वह भी अनन्तर दुःख से ग्रस्त होने के कारण दुःख ही है। अतएव '**दुःखमेव सर्वविवेकिनः**' (यो.सू. 2/15) यह कहते हुए ऋषियों ने जागतिक पदार्थों के सम्बन्ध से सर्वत्र विवेकशील को दुःख ही प्राप्त होता है, ऐसा कहा है। हम देखते हैं कि चकमक पत्थर पर लोहे की रगड़ से अग्नि के विस्फुलिंग (छोटे कण) उत्पन्न होते हैं।

जागतिक पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करने से उनसे सुख अथवा दुःख की उत्पत्ति का प्रसंग होता है। **'अनुकूलवेदनीयं सुखम्'** (तर्कसंग्रह) यह सुख का तथा **'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'** (तर्कसंग्रह) यह दुःख का लक्षण है। जिसे अनुकूल रूप में जाना जाय वह सुख है तथा जिसे प्रतिकूल रूप में जाना जाय वह दुःख है। स्पष्ट है कि जो हमारे अनुकूल है उसे हम चाहेंगे तथा जो प्रतिकूल या विरुद्ध है उसे नहीं चाहेंगे। इस प्रकार सुख के प्रति राग तथा दुःख के प्रति द्वेष का भाव आता है। ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् जब अज्ञानावरण नष्ट हो जाता है, तो सभी जागतिक पदार्थ आभासमात्र प्रतीत होते हैं और अब वे ज्ञानी के लिए अवास्तव होने के कारण सुख अथवा दुःख के उत्पादक नहीं होते। जैसे बच्चों के द्वारा क्रीडार्थ निर्मित मिट्टी के घर उनके हर्ष एवं विषाद के कारण तो होते हैं, किन्तु विवेकसम्पन्न पुरुषों के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं होता, यही स्थिति विवेक के जागरण के पश्चात् भी होती है। जिस प्रकार बच्चों के घरौंदे के बनने-बिगड़ने का असर बड़ों पर नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी भी जागतिक पदार्थों से सर्वथा अप्रभावित रहते हैं, यही तथ्य **'दुःख सुख धूनी देहि जलाई'** इस मात्रा के द्वारा प्रकट किया गया है। यदि यह कहा जाय कि सुख एवं दुःख के साक्षात्कारण, ऐसा कारण जो सुख-दुःख को अवश्य उत्पन्न करता है, जिसकी जगह कोई दूसरा कारण न लिया जा सके, जैसे घट के लिए मिट्टी, पुण्य एवं पाप हैं, अतः उनको जलाने की चर्चा प्रकृत मात्रा में की जानी चाहिए, जो **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'** (4/37) इस गीता-श्लोक में विचारित है, तो भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि ज्ञान के द्वारा पुण्य एवं पाप दोनों का संतरण होता है, हम उनके बन्धन से मुक्त होकर उनका भोग नहीं प्राप्त करते। इसे स्पष्ट करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ (4/36)

हे अर्जुन! तुम सभी पापियों से श्रेष्ठ पापकर्ता हो, तब भी ज्ञानरूपी नौका के द्वारा पापसमुद्र को आसानी से पार कर जाओगे। मुमुक्षु के लिए धर्म भी पाप शब्द से अभिहित किया गया है—**'धर्मोऽपीह मुमुक्षोः पापमुच्यते'** (भाष्य

4/36)। इस गीता-वचन में **'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'** इस अंश पर विचार करना आवश्यक है; क्योंकि ज्ञानरूपी नौका से सभी पुण्य-पाप-समूह के तरण को स्वीकार करने पर प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों को नष्ट हो जाना चाहिए। किन्तु आरब्ध कर्म का नाश नहीं होता। अतएव **'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः'** (4/1/15) इस ब्रह्मसूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि **'उभे उ हैवैष एते तरति'** (बृ.उप. 4/4/22) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में अविशेषेण सम्पूर्ण पुण्य-पाप का तरण श्रुत है, तथापि अप्रवृत्तफलक (जिनका फलभोग प्रारम्भ नहीं हुआ है) पुण्य-पाप, जिनका संचय जन्मान्तर में हुआ है अथवा इस जन्म में ज्ञानोत्पत्ति के पहले हुआ है, ज्ञानाधिगम के अनन्तर क्षीण हो जाते हैं। किन्तु आरब्ध कार्य कर्म, ऐसे पुण्य-पाप जिनका फलभोग प्रारम्भ हो गया है, नष्ट नहीं होते। वही कर्म तो ब्रह्मज्ञानायतन इस शरीर के आरम्भक हैं। अतः जब तक शरीर है इन कर्मों का भोग होता रहता है। ब्रह्मज्ञान से इन कर्मों का भी नाश स्वीकार करने पर शरीरावस्थापक अदृष्ट के अभाव में शरीर को नहीं रहना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव **'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'** (छा.उप. 6/14/2) इस श्रुति में शरीरपात को क्षेमप्राप्ति (कल्याणप्राप्ति) की अवधि के रूप में वर्णित किया गया है। इसका आशय यह है कि शरीरपात के पहले प्रारब्ध कर्मों का भोग प्राप्त होते रहने के कारण सर्वथा क्षेमप्राप्ति नहीं होती।

अग्निमंथन से प्राप्त अग्नि-विस्फुलिंग अल्प सामर्थ्य वाले होते हैं, जब वे 'धूनी' का स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं तो सर्वभक्षी हुताशन का फल देते हैं। धूनी की इस प्रचण्ड अग्नि में आने पर शुष्क अथवा आर्द्र किसी भी प्रकार का काष्ठ अपनी सत्ता नहीं बचा पाता। वह राख होकर अपने स्वाभाविक गुणों से हीन हो जाता है। किन्तु धूनी की सत्ता अनवरत निक्षिप्यमाण काष्ठसमूह से ही है। उनका योग न मिलने, धूनी में लकड़ी न दिये जाने पर तो धूनी बुझ जायेगी। वही स्थिति आत्मज्ञानरूपी अग्नि की धूनी की भी है। मानव शरीर ही वह काष्ठ है, जो आत्मज्ञान की धूनी को प्रदीप्त रखता है। शरीर को काष्ठ कहना अनुचित नहीं है; क्योंकि वह भी जलता है, जिससे देहाध्यास मिटने पर पुनः शरीर नहीं मिलता। यह अवश्य अवधेय है कि आजीवन प्रज्वलनशील आत्मज्ञानरूपी धूनी

में केवल साधक के ही सुख-दुःख नही जलते, सन्निधि में आने वाले मानव मात्र के सुख-दुःख जलते रहते हैं; क्योंकि साधक के पास जाने पर सबको शान्ति मिलती है।

'धूनी' शब्द की सिद्धि 'धूञ् कम्पने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करके हो सकती है। धू ति इस स्थिति में **'ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः'** वार्तिक से निष्ठावत् कार्य का अतिदेश होकर नकार होने से 'धूनिः' ह्रस्वेकारान्त शब्द बनेगा। यह धूनि शब्द कम्पनरूप अर्थ को कहेगा। यदि दीर्घ इकार वाले धूनी शब्द की सिद्धि अभीष्ट है, तो धूञ् धातु से **'नपुंसके भावे क्तः'** से भाव अर्थ में क्त प्रत्यय करके निष्ठा के 'त' को **'ल्वादिभ्यश्च'** (पा.सू. 8/2/44) से न करने के अनन्तर इन् प्रत्यय अथवा पुंयोग में ङीष् करेंगे, तो धूनी शब्द बनेगा। व्याकरणसम्मत इस व्युत्पत्ति को प्रदर्शित करने का आशय केवल धूनी से कम्पन के सम्बन्ध को प्रकट करना है। जैसे शैत्य से पीड़ित कम्पनशील व्यक्ति धूनी का सहारा लेकर कम्पन से मुक्ति पाता है। उसी प्रकार मृत्यु के भय से कम्पनशील अज्ञानी जीव इस ज्ञानरूपी धूनी का सहारा लेता है तथा जाड्यवियुक्त होकर परम मोद को प्राप्त करता है।

अग्निमन्थन के उपयोग में आने वाली 'अरणि' लकड़ी की होती है। किन्तु चकमक पत्थररूप अन्तःकरण को आचार्यचरण ने अधरारणि के रूप में वर्णित किया है। यद्यपि अमृत मन्थन हेतु प्रस्तरमय मन्दरपर्वत का ही मन्थन-दण्ड के रूप में अर्थात् उत्तरारणि के रूप में, उपयोग हुआ था। इस प्रकार एक अरणि में पत्थर का उपयोग वहाँ भी है; किन्तु इस प्रस्तरमय मन्दर से प्राप्त अमृत तो दीर्घ अरोग जीवन दे सकता है, वास्तविक अमरत्व की प्राप्ति तो आत्मज्ञानरूपी अमृत से ही हो सकती है। यह तथ्य प्रकृत अरणि से सूचित होता है।

हम जानते हैं कि दधि आदि के मन्थानदण्ड से चक्र का सम्बन्ध होता है। जिस पर घर्षण के द्वारा चाकू आदि में तीक्ष्णता आ जाती है, वह पत्थर भी चक्राकार ही होता है तथा भ्रमण के समय घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करता है। यही पत्थर चक्रवत् अकन (भ्रमण) करने के कारण चकमक कहलाता है। प्रकृत में प्राणायाम से निरन्तर गतिशील अन्तःकरणरूप चकमक पत्थर पर निरन्तर गतिशील उच्चार्यमाण 'प्रणव' का घर्षण होने से ही ज्ञानाग्नि उत्पन्न होगी,

अन्यथा नहीं और इसी अग्नि से प्रज्वलित धूनी में सुख-दुःख दोनों जलेंगे। यदि हम सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति की तुलना इस धूनी से करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि सम्प्रज्ञात-समाधि अग्नि का प्रज्वलन है, वह ज्ञानाग्नि के आरम्भ का स्वरूप है। इसके बाद धीरे-धीरे अग्नि प्रज्वलित होती है। असम्प्रज्ञात-समाधि निरोध-समाधि है। यह प्रदीप्त अग्नि है। यह कैसे प्राप्त होती है, इसका वर्णन योगसूत्र (1/1) के भाष्य में किया गया है। सम्प्रज्ञात-समाधि निम्न कार्य करती है—

1. एकाग्रचित्त में आत्मा (सद्भूत अर्थ) का प्रकाशन करती है।
2. अविद्या आदि क्लेशों को क्षीण करती है।
3. कर्मबन्धन को शिथिल करती है।
4. निरोध को अभिमुख करती है। यह निरोध असम्प्रज्ञात-समाधि है।

क्लेशों के क्षीण होने पर सुख-दुःख दोनों नष्टप्राय होंगे तथा असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति के अनन्तर क्लेशों के नष्ट हो जाने पर पुनः सुख-दुःख का उदय नहीं होगा। जैसे धूनी में जलने के बाद काष्ठ का स्वरूप नष्ट हो जाता है पुनः उसके अपने स्परूप में आने की सम्भावना नहीं रह जाती, उसी प्रकार अब सुख-दुःख भी समूल नष्ट हो जाने के कारण पुनः उत्थित नहीं हो पाते हैं। योगसूत्र (3/49,3/50) में इसका क्रमिक वर्णन है। **'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च'** (3/49) इस योगसूत्र में स्पष्ट किया गया है कि बुद्धिसत्त्व के रज एवं तम रूप गुणों के निर्धूत अर्थात् निवृत्त हो जाने के बाद परवशीकार संज्ञा प्राप्त होती है। इस स्थिति में बुद्धिसत्त्व (अन्तःकरण) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इस समय बुद्धिसत्त्व सभी भावों का अधिष्ठाता होता है। अतः गुण अपने स्वामी के प्रति अशेष दृश्यात्मत्वेन (अशेषदृश्यरूप में) उपस्थित होते हैं। सर्वज्ञातृत्व विवेकजन्य ज्ञान कहलाता है। यह विशोका नाम की सिद्धि है। इसके प्राप्त होने पर योगी क्लेशों का बन्धन क्षीण होने से वशी होकर विहार करता है। इस प्रकार क्लेशों के क्षीण होने पर योगी को इस प्रकार का ज्ञान होता है, बुद्धिसत्त्व का यह विवेक प्रत्ययरूप धर्म है। सत्त्व भी हेय ही है। बुद्धि से पुरुष भिन्न है तथा अपरिणामी है। इस प्रकार पुरुष की नित्यता तथा शेष अनुभूयमान पदार्थों की

अनित्यता को जानकर योगी जब विरक्ति प्राप्त करता है, तब क्लेश बीज मन के साथ प्रत्यस्त हो जाते हैं; क्योंकि गुण जले हुए शालि-बीज के समान होने के कारण प्ररोह-समर्थ नहीं होते। इस स्थिति में मन के साथ क्लेशरूप बीजों के अपने कारण प्रधान में लीन हो जाने पर पुरुष तापत्रय (आध्यात्मिकादि दुःखों) को प्राप्त नहीं करता। स्पष्ट है कि गुण जो पूर्व में क्लेश-कर्म-विपाक रूप से अभिव्यक्त थे, उनका चरितार्थता के कारण प्रतिप्रसव हो जाने पर पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग होता है, यही कैवल्य है। इस समय चिति शक्ति चेतन में रहने वाली शक्ति या चेतन का स्वभाव जो दूसरे में नहीं रहता जैसे अग्नि की जलाने की शक्ति। अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। इस प्रकार सुख-दुःख दोनों की प्राप्ति की सम्भावना सर्वथा समाप्त हो जाती है। यह तथ्य यो.सू. 3/50 में वर्णित है। यह उनका जलना है।

संयम कपाली शोभाधारी

आचार्यचरण ने **'शिव विभूता'** इस मात्रा में जाप जंगोटा से तथा स्फीत (प्रवृद्ध) उड़ान भर कर (बाधारहित निरन्तर) प्राणायाम कर (सिफत उड़ानी) भक्तों को प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया तथा हरिभक्ति मृगानी से सिद्धियों से रक्षा का भी वर्णन किया। इसके अनन्तर **'त्रैगुण चकमक अग्निमथ पाई'** इस मात्रा में प्राणायाम आदि योगपथों के द्वारा अग्निस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन कर रहे हैं; क्योंकि परमात्मा की प्राप्ति सिद्धियों को न्यक्कृत (नीचे करने, तिरस्कृत करने) करने पर ही होती है। योग की सिद्धियाँ भी भगवद्भक्ति के अभाव में अनुग्रह के बिना नहीं मिलती। यह आचार्यचरण का आशय है। क्योंकि उन्होंने **'चरणकमल में सुरति हमारी'** यह कहकर इसका ध्वनन किया है। अस्तु अग्निमन्थन की जो प्रक्रिया ऊपर वर्णित है, उससे स्पष्ट है कि अविराम गति से चलने वाली मन्थन क्रिया से ही अग्नि प्रकट होती है। प्रकट होने के बाद अग्नि का स्थापन कपाल में होता है, वहीं रूई तथा शुष्क लघु काष्ठ आदि से उसका सम्वर्धन होता है। इस प्रकार अग्नि का कपाल से सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि में अग्निस्वरूप परमात्मा का कपाल से सम्बन्ध भी स्पष्ट करना होगा। हम जानते हैं कि अग्नि प्रकट होती है, तो वह मन्थन के पहले सूक्ष्म रूप से अधरारणि में रहती है। फिर प्रकट होने पर

कपाल में रखकर उसका सम्बर्धन (बढ़ाना) किया जाता है। अग्निस्वरूप परमात्मा को शिरोभाग में स्थित सहस्रार चक्र में हम प्राप्त करते हैं, अतः कपाल (शिर) का अग्नि से आधाराधेय भाव सम्बन्ध भी बन जाता है। यह अवधेय है कि जैसे मन्थन से अग्नि प्राप्त होती है, उसी प्रकार मन्थन से अमृत भी प्राप्त होता है। निरन्तर प्राणयाम से सुषुम्ना का द्वार खुल जाता है, तो सहस्रार-चक्र से क्षरित होने वाले अमृत का पान योगी करते हैं।

'संयम कपाली' इस मात्रा में संयम को कपाल कहा जा रहा है। पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि कपाल से अग्नि और अमृत दोनों का सम्बन्ध है। अतः कपाल से दोनों प्राप्त होते हैं, यह कहा जा सकता है। पातञ्जलयोगदर्शन में अनेक सूत्रों में संयम से प्राप्त होने वाले फलों तथा सिद्धियों आदि का वर्णन है। संयम के स्वरूप का वर्णन तो 'त्रयमेकत्र संयमः' (यो.सू. 3/4) इस एक सूत्र में मिलता है। धारणा, ध्यान और समाधि यह तीनों एकविषयक होते हैं, तो तीनों को मिलित रूप (समूहरूप) में संयम कहा जाता है। **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** (यो.सू. 3/1) किसी एक स्थान (देश) में चित्त की वृत्ति को स्थिर करना अथवा किसी बाह्य विषयाकार में चित्त को स्थिर करना धारणा है, सूत्र में 'बन्ध' शब्द का अर्थ सम्बन्ध है। यह धारणा प्राणायाम (प्राणवायु के नियमन से) तथा प्रत्याहाररूप योगांग के द्वारा इन्द्रियों के वशीभूत[106] होने पर होती है। इस कथन से स्पष्ट है कि धारणा के पूर्व परिगणित पाँच योगांग यम, नियम आदि धारणा के लिए अपेक्षित हैं। बिना किसी आधार के धारणा नहीं होती, अतः पीताम्बरधारी भगवान् नारायण के अष्टभुज या चतुर्भुज रूप का ध्यान विष्णुपुराण में बतलाया गया है। प्रसन्न मुख वाले, कमल के समान नेत्र वाले, सुन्दर कपोल एवं चौड़े ललाट वाले प्रभु ध्येय हैं। उनके कानों में कुण्डल शोभायमान हैं। वे सुन्दर ग्रीवा तथा श्रीवत्स से अंकित विस्तीर्ण वक्षस्थल वाले हैं। उनके चरणकमल एवं कराम्बुज में स्वस्तिक का चिह्न है। किरीट, केयूर तथा कटक (कंकण) आदि विभूषण तथा धनुष, चक्र, गदा, शार्ङ्ग खड्ग, शंख तथा अक्षवलय आदि से भी युक्त हैं। ऐसे प्रभु का तब तक ध्यान करना चाहिए, जब तक मन वहाँ स्थिर न हो जाय। इस प्रकार ध्यान करते हुए तथा अपनी इच्छा से अन्य कोई काम करते समय यदि मन से भगवत्स्वरूप तिरोहित नहीं होता है,

तो धारणा को सिद्ध[107] समझना चाहिए। संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) को स्थूलविषयक तथा सूक्ष्मविषयक दो प्रकार का बतलाया गया है। अतएव 'तस्य भूमिषु विनियोगः' (यो.सू. 3/6) इस सूत्र में व्यास जी ने स्पष्ट किया है कि संयम का विनियोग एक भूमि को जीतने के बाद क्रमिक दूसरी भूमि में होता है। नीचे की भूमि को न जीतने वाले योगी प्रज्ञालोक की प्रान्तभूमि (श्रेष्ठ-भूमि) में संयम नहीं प्राप्त करते हैं तथा इसके अभाव में प्रज्ञालोक की भी प्राप्ति नहीं होती। किस भूमि के बाद किस भूमि में संयम करना चाहिए, इस विषय में योग ही उपाध्याय या गुरु होता है। अर्थात् योगाभ्यास से ही यह ज्ञान होता है कि किस भूमि के बाद कहाँ संयम करना चाहिए। अतएव वाचस्पति मिश्र ने कहा है—**'जितः पूर्वो योग उत्तरस्य योगस्य ज्ञानप्रवृत्त्यधिगमहेतुः'** (यो.सू. 3/6, भाष्यटीका) विजित पूर्व योग ही उत्तर योग के ज्ञान एवं प्रवृत्ति के अधिगम में हेतु है।

स्फुट प्रतिपत्ति के लिए वाचस्पति मिश्र ने यह स्पष्ट किया है कि स्थूलविषयक सवितर्क-समाधि, निर्वितर्क-समाधि, सविचार-समाधि और निर्विचार-समाधि क्रमिक रूप से चित्त के संक्रमण की भूमियाँ हैं। पुराणों में भी स्थूलविषय में समापत्ति सिद्धि के अनन्तर सूक्ष्मविषयक समाधि का वर्णन मिलता है। विष्णुपुराण में ही भगवान् नारायण के स्थूल रूप में धारणा के सिद्ध होने पर तत्तद्भूषण, आयुध आदि के अपनयन के द्वारा सूक्ष्मविषयक समाधि का वर्णन भी मिलता है।

ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः ।
चिन्तयेद्भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम् ॥
यदा च धारणा तस्मिन्नवस्थानवती ततः ।
किरीटकेयूरमुखैर्भूषणैः रहितं स्मरेत् ॥
तदेकावयवं देवं सोऽहं चेति पुनर्बुधः ।
कुर्यात्ततो ह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेत् ॥

(वि.पु. 6/7/86-88)

आयुधधारी भगवान् के स्वरूप में चित्त के स्थिर हो जाने के अनन्तर शंख-चक्र-गदा-शार्ङ्गादिरहित, अक्षमाला एवं सूत्र धारण करने वाले प्रभु के शान्त

स्वरूप का चिन्तन करें। जब इस स्वरूप में भी चित्त स्थिर हो जाय तो किरीट, केयूर आदि प्रमुख आभूषणों से रहित स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

इस स्वरूप में भी चित्त के स्थिर हो जाने पर 'सोऽहं' इस रूप में अहंग्रहोपासना करनी चाहिए। इसके अनन्तर 'अहम्' इस रूप में प्रणिधान (निश्चय) करें (द्रष्टव्य–तत्त्ववैशा., यो.सू. 3/6)। संयम के एक अंग धारणा के सिद्ध होने पर ध्यान होता है।

ध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हुए ध्यान का लक्षण 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (3/2) इस सूत्र में किया गया है। जिस स्वरूप में, जिस देश में चित्त की धारणा की गयी है, उस स्वरूप का ऐसा निरन्तर चिन्तन, जिसमें बीच में दूसरे विषय का स्फुरण न हो, ध्यान कहलाता है। यह ध्यान, धारणापर्यन्त परिगणित यम-नियम आदि छः योगांगों से निष्पन्न होता है। अतएव विष्णुपुराण में कहा गया है—

तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥

(वि.पु. 6/7/89)

अन्य स्पृहाशून्य केवल भगवद्रूप (तद्रूप) प्रत्यय का एकाग्र प्रवाह ध्यान कहा जाता है। इसकी निष्पत्ति यम-नियमादि छः अंगों से होती है (द्रष्टव्य–तत्त्ववैशा., यो.सू. 3/2)। ध्यान के अनन्तर समाधि का लक्षण करते हुए योगसूत्रकार ने कहा है—**'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'** (3/3) जब ध्यान में केवल ध्येय वस्तु (भगवत्स्वरूप आदि) का निर्भास (बोध) रह जाता है, ध्यान का निर्भास नहीं होता, तो यही स्थिति समाधि कही जाती है। अतएव विष्णुपुराण में कहा गया है—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥

(वि.पु. 6/7/90)

जिस वस्तु का ध्यान किया जा रहा है, उससे (ध्येय से) ध्यान का भेद, कल्पना आदि शब्दों से प्रकृत श्लोक में कहा गया है, उससे रहित (हीन) ध्यान से निष्पन्न होने वाले स्वरूपमात्र का ग्रहण समाधि कहलाती है। स्पष्ट है कि ध्यान

में कल्पना से ध्येय का आकार आता है, वह कल्पित होता है। किन्तु इसी ध्यान से जो स्वरूपस्फुरण होता है, वही कल्पनारहित, ध्याननिष्पाद्य स्वरूप, समाधि है। वह स्वरूप, समाधि है यह कहने से तत्कालीन चित्त की अवस्था समाधि की अवस्था है यह कहना अधिक उपयुक्त है।

योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ, संयम से ही साध्य (प्राप्य) हैं। अष्टांग योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार यह पाँच बहिरंग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तंरग साधन हैं। धारणा, ध्यान एवं समाधि में भी कार्यकारणभाव है, अर्थात् धारणा से ध्यान साध्य है तथा ध्यान से समाधि। संयम शब्द से गृहीत समाधि सम्प्रज्ञात-समाधि है। अतः धारणा-ध्यान-समाधि का इसी क्रम से निरूपण मिलता है। इस संयम को आचार्यचरण कपाल बता रहे हैं। आगे 'संयम कपाली शोभाधारी' इस मात्रा में प्रयुक्त कपाली शब्द में इनि प्रत्यय (कपाल+इन्) कपाल के नित्य संयोग को बतलाता है।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

(तदस्यास्त्यस्मिन्निितिमतुप् 5/2/94 पर सिद्धान्तकौमुदी में उद्धृत)

इस वार्तिक से नित्य योग या नित्य सम्बन्ध अर्थ में मतुप् आदि प्रत्यय होते हैं। कपाली शब्द की सिद्धि कपाल शब्द से नित्य योग में इनि प्रत्यय के द्वारा करने पर 'कपाल सर्वदा मेरे पास रहता है', यह अर्थ ध्वनित होगा। शोभाधारी इस अंश के कारण आचार्यचरण का आशय है कि संयम का सर्वदा अनुष्ठान होने पर भी वह केवल शोभा के लिए है। संयम करने वाले में कर्तापन का अभिमान नहीं है। वह योगी का स्वभाव बन गया है। आत्मकल्याणार्थ प्रयतमान भक्तिप्रधान योगीगण उससे प्राप्त सिद्धियों का उपयोग नहीं करते। कपाल यतियों को शोभा देता है, इसीलिए हमने भी मर्यादा के अनुसार संयमरूपी कपाल शोभार्थ धारण कर लिया है। हमारी सुरति तो प्रभु के चरणकमलों में है। प्रभु के चरणों में भक्ति के अतिरिक्त लौकिक वस्तुओं में राग अथवा यश की कामना मुझमें नहीं है, जिससे मैं अपने को सिद्ध रूप में प्रदर्शित करूँ। सुरति (अच्छी रति) से ही यह सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, यह प्रभु की कृपा की ही प्रसादभूत हैं, अतः इन्हें प्रभु-चरणों में निवेदित करता हूँ।

शोभा का इच्छा अर्थ भी होता है, मेदिनीकोश **'शोभा कान्तीच्छयोर्मता'** से शोभा शब्द कान्ति व इच्छा का बोधक है। यतः समाधि सुख को प्राप्त करने वाले वीतराग सन्त आप्तकाम होते हैं, अतः अनात्म पदार्थों की प्राप्ति आदि की इच्छा उन्हें नहीं होती है; किन्तु लोककल्याण की इच्छा उनमें भी होती है। यह लोकोपकार की इच्छा गुरु के अनुग्रह के बिना पूर्ण नहीं हो सकती, अतः शिष्य सर्वदा गुरु के नियन्त्रण में ही रहता है। अतः संयम-कपाली शिष्य को लोकोपकार की इच्छा होने पर गुरु के चरणकमलों में 'सुरति' करने का उपदेश दिया गया। उसे स्वीकार करने पर तो यह भी कहा जा सकता है कि मैंने संयमरूप कपाल को नित्य धारण किया है; किन्तु मैं शोभाधारी हूँ, इच्छाओं को धारित करता हूँ, उनकी पूर्ति के लिए विकल नहीं होता। अतः इच्छाओं को नियन्त्रित करने के कारण संयम से प्राप्त सिद्धियों का कोई उपयोग नहीं करता। हमारी इच्छा तो प्रभु के चरणकमलों के सर्वदा दर्शन की ही है। इस एक ही इच्छा को मैंने धारण किया है, सुरक्षित रखा है। किसके चरणकमल में सुरति है प्रभु के या गुरु के? यह आचार्यचरण नहीं कहते, तथापि वासना (माया) रहित निरावरण व्यक्ति को ज्ञानरूपी कन्था का परिधान प्राप्त होता है, यह पूर्व में कहा गया है तथा पूर्व में **'सुरति की सूई ले सद्गुरु सीवे'** इस मात्रा में सुरति से सद्गुरु का सम्बन्ध बताया गया हैं। यह सुरति वासनारहित या निर्व्याज प्रेम है, जो ज्ञान-गोदड़ी की निष्पत्ति में सहायक है। यह ज्ञान-गोदड़ी सद्गुरु से ही प्राप्त होती है, जिसे **'जो ले पहिरै सो गुरु भाई'** इस मात्रा में कहा गया है, तो यहाँ भी सद्गुरु के चरणों में सुरति है, यही कहना चाहिए। सुरति हमारी है, शिष्य की है। **'चरणकमल में सुरति हमारी'** इस मात्रा में हमारी शब्द का उच्चारण भी यही ध्वनित करता है; क्योंकि शिष्य की सुरति गुरु में ही होती है, तथापि गुरु एवं ईश्वर में भेद न होने के कारण आचार्यचरण ने किसी का उल्लेख नहीं किया। पूर्व में वर्णित नारद-युधिष्ठिर-सम्वाद रूप भागवत प्रसङ्ग से भी गुरुमूर्ति में स्थित ईश्वर का ही ग्रहण उचित है।

कपाल में संस्कृत पकाए गये पुरोडाश (हविष्यरूप क्षीर) से अग्नि में हवन होता है। अतएव **'संस्कृतं भक्षाः'** (4/2/16) सूत्र की व्याख्या में वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी में कहा गया है—**'अष्टसु कपालेषु**

संस्कृतोऽष्टाकपालः पुरोडाशः'—आठ कपालों में संस्कृत (बनाया गया) पुरोडाश अष्टाकपाल कहलाता है। स्पष्ट है कि कपाल में ही अग्नि का भक्षणीय पुरोडाश पकता है। अर्थात् भक्षणीय पदार्थ देकर कपाल, अग्नि का तेजो-वर्धन करता है। अतः जैसे लौकिक अग्नि के प्रज्ज्वलित होने के लिए कपाल की आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानरूपी अग्नि के प्रज्ज्वलित होने के लिए भी संयमरूपी कपाल की आवश्यकता है, अन्यथा संयम के अभाव में विक्षेप को प्राप्त हुआ जीव समाधि-सुख से वंचित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जागतिक जीवों का कल्याण भी आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष के संयम-कपाली होने पर ही है। अनितरसाधारण सामर्थ्यसम्पन्न ब्रह्मवित् महापुरुष के वाणी एवं मन का संयम न होने पर क्रोध की स्थिति में बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। अतः ज्ञानी की अविरत संयमपरायणता का द्योतन करने के लिए 'संयम कपाली' शब्द का प्रयोग किया गया है। संयम कपाल का धारण उनका स्वभाव हो गया है। यह भी कपाली शब्दघटक इनि प्रत्यय से सूचित होता है। कपाली शब्द भगवान् शंकर का वाचक है। अतएव महिम्नस्तोत्र में **'कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्'** (महिम्नस्तोत्र 8) यह कहते हुए कपाल को शिव का उपकरण बताया गया है।

संयम का समाधि-सुख की प्राप्ति में उपयोग सुप्रसिद्ध है। अतएव आचार्यचरण ने सन्तों को बताया कि संयमरूपी कपाल हमने धारण किया है, जिससे समाधि सुख की पुष्टि होती है। किन्तु हम लोकोपकार की इच्छा भी रखते हैं, केवल समाधि-सुख का आनन्द लेते हुए हमारा कालयापन नहीं होगा।

लोकोपकार की तीव्र इच्छा को कपाली शब्द द्योतित कर रहा है, यह भी ध्वनित हो रहा है; क्योंकि भगवान् शंकर ही लोककल्याणार्थ विषपानादि अशक्य कार्यों को करते हैं। कपाली उनका प्रसिद्ध नाम है। श्रीमद्भागवत में उद्धृत शिववचन, शंकर की दयालुता को सूचित करता है। भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं—

अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम्।
क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम्॥

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे।
एतावान् हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम्॥
(श्रीमद्भाग. 8/7/37-38)

हे भवानि! क्षीरसागर के मन्थन से कालकूट विष उत्पन्न हुआ है। इससे प्रजा को बहुत भय हो रहा है। सभी प्राणी अपने प्राण की रक्षा चाहते हैं, अतः इन्हें अभयदान देना चाहिए। क्योंकि समर्थ पुरुष के सामर्थ्य की सार्थकता इसी में है कि वह दीनों की रक्षा करे। इसी करुणा की भावना से प्रेरित होकर शंकर ने कालकूट विष का पान किया। परोपकार की इसी तीव्र इच्छा को शोभाधारी शब्द कह रहा है। संयमी व्यक्ति जो आप्तकाम है, उसमें लौकिक इच्छा तो सम्भव ही नहीं, परार्थ से प्रेरित होकर वह जो भी लोककल्याणकारी कर्म करता है, उसमें वह अधिक शोभा को प्राप्त करता है। यह भी कहा जा सकता है कि संयमरूपी कपाल को धारण करने का कोई प्रयोजन नहीं है, वह तो केवल वेष (शरीर को ढकने वाले वस्त्र, जटा आदि) की शोभा बढ़ाने मात्र के लिए है; क्योंकि यम-नियमादि साधनों के अनुष्ठान से प्राप्त होनेवाला आत्मसाक्षात्कार हो चुका है। अर्थात् संयम का फल प्राप्त हो चुका है। अब तो संयम, स्वभाव की तरह अनुवर्तन कर रहा है।

मनुस्मृति में कपाल धारण का विधान मिलता है। मनु ने कपालधारी यति को वृक्षमूल के सहारे वर्षा-आतप आदि में समय बिताने को कहा है। गृह, जिसके निर्माण से रागद्वेष आदि की वृद्धि होती है तथा आसक्ति बढ़ती है, को निवास के लिए उपयोग में लाने का अधिकार यति को नहीं मिला। आकर्षक वस्त्रों से शरीर को आवृत्त करने पर वस्त्रों की सुरक्षा एवं स्वच्छता की ओर मनोवृत्ति का जाना स्वाभाविक है, अतः कुचेल (कुत्सित चैल=लोक के लिए अनुपयुक्त त्यक्त वस्त्र) से शरीर के आवरण का विधान किया गया। सहायक से सेवा लेने पर साधना में विघ्न पड़ने की सम्भावना को देखते हुए असहाय होकर विचरण करने की बात कही गयी। साथ ही इन गुणों से युक्त यति को मनु ने मुक्त बतलाया। वह लौकिक उपकरणों की परिधि से मुक्त तो होता ही है, जीवन्मुक्ति का आनन्द भी प्राप्त करता है। मनुवचन निम्न है—

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

(म.स्मृ. 6/44)

अस्तु, शोभाधारी का अर्थ इच्छाधारी करने पर परोपकार की इच्छा तो साधक में रहेगी; परन्तु परोपकार करने की सामर्थ्य गुरुचरणों का ध्यान करके ही प्राप्त की जा सकती है, इसकी सूचना देने हेतु **'चरणकमल में सुरति हमारी'** कहकर गुरुदेव के चरणों में संयमी शिष्य की सुरति की चर्चा की गयी है।

'जप तप योगी संजमसार', सबदी 253, पृ. 98, जो जप तप करता है तथा 'संयम' को 'सार' समझता है, वह योगी है अथवा योगी के जप, तप आदि का सार या सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य संयम है तथा 'संजम उपरांति सुचि नाहीं', जिसने संयम को नहीं अपनाया है, वह शुचि (पवित्र) नहीं है अथवा संयमी से कोई अधिक पवित्र नहीं है। परिशिष्ट-4, सिष्टपुराण, पृ. 254, आदि गोरखबानी के वचन संयम के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। इनसे सन्त परम्परा का साधना के सम्बन्ध में संयम के प्रति दृष्टिकोण भी स्पष्ट होता है।

चरण कमल में सुरति हमारी

'संयम कपाली शोभाधारी' के बाद 'चरण कमल में सुरति हमारी' इस मात्रा का उल्लेख है। धारणा, ध्यान और समाधि जब एक विषयक होते हैं, तो तीनों को संयम बतलाया गया है। किस देश में चित्त के बन्धनरूप धारण का अभ्यास करें, किसका ध्यान करें, जिससे समाधि प्राप्त हो? इन जिज्ञासाओं का शमन इस मात्रा से होता है। ब्रह्म रन्ध्र में सहस्रारचक्र में गुरु के चरण-कमल का स्थान है। इसी चरण कमल में हमारी सुरति है, यह आचार्यचरण का कथन है। गोरखबानी, पृ. 92 पर **'तत एक चीन्हिबा सबदैं सुरति समाई'** (सबदी-222) मिलती है, जिसमें शब्द (अनाहत नाद) में 'सुरति' लगाने को कहा गया है।

गोरखबानी में ही दयाबोध में पृ. 256 पर प्राप्त पद **'निरति सुरति अविनासी सूं लावौ'**, में 'अविनाशी' से 'निरति-सुरति' दोनों को लगाने की चर्चा है। अविनाशी पद ब्रह्म को कहता है, जो गुरु चरणों में 'सुरति' से,

गुरुचरण कमल के ध्यान से प्राप्त होता है। स्वाभाविक ध्यान को निरति तथा शोभनचित्त से होने वाली रति को सुरति कह सकते हैं।

हरिस्वरूप गुरु के चरणों में सुरति के बिना मन का मन्थन पूर्ण नहीं होता, उससे ज्ञान की अग्नि प्रकट नहीं हो पाती। अतएव जड़भरत ने रहूगण को मन को मारने या वृत्तिशून्य करने का उपदेश देते हुए कहा है कि उपेक्षा के कारण निग्रह के अभाव में अत्यधिक दृढ़मूल एवं संसार में राग के कारण ही तृप्त होने वाले शत्रुरूप मन को गुरु की उपासनारूपी अस्त्र से निगृहीत करना चाहिए। 'अस्त्र' शब्द का प्रयोग मनोदोषों के दूरीकरण को सूचित करता है।

मन को निगृहीत कर वृत्तिशून्य करने पर उसमें आत्मज्ञानरूपी अग्नि की उत्पत्ति होती है। अतः सुरति का बार-बार स्मरण आचार्यचरण करते हैं। **'सुरति की सूई लै सद्गुरु सीवै'** इस मात्रा में भी सुरति की सूई की चर्चा है। सुरति की सूई शिष्य की सुरति (अच्छी रति या अच्छा प्रेम) ही है, जो गुरुदेव के चरणों में लगी है। **'रमणं रतिः शोभना रतिः सुरतिः'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न सुरति शब्द ऐसे प्रेम को कहता है जिसमें चित्त की आसक्ति अन्यत्र नहीं है। 'रमु क्रीडायाम्' धातु से बनने वाला रति शब्द, प्रेम एवं निवृत्ति दोनों की सान्द्रता को सूचित करता है। अर्थात् गुरुचरण में सर्वथा रति तथा अन्यतः सर्वथा निवृत्ति को कहता हुआ यह शब्द जागतिक पदार्थों में सर्वथा रागाभाव को बताता है। जागतिक पदार्थों में राग का सर्वथा अभाव ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं हो सकता; क्योंकि—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता 2/59)

इस वचन के विवेचन से यह स्पष्ट है कि आहार का त्याग कर देने से विषयों के प्रति तीव्र राग तो निवृत्त हो जाता है, परन्तु विषयों के प्रति औत्सुक्यभरा कौतूहल बना रहता है। अन्ततः परब्रह्म का साक्षात्कार होने के बाद यह कौतूहल भी समाप्त हो जाता है।

इस मात्रा के विचार के प्रसंग में यह तथ्य विचारणीय है कि चरणकमल में सुरति लगाने के लिए दिया जाने वाला आचार्यचरण का उपदेश साभिप्राय है

अथवा सम्मान-द्योतनार्थ इस शब्द का प्रयोग हुआ है। हम जानते हैं कि गुरुवन्दना एवं ध्यान के प्रसंगों में गुरुपाद-पद्मपराग की महिमा का वर्णन सर्वत्र मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने गुरुपाद-पद्मपराग की वन्दना इस रूप में की है—

बंदउ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा॥
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, सोरठा 5 के बाद)

गुरुपाद-पद्मपराग सुरुचि (शिष्य की अच्छी रुचि) एवं सुवास से युक्त है। उसकी गन्ध में आकर्षण है। लौकिक रज शुष्क होती है किन्तु गुरुपाद-पद्मपराग शिष्यों के अनुराग से सरस है अथवा गुरु का शिष्य के प्रति जो अनुराग है उससे सरस है अथवा यह कह सकते हैं कि गुरु-पदपद्म का पराग शोभन रुचि वाले शिष्य के हृदय में अच्छी तरह निवास करने के कारण (सुवास) शिष्य के अनुराग से सरस है। यहाँ सरस शब्द का क्लिन्न या भीगा हुआ तथा शिष्य के अनुराग से आकृष्ट परमात्मा (रस) के साथ, दो अर्थ है। यह अमृतमूल का विकारभूत शोभन चूर्ण है जो सर्वतः भगवत्प्राप्ति के बाधक भवरूपी रोग का शमन करने वाला है। श्रीमद्भागवत में महर्षि कपिल ने अपनी माता देवहूति को भगवद्ध्यान की विधि बतलाते हुए कहा—कीर्तनीय चरित वाले प्रभु के सर्वांग सौन्दर्यपूर्ण विग्रह का ध्यान तत्तदवयवों में मन को लगाते हुए तब तक करना चाहिए, जब तक मन चांचल्यरहित न हो जाय। किन्तु सबसे पहले चरणकमल का ध्यान करना चाहिए, विधा निम्न है—

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्रांकुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥

(श्रीमद्भागवत 3/28/21)

वज्र अंकुश ध्वज एवं कमल के चिह्नों से सुशोभित भगवान् के उस चरणकमल का ध्यान करना चाहिए, जिस चरणकमल के उन्नत (उठे) नखमण्डल से निकल रही ज्योत्स्ना के द्वारा हृदय का गाढ़ अन्धकार दूर हो रहा

है। इस विधान के अनुरूप ही गृध्रराज जटायु भी भगवान् के चरणकमल की रेखाओं का ही स्मरण करते हैं। जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है—

आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा 29 के बाद)

मरणासन्न गृध्रराज जटायु भगवान् राम के चरणों में पड़े हुए वज्रांकुश आदि के रेखा-चिह्नों का स्मरण कर रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्यान का आरम्भ चरणों से हो रहा है। गुरुगीता में भी गुरुदेव भगवान् के चरणकमल की महिमा बताते हुए कहा गया है—

पादाब्जं सर्वसंसारदावानलविनाशकम्।
ब्रह्मरन्ध्रे सिताम्भोजमध्यस्थं चन्द्रमण्डले॥

(गुरुगीता 57)

गुरुदेव का चरणकमल सम्पूर्ण संसाररूपी दावालन का विनाश करने वाला है। दावानल का विनाश चरणकमल से कैसे होगा? वह तो अतिदारुण काष्ठ-समूह का भक्षक है। यह शंका अविश्वास न पैदा कर सके, अतः उसकी अवस्थिति का स्थान बतलाते हुए कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्रस्थित चन्द्रमण्डल-मध्यस्थ श्वेतकमल के आसन पर वह चरणकमल विराजमान है। अब दावाग्नि के उपशम की बात समझ में आ जाती है; क्योंकि पीयूषवर्षी चन्द्र-किरणों से आच्छादित जलज के मध्य में स्थित चरणकमल की स्वाभाविक शीतलता के उपशम का प्रयास करने वाली दावाग्नि वहाँ पहुँचकर निष्प्रभावी हो जायेगी।

शान्ति एवं शैत्य के मूल स्रोत गुरुचरणाम्बुज के अनवरत ध्यान का फल ब्रह्मप्राप्ति है, जिसकी प्राप्ति पूर्व में अग्निमन्थन के द्वारा बतलाई गयी; क्योंकि ब्रह्म तेजोरूप है। किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के अनन्तर भी गुरुचरणों में सुरति का होना आवश्यक है; क्योंकि उसके द्वारा ज्ञान की दृढ़ता होने से संसार का विलय हो जाता है। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि ज्ञान के अनन्तर चरणकमलों में रति शिष्य का स्वभाव हो जाता है। क्योंकि अब उसे गुरु के महत्त्व का ज्ञान हो गया है। संसार के विलय को समझने के लिए प्रकृत उदाहरण अवधेय है। ब्रह्म-दृष्टि एवं भेद-दृष्टि दोनों को मृद्घट के दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

स्वर्णाभूषण का दृष्टान्त भी इस दृष्टि को पुष्ट करता है। स्वर्ण घट और मृद्घट दोनों ही जलानयनादि व्यवहार की दशा में घट हैं; किन्तु स्वर्णकार उनकी उपयोगिता जलधारक पात्र के रूप में नहीं, उनके उपादान का कारण मृत्तिका और स्वर्ण के रूप में देखता है। स्वर्णकार की दृष्टि पारखी या ज्ञानी की दृष्टि होती है। यही दृष्टि ब्रह्मज्ञानी की भी होती है। वह सभी पदार्थों को मूलकारण (या अधिष्ठान) ब्रह्म के रूप में ही देखता है। यह तथ्य है कि जब तक व्यवहार की दृष्टि होती है तब तक घट व्यावहारिक सत्य के रूप में दिखाई देता है

घटादि पदार्थों की सत्ता आत्मचिन्तन के पूर्वकाल तक स्वीकार किये जाने के कारण उनको सत्य मानकर व्यवहार होता है। ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर ही इनका बाध होता है। ब्रह्म निश्चय ही लौकिक पदार्थों के स्वरूपतः सत्यरूप से प्रतीति की सीमा है। इसी सिद्धान्त को व्यक्त करने हेतु गुरुचरणाम्बुज के ध्यान का फल हमें किस रूप में प्राप्त होता है, इसका वर्णन करते हुए अगली मात्रा में कहा गया है—

भाव भोजन अमृत कर पाया। भला बुरा मन नहीं बसाया ॥

संस्कृत-भाषा में भावशब्द के अनेक अर्थ हैं। यह उत्पत्तिशील जागतिक पदार्थों के कारण अविद्या या अज्ञान को कहता हुआ उसके कार्यभूत पदार्थों को भी कारण कार्य के अभेद की दृष्टि से कहेगा; क्योंकि 'भावयतीति भावः' पचाद्यच् इस व्युत्पत्ति में अच् प्रत्यय करके भाव शब्द की सिद्धि होती है अथवा घञ् प्रत्यय करके भी 'भाव' शब्द बनता है। भोजन का अर्थ भक्षण तथा पालन दोनों है। उत्पत्तिशील जागतिक पदार्थ का भोजन अभ्यवहरण (भक्षण) तथा पालन (ज्ञान) अमृत ब्रह्म के रूप में जगत् को जानने से होता है। ब्रह्मरूप में जानने से पालन तथा ब्रह्म से भिन्नरूप में जानने से निषेध (भक्षण) गुरुचरणों की कृपा से हो रहा है तथा द्वैत बुद्धि के मिट जाने से जागतिक विषयों के सम्पर्क से होने वाला राग-द्वेषादि का उदय मन में नहीं हो रहा है, इस प्रकार भले-बुरे का वास मन में नहीं है, यह बतलाया जा रहा है। हम जानते हैं कि ब्रह्मज्ञान के अनन्तर अविद्या के बाधित होने से जागतिक पदार्थों की आभासता स्पष्ट हो जाती है और हम उन्हें प्रतीयमान सर्प की तरह नहीं किन्तु आधारभूत रज्जु की तरह समझते हुए ब्रह्ममय देखते हैं, जैसे प्रकाश में रज्जु को देखने के अनन्तर हम सर्प

को रज्जुमय ही देखते हैं। अतः ब्रह्मरूपता के प्रतीत होने पर उनकी रागद्वेषादिजनकता नहीं रह जाती।

गोरखबानी में यह वर्णन है कि गुरु की कृपा से सहस्रारचक्र में स्थित अमृत का पान करने का अवसर मिलता है—

गगन मंडल मैं ऊंधा कूबा तहां अंमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा॥

(सबदी 23, पृ. 29)

आकाश मण्डल (शून्य अथवा ब्रह्मरन्ध्र) में एक उल्टे मुँह का कुआँ है, जिसमें अमृत का वास है, जिसने गुरु की शरणागति प्राप्त की है, वही उस कुएँ में से भर-भर कर अमृत पी सकता है; क्योंकि अमृत की प्राप्ति का उपाय गुरु ही बतलाता है। जिसने अच्छे गुरु की शरणागति नहीं किया, वह अमृतपान न कर पाने के कारण प्यासा रह जाता है, इसकी इस मात्रा से संगति है।

चरण-कमल में 'सुरति हमारी' इस मात्रा के बाद 'भाव भोजन अमृत कर पाया' इस मात्रा का उच्चारण है। अतः गुरु चरणों में श्रद्धापूर्वक, ऊर्ध्वदृष्टि करके उनका ध्यान कर अमृतपान को बताया जा रहा है। 'भला-बुरा मन नहीं बसाया' यह मात्रा स्पष्ट कर रही है कि अब भले बुरे (पुण्य तथा पाप) का सम्बन्ध, मन से नहीं रहा।

संगति की दृष्टि से योगशास्त्र के आधार पर इस मात्रा का इस रूप में भी व्याख्यान हो सकता है—गुरुचरणों में सुरति होने से श्रद्धाभाव का फल यह होता है कि ब्रह्मरन्ध्र से अनवरत स्यन्दमान अमृतरस का आस्वादन शिष्य करता रहता है तथा अमृत का रसास्वादन करने के बाद अर्थात् अमृतस्राव का पान करते हुए ही कुछ काल में ऐसा समय आता है, जब पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रतिप्रसव होकर वे कारण-क्रम से अमृत या अविनाशी प्रधान में लीन हो जाते हैं। यह भी भावों का भोजन अमृतरूप में है, इसे आगे स्पष्ट किया गया है। 'भाव भोजन अमृत कर पाया, भला बुरा मन नहीं बसाया'—यह दो मात्राएँ योगशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके पूर्व की मात्रा **'दुःख सुख धूनी देहि जलाई'** में सुख एवं दुःख को धूनी में जलाने की चर्चा आयी है—सुख एवं दुःख के जलने का

तात्पर्य उनका पुनः उत्पन्न न होना है। यह अवस्था वीतराग होने पर ही प्राप्त हो सकती है। योगसूत्र **'तत्र ध्यानजमनाशयम्'** (4/6) के भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि जो ध्यानसम्पन्न चित्त है वही 'अनाशय' होता है। उसी में रागादि प्रवृत्तिरूप आशय नहीं होते (**यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयम्। तस्यैव नाऽस्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः**—यो.सू., व्यासभा. 4/6) कितने समय तक ध्यान करने के बाद यह स्थिति प्राप्त होगी, यह सामान्य रूप से नहीं कहा जा सकता। यह तो केवल ध्यान की निरन्तरता एवं निष्ठा की तीव्रता से अनुभव का विषय है। इसके आगे यह स्पष्ट किया गया है कि इस अवस्था में योगी का पुण्य एवं पाप से सम्बन्ध नहीं होता; क्योंकि उसके क्लेश क्षीण हो जाते हैं। यह सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद होता है। सम्प्रज्ञात-समाधि में आत्मा का साक्षात्कार (ज्ञान) होता है और उसी से विरोधी (ज्ञान या विद्या) का उदय होने से अविद्या आदि क्लेश क्षीण हो जाते हैं। पुण्य एवं पाप का सम्बन्ध मन से है। पुण्य का सम्बन्ध 'भले' का सम्बन्ध है तथा पाप का सम्बन्ध बुरे का सम्बन्ध है; किन्तु दोनों का ही सम्बन्ध चित्त से न रहने की पूर्व में वर्णित की गयी स्थिति में भले-बुरे का सम्बन्ध मन से नहीं रह जाता। इसी तथ्य को **'भला बुरा मन नहीं बसाया'** इस मात्रा में स्पष्ट किया गया है। इस अवस्था में 'विशोका' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, जिसकी चर्चा योगसूत्र (3/49) 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' में की गयी है। 'दुःख-सुख धूनी देइ जलाई' के व्याख्यान के प्रसंग में पृ. 342 पर इसकी चर्चा सर्वज्ञातृत्व की दृष्टि से की गई है। भावाधिष्ठातृत्व को दृष्टि से यहाँ चर्चा की जा रही है। प्रकृत में भावशब्द गुणवाची है, अतएव 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' की व्याख्या करते हुए व्यास-भाष्य में कहा गया है—**'सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः'**—सर्वस्वरूप गुण जड (व्यवसेय) एवं व्यवसाय (प्रकाश) स्वरूप हैं, यह स्वामीरूप क्षेत्रज्ञ के प्रति सम्पूर्ण दृश्य के रूप में उपस्थित होते हैं। यही सर्वभावाधिष्ठातृत्व है। इस अवस्था में योगी को विवेकज ज्ञान की प्राप्ति होती है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति की अवस्था में पहुँचकर (योगी सभी भावों का अर्थात्) गुणों का नियन्त्रक हो जाता है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति की अवस्था बुद्धि (सत्त्व) एवं पुरुष के भेद (अन्यता)

के प्रकाशन (ख्याति) की अवस्था है। इसके पहले तक इस भेद का प्रकाशन नहीं होता था। अतएव बुद्धिगत सुख-दुःख आदि धर्मों का पुरुष में अध्यारोप होने से, सुखित्व-दुःखित्व आदि का व्यवहार इसमें (पुरुष में) होता है। किन्तु दोनों को पृथक् जान लेने के बाद बुद्धिगत सुख-दुःख आदि का कभी भी पुरुष में अध्यारोप न होने से सुखित्व-दुःखित्व का व्यवहार, कभी भी पुरुष में नहीं होगा।

'भाव भोजन अमृत कर पाया' का योगशास्त्र की दृष्टि से आशय, भावात्मक गुणों का अमृतस्वरूप अविनाशी प्रधान में लीन हो जाना। योगशास्त्र में यह वर्णन है कि 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'—जो ऊपर वर्णित की गयी है—के होने के बाद गुणों का प्रतिप्रसव आरम्भ होता है और धीरे-धीरे यह क्रमिक रूप से प्रधान में लीन होते हैं। भाव भोजन शब्द गुणों के भक्षण या अपने कारण प्रधान में लय को कहता है। प्रधान अमृत या अविनाशी है। गुणों के प्रधान में लय की प्रक्रिया पूर्व में वर्णित गई की है। **'प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारः'** (का. 22) इस सांख्यकारिका में अहंकार या अस्मिता से षोडश गण (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन तथा पञ्च तन्मात्रा) की उत्पत्ति बताई गयी है। इसके विपरीत क्रम में लय होता है। यह अवधेय है कि इन सोलह के साथ पञ्च महाभूत, बुद्धि और अहंकार यह 23 पदार्थ लिङ्ग कहे गये हैं। अर्थात् यह अपने कारण में लीन होते हैं। लय क्रम सां.का. 10 के गौड़पादभाष्य में तथा अन्यत्र भी वर्णित है। इन्हें यहीं पर परतन्त्र बताया गया है। अर्थात् प्रधान के नियन्त्रण में बुद्धि कार्य करती है, बुद्धि से अहंकार नियन्त्रित है, अहंकार से इन्द्रियाँ, मन तथा तन्मात्रा और पञ्चभूत नियन्त्रित हैं। गुणों के व्युत्थान संस्कारों से भोग प्राप्त होते हैं तथा निरोध-समाधि के संस्कार मोक्ष दिलाते हैं। अतएव लय क्रम में योगसूत्र में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि गुणों के व्युत्थान संस्कार मन में लीन होते हैं, जिससे भोग नहीं होता, मन अहंकार में लीन होता है, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रधान में। इस प्रकार लिङ्ग (बुद्धि) का संसरण समाप्त होता है और संसार समाप्त होकर, मोक्ष मिलता है। यह लिङ्ग अनेक हैं, अतः सभी पुरुषों का एक साथ मोक्ष नहीं होता। चित्त प्रतिसर्ग या चित्त का लय चरम जन्म (अन्तिम जन्म) में होता है। यह चरम देह, चार प्रकार के योगियों (प्राथमकल्पिक, मधुभूमिक,

प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्त-भावनीय) में अतिक्रान्तभावनीय योगी का होता है। इस चतुर्थी अवस्था को प्राप्त करने के बाद योगी के चित्त का प्रतिसर्ग ही एक प्रयोजन[108] रहता है, अन्य प्रयोजन तो पहले ही पूर्ण हो गये रहते हैं। चित्त का लय होने के बाद पुनः योगी का जन्म नहीं होता।

पुरुषार्थहेतुकमिदं नित्यनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥

(सां.का. 42)

इस कारिका के गौड़पादभाष्य में कहा गया है कि इदं-शब्दवाच्य सूक्ष्म शरीर पुरुषार्थ (भोग एवं अपवर्ग) के लिए प्रवृत्त होता है, संसरण करता है। व्याख्यारम्भ में भाष्य में कहा गया है—**'पुरुषार्थः कर्तव्य इति प्रधानः प्रवर्तते'**—पुरुषार्थ करना है इसलिए प्रधान प्रवृत्त होता है। भाष्य से स्पष्ट है कि सूक्ष्म शरीर, जिसमें बुद्धि, अहंकार एवं त्रयोदश इन्द्रियाँ हैं, के द्वारा ही पुरुष के अर्थ या प्रयोजन की सिद्धि होती है। प्रयोजन-सिद्धि के बाद सूक्ष्म शरीर का लय हो जाता है। इसीलिए श्रुति भी कहती है **'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति'** (बृ.उप. 4/4/6) ब्रह्मविद् के प्राण उत्क्रमण कर अन्यत्र न जाकर ब्रह्म होने के कारण यहीं ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। प्राण शब्द इन्द्रियों को भी कहता है, इन्द्रियों में मन भी परिगणित है। अतएव मनोलयपूर्वक लय प्रक्रिया का वर्णन ऊपर किया गया है। योग की तीसरी अवस्था में पञ्चभूतों एवं इन्द्रियों के ऊपर योगी विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार योगी के प्रयत्न से साध्य इन स्थितियों के प्राप्त होने के बाद चौथी अवस्था में केवल चित्त-लय ही शेष रह जाता है। उसी लय को **'भला-बुरा मन नहीं बसाया'** यह मात्रा बताती है। इसलिए 'भला-बुरा मन नहीं बसाया' का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि 'मन चाहे भला हो या बुरा हो' वह अब नहीं है। उसका अपनी प्रकृति प्रधान में लय हो चुका है। जब तक मन निगृहीत नहीं होता, विषयों की ओर प्रवृत्त होता रहता है, वह बुरा है। जब निगृहीत हो जाता है तो समाधि-सुख या इष्ट दर्शन का सुख देता है, अतः वह भला कहा जाता है। चरम देह के पात के साथ ही मन का अपने कारण में लय हो जाता है। जब तक मन का लय नहीं होता शरीर-प्राप्ति होती रहती है। इस तथ्य को—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद् विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥

सांख्यकारिका (41) में स्पष्ट किया गया है।

ऊपर कार्यकारणात्मक (कार्य एवं कारण के रूप में व्यवस्थित) गुणों के लय का जो क्रम बतलाया गया है। उसके आरम्भ में व्युत्थान-निरोध-समाधि के संस्कारों का लय वर्णित है, जो मन में होता है, इसके बाद आगे का लय होता है। इस प्रकार मन (चित्त) के ही लय का यह क्रम है। यहाँ **'भावयन्ति इति भावाः'**—'जो अन्य को उत्पन्न करें वे भाव हैं' इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न 'भाव' शब्द को त्रिगुणात्मक चित्त से सम्बद्ध कार्यकारणात्मक गुणों का बोधक स्वीकार करके उनके प्रधान में लय को अमृत या अविकारी स्वरूप की प्राप्ति कहा जा सकता है, जिसे 'अमृत कर पाया' यह मात्रा कहती है।

पात्र विचार फरुआ बहुगुणा। करमण्डल तुम्बा किश्ती घणा॥

यह मात्रा 'भला-बुरा मन नहीं बसाया' इस मात्रा के बाद आयी है। अतः इससे सम्बद्ध रूप में पात्र का अर्थ करना चाहिए। सामान्यतः पात्र शब्द का अर्थ **'पाति इति पात्रम्'** इस व्युत्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में किया जाय, तो जो पतन से रक्षा करे वह पात्र कहलायेगा। पतन किसका प्राप्त है? इसका उत्तर तो प्रकृत प्रसङ्ग में साधक को लेकर दिया जा सकता है। किन्तु 'विचार' शब्द के अर्थ **'विरुद्धः चारः गमनं यस्मिन् असौ विचारः'**, जिसमें विरुद्ध चार या प्रतिसर्ग है उसे विचार कहेंगे। ऐसा कहने से विरुद्ध चार (लय) की सीमा या अवधिभूत प्रधान, विचार या पात्र कहलायेगा, जो पतन से गुणों की रक्षा करता है। गुणों के प्रतिसर्ग की चरम सीमा प्रधान की प्राप्ति है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यह गुणों का प्रतिसर्ग, उनके (गुणों के) व्युत्थान निरोध एवं समाधि संस्कारों के मन में लय से आरम्भ होता है। गुणों में व्युत्थान संस्कार के होने से वे व्युत्थित या क्रियाशील रहते हैं। निरोध के संस्कार के कारण उनका क्रमिक निरोध होता है, जिससे समाधि प्राप्त होती है। समाधि के संस्कार से वे समाधिकाल में सर्वथा क्रियाशून्य रहते हैं। प्रतिसर्ग हो जाने पर वे प्रधान रूप में आ जाते हैं। अब कोई कार्य शेष न होने से इन संस्कारों की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः इनका लय होता है। संस्कारों के लय के अनन्तर मन अस्मिता

में लीन होता है, अस्मिता महत्तत्त्व में लीन होती है और महत्तत्त्व प्रधान में लीन होता है।

अस्तु, इतने विचार से प्रतिसर्ग शब्द के अर्थ में 'विचार' है, यह स्वीकार कर लेने पर यह जिज्ञासा होती है कि फरुआ (काष्ठ का प्याला), बहुगुणा (बहुत गुण वाला, बहुत प्रयोजन सिद्ध करने वाला पात्र), करमण्डल, तुम्बा, किश्ती (चिश्ती) इन पात्रों का उल्लेख आचार्यचरण ने क्यों किया है? इस पर विचार करते समय हमें ध्यान देना होगा कि विचार का अर्थ, विशिष्ट चार या विशेष गमन (चार) करें तो महात्मा लोग उपर्युक्त विभिन्न पात्रों के साथ विचरण करते हैं, यह सामान्य अर्थ मिल जायेगा। किन्तु विचार के उपर्युक्त आध्यात्मिक अर्थ के औचित्य की दृष्टि से हम यदि साधक की उस अवस्था पर विचार करें जहाँ से प्रतिसर्ग का प्रारम्भ होता है तो हमें यह स्पष्ट रूप से कहना होगा कि पात्र[109] (पतन से रक्षा करने वाला) सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात-समाधि है, उनकी प्राप्ति के पहले पतन का भय बना रहता है। अस्तु, असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति सम्प्रज्ञात-समाधि से होती है, किन्तु सम्प्रज्ञात-समाधिरूप पात्र की प्राप्ति विचार से ही होती है। अतएव **'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः'** (1/17) इस योगसूत्र में विचार से सम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति बतलायी गयी है। किन्तु यह जिज्ञासा अवश्य होती है कि आचार्यचरण ने सूत्र में प्रथमोपात्त 'वितर्क' को छोड़कर विचार को सम्प्रज्ञात-समाधि के प्राप्ति के कारण के रूप में क्यों चुना?

प्रकृत सूत्र के भाष्य का अवलोकन करें तो वहाँ **'वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः सूक्ष्मो विचारः'**—चित्त के आलम्बनभूत विषय का स्थूलरूप में स्वरूपसाक्षात्कार स्थूल आभोग है, जिसे वितर्क कहते हैं तथा आलम्बनरूप विषय के सूक्ष्मरूप का साक्षात्कार सूक्ष्म आभोग है, जिसे विचार कहते हैं, यह वर्णन मिलता है। प्रकृत में विषयों तथा मन आदि के सूक्ष्मतम कारण 'प्रधान' को सर्वोत्तम पात्र बतलाना है; क्योंकि वही पतन की सीमा बनकर गुणों के विरुद्ध चार को रोकता है, अतः सूक्ष्मता की ओर ध्यान आकृष्ट करने हेतु तथा विचार शब्द से प्रतिसर्ग अर्थ की प्राप्ति करने हेतु 'विचार' को ही सम्प्रज्ञात-समाधिरूप 'पात्र' के कारण के रूप में वर्णित किया गया। सम्प्रज्ञात-समाधि पात्र है; क्योंकि

वह पतन से साधक की रक्षा करती है। इस प्रकार पात्र शब्द के कई अर्थ आचार्यचरण की दृष्टि में हैं। अतः पात्र विचार का अर्थ यह भी कहना होगा कि विचार से प्राप्त होने वाली सम्प्रज्ञात-समाधि पात्र है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि विरुद्ध चार या प्रतिसर्ग से प्राप्त होने वाली चरम सीमा 'प्रधान' ही पात्र है। सद्विचार भी पतन से रक्षा करने के कारण पात्र है। प्रकृत मात्रा में फरुआ, बहुगुणा, करमण्डल, तुम्बा, और किश्ती इन पाँच पात्रों का उल्लेख है। यह पाचों पात्र गुणों के प्रतिसर्ग की 5 अवस्थाओं को सूचित करते हैं—

1. पुरुषार्थशून्यता की स्थिति में भोग एवं अपवर्गरूप दोनों प्रयोजनों की सिद्धि के अनन्तर गुणों का प्रतिप्रसव आरम्भ होता है। इस अवस्था के प्रतीक के रूप में 'फरुआ' का उल्लेख है, जो धूनी की राख को हटाता है। यहाँ भी प्रयोजनशून्य गुण राख के समान हैं, उनको हटाया जा रहा है, प्रधान में लीन किया जा रहा है।
2. दूसरा पात्र बहुगुणा है जो मन का सूचक है। 'बहवो गुणा यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न बहुगुण शब्द अनन्त संस्कारों से सम्पन्न मन को कहता है, जिसमें गुणों के व्युत्थान एवं निरोध तथा समाधि संस्कार लीन होते हैं।
3. तीसरा पात्र करमण्डल है, जो अहंकार या अस्मिता को सूचित करता है, जिसमें मन का लय होता है। करमण्डल को इन्द्रियसमूहपरक कह सकते हैं; क्योंकि **'करोतीति करः पचाद्यच्'** इस कर्तृव्युत्पत्ति में निष्पन्न कर शब्द, करने वाली या कारणभूत इन्द्रियों का बोधक होगा। कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का कारण हैं। अतः 'करोतीति करः' इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न कर शब्द सभी इन्द्रियों का बोधक होगा। मण्डल शब्द समूहवाची है।

स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च
देशे च बिम्बे च कदम्बके च।
कुष्ठप्रभेदेऽप्युपसूर्यकेऽपि
भुजङ्गभेदे शुनि मण्डलः स्यात्॥

(अ.को., रामाश्रमीटीका 1/3/15)

इस विश्वकोश के अनुसार मण्डल शब्द का समूह (कदम्ब) अर्थ है। इन्द्रियसमूह अहंकार के कारण ही प्रवृत्त होते हैं तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण भी अहंकार है। अतः यदि 'कराणाम् इन्द्रियाणां मण्डलं समूहः यस्मात्' इस व्युत्पत्ति में बहुव्रीहिसमास करें तो समासनिष्पन्न करमण्डल शब्द, इन्द्रियों के कारण अहंकार का बोधक होगा, जिसमें मन लीन होता है। यह लयक्रम की तीसरी अवस्था है। अहंकार मन का भी उत्पादक है, अतः मन उसमें लीन होता है।

अहंकार इन्द्रियों का भूषक या सजाने वाला है; क्योंकि उसके बिना इन्द्रियाँ कार्य नहीं कर सकतीं। यही इनका उत्पादक भी है। तुम्बा और चिश्ती दोनों उदक को धारण करने वाले (पात्र के रूप में व्यवहार में दृष्ट) हैं। तुम्बा बुद्धि है जो सर्वदा मनरूपी उदक को धारण किए रहती है। इसको चतुर्थ पात्र के रूप में वर्णित किया गया है। उसी के नियन्त्रण में मन कार्य करता है तथा मन के कारण अहंकार का लय भी उसी में होता है। अन्तिम पात्र प्रधान है, जिसमें अपवर्गकाल में करणों सहित बुद्धि का लय होता है। इसे किश्ती शब्द से कह सकते हैं। सभी पात्र इसलिए हैं; क्योंकि पतन से रोकते हैं। इस प्रकार मनोलय की यह पाँच अवस्थाएँ इन पात्रों से सूचित होती हैं। अन्त में 'घणा' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ अनेक विध या अनेक प्रकार के पात्र किया जाता है। यदि सत्त्व-रज-तम आदि गुणों में से किसी एक की घन अवस्था या प्राधान्य की अवस्था को इस शब्द से कहा जाय, तो प्रधान भी एक पात्र हो सकता है; क्योंकि प्रधानावस्था भी प्रकृति का एक कार्य है। अतएव यो.सू. 2/18 में वाचस्पति मिश्र ने 'प्रधान बेलाया' मित्यादि भाष्य की व्याख्या में कहा है—**दिव्यशरीरे जनयितव्ये सत्त्वं गुणः प्रधानम्, अङ्गे रजस्तमसी-इत्यादि**। दिव्य शरीर की उत्पत्ति में सत्त्वगुण प्रधान होता है, रजोगुण और तमोगुण अप्रधान होते हैं आदि। स्पष्ट है कि साम्यावस्थारूप प्रकृति से यह प्रधानावस्था पृथक् है। इस प्रकार 'चिश्ती' सत्वादि गुणों की एकैकशः प्राधान्य की अवस्था है, जिसे प्रधान कहते हैं, यह 5वाँ पात्र है।

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि पतन से रोकने का कार्य मुख्य रूप से समाधि ही करती है; क्योंकि योग की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के पहले ही योगी

भूतेन्द्रियजयी होकर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है (द्रष्टव्य यो.सू. 3/51)। योग की चरमावस्था में विचार (चित्त का प्रतिसर्ग) प्रारम्भ होता है। अतः मुख्य पात्र तो समाधि के साथ होने वाला यह विचार विरुद्ध चरण चलना या प्रतिसर्ग ही है। प्रधान तो विचार की चरम सीमा है। चित्त का लय या प्रधानरूपता प्राप्ति शरीर छूटने के साथ होती है। प्रकृत में पुरुषार्थशून्यता से आगे की अवस्थाएँ वर्णित की गयी हैं, जो समाधि प्राप्ति के बाद की अवस्थाएँ हैं। उन पाँचों प्रमुख अवस्थाओं के द्योतक पाँच पात्र हैं, यह कहना ही समीचीन है।

'अमृत प्याला' उदक मन दिया जो पीवे सो सीतल भया

अमृतप्याला–अमृत का प्याला है, जहाँ अमृत का वास बताया गया है। गोरखबानी में **'गगन मंडल मैं ऊंधा कूबा, तहां अंमृत का बासा'** (सबदी-23) में ब्रह्मरन्ध्र में, शिर के ऊपरी हिस्से में, उल्टे पड़े कुएँ में, अमृत का वास बताया गया है (द्र.–पृ. 356)। यही अमृत प्याला है। इसमें मन का प्रवेश ही उदकरूप मन को प्याले में देना है। मन को पीना निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति करना है। अतः आचार्यचरण, निर्बीज समाधि की प्राप्ति से शीतलता की प्राप्ति या संसारताप से मुक्ति का वर्णन कर रहे हैं।

पूर्व मात्राओं में पहले प्रदर्शित रीति से मन के क्रमिक लय को बताया गया है। अब मनोलय का फल बताया जा रहा है। अमृत प्याला में उदकरूपी मन को देकर जो पी गया वह शीतल हो जाता है। संसार दावानल से दग्ध न होकर जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाता है। अर्थात् भोग एवं अपवर्गरूप दोनों प्रयोजनों के अभाव में उसका जन्म रुक जाता है।

प्रकृत में उदक शब्द उदक के आधार मेघ का सूचक स्वीकार करें तो वह उदक के समान मन की निर्मलता को भी सूचित करता है। इसके प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि उदक के आधार मेघ के वाचक मेघपदघटित धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति के अनन्तर जो साधक मन को प्रधान में लीन करने में समर्थ होता है, वही 'शीतलता' को प्राप्त करता है। सत्त्व के प्रकर्ष के बिना मन, अमृत प्याला रूप प्रधान में जा नहीं पाता। क्योंकि सत्त्व गुण के प्रकर्ष से समाधि और समाधि के अनन्तर चरम देह के अन्त में प्रतिसर्ग का क्रम श्रुत है, यह अर्थ अधिक समीचीन

होगा; क्योंकि इसमें निर्बीज समाधि की प्राप्ति हेतु काल विशेष का संकेत प्राप्त होता है। धर्ममेघ समाधि का वर्णन योगसूत्र (4/29) में मिलता है। **'सर्वान् धर्मान् ज्ञेयान् मेहति वर्षति प्रकाशनेन'**—जैसे मेघ वृष्टि से सभी पदार्थों को क्लिन्न कर देता है (भिगो देता है), उसी प्रकार जो सबको ज्ञान से प्रकाशित करता है वह धर्ममेघ कहलाता है। यह अर्थ वाचस्पति मिश्र ने किया है। यह मन के सर्वथा निरुद्ध हो जाने पर प्राप्त होती है। यदि उदक शब्द से मेघ नहीं मन को लिया जाय; क्योंकि **'उत् ऊर्ध्वं अकति गच्छतीति उदक्'** यह उदक् शब्द की व्युत्पत्ति मन और मेघ दोनों का बोधन करती है। दोनों ही ऊर्ध्वगमन करते हैं, मेघ तो समुद्र से ऊपर उठता है, मन में सत्त्व गुण का प्रकर्ष होता है।

'अमृत प्याला उदक मन दिया' इस मात्रा में अमृत प्याला अविनाशी प्रधान है, यह वर्णित किया जा चुका है। उदक मन जल के समान निर्मल मन या 'उत् ऊर्ध्वमञ्चतीति उदक्' इस व्युत्पत्ति से लभ्य सत्त्वप्रधान मन होता है। क्योंकि **'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'** (गीता 14/18) सत्त्वप्रधान लोग ऊर्ध्वलोकों को प्राप्त करते हैं। इस गीता-वचन के अनुसार यह अर्थ सङ्गत होता है। अमृत प्याले में उदक मन को रखकर पीने का अर्थ है मन का प्रधान में लीन हो जाना, यह लीनता निर्वीज समाधि के अनन्तर होती है। इसके अनन्तर जन्मादि के अभाव में शीतलता की प्राप्ति तो अवश्यम्भावी है। कष्ट का सम्बन्ध शरीर से है और जन्म से शरीर मिलता ही है। अतः जन्माभाव से शीतलता द्योतित होगी।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से अमृत प्याला नामरूपोपाधिरहित ब्रह्म है। उसमें मन को देना निरन्तर चिन्तन करना है तथा मन को पी जाना, उसका पिया जाना सूक्ष्म शरीर का अपने कारण अविद्या के साथ ब्रह्म में लीन होना है। यह अवश्य अवधेय है कि पुरुषार्थ प्राप्ति के अनन्तर चित्तलय की क्रमिक अवस्थाओं की प्राप्ति स्वतः होती है। चित्तलय के लिये साधक को प्रयास नहीं करना पड़ता।

इडा में आवे पिङ्गला में धावे

इस प्रकार प्रणवोपासना के द्वारा योग के चरम लक्ष्य निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति तथा मनोलय की प्रक्रिया का वर्णन किया गया। अब प्रणवजपरहित केवल 'प्राणायाम' के द्वारा मनोनिग्रह कैसे होगा? योगी जन कैसे इस मार्ग में चलते हैं? उनके प्राणायाम और ध्यान की पद्धति क्या होती है?

इसे समझाने का उपक्रम 'इडा में आवे पिङ्गला में धावे' इत्यादि मात्राओं में आचार्यचरण करते हैं। प्राणायाम के आरम्भ करने की विधि इस मात्रा में बताई जा रही है। वाम नाडी (इडा) से श्वास को खींचना चाहिए तथा पिंगला (दक्षिण नाडी दक्षिण नासापुट) से उसको बाहर निकालना चाहिए। धावै शब्द गति और शुद्धि दोनों को सूचित करता है; क्योंकि 'धावु गतिशुद्ध्योः' धातु से इसकी सिद्धि होती है। इन दोनों में गति अर्थ तो बाहर वायु के गमन को कह देगा, क्योंकि वायु भीतर 'इडा' नाडी से आ चुकी है; किन्तु वह शुद्धि को भी कहेगा, जिससे निकलते हुए वायु से शरीर के दोषों का शोधन होगा। इस अर्थ का लाभ धात्वर्थ की अनुगति से होगा। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'** (श्रीमद्भाग. 3/28/11) यह भागवत-वचन प्राणायाम से शरीर के दोषों का शमन होता है, यह सूचित करता है। योगसूत्र (2/52) **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'** में प्राणायाम का महत्त्व ख्यापित करते हुए व्यास-भाष्य में कहा गया है—**'प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म यत्तदाचक्षते—महामोहमयेन इन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति'**।

'प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी का विवेक, ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म क्षीण हो जाता है। अतएव कहा गया है—महामोहमय इन्द्रजाल के द्वारा प्रकाशशील सत्त्व (अन्तःकरण) का आवरण करके वही (परमेश्वर) अकार्य में नियुक्त करता है। इस प्रकार प्रकाश का आवरण करने वाला कर्म, जो संसार का कारण है, वह प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल होता है तथा प्रत्येक क्षण में क्षीण होता जाता है। यही कारण है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं स्वीकार किया जाता; क्योंकि उससे मलों की शुद्धि तथा ज्ञान की दीप्ति दोनों होती है'। इससे स्पष्ट है कि प्राणायाम के द्वारा मन के मलों का क्षालन करते हुए योगी सम्प्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करता हुआ क्रमशः असम्प्रज्ञात-समाधिरूप ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त करता है। प्राणायाम का अभ्यास यह सब कुछ कराता है।

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (यो.सू. 1/34) में प्राणायाम की विधि तथा महत्त्व दोनों बतलाया गया है। कोष्ठ (कुक्षिकुहर पेट) में स्थित वायु को प्रयत्नपूर्वक बाहर निकालना 'वमन करना' तथा बाहर की ओर से वायु का प्रवेश रोकना (विधारण) भी प्राणायाम है। इन दोनों को करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है, वह धीरे-धीरे एकाग्र हो जाता है।

इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाडियों का वर्णन गोरखबानी में अनेक स्थलों पर मिलता है। इससे इनका महत्त्व स्पष्ट होता है तथा विभिन्न पदों से महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं।

अवधू प्रथम नाड़ी नाद झमंकै, तेजंग नाड़ी पवनं।
सीतंग नाड़ी ब्यंद का बासा, कोई जोगी जानत गवनं ॥

(सबदी 57, गो.बानी, पृ. 40)

हे अवधूत सुषुम्नारूप आदि नाडी (प्रथम नाडी) में नाद की झमक होती है, उष्ण नाडी (तेजंग) पिंगला या सूर्य नाडी में पवन का संचार होता है। शीतल नाडी (चंद्र नाडी, इडा नाडी) में वीर्य का निवास है, इनकी गति को कोई विरला ही योगी जानता है। पिंगला नाडी में पवन के संचार को ही, 'पिंगला में धावै' से कहा जा रहा है। गोरखबानी में ही—

षोडस नाडी चन्द्र प्रकास्या, द्वादस नाडी मांनं।
सहंस्त्र नाड़ी प्रांण का मेला, जहां असंष कला सिव थांनं ॥

(सबदी 94, पृ. 53)

इडा नाडी को षोडश कला वाली, पिंगला को द्वादश कला (बारह) वाली तथा सुषम्ना को सहस्त्र कला वाली कहा गया है।

सुषुम्ना अथवा सहस्त्रार में प्राण का मूल निवास है तथा वहीं असंख्य कला वाले शिव (ब्रह्मतत्त्व) का स्थान है, यह स्पष्ट किया गया है।

इडा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्व बतलाते हुए अन्यत्र कहा गया है—

अवधू ईड़ा मारग चंद्र भणीजै, प्प्युंगुला मारग भांमं।
सुषमनां मारग बाणीं बोलिये, त्रिय मूल अस्थांनं ॥

(सबदी 95, पृ. 53)

इडा नाडी को चन्द्र कहते हैं, पिंगला को भानु और सुषुम्ना को सरस्वती (वाणी) कहते हैं। यही तीनों मूल स्थान (ब्रह्म रन्ध्र तक पहुँचाते हैं)।

'इडा में आवै, पिंगला में धावै' इन दोनों मात्राओं के अर्थ को ध्वनित करते हुए गोरखबानी में कहा गया है—

उठंत पवनां रवी तपंगा, बैठंत पवनां चंद।
दहूँ निरंतरि जोगी विलंबै, बिंद बसै तहाँ ज्यंद ॥

(सबदी 58, गो.बानी, पृ. 41)

सूर्य नाडी में चलता हुआ पवन, तीव्र गति से चलता है, जब चन्द्र नाडी (इडा नाडी) में उसकी गति होती है, तब वह बैठ (थम) जाता है। जब श्वास बाहर निकलता है, तो सूर्य नाडी चलती है, जब भीतर प्रवेश करता है, तब चन्द्र नाडी चलती है, किन्तु योगी दोनों से अलग सुषुम्ना नाडी की शरण में आश्रय लेता है; क्योंकि वहाँ बिन्दु का निवास है, वहीं अमर जीवन-तत्त्व (ज्यंद) भी है।

सुषमन के घर सहज समावे

प्राणायाम के महत्त्व को देखते हुए आचार्यचरण ने उसका उपदेश किया अब प्राणायाम के अभ्यास का प्रयोजन प्रकृत मात्रा 'सुषमन के घर सहज समावै' के द्वारा प्रकट कर रहे हैं। प्राणायाम के प्रयास से प्राण सहज होकर सुषुम्ना के घर में प्रवेश करता है। सुषुम्ना का घर क्या है? उसमें प्राण के प्रवेश का प्रयोजन क्या है? तथा प्राण सूक्ष्म या सुषुम्नां में प्रवेश के योग्य कैसे होता है? इत्यादि प्रश्न इस मात्रा के साथ उठते हैं। यह भी जिज्ञासा होती है कि प्राण का सहज होना क्या है? उसका साधन क्या है? प्रक्रान्त प्रश्नों, जिज्ञासाओं का समाधान आचार्यचरण यथावसर करते गये हैं। **'विषमगढ़ तोड़ निभौ घर आया'** इस मात्रा में जिस निभौ (निर्भव) घर की चर्चा की गयी है, वही सुषुम्ना का घर या प्राप्ति स्थान है। वह निभौ घर सहस्रार-चक्र है, जिसमें सुषुम्ना के द्वारा मन प्रवेश करता है। **'निराश मठ निरन्तर ध्यान'** आदि मात्राओं के द्वारा साधनों का वर्णन किया गया है, जिनके अनुष्ठान से मन का सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से सहस्रार-चक्र में प्रवेश होगा।

अस्तु, प्रकृत मात्राओं के अर्थ का विचार करने से पहले यह अवधेय है कि ऊपर **'भाव भोजन अमृत कर पाया, भला बुरा मन नहीं बसाया'** तथा

'अमृत प्याला उदक मन दिया जो पीवे सो सीतल भया' इत्यादि मात्राओं में मन को अमृत प्याला (प्रकृति प्रधान) में लीन करने की बात की गयी है; किन्तु वह कैसे अमृत प्याला में लीन होगा? इसके लिए कौन-सी विधि अपनाई जायेगी? यह तथ्य प्राणायाम को साधन के रूप में वर्णित कर स्पष्ट किया जा रहा है। क्योंकि मन प्राण के साथ ही सुषुम्ना नाडी में प्रवेश करता है। यह प्रवेश कैसे होता है, इसे इस मात्रा में स्पष्ट किया गया है।

सहज होकर मन, सुषुम्ना में प्रवेश करता है। यह कहने का आशय यही है कि सूर्य नाड़ी में तीव्र गति से चलने वाला 'पवन' अपनी तीव्र गति को छोड़ता है तथा चन्द्र नाड़ी में जो उसकी धीमी गति है, उसको भी छोड़ता है, अर्थात् दोनों नाड़ियों से असम्बद्ध होकर जब स्वाभाविक रूप से ध्यान के द्वारा ऊर्ध्वगामी होता है, ऊपर की ओर चलता है, तो वह सुषुम्ना में प्रवेश करता है। जब तक दोनों नाड़ियों से पवन का सम्बन्ध है, तब तक वह स्वाभाविक गति नहीं प्राप्त करता।

गोरखबानी में सुषुम्ना के बारे में अनेक पद मिलती है। निम्न सबदी से उसका महत्त्व अधिक स्पष्ट होता है—

कूंची ताली सुषमन करै उलटि जिभ्या ले तालू धरै।

(सबदी 134, गो.बानी, पृ. 66)

सुषुम्ना के द्वारा ताली पर कुंजी करै अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करें। ब्रह्मरन्ध्र में ताला लगा है, वह बन्द है। इसको सुषुम्ना के द्वारा खोलना चाहिए। जिह्वा को उलट कर तालुमूल में रखे, जिससे सहस्रार स्थित चन्द्र से झरने वाले अमृत का आस्वादन होगा। सुषुम्ना में पहुँच कर ही मन, प्राण के सहारे सहस्रार चक्र में पहुँचता है।

निराश मठ निरन्तर ध्यान

यद्यपि यह आक्षेप हो सकता है कि **'सुषमन के घर सहज समावे'** इस मात्रा के बाद आने वाला **'निराश मठ निरन्तर ध्यान'** यह मात्रा-सूत्र ध्यान का विधान करता है, प्राणायाम का नहीं। अतः प्राण को सहज कर सहस्रार में प्रवेश के योग्य ध्यान ही बनाता है, यह कहना चाहिए तथा ध्यान एवं प्राणायाम की संगति को स्पष्ट करना चाहिए। इस सम्बन्ध में योगाङ्गों की उपयोगिता तथा

योगाङ्गों में प्राणायाम एवं ध्यान के क्रम पर विचार करना समुचित होगा। यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि यह आठ योगाङ्ग हैं। प्राणायाम एवं ध्यान के बीच प्रत्याहार और धारणा का परिगणन है। धारणा की योग्यता प्राणायाम के द्वारा मन में आती है, यह पूर्व में स्पष्ट किया गया है।

ध्यान की उपयोगिता चित्त को अनाशय (रागादिदोषरहित) बनाने में है। यह तथ्य **'तत्र ध्यानजमनाशयम्'** (4/6) योगसूत्र में प्रतिपादित किया गया है। चित्त-शुद्धि में ध्यान की उपयोगिता की दृष्टि से आचार्यचरण ने 'निराश मठ' में निरन्तर ध्यान हेतु उपदेश दिया है। हम जानते हैं कि **'मठश्छात्रादिनिलयः'** इस कोश के अनुसार मठशब्द छात्र, महात्मवृन्द आदि के रहने के स्थान को कहता हैं। इस स्थान में साधकों तथा अध्येताओं का समूह है, यह बात स्पष्ट हो जाने के बाद यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल साधक को ही ध्यान के लिए नैराश्य का वरण नहीं करना है, वहाँ का समूह ही आशा का त्याग करने वाले लोगों का है; क्योंकि वहाँ यति ही भिक्षाजीवी नहीं है, छात्र भी भिक्षा से प्राप्त अन्न को गुरु की आज्ञा से ही अपने उपयोग में लाने वाला है। वहाँ किसी को किसी से कोई अपेक्षा नहीं है, भिक्षा में अपनी कोई इच्छा नहीं है, दैववशात् प्राप्त अन्नादि से ही सन्तोष करना है। अतः वह स्थान भी नैराश्य का उपोद्बलक होगा। कदाचित् साधक के मन में आशा के अङ्कुर उदित भी हों तो आसपास के वातावरण से वह क्षीण हो जायेंगे। आशा के रहते निरन्तर ध्यान नहीं किया जा सकता। 'मठ मदनिवासयोः' धातु से 'हलश्च' से घञ् प्रत्यय के द्वारा बना 'मठ' शब्द, **'मठन्ति मदं प्राप्नुवन्त्यस्मिन्'** (जिसमें रहकर लोग मद-हर्ष अथवा दैन्य को प्राप्त करते हैं) इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न होकर मठ को हर्ष-प्राप्ति का स्थान अथवा भगवान् के विरह में अत्यन्त दैन्य-प्राप्ति का स्थान सूचित कर रहा है। 'निराश मठ' इस मात्रा में निराश शब्द मठ का विशेषण बनकर, निराश व्यक्ति को हर्ष (मद) प्राप्त करने वाला बता रहा है। धातु के द्वितीय अर्थ के अनुसार निराश व्यक्ति ही पूर्णतः ब्रह्म में निवास करता है, यह भी बता रहा है; क्योंकि उसका मन सर्वदा निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता है अथवा सगुण ब्रह्म का ही चिन्तन करता रहता है। इस अर्थ की निरन्तर ध्यान आदि अग्रिम सूत्रों से संगति भी हो जाती है, यह भी कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में यह अवश्य अवधेय है कि पहले निराश झोली से ध्यान के बटुए का सम्बन्ध बताया गया है। यहाँ निराश को मठ बतलाया जा रहा है। प्रातराश—प्रातः का आहार, शब्द में प्रयुक्त 'आश' शब्द भोजन का वाचक है। अतः निराश शब्द निराहार या भोजन की रुचि से वितृष्ण व्यक्ति को भी कहेगा। इस प्रकार आहार संयम से ब्रह्म प्राप्ति होगी यह सूचित होगा। गोरखबानी में आहार संयम को बतलाते हुए कहा गया है—

जल कै संजमि अटल अकास,
अन कै संजमि जोति प्रकास।
पवनां संजमि लागै बंद,
ब्यंद के संजमि थिरह्वै कंद॥

(सबदी 124, गो.बानी, 63)

जल के संयम से आकाश अटल होता है, ब्रह्मरन्ध्र में दृढ़ स्थिति होती है, अन्न के संयम से ज्योति प्रकाशित होती है। पवन के संयम से बन्द लगता है, अर्थात् 'नवद्वार' बन्द हो जाते हैं, विषय चिन्तन रुकता है। शुक्र के संयम से शरीर स्थिर हो जाता है। कंद का अर्थ शिवलिङ्ग के समान वह पिण्ड भी हो सकता है, जिसके चारों ओर कुण्डलिनी लिपटी हुई बताई जाती है। भोजन को विषय भोग का उपलक्षण मानने पर विषय भोग से उपरत व्यक्ति जो वासनाशून्य मन वाला है, वही मठ शब्दवाच्य परमात्मा को प्राप्त करता है, यह अर्थ ध्वनित होगा। सबका निवास होने के कारण अथवा सबको हर्ष देने के कारण ब्रह्म को मठशब्द से कहा जायेगा। साधना का प्रारम्भ निराश की झोली के साथ बतला कर, उससे परिपूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए निराश मठ में निवास हेतु आचार्यचरण प्रेरित कर रहे हैं।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रत्यय की एकतानता या सजातीय प्रत्यय-प्रवाह ही ध्यान है, जिसमें नैरन्तर्य रहता ही है; क्योंकि एकतानता शब्द का प्रयोग ध्यान के लक्षण 'तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्' में है। तो 'निरन्तर ध्यान' इस मात्रा में निरन्तर यह विशेषण व्यर्थ है। तथापि सजातीय प्रत्यय-प्रवाह निरन्तर चले उसका व्यवधायक विजातीय प्रत्यय कभी न हो, इस तथ्य को 'निरन्तर' शब्द सूचित करेगा अथवा 'निरन्तर' शब्द के सान्निधान में 'ध्यान'

शब्द केवल चिन्तनवाचक होगा। साधक को निरन्तर ध्यान के लिए अपना प्रयास करना है। यह तथ्य 'निरन्तर ध्यान' मात्रा से सूचित होता है।

निर्भौ नगरी दीपक गुरु ज्ञान

मात्रा के अर्थ को हृद्गत करने के लिए यह स्पष्ट करना है कि सन्तों की रहस्य वाणी में 'दीपक' शब्द का प्रयोग किस विशेष अर्थ का बोध करने के लिए होता आया है। इसे स्पष्ट करने हेतु गोरखबानी में इस सम्बन्ध में निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य है—

बदंत गोरषनाथ कहि धू साषी, घटि घटि दीपक (बलै) षणि पसू न (पेषे) आंषी। (सबदी-60, गो.बानी, पृ. 41)

गोरखनाथ कहते हैं कि मैं किसको साक्षी दूँ कि घट-घट में ब्रह्म की ज्योति जगमगा रही है। इस प्रकाश के अपने ही भीतर दीप्त होने पर भी 'पशु' तुल्य लोग उसे अपनी आँख से नहीं देख पाते हैं। यहाँ ज्योतिर्मय ब्रह्म को 'दीपक' कहा जा रहा है।

गोरखबानी के ही परिशिष्ट क-5 में दयाबोध से सम्बद्ध निम्न पद द्रष्टव्य हैं—

दीपक एक अषंडित बिन बाती, तहां जोगेश्वर थापनां थापी ॥
अगम अगोचर सकल ब्रह्मंड, ता दीपक कै चरण न प्यंड ॥
सिषा न नैन सीस नहिं हाथ, सो दीपग देख्या गोरषनाथ ॥

(गो.बानी, पृ. 257)

एक अखण्डित दीपक है, जिसमें बाती नहीं है। अखण्डित कहने से दीपक निरन्तर जल रहा है, यह बोध हो रहा है। बिना बाती के दीपक जल रहा है, यह कहने से अवयव रहित ज्योतिरूप ब्रह्म का बोध हो रहा है। वहाँ योगेश्वर ने अपनी स्थापना की है। तद्रूप हो गये हैं।

यह दीपक शरीर के भीतर ही प्राप्त होता है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने पर भी शरीर के बाहर अगम्य अप्राप्य तथा ज्ञान का अविषय (अगोचर) है। इस दीपक का चरण अथवा पिण्ड (शरीर) नहीं है। न शिखा है, न शिर है, न हाथ है, ऐसा दीपक गोरखनाथ ने देखा है। इसी दीपक की चर्चा इस मात्रा में

आचार्यचरण कर रहे हैं। किन्तु निर्भव नगरी के भीतर गुरु ज्ञान का दीपक है। यह कह कर स्पष्ट किया जा रहा है कि भव या उत्पत्तिरहित ब्रह्म ही गुरु रूप दीपक या ज्ञान रूप से प्रकाशक है।

'निर्भौं नगरी' यह मात्रा निरन्तर ध्यान को प्रेरित करने वाली है। क्योंकि निर्भव या उत्पत्तिरहित शरीर (नगरी) या चरम शरीर वह है जिसका आगे जन्म से सम्बन्ध नहीं होना है। यदि **'भवान्निष्क्रान्ता निर्भवा निर्भवा चासौ नगरी निर्भवनगरी'** यह समास स्वीकार करें तो भव से निष्क्रान्त नगरी (शरीर) का अर्थ होगा सांसारिक प्रयोजनों का त्याग करने वाला शरीर। इसी निर्भव नगरी में निराशा से भरा मन (मठ) है, जिसमें निरन्तर ध्यान चल रहा है। निरन्तर ध्यान परमात्मा का ही हो सकता है। इस प्रकार भव का अर्थ संसार किया जाय तो निर्भव का अर्थ होगा संसार (भव) के नाना प्रयोजनों को त्याग कर केवल आत्मप्रयोजन हेतु कार्य करने वाला शरीर, ऐसा शरीर ही निरन्तर ध्यान का दीपक या बढ़ाने वाला भी होगा। यदि दीपक शब्द का गुरु-ज्ञान में अन्वय किया जाय तो गुरुज्ञान या गुरु का उपदेश ही निरन्तर ध्यान का दीपक होगा, गुरु के निर्देशों के अनुसार शिष्य अपनी दिनचर्या तथा आहार-व्यवहार को नियन्त्रित करे तो उसके ध्यान में तीव्रता आयेगी। गुरु-ज्ञान शब्द में गुरु को ज्ञान का विशेषण कहा जाय, तो गुरु-ज्ञान दीर्घ या महत्त्वपूर्ण ज्ञान होगा। गुरु को विशेषण स्वीकार करने पर गुरु-ज्ञान से भिन्न ज्ञान लौकिक-ज्ञान होगा, जो अधिक देर तक नहीं रहता। वह प्रकाशक तो होता है; किन्तु स्थायी नहीं होता। गुरु-ज्ञान दीर्घ या महत्त्वपूर्ण ज्ञान है अथवा वह गुरु रूप ज्ञान है, जिसे हम **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै.उप. 2/1/1) इस श्रुति के आधार पर 'ज्ञान'रूप ब्रह्म कहते हैं। वह अविद्या या अन्तःकरण वासना के कारण आच्छादित है। निरन्तर ध्यान उसका दीपक या प्रकाशक होता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि शरीर की उत्पत्ति एक बार हो गयी तो दूसरा जन्म होने पर भी यह शरीर तो निर्भव (जन्म-उत्पत्तिरहित) होगा ही क्योंकि अगले जन्म में दूसरा शरीर मिलेगा। तथापि नगरी रूप से सभी शरीरों का ग्रहण होने से (जैसा कि 'गुरु का भेजा नगरी आया' से सूचित है) निर्भव नगरी चरम देह होंगे, जिनके बाद में पुनः उत्पत्ति नहीं होगी, दूसरा शरीर नहीं मिलेगा। अतएव **'स्थान्युपनिमन्त्रणे**

सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (यो.सू. 3/51) में वाचस्पति मिश्र (टीकाकार) ने कहा है—**'तस्य हि भगवतो जीवन्मुक्तस्य चरमदेहस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः'**। जीवन्मुक्त योगी जो सर्वविध ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है, उसका केवल एक मुख्य प्रयोजन जिसे चित्त का प्रकृति में लय कहते हैं, ही अवशिष्ट होता है। इस प्रकार यदि 'निर्भौ नगरी' शब्द से स्थूल शरीर के साथ सर्वदा रहने वाले सूक्ष्म शरीर के घटक मन का ग्रहण किया जाय तो उसका दीपक या जलाने वाला गुरु ज्ञान होगा, जो चित्त को प्रतिसर्ग में प्रेरित कर प्रकृति रूप (प्रधान रूप) में प्रतिष्ठित कर देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि चित्त जल गया, अस्तित्वविहीन हो गया।

अथवा यह भी अर्थ किया जा सकता है कि गुरु (सोपाधिक ब्रह्म; क्योंकि वही नगरी या शरीर में जीव को कर्मानुसार भेजता है), रूप ज्ञान ही, दीपक या मन का प्रेरक है। अतः केवल योगाङ्गों के अनुष्ठान से, केवल ध्यान से हमें लक्ष्य-प्राप्ति नहीं होगी, हमको तो गुरुरूप ज्ञान की शरण में जाना ही होगा। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण **'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः'** (2/49) यह कहते हुए बुद्धि गुहा में शरण या रक्षिता (रक्षा करने वाले परमात्मा) को खोजने की बात श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं।

यदि निर्भव नगरी को ही गुरु (श्रेष्ठ) ज्ञान का दीपक कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि भवसम्बन्धरहित, संसार-प्रयोजनों से रहित, चरम देह वाला जो योगी है, वही श्रेष्ठ ज्ञान का दीपक (बताने वाला) होता है। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (7/2)

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै.उप. 2/1/1) **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ.उप. 3/9/28) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित होने वाले ब्रह्मस्वरूप ज्ञान को मैं स्वानुभवसहित (विज्ञानसहित) बतला रहा हूँ। मैंने जो अनुभव किया है उस अनुभव के साथ बतला रहा हूँ। अनुभव ही श्रेष्ठ ज्ञान है। केवल शब्द से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान होने से विज्ञान नहीं कहा जा सकता है। भगवान् आगे कहते हैं कि इस नित्य चैतन्यरूप ज्ञान को जानने के बाद (वेदान्तजन्य मनोवृत्ति

का विषय करने के बाद) अन्य कुछ भी जानने योग्य वस्तु शेष नहीं रह जाती। ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है, अतः उसका ज्ञान होने से कल्पित सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाने पर तुम सन्मात्र के (ब्रह्ममात्र के) ज्ञान से ही कृतार्थ हो जाओगे; क्योंकि वही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार गुरु ज्ञान या श्रेष्ठ ज्ञान जिसमें है वही दीपक होता है। वही दीपक की तरह संशय को दूर कर वस्तु को विकल्परहित निश्चयात्मक स्वरूप में प्रकाशित करता है। वही वस्तु की प्राप्ति के साधनों को प्रकाशित करता है। अतएव भगवान् ने अन्यत्र भी, गीता में ही कहा है— **'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'** (गीता 4/34) अर्जुन तुम्हें तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग 'ज्ञान' का उपदेश करेंगे, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का उपदेश करेंगे। तत्त्वदर्शी वही है जो स्वरूपसाक्षात्कार कर चुका है। उसी के पास श्रेष्ठ ज्ञान (गुरु ज्ञान, अनुभवात्मक ज्ञान) है। निराश मठ में निरन्तर ध्यान से शरीर, निर्भव ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ हो गया है; क्योंकि गुरु-ज्ञानरूपी दीपक भी प्राप्त हो गया है। असम्भावना विपरीत भावना रूप अन्धकार या आवरण दूर हो गया है। देह से अतिरिक्त एक अविनाशी आत्मतत्त्व या ब्रह्म की सम्भावना नहीं है, ऐसा तत्त्व नहीं हो सकता इसे असम्भावना कहते हैं। दृश्यमान जड़ जगत् सत्य है, भिन्न-भिन्न वस्तुएँ सत्य हैं, यह विपरीत बुद्धि जो अविद्या के कारण होती है। यही विपरीत भावना है। अतएव पञ्चदशी में कहा गया है— **'इहानादिरविद्यैव व्यमोहैकनिबन्धनम्'** (1/14) सत्तारूप ब्रह्म में जगत् की प्रतीति का कारण अनादि अज्ञान ही है। यह विपरीत बुद्धि गुरु-ज्ञानरूपी दीपक से दूर होती है; किन्तु इसमें 'स्थिर ऋद्धि' ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य मन की आवश्यकता है, अमरपद दण्ड आदि भी अपेक्षित हैं, इस तथ्य को आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

स्थिर ऋद्धि

इस प्रकार के गुरुज्ञान के दीपक की प्राप्ति के अनन्तर स्थिर ऋद्धि की चर्चा आचार्यचरण ने की है। ऋद्धि क्या है? इस जिज्ञासा का शमन हम ऋद्धि शब्द के प्रसंगानुरूप अर्थ पर विचार करके कर सकते हैं। **'योग्यमृद्धिः सिद्धिलक्ष्म्योर्वृद्धेरप्याह्वया इमे'** (अ.को. 2/4/112) से योग्य, सिद्धि, लक्ष्मी, वृद्धि—यह चार नाम ऋद्धि नामक औषधि के हैं। औषधि अर्थ

प्रसंगानुकूल न होने से '**ऋद्धिः स्यादौषधिभेदे समृद्धावपि योषिति**' ऋद्धि शब्द एक औषधि तथा समृद्धि दोनों अर्थों को कहता है। इन दोनों अर्थों में यह स्त्रीलिङ्ग होता है' इस मेदिनीकोश के आधार पर इसका यदि वृद्धि अर्थ लिया जाय, तो 'स्थिर वृद्धि' यह अर्थ मात्रा से बोधित होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निर्भव नगरी अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के अनुकूल चरमशरीर, में गुरु-ज्ञानरूप दीपक के प्राप्त होने पर गुरु के निर्देशानुसार स्थिर या विक्रियारहित ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग की भूमियों में वृद्धि या उत्तरभूमि को प्राप्त करने का क्रम निरन्तर चलता है और अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति होती है। निर्भव नगरी तथा गुरु-ज्ञान दोनों का दीपक—उद्दीप्त करने वाला या प्राप्त कराने वाला निराशापूर्वक निरन्तर ध्यान ही है। हम यह भी कह सकते हैं कि 'वृध' धातु जिससे 'वृद्धि' शब्द बना है, छेदन अर्थ में है। जैसे वर्धकि—बढ़ई लकड़ी का छेदन करता है उसी प्रकार गुरु-ज्ञानरूप दीपक के प्राप्त होने पर स्थिर ब्रह्म की प्राप्ति के लिए पुण्य-पाप सभी कर्मों का छेदन प्रारम्भ हो जाता है। स्थिर ब्रह्म की प्राप्ति तक यह छेदन या प्रतिबन्धक कर्मों का निवारण चलता रहता है। यदि ऋद्धि का औषध अर्थ करें, तो भवरोग के लिए स्थिर (औषधि प्राप्त है) यह अर्थ भी हो सकता है, यह स्थिर औषध ब्रह्म है। औषध अर्थ में योग्य और ऋद्धि एक ही अर्थ के वाचक हैं। योग्य शब्द का अर्थ स्पष्ट करने हेतु '**योगाय प्रभवति**' योग के लिए जो समर्थ है, इस व्युत्पत्ति में '**योगाद्यच्च**' (5/1/102) इस सूत्र से योग्य शब्द की सिद्धि अमरकोश-टीकाकार ने प्रदर्शित किया है। योग शब्द की '**युज्यते इति योगः**' यह व्युत्पत्ति दी गयी है। इस व्युत्पत्ति में जो युक्त हो वह योग कहलायेगा तथा जो योग के अर्ह है उसे योग्य शब्द कहेगा, मन युक्त होता है, अतः उसे योग कहेंगे; किन्तु जो शम-दम-उपरति-तितिक्षा आदि के द्वारा योग या मेल में समर्थ होता है, वह योग्य है। इस प्रकार दो तरह का मन बताया गया, युक्त होने वाला तथा कुछ साधनों की अपेक्षा करके युक्त होने वाला। 'युज समाधौ' और 'युजिर् योगे', 'युज संयमने' (चुरादि) इन धातुओं से योग शब्द बनता है। अतः जो समाधि के अर्ह हो अथवा मेल के अर्ह हो या संयमन के योग्य हो, उसे योग्य कहेंगे। किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि कौन मिलेगा? किससे मिलेगा? या कौन समाधिस्थ होगा? किसका संयमन होगा? इस प्रसंग पर विचार करें, तो

दीपक गुरु ज्ञान के बाद यह मात्रा है, अतः ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से योग या मेल की दृष्टि से ही स्थिर ऋद्धि का उपदेश किया गया है, यह स्पष्ट होता है। स्थिर या विचलनरहित जो मन है वही ऋद्धि है, मिलने के योग्य है, यह कहा जा सकता है। इस प्रकार मन मिलता है या मन का संयमन होता है, यह स्वीकार कर लेने पर मन को बाँधने वाले प्राण को योजन या मेल का कर्ता स्वीकार करना होगा; क्योंकि प्राणायाम के बिना मन नियन्त्रित नहीं होता। **ऐसी स्थिति में स्थिर प्रयत्न वाला निरन्तर ध्यान करने वाला या निरन्तर प्राणायाम करने वाला जीव समाधि के योग्य है। यह स्थिर ऋद्धि का अर्थ किया जा सकता है।** हम जानते हैं कि जब तक मन संसार में है स्थिर नहीं हो सकता; क्योंकि वह नए-नए विषयों का अनुधावन करता रहता है। फलतः स्थिर शब्द एवं ऋद्धि शब्द दृढ़ योजक-योजन के कर्ता, का बोध कराते हुए उपक्रम में **'इडा में आवे पिंगला में धावे'** के द्वारा बोधित श्वास की आवृत्ति के बोधक होंगे। अर्थात् जीव का श्वास ही ब्रह्म से योजन या मेल के योग्य होगा। हम श्वास या प्राण को ही प्रयत्नपूर्वक निरन्तर चलाने का प्रयास करेंगे; वही ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट होगा, उसी के साथ मन का प्रवेश होगा।

यदि 'स्थिर ऋद्धि' मात्रा में 'स्थिरस्य ऋद्धिः' (स्थिर की ऋद्धि) यह समास करके स्थिर ब्रह्म की समृद्धि, यह वाक्यार्थ कहा जाय, तो स्थिर ब्रह्म की प्राप्ति से पूर्व मिलने वाली स्थिर सिद्धियों का बोधक यह वाक्य होगा; किन्तु यह सिद्धियाँ तत्त्व-प्राप्ति में बाधक हैं; क्योंकि जो साधक इन सिद्धियों के वशीभूत होकर निरन्तर ध्यान तथा गुरु के उपदेश आदि को भूल जाते हैं, उन्हें तत्त्व-प्राप्ति नहीं होती। इस समय आवश्यकता यह होती है कि हम निरन्तर चलने वाली श्वास प्रक्रिया को दण्ड की तरह स्थिर कर दें तथा मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए मूलाधार से सहस्रारपर्यन्त श्वास को स्थिर रखें।

गोरखबानी में पृ. 199 पर अभय मात्रा योग शीर्षक से कुछ मात्राएँ मुद्रित है। इनमें 'अमृत प्याला, निहंचल रिधी' यह दो मात्राएँ साथ-साथ उच्चरित हैं, जो अमृत प्याला के साथ निहंचल रिधी का सम्बन्ध सूचित करती हैं। आचार्यचरण मात्रा में स्थिर ऋद्धि कह रहे हैं। इस स्थिर ऋद्धि का भी 'अमृत प्याला' से सम्बन्ध है; क्योंकि 'अमृत प्याला' में 'मन' (उदक मन) को प्राणायाम

के अभ्यास के द्वारा सुषुम्ना नाडी के माध्यम से पहुँचा कर निराशापूर्वक निरन्तर ध्यान के द्वारा 'स्थिर ऋद्धि' की प्राप्ति बताई जा रही है।

अमरपद दण्डा

'अमर पद दण्डा' यह मात्रा नित्य (अमर) ब्रह्म पद को 'दण्ड' बतलाती है। यह मात्रा त्रिदण्ड, 'दण्डी', संन्यासियों के द्वारा लिये जाने वाले 'दण्ड' को इङ्गित करती है। 'वश कर आसा' इस मात्रा में प्रयुक्त 'आसा' शब्द सामान्य दण्ड का बोधक है, जिसे यति कुत्ते आदि हिंस्र पशुओं से रक्षा के लिए पास में रखते थे। ऐसा शास्त्रीय वचन है कि संन्यास की विधि से दण्डधारण करने पर व्यक्ति नर से नारायण हो जाता है।

'दण्ड ग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्' (ब्रह्मवै.पु., अ. 83, श्लो. 82) यह वचन केवल दण्ड से ही नारायणस्वरूपता की प्राप्ति को सूचित करता है। 'दण्डी संन्यासी' सर्वत्र दण्ड को अपने साथ रखते हैं। इसलिए उनका 'दण्डी' दण्डवाला यह नाम सार्थक है। प्रकृत मात्रा कहती है कि जो ब्रह्म पद से नित्य सम्बन्ध रखते हैं, जिन्होंने सहस्रार चक्र में ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया, वही दण्डी है। ब्रह्मपद (अमर पद) ही दण्ड है और उससे नित्य सम्बद्ध (नित्य सम्बन्ध रखने वाला) दण्डी है।

गोरखबानी में भी निम्न सबदी इसी तथ्य को प्रतिपादित करती है—

डंडी सो जे आप डंडै, आवत जाती मनसा षंडे।
पंचौ इंद्री का मरदै मांन, सो डंडी कहिये तत समांन ॥

(सबदी-80, गो.बानी, पृ. 48)

दंडी (डंडी) वही है, जो अपने को दंडित करता है, जो आने-जाने वाली इच्छा अर्थात् क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली नयी-नयी इच्छाओं को खण्डित करता है, अर्थात् उनका उदय रोक देता है। जो पाँचों इन्द्रियों के मान (अहंकार) को मर्दित करता है, ऐसे दण्डी को यह कहना चाहिए कि वह तत्त्व में समा गया है, प्रविष्ट हो गया है। तत्त्व में समाना, आत्मा और परमात्मा के भेद के समाप्त होने से होता है। यह भेद तब समाप्त होता है, जब परमात्मा को ही हम आत्मा के रूप में जान जाते हैं। इस प्रकार परपद को दण्ड बतलाया गया।

प्रकृत कथ्य 'अमरपद दण्डा' में अमर पद से बोधित होता है। इसे स्पष्ट करने हेतु 'अमरपद दण्डा' इस मात्रा का दण्ड शब्द अश्व का बोधक भी कहा जा सकता है। क्योंकि—

दण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः।
व्यूहभेदे प्रकाण्डेऽश्वे कोणमन्थानयोरपि॥
अभिमाने ग्रहे दण्डश्चण्डांशोः परिपार्श्वके॥

इस विश्वकोश के अनुसार दण्ड शब्द के विभिन्न अर्थों में अश्वरूप अर्थ अन्वय की दृष्टि से विशेष संगत होता है। आचार्यचरण यह बतलाना चाहते हैं कि निरन्तर ध्यान करने से श्वास के स्थिर होने पर जब उसका विचलन (हिलना-डुलना) समाप्त हो जायेगा तो दण्ड की तरह प्रतीयमान श्वास सुषुम्ना के द्वारा सीधा सहस्रार-चक्र से सम्बद्ध हो जायेगा और यह सुषुम्ना के द्वारा मन को सहस्रार-चक्र में पहुँचाने में अश्व का कार्य करेगा। जैसे अश्व पर चढ़कर सवार (अश्ववार) अपने अभीष्ट स्थान में जाता है तथा मार्ग में स्थित बाधक उसे कष्ट नहीं दे पाते, उसी प्रकार विचलनरहित श्वास 'मन' को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचाने में अश्व का कार्य करता है। प्राण मन से बँधा है, अतः प्राण के सुषुम्ना में प्रवेश के साथ मन भी वहाँ जायेगा; क्योंकि प्राण के द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् विधृत (विशेषरूप से धारित) है। **'प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धं'** (बृ.उप. 1/3/23) प्राण के द्वारा ही यह सम्पूर्ण जगत् उत्तम्भित है, यह श्रुति प्राण को सबका धारण करने वाला बता रही है। **'प्राणबन्धनं सौम्यं मनः'** (छा.उप. 6/8/2) प्राणरूप बन्धन वाला मन है—यह वाक्य प्राण को मन का बन्धन बतलाता है। अस्तु, जो सबको धारण करने वाला है, वह मन का बन्धन तो है ही। अतएव 'मन को मार करो असवारी' इस मात्रा-सूत्र में मन को प्राणायाम के द्वारा मारकर असवारी करने का सङ्केत भी आचार्यचरण ने दिया है।

धीरज फहुड़ी

विचारणीय मात्रा 'धीरज फहुड़ी तपकर खण्डा' में धैर्य को फहुड़ी (काष्ठ की कुदाल) बताया गया है। मनु ने—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शोचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (6/92)

में धैर्य को सर्वप्रथम सामान्य धर्म के रूप में धृति शब्द से कहा है। धैर्य उद्विग्नता का अभाव है, जिससे साधक प्रभु को प्रिय हो जाता है, अतएव गीता में कहा गया है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(गीता 12/15)

अतः धैर्य से रहना या उद्विग्न न होना साधक का प्रधान गुण है। अस्तु, इस मात्रा का अर्थ विचार करते समय यह जिज्ञासा होती है कि निरन्तर ध्यान के लिए धैर्य एवं निराशा दोनों की आवश्यकता तो है किन्तु धैर्य को फहुड़ी क्यों कहा जा रहा है? फहुड़ी काठ की कुदाल है, जिससे महात्मवृन्द धूनी की राख हटाते हैं। फहुड़ी का यह कृत्य ही उसकी उपयोगिता तथा धैर्य्य के साथ उसकी उपमा को स्पष्ट कर रहा है। धूनी से राख को न हटाने पर राख की ढेर से धूनी की आग के बुझने का भय रहता है। राख से ढँकी हुई आग बची भी रहे तो वह शैत्य निवारण में समर्थ नहीं हो पाती, अतः राख को सर्वदा हटाया जाता है। निरन्तर राख को हटाते हुए भी आग की दीप्ति को बनाए रखने की इच्छा वाला साधक, कभी ऊबता नहीं है। साधना की परम्परा में धैर्य का क्या महत्त्व है? इसे हमें गोरखबानी में निम्न पद के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं—

धीरजि थंम जडोरी धुनि समानां असमानं।
अटल दुलीचा अषै पद, जहां गोरष का दीवानं॥

(ग्यांनतिलक 45, गो.बानी, पृ. 237)

इस पद में यह स्पष्ट किया गया है कि अक्षय पद (अषै-पद-ब्रह्म पद) वह स्थिर आसन है (अटल दुलीचा) जहाँ गोरख का दरबार लगता है, अर्थात् गोरख उसी अक्षय पदरूप आसन पर बैठकर दरबार करते हैं। दरबार राजा का लगता है, जो सर्वसमर्थ होता है। अपना दरबार बताकर गुरु गोरखनाथ ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह पूर्ण रूप से ब्रह्म पद में प्रतिष्ठित है। यह अक्षयपद धैर्य के स्तम्भ (थंम खंभा) और धुन या तल्लीनता की डोरी के सहारे आसमान (शून्य) में समाया हुआ है। धैर्य और धुन दोनों के मन में होने से उनका अक्षय पद से कोई

सीधा सम्बन्ध नहीं है, वह तो निरालम्ब है, फिर भी यह दोनों उसकी प्राप्ति में प्रमुख साधन हैं, यह ध्वनित होता है।

साधना के अन्तिम चरण में ब्रह्म प्राप्ति के सन्निकट पहुँचे साधक के लिए धैर्य को स्तम्भ बतलाया जा रहा है; क्योंकि इसके पूर्व के पद्य में—

बाफ न निकसे बूंद न ढलकै, सहजि अंगीठी भरि भरि रांधै।
सिध समाधि योग अभ्यासी, तब गुरु परचै सांधै॥

(सबदी-44, गो.बानी, पृ. 237)

निरन्तर योगाभ्यास तथा सिद्ध समाधी ऐसी समाधि जो मङ्गल करने वाली है के द्वारा गुरु से परिचय प्राप्त करने की चर्चा आई है। आचार्य चरण भी इस अवस्था के धैर्य को 'फहुड़ी' बता रहे हैं, जिससे राख हटने पर अग्नि प्रज्ज्वलित होगी, ज्ञान प्रदीप्त होगा। मनु ने 'धैर्य' को धर्म का प्रथम स्वरूप बतलाया है। वह आजीवन आश्रयणीय है, धैर्य का आश्रयण कर सभी कार्य करने हैं, किन्तु ब्रह्म पद को प्राप्त कराने वाला धैर्य, विशेष प्रकार का है। इसके साथ केवल तल्लीनता पूर्वक ब्रह्मपद में मन को लगाना है।

साधना की दृष्टि से विचार करें तो सम्प्रज्ञात-समाधि का प्राप्त होना ही धूनी की आग का जलना है। यहाँ से असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति तक अविद्या आदि क्लेशों को क्षीण करता हुआ साधक आध्यात्मिक यात्रा करता रहता है। इस काल में धैर्य्य की 'फहुड़ी' की आवश्यकता होती है। धैर्य्यपूर्वक हमें यह समय बिताना होता है। धीरे-धीरे क्लेश क्षीण होते हैं और हमें धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है (द्रष्टव्य–यो.सू. 4/29)। धर्ममेघ समाधि के बाद सभी क्लेश अविद्या के साथ निवृत्त हो जाते हैं (द्रष्टव्य–यो.सू. 4/30)। क्लेशकर्म की निवृत्ति के पश्चात् साधक (विद्वान्) जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। अब तो केवल चित्त प्रतिसर्ग ही उसका एक प्रयोजन रह जाता है तथा अन्ततः चित्त का प्रकृति में लय होता है। धर्ममेघ समाधि के सम्बन्ध में योगसूत्र (1/2) के भाष्य में यह प्रतिपादित किया गया है कि रजोगुण की न्यून मात्रा (रजोलेश) के भी दूर हो जाने पर चित्त, सत्त्व एवं पुरुष की अन्यता या भेद का प्रकाशन करता है। जो स्वरूप में प्रतिष्ठित है, ऐसे चित्त में धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है। भाष्यवाक्य है—**'तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं**

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगमं भवति'। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी धैर्य्यरूपी फहुड़ी सर्वानर्थबीजभूत चित्त का भी अपसारण (हटाना) करने में (चित्त का लय करने में) समर्थ हो जाती है। किन्तु अविद्या आदि क्लेश चित्त लय के पहले क्षीण हो जाते हैं, कर्म-बन्धन शिथिल हो जाते हैं, अविद्यादि क्लेश एवं कर्म-बन्धनों की सर्वथा समाप्ति तो चरम देह के उत्सर्ग के साथ ही, चित्तलय के समकाल में होती है। यह धैर्य्य ऐसा है जो हमारे बिना प्रयास के ही अविद्यादि क्लेशों को दूर करता है। इस प्रकार आगे का कार्य धैर्य के रहने पर होता रहता है। चित्त प्रतिसर्ग में साधक का अपना प्रयास नहीं होता, वह केवल धैर्यपूर्वक उसकी प्रतीक्षा करता है। अतएव **'तस्य भूमिषु विनियोगः'** (यो.सू. 3/6) में कहा गया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यः योगो योगात् प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

आशय यह है कि योग ही योगमार्ग में उपाध्याय (गुरु) है, अतः योग से ही योग को जानना चाहिए, योग से योग प्रवृत्त होता है (आगे चलता है)। अतः जो अप्रमत्त रहता है वह योग में चिरकाल तक रमण करता है। योग में चिरकाल तक रमण धैर्य के बिना नहीं हो सकता। योग से योग का ज्ञान भी धैर्य के बिना नहीं हो सकता। योग से योग की प्रवृत्ति अर्थात् विभिन्न अग्रिम क्रियाओं का ज्ञान भी धैर्य के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करें तो साधना-मार्ग में हमें निरन्तर धैर्य्य की आवश्यकता होती है। धैर्यपूर्वक ही तप का अनुष्ठान करते हुए हम ईश्वर-प्रणिधान तक पहुँचते हैं। इसीलिए **'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'** (यो.सू. 2/1) इस सूत्र में त्रिविध तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को अनुष्ठेय (करने योग्य) बतलाया गया है।

तप कर खण्डा

तत्त्व प्राप्ति में तप का महत्त्व गोरखबानी के विभिन्न पदों में स्पष्टरूप से देखने को मिलता है। 'अभै मात्रा योग' में पृ. 198 पर **'तप चक्र'** यह वाक्यांश मिलता है, जो तप को चक्र की तरह निरन्तर आवर्तनीय बतलाता है। इससे स्पष्ट होता है कि अविराम गति से निरन्तर 'तप' करना चाहिए। 'धीरज फहुड़ी' के अनन्तर 'तप कर खण्डा' इस मात्रा में तप के खण्डा का वर्णन है।

जो फहुड़ी से धूनी की राख हटने के बाद 'अग्नि' को प्रदीप्त करने के लिए काष्ठ उपलब्ध कराता है। प्राणायाम रूप यह तप का 'खण्डा' है, इसे आगे स्पष्ट किया गया है।

'जप तप जोगी संयम सार' (सबदी 253, गो.बानी, पृ. 98) जप-तप और संयम को 'सारतत्त्व' बतलाया गया है।

इस मात्रा में 'तप' का खड्ग धारण करने हेतु आचार्यचरण उपदेश देते हैं। मनु भी तप और विद्या की आवश्यकता बतलाते हुए कहते हैं—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(म.स्मृ. 12/104)

तप और विद्या यह दोनों ही विप्र के लिए (विशेष रूप से अपने तपश्चरण एवं ज्ञान से समाज को पूर्ण करने वाला विप्र है) निःश्रेयस को (मोक्षरूप कल्याण को) सिद्ध करने वाले हैं। तप से वह किल्विष को दूर करता है और विद्या से अमृत या मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार किल्विष या कल्मष को दूर करने के लिए तप की आवश्यकता है। 'तप कर खण्डा' इस मात्रा में पूर्व में प्रदर्शित योग की गुरुता (सर्वरहस्यबोधकता) को स्पष्ट किया गया है; क्योंकि योग के अंग प्राणायाम को सबसे श्रेष्ठ तप—**'तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य'** (यो.सू. भाष्य 2/52) के द्वारा बतलाया गया है। साधनपाद के प्रथम सूत्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्युपस्थापित विषयजाल वाली वासना (ऐसी वासना जो विषयसमूह को नियत रूप में नियत समय पर उपस्थापित करती है) तप के बिना नष्ट नहीं होती। वासना चित्त को विचलित करती है, ध्यान की निरन्तरता को भङ्ग करती है। उसके रहते हम श्वास एवं ध्यान की अविच्छिन्न स्थिति को ही नहीं प्राप्त करते, उनका दण्ड की तरह घनीभूत एवं विचलनरहित होना तो दूर की बात है। 'तप कर खण्डा' इस मात्रा में यह प्रतिपादित है कि तप के खड्ग के द्वारा धीरे-धीरे वासना को काटकर क्षीण किया जाता है। शास्त्रों में अगणित तप वर्णित हैं। सकलशास्त्रसारभूत गीता में शारीर, वाङ्मय एवं मानस तप का वर्णन है (द्रष्टव्य–गीता, अ. 17, श्लो. 14-19 तक)। महात्मवृन्द लकड़ी काटने के लिए खण्डा की सहायता लेते थे।

आचार्यचरण का आशय है कि जैसे इस खड्ग का काम ईंधन उपलब्ध कराकर, धूनी की आग को प्रदीप्त करना है, उसी प्रकार हमारे पास जो तप का खड्ग है, वह निरन्तर प्रतिपल वासनाओं को क्षीण करता है। यह तपरूपी खड्ग अपने आप बदलता भी रहता है; क्योंकि योग की अनन्तर भूमियों में साधक प्रवेश करता जाता है, अतः यह नित्य नूतन होता हुआ अविराम गति से अपना कार्य सम्पादित करता है। जैसे खड्ग से वृक्ष का छेदन होता है, उसी प्रकार तप के खड्ग से संसार वृक्ष का छेदन होता है।

'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (यो.सू. 2/2) में यह स्पष्ट किया गया है कि समाधि की भावना के लिए तथा क्लेशों को विरल करने के लिए क्रियायोग—क्रियारूप योग जो तप स्वाध्याय और ईश्वर में कर्मफल के समर्पणरूप ईश्वर प्रणिधान स्वरूप है, का आश्रयण करना ही चाहिए; क्योंकि विचित्र अनादि कर्म-क्लेश-वासना तप के बिना क्षीण नहीं होती। इसलिए योगभाष्यकार ने कहा है—**'नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति'** (यो.सू. 2/1) जो तपस्वी नहीं है—नित्य तप नहीं करता, उसको योग सिद्ध नहीं होता, योग का फल उसे प्राप्त नहीं होता।

क्रियायोग में ईश्वर-प्रणिधान का ग्रहण किया गया है, जो सभी क्रियाओं का ईश्वर में समर्पण या सर्वकर्मफल संन्यास रूप होने से भक्ति ही है। उपर्युक्त भाष्य-वाक्य से कर्म की प्रधानता सिद्ध होती है। यतः गीता में प्रोक्त शारीर, वाङ्मय तथा मानस तप क्रियात्मक ही हैं। अतः इनका स्वरूप जानना आवश्यक है; क्योंकि इनके पूर्वानुष्ठान के बिना समाधि नहीं सिद्ध होती। श्रीमद्भगवद्गीता में निम्न वचन विविध तप का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ (17/14)

देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानी (कृतात्मसाक्षात्कार प्राज्ञ) का पूजन, शौच (पवित्रता) तथा ऋजुता (आर्जव) को शारीर तप कहते हैं, इनके अनुष्ठान में शरीर की प्रधानता है। इनके साथ ब्रह्मचर्य (अष्टविध मैथुन का विवर्जन) और अहिंसा भी शारीर तप है। ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यमरूप योगाङ्ग भी हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ (17/15)

अनुद्वेगकर वाक्य जो प्राणियों को कष्ट न दे, जो यथाभूतार्थ का प्रतिपादन करे (सत्य), जो प्रिय दृष्ट अथवा अदृष्ट को सूचित करता हो (प्रिय), जो हित करने वाली (दृष्ट वा अदृष्ट) वस्तु को सूचित करे, ऐसे वाक्य का उच्चारण वाङ्मय तप कहलाता है। दूसरे को बोध कराने के लिए वाक्य का प्रयोग होता है, ऐसे वाक्योच्चारण की तपस्त्वसम्पत्ति (तप बनाने) के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अनुद्वेगकरत्व, सत्यत्व, प्रियत्व, हितत्व आदि गुण हों। यदि उस वाक्य में इनमें से कोई एक, दो या तीन गुण नहीं हैं, तो उसका उच्चारण वाङ्मय तप नहीं है, इन गुणों से युक्त वाक्य परम तप है। स्वाध्यायाभ्यसन, स्वाध्यायशब्दवाच्य वेद या वेदमूल प्रणव का अभ्यास है, अध्यात्म-शास्त्रों का अध्ययन भी वाङ्मय तप है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानस उच्यते॥
(17/16)

इस गीता श्लोक में मानस तप का वर्णन है। मन की प्रशान्ति (विषय-चिन्ता की व्याकुलता से रहित होना) ही मन का प्रसाद है। सौम्यता सौमनस्यरूप तप है, जो मुख की प्रसन्नता से परिलक्षित होने वाली अन्तःकरण की वृत्तिविशेष है। मौन को भी मानस तप कहा गया है। यद्यपि यह वाक्संयम रूप होने से वाणी का व्यापार है, तथापि मनःसंयम वाक्संयम में कारण है, अतः मौन को मानस तप कहा गया है। आत्मविनिग्रह विशेष रूप से मनोनिरोध है। मधुसूदन सरस्वती ने मुनियों के द्वारा एकाग्रतया अनुष्ठीयमान आत्मचिन्तनरूप निदिध्यासन, जो मनःसंयम है, को मौन कहा है, यह वाक्संयम का हेतु है। आत्मविनिग्रह को असम्प्रज्ञात-समाधि कहा है तथा इसे **'आत्मनो मनसो विशेषेण सर्ववृत्तिनिग्रहो निरोधः समाधिरसम्प्रज्ञातः'** इस व्युत्पत्ति से लभ्य बतलाया है। मौन तथा आत्म-विनिग्रह के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने कहा है—**मनोनिरोधः सर्वतः सामान्यरूप आत्मविनिग्रहो वाग्विषयस्यैव मनसः संयमो मौनमिति विशेषः।** आशय यह है कि आत्म-

विनिग्रह सामान्यविषयक मनोनिरोध है, वाणी के विषय से मन का संयम (मन को रोकना) मौन है। इससे स्पष्ट है कि वाग्विषय से मन के संयमरूप मौन के द्वारा हम सामान्यविषयक मनोनिरोधरूप आत्मविनिग्रह को प्राप्त करते हैं।

अन्त में भाव-संशुद्धिरूप मानस तप का उल्लेख है। मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार इसे प्रस्तुत कर भाव स्पष्ट किया है—**'भावस्य हृदयस्य शुद्धिः कामक्रोधलोभादिमलनिवृत्तिः पुनरशुद्ध्युत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावशुद्धिः परैः सह व्यवहारकाले मायाराहित्यमिति भाष्यम्'**—हृदय के काम, क्रोध, लोभ आदि मलों की निवृत्ति हो जाने से होने वाली शुद्धि को भावशुद्धि कहते हैं। यह सम्यक्-शुद्धि है; क्योंकि अशुद्धि की पुनः उत्पत्ति न होने से उसे सम्यक्त्वविशिष्ट शुद्धि कहा जा सकता है। काम, क्रोध, लोभ के रहते माया-प्रयुक्त व्यवहार होते हैं, अतएव इन दोषों के अभाव में मायाप्रयुक्त व्यवहार के न होने से भाष्यकार ने मायाप्रयुक्त व्यवहारराहित्य को भाव-संशुद्धि कहा है।

अस्तु, पूर्व में विवृत्त तप समूह, समाधि-योग के लिए अवश्य अनुष्ठेय हैं; क्योंकि इनके बिना योगानुष्ठान व्यर्थ हो जाता है। यह सभी शरीर, वाणी या मन के कर्मरूप हैं, अतः कर्मयोग अथवा समाधियोग से संसिद्धि की प्राप्ति के लिए कर्म अनुष्ठेय हैं, यह सिद्ध होता है।

वश कर आसा

इस तपरूपी खड्ग को, सहारे या अवलम्ब की प्राप्ति 'वशकर आसा, समदृष्टि चौगान' इन दो मात्राओं से होती है। आसा शब्द द्व्यर्थक (दो अर्थों वाला) है। 'अस्यन्ति क्षिपन्त्यनेनेत्यासः' इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न 'आस' शब्द विभिन्न अर्थों का वाचक होता है। जैसे वह दण्डवाची होगा (जब उससे शत्रुओं अथवा हिंस्र वन्य जन्तुओं को दूर किया जाय) तथा इन्द्रियवाची होगा (जब **'अस्यन्ति क्षिपन्ति दूरीकुर्वन्ति कल्याणं निःश्रेयसभूतं यैः'** इस व्युत्पत्ति में इन्द्रियों की विषयप्रवणता में मोक्ष को दूर करना विवक्षित हो), यह दोनों व्युत्पत्तियाँ लौकिक अर्थ एवं आध्यात्मिक अर्थ दोनों की दृष्टि से समीचीन भी हैं।

औचित्य की यह चर्चा कुछ अंशों तक तो ठीक है; क्योंकि दोनों ही (दण्ड तथा इन्द्रिय) कुछ न कुछ प्रतिबन्धक दूर करते हैं। किन्तु पूर्णतः औचित्य

स्वीकार करने हेतु सूक्ष्मता से विचार आवश्यक है। हम जानते हैं कि आचार्यचरण लौकिकार्थ एवं गूढार्थ दोनों को साथ-साथ प्रस्तुत करते चलते हैं, जैसे अभी-अभी ऊपर की मात्राओं में तप को खड्ग तथा धीरज (धैर्य्य) को फहुड़ी कहा गया है। उसी प्रकार प्रकृत में भी विचार करें तो वश को (कर) आसा तथा सम दृष्टि को चौगान (जिसके सहारे बैठकर योगी जन निद्रा को जीतते हैं) कहा गया है। अर्थ का विचार करने पर इस उपमा का स्वारस्य स्वयं प्रतीत होने लगता है।

हम जानते हैं कि 'वश कान्तौ' धातु से 'वशिरण्योरुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से अप् प्रत्यय करके इच्छावाची 'वश' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'वश' शब्द से बोधित इच्छा का विषय परमात्मा है; क्योंकि इच्छा सविषयक होती है। लौकिक पदार्थों को इच्छा का विषय नहीं कह सकते; क्योंकि साधना के प्रसंग में लौकिक इच्छा को त्यागने का विधान होता है। यहाँ परमात्मविषयक इच्छा ही दण्ड है। यह परमात्मविषयक इच्छारूपी दण्ड, किन शत्रुओं को दूर करता है (या कौन शत्रु इसको देखते ही दूर भागता है) इस जिज्ञासा का शमन जागतिक पदार्थों या विषयों को दूर किये जाने वाले (उत्सारित किये जाने वाले) पदार्थ के रूप में स्वीकृत कर किया जा सकता है। अर्थात् परमात्मविषयक इच्छारूपी दण्ड से विषयवासना दूर होगी। अतएव गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

जहां राम तंह काम नहिं, जहां काम नहिं राम।
तुलसी कबहुं कि रहि सकैं, रवि रजनी एक ठाम॥

जहाँ राम हैं, वहाँ कामना नहीं रह सकती तथा जहाँ कामना है, वहाँ राम नहीं रह सकते, उस अन्तःकरण में राम का प्राकट्य नहीं हो सकता; क्योंकि सूर्य और रात दोनों एक साथ एक स्थान पर नहीं रह सकते।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पूर्णतः ईश्वरविषयक इच्छा का होना संसारावस्था में सम्भव नहीं है। क्योंकि आवश्यकतानुसार लौकिक इच्छाएँ भी समय-समय पर होती ही रहती हैं। तथापि ईश्वरविषयक इच्छा से प्रधानरूप से ईश्वरविषयक इच्छा को विवक्षित किया जाय तो यह समस्या स्वतः हल हो जाती है। यतः इस इच्छा के प्रधान होने पर सभी प्रयत्न ईश्वरप्राप्तिविषयक ही होते हैं,

ऐसी स्थिति में शरीर के रुग्ण होने पर औषध की इच्छा भी परम्परया ईश्वरविषयक इच्छा हो जाती है; क्योंकि शरीर की स्वस्थता के अभाव में ईश्वरविषयक इच्छा की पूर्ति सम्भव ही नहीं हो पायेगी। यह अवधेय है कि 'वश' शब्द का अर्थ इच्छा करने पर 'वश कर आसा' में प्रयुक्त कर शब्द का अर्थ 'का' स्वीकार करना होगा, जिससे इच्छा (वश) का दण्ड हमारे पास है, यह अर्थ बोधित होगा। 'तप कर खण्डा' इस मात्रा में इसी अर्थ में 'कर' शब्द का प्रयोग हुआ भी है। आसा या दण्ड एक है, अतः इच्छा भी एक होनी चाहिए। ईश्वर के एक होने से ईश्वरविषयक इच्छा एक होगी तथा इस ईश्वरविषयक इच्छा से उसका स्मरण सर्वदा होगा, तो अन्ततः चित्त का 'लय' ईश्वर में ही होगा। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—**'मामनुस्मरतः चित्तं मय्येव प्रविलीयते'** (श्रीमद्भाग. 11/14/27)। चित्त का लय परमेश्वर में होने से क्या होगा, यह नहीं सोचना चाहिए; क्योंकि परमेश्वर का सर्वदा चिन्तन होने पर अन्तकाल में भी परमेश्वर का चिन्तन होने से पुनः जन्म नहीं होगा।

यदि दोनों 'मात्राओं' में कर शब्द हाथवाची स्वीकार करें तो अर्थ में अधिक वैशिष्ट्य आ जाता है। क्योंकि अब मात्राओं का बोध्यार्थ तपरूपी खण्डा हमारे हाथ में है तथा वश (इच्छा) रूपी दण्ड (आसा) हाथ में है, इस रूप में अर्थ व्यवस्थित होगा। शत्रुओं को दूर भगाने वाले दण्ड के हाथ में रहने की स्थिति में दण्ड धारक को निर्भयता का बोध होता है और शत्रु स्वतः दूर रहते हैं। उसके दूर रहने पर स्थिति भिन्न होती है। 'वश कर आशा' इस मात्रा का 'इच्छा को हमने हाथ में कर लिया है' यह अर्थ स्वीकार करने पर, लौकिक इच्छा वश में हो गयी है, यह मात्रा से बोधित होगा। लौकिक इच्छा के वश में होने से अर्थात् लौकिक इच्छा के अभाव में परमात्मा का सर्वदा स्फुरण होगा; क्योंकि प्रभु की प्राप्ति की निरन्तर इच्छा होने पर प्रभु मिलते हैं।

हम जानते हैं, इच्छा का सर्वथा अभाव आत्मप्राप्ति के बाद ही सम्भव है, अतएव श्रीमद्भागवत में श्री शुकदेव जी के द्वारा कहा गया है—

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥

(श्रीमद्भाग. 2/1/2)

हे राजेन्द्र! गृहस्थाश्रमी जो आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सके हैं, उनके लिए बहुत सी चीजें सुनने आदि के लायक हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने के बाद कुछ भी जिज्ञास्य नहीं रह जाता, किसी वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती।

समदृष्टि चउगान

सम दृष्टि में 'सम' शब्द परमात्मा का बोधक है। सम=परमात्मा में ही जिसकी दृष्टि है, वह समदृष्टि कहलायेगा, सम परमात्मा में दृष्टि का आशय सर्वत्र परमात्मा को व्याप्त समझना है। गीता में समदृष्टि का वर्णन इस प्रकार है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता 5/19)

यहाँ दोषरहित (निर्दोष) ब्रह्म को 'सम' शब्द से बोधित किया गया है। अतः समदृष्टि का अर्थ ब्रह्मदृष्टि होगा। ब्रह्मदृष्टि या समदृष्टि में जागतिक पदार्थों की दृष्टि नहीं होती है; क्योंकि जागतिक पदार्थों में न्यूनाधिकभाव होता है। ब्रह्म सर्वदा समभाव में रहता है। अतएव **'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्'** (ब्र.सू. 4/1/5) में स्पष्ट किया गया है कि आदित्य आदि, निकृष्ट पदार्थों में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए; क्योंकि उसमें उत्कर्ष है। वह सभी जागतिक पदार्थों की अपेक्षा सर्वदा उत्कृष्ट है। विचार करें तो ब्रह्म में उत्कर्ष का कारण, विक्रियारहित होने से उसका समभाव में रहना ही है; किन्तु प्रकृत में 'वश कर आसा' के साथ समदृष्टि को 'चौगान' कहने का आशय विचारणीय है।

समे ब्रह्मणि दृष्टिर्यस्य असौ 'समदृष्टिः' इस बहुव्रीहि समास में निष्पन्न 'समदृष्टि' शब्द, सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखने वाले साधक का बोधक होगा, किन्तु यह 'समदृष्टि' शब्द साधक के बैठने हेतु लकड़ी के बने 'चउगान' का विशेषण नहीं हो सकता। 'समा दृष्टिः समदृष्टिः' इस कर्मधारयसमास से निष्पन्न 'समदृष्टि' शब्द उच्चावचभावरहित दृष्टि के स्थैर्य को बोधित करता है। समदृष्टि को 'चौगान' बताने से वह (समदृष्टि) निद्रा को जीतने में सहायक है, यह सिद्ध होता है;

क्योंकि योगिजन चौगान के सहारे बैठकर निद्रा को जीतने का प्रयास करते हैं। किन्तु आचार्यचरण का कहना है कि लौकिक चौगान तो समदृष्टिरूपी चौगान को प्राप्त करने का साधन मात्र है। वास्तविक चौगान तो समदृष्टि ही है; क्योंकि उसी के सहारे हम निद्रा को जीत सकते हैं। दृष्टि को स्थिर कर पलकों को गिरने से रोककर निद्रा को जीता जा सकता है, यह योगिजन की प्रसिद्धि भी है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

(गीता 6/13)

में निद्रा को दूर रखने हेतु ध्यान की विधि बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—काय, शिर और ग्रीवा (गर्दन) तीनों को विचलनरहित करके धारण करते हुए स्थिर होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देखने की मुद्रा में (नासिका के अग्रभाग का दर्शन विवक्षित नहीं है) दिशाओं को न देखते हुए परमेश्वर में चित्त को लगाकर समाहित होकर बैठना चाहिए। यहाँ प्रयुक्त 'सम्प्रेक्ष्य' शब्द समदृष्टि की ओर इङ्गित करता है। यहाँ शिर, गर्दन और कटिप्रान्त (कमर) से ऊपर के भाग का समरूप से धारण विवक्षित है। इन तीनों के एक सीध में रहने पर मूलाधार से शिर के ऊपरी भाग तक वायु को सीधे मार्ग से प्रवेश मिलता है। यदि नेत्र बन्द कर दिये जाँय तो निद्रा का भय तथा खुला रखा जाय तो विक्षेप (विषयदर्शन का भय) रहेगा। अतः नेत्र को आधा खोल कर व्यक्तिविशेष के दर्शन को रोकने हेतु दिशाओं को भी न देखते हुए दोनों भौहों के बीच में दृष्टि को संयत करना चाहिए। इस तथ्य को—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्याँश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥

(गीता 5/27)

में स्पष्ट किया गया है। मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि नेत्रों को एकदम बन्द करने पर निद्रा नाम की लय वृत्ति तथा पूर्णतया खोलने पर प्रमाणविपर्यय, विकल्प और स्मृति वृत्तियाँ होंगी। समाधि के लिए सभी वृत्तियों का निरोध करना है। अतः नेत्रों को आधा खोलते हुए भ्रूमध्य (दोनों भौंहों के बीच) में दृष्टि को स्थापित करना चाहिए। प्राण एवं अपान की भी ऊर्ध्वगति तथा अधोगति का

निरोध कर कुम्भक के द्वारा नासिका के भीतर चरणशील बनाना चाहिए। 'समदृष्टि' की यह अवस्था मन के चाञ्चल्य को कम करके प्रयत्न करने पर प्राप्त होती है।

मन की स्थिरता हर्ष एवं शोक के वेगों से नष्ट होती है; क्योंकि मन बलात् लक्ष्य से दूर चला जाता है। अतः **'हर्ष शोक नहिं मन में आन'** इस मात्रा के द्वारा हर्ष, शोक के वेगों को मन में न लाने का परामर्श आचार्यचरण ने दिया है, जिससे एकाग्रता भंग न हो सके। गीता में भी **'विगतेच्छाभय क्रोधः'** (5/28) यह कहते हुए इच्छा, भय, क्रोध सबका परित्याग करने को कहा गया है।

अतः **'दृष्टिः दर्शनम्, दर्शनसाधनं मनः'**—दृष्टि शब्द से दर्शन-साधन सर्वज्ञान के साधन मन को लिया जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। सम ब्रह्म में दृष्टि या मन हो जाने पर तो हर्ष-शोक का वेग आता ही नहीं; क्योंकि 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईश.उप. 7) इस श्रुति-वाक्य से यह स्पष्ट रूप से बोधित होता है कि एकत्वदृष्टि (ब्रह्मदृष्टि) हो जाने पर हर्ष एवं शोक नहीं होते। इस प्रकार यह मात्रा **'तरति शोकम्'** (मु.उप. 3/2/9) 'ब्रह्मवित्' (ज्ञानी) महापुरुष शोक के वेग को पार कर जाता है' इस श्रुत्यर्थ की ओर सङ्केत करती है।

हर्ष शोक नहिं मन में आन

प्रकृत वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि दूसरी इच्छा को न रखकर केवल ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले ऐहिक भोगों से विरक्त साधक को समदृष्टि के द्वारा निद्रा पर विजय प्राप्त कर ईश्वर-प्राप्ति हेतु प्रयास करते हुए हर्ष-शोक के वेगों को सर्वथा मन से दूर रखना चाहिए। अन्यथा मन में विचलन होने पर वह अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकेगा। ऐसा करते हुए वह कभी भी प्रियसम्प्राप्तिजन्य हर्ष अथवा अप्रियसम्प्राप्तिजन्य (या प्रियवियोगजन्य) शोक के वेगों को मन में स्थान नहीं देता; क्योंकि सहज या स्वाभाविक वैराग्यसम्पन्न होता है। मात्रा के आरम्भ में 'चेतहु नगरी तारहु गाँव' आदि मात्राओं के द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों को नियन्त्रित कर जीवों का उद्धार करने को कहा गया है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ (6/5)

यह कहकर योग में निष्णात होकर अनर्थ समूह से अपना उद्धार स्वयं करने की बात कहा है। हमें अपने को अधोगति को प्राप्त नहीं कराना चाहिए; क्योंकि संसार से उद्धार के लिए आत्मा (विवेकयुक्त मन) ही अपना बन्धु है तथा विषयासक्त मन (आत्मा) ही शत्रु होता है; यतः अन्य बाह्य शत्रु भी हमारे मन के विषयासक्त होने पर ही शत्रुवत् आचरण करते हैं, अन्यथा नहीं। विषयासक्त मन हर्ष एवं शोक दोनों का कारण होता है। शोक से मन में अवसाद होता है, हर्ष से आह्लाद होता है। दोनों स्थितियों में मन ध्यान के योग्य नहीं रह जाता; क्योंकि उस समय अत्यन्त वेग से विषय की ओर उन्मुख होता है। तीव्र शोक में तो मन जड़ीभूत हो जाता है। अतः ध्यान के लिए अपेक्षित भगवत्प्रवणता बाधित होती है। अतएव भगवान् ने गीता में—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

(गीता 12/17)

हर्ष, शोक के साथ द्वेष, कामना और शुभ एवं अशुभ का भी परित्याग करने को कहा है। हर्ष काममूलक 'राग' को सूचित करता है। कामना के रहते सुख नहीं प्राप्त हो सकता। अतः काम, काममूलक राग तथा हर्ष त्याज्य है। द्वेष प्रीति का अभाव है। प्रीति तृप्ति या कान्ति (इच्छा) है। अतः इसका भी सम्बन्ध काम से है। शोक से अभिभूत होने पर प्राण-वायु की स्वाभाविक गति भी बाधित होती है। अतः हर्ष आदि की तरह वह भी त्याज्य है। शुभ एवं अशुभ भी मन को विचलित करने के कारण त्याज्य हैं। इन सबके त्याग हेतु भक्ति को कारण के रूप में भगवान् प्रस्तुत करते हैं; किन्तु यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि हर्ष और शोक मन में न आवें (आन) एतदर्थ प्रयत्न करने को आचार्यचरण कह रहे हैं, तो यह कैसे सम्भव है कि हर्ष और शोक के कारणों के रहते हुए भी इनकी उत्पत्ति मन में न हो। इस पर दो दृष्टि से हम विचार कर सकते हैं—प्रथम दृष्टि में हर्ष, शोक के सम्भावित अवसरों को प्रयत्न करके यदि हम अपने से असम्बद्ध कर दें, तो हम दोनों को बहुत अंशों में टाल सकते हैं।

दूसरी दृष्टि यह हो सकती है कि आन को क्रियापद न मानकर उसे सम्बोधनान्त कहा जाय। 'अनिति इति अनः' (पचाद्यच्) इस व्युत्पत्ति में बना अन शब्द प्राणन क्रिया से युक्त व्यक्ति को कहेगा। यदि 'आ समन्तात् अनिति' जो सर्वतः प्राणन करता है—इस व्युत्पत्ति में आङ्-उपसर्गपूर्वक अन् धातु से अच् प्रत्यय करके, स्वार्थिक अण् से आन बनाया जाय, तो सब प्रकार से प्राणन क्रियायुक्त अथवा निरन्तर अध्यवसाय करने वाले का बोधक होगा, तब मात्रा का अर्थ—भगवद्ध्यान आदि में निरन्तर प्रयास करते हुए तुम हर्ष एवं शोक को मन में आने का अवसर न दो, यह होगा।

सहज विरागी करे विराग

ऐसा सहज वैराग्यसम्पन्न साधक विराग करता है—यह कहते हुए आचार्यचरण 'विरागी' और विराग दोनों जगह प्रयुक्त विराग शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थ वाला सूचित करते हैं। 'विरागी' शब्द विराग से बनता है। यहाँ का 'विराग' शब्द **'व्युच्छिन्नो रागः'** इस व्युत्पत्ति में कर्मधारय समास के द्वारा ऐसे राग को कहता है, जो व्युच्छिन्न या नष्ट हो चुका है। वह आसक्तिरहित पुरुष कैसा विराग करेगा? जब वह स्वाभाविक रूप से विरागयुक्त है, तब तो विराग इसका स्वभाव है। अतः दूसरा विराग शब्द परमात्मविषयक विशिष्ट या अलौकिक राग को कहता है। परमेश्वरविषयक यह प्रेम लौकिक राग से भिन्न होने से अलौकिक राग है; क्योंकि सहज विरागी किसी लौकिक कामना से ईश्वर से प्रेम नहीं करता। उसकी कोई लौकिक कामना नहीं है, यह तथ्य **'माया मोहिनी सकल त्याग'** इस मात्रा से बोधित होता है। लौकिक कामना न होने पर भी ईश्वर से प्रेम करते हुए उनके स्वरूप के स्फुरण के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। अतएव वह विराग करता है, इसको बताने के लिए 'करे विराग' इन दो शब्दों का प्रयोग मात्रा में है। सहज विराग के बारे में जनक का यह वचन द्रष्टव्य है—

कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक।
मुनि कुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति करि गावा।
उभय वेष धरि की सोइ आवा॥

सहज विराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द चकोरा।।

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 215 के बाद)

विश्वामित्र के प्रति राम-लक्ष्मण के विषय में जनक की यह उक्ति 'सहज विराग' के रहने पर भगवत्स्वरूप के प्रति विशिष्ट आकर्षण को बता रही है। चकोर जैसे चन्द्रमा को देखने पर शरीर, मन आदि की क्रियाओं को रोककर उसे ही देखता रहता है, वैसे ही जनक प्रभु की छवि पर आकृष्ट हो रहे हैं। इस तरह विरागी के मन में भगवान् के प्रति विशिष्ट राग स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

सहज शब्द साथ-साथ उत्पन्न होने वाले शीतोष्णादि द्वन्द्वों का भी अभिधायक है। 'सह जाताः सहजाः' सहज शब्द की यह व्युत्पत्ति, सापेक्ष उत्पत्ति वाले इन पदार्थों की सह-ज्ञायमानता (साथ-साथ ज्ञानविषयता) को भी सूचित करती है। सहज का स्वभाव अर्थ करें तो भी सहज शब्द की द्वन्द्वपरता में बाधा नहीं है; क्योंकि सापेक्ष उत्पत्ति इनका स्वभाव है। दिन-रात, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि एक-दूसरे की सत्ता से बोधित होते हैं। इन द्वन्द्वों के प्रति वैराग्यसम्पन्न साधक सहज विरागी होता है; क्योंकि सहज वैराग्य के अभाव में हम जागतिक इन द्वन्द्वों के प्रतीकार का प्रयास करते रहते हैं; किन्तु जो जगत् से विरक्त हैं, वे द्वन्द्वों को सहने का प्रयास करते हैं। क्योंकि गीता में भी **'तांस्तितीक्षस्व भारत'** (गीता 2/14) यह कहते हुए श्रीकृष्ण ने आगमापायि मात्रा-स्पर्शों को सहन करने हेतु उपदेश दिया है। अतः इस मात्रा में प्रयुक्त विराग (करै विराग) शब्द विशिष्ट राग का वाचक है। संसार से विरक्त साधक ईश्वर से विशिष्ट प्रेम या निर्व्याज प्रेम करता है। यह विशिष्ट राग उसके लिए ही उचित है; क्योंकि वह 'माया मोहिनी' सकल का त्याग कर चुका है।

माया मोहिनी सकल त्याग

'माया मोहिनी सकल त्याग' इस मात्रा में प्रयुक्त 'माया' शब्द, ईश्वरोपाधिभूत माया का बोधक है। भगवान् इसे 'दुरत्यया' कहते हुए प्रपत्ति (भगवच्छरणागति) से ही तरणीय बतलाते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(भगवद्गीता 7/14)

यह गीतावचन इसमें प्रमाण है। ऐसी माया के त्याग के लिए विराग, प्रधान साधन नहीं है। उसके लिए तो भक्ति ही प्रधान साधन है। यह अवश्य कह सकते हैं कि वैराग्य ऐसे भक्त का स्वभाव होता है, वह जगत् में आसक्तिशून्य होता है। अतः यहाँ माया शब्द, इन्द्रियों का तथा इन्द्रियों से ज्ञात होने वाले सभी पदार्थों का वाचक है, यह कहना चाहिए; क्योंकि मन उनको विषय करता है। मन से ही सभी ज्ञान होते हैं। अतः इन्द्रियों एवं मन से जिनका ज्ञान होता है, वह सब माया हैं; किन्तु मोहिनी शब्द ईश्वरीय माया से सृष्ट स्त्री का वाचक है, जो अधिक बाधक है। आशय यह है कि ईश्वर अपनी 'माया' शक्ति के द्वारा लिङ्गादि (प्रधान) ब्रह्माण्डपर्यन्त कलापूर्ण जगत् की सृष्टि करता है, वह चतुर्विध शरीरधारियों को भी बनाता है; किन्तु जीव, ईश्वर की सृष्टि में ही अहन्ता, ममता, सुन्दरता, कुरूपता, रमणीयता, अरमणीयता आदि की सृष्टि अपनी कल्पना के अनुसार करता है। कला से युक्त होने के कारण वह सकल (कला से युक्त) कहलाता है। आचार्यचरण का इस मात्रा में यही वक्तव्य है कि ईश्वर को समर्पित सहज विरागी अपनी इस साधनावस्था में 'माया' का त्याग तो नहीं कर पाता; किन्तु त्याग करने का संकल्प लेकर, माया से विमुख होकर मन से, कलासहित मोहिनी का त्याग करके अर्थात् मन को पुत्र, कलत्र, मनोमयी स्त्री आदि से सर्वथा हटाकर ईश्वर में विशिष्ट राग या निर्व्याज प्रेम करता है। यह विशिष्ट राग ही पूर्व मात्रा में 'विराग' शब्द का वाच्य है।

सकल शब्द का सम्पूर्ण अर्थ किया जाय, तो सम्पूर्ण मोहिनी को त्याग कर वह भगवान् से विशिष्ट राग कर रहा है, यह बोधित होगा; किन्तु ऐसा करने पर सकल का अर्थ सम्पूर्ण स्त्रियाँ न करके मोहिनी की सम्पूर्णता को सम्पन्न कराने वाले सभी पदार्थ एवं उसके बन्धु-बान्धवों को कहना होगा; क्योंकि मोहिनी से सम्बद्ध हर वस्तु उसका स्मरण कराकर हमें भगवान् के ध्यान से विरत करती है, अतएव श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने स्त्री को सबसे अधिक कष्टकारी बन्धन बतलाया है—

न तथाऽस्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

(श्रीमद्भाग. 11/14/30)

स्त्री को मोहकारी बताते हुए भागवत में ही अन्यत्र कहा गया है—

न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

(श्रीमद्भागवत. 3/31/35)

स्त्री के संग तथा स्त्री का संग करने वाले के संग से, सान्निध्य से, जैसा मोह और बन्धन होता है वैसा बन्धन तथा मोह अन्य प्रसंग से नहीं होता। इसीलिए आचार्यचरण ने उसे मोहिनी कहा है। आचार्यचरण ने सकल मोहिनी का त्याग करने को कहा है। हम जानते हैं कि गृहीत या प्राप्त का त्याग होता है। यति जो भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयास कर रहा है, उसने स्त्री का परिग्रह नहीं किया है, तो वह त्याग कैसे करेगा? गृहस्थ के लिए तो वनगमन के समय भी भार्या को साथ ले जाने का विधान मिलता है—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥

(म.स्मृ. 6/3)

इस स्मृति-वचन में सभी सामग्रियों को छोड़कर पत्नी की इच्छा हो, तो उसे साथ लेकर जाने का विधान है। अतः प्राप्ति होने से स्त्री का त्याग कहना संगत होगा। प्रकृत में यह कहना चाहिए कि मन में स्त्री का स्मरण न करके उसका त्याग करना चाहिए, यह आचार्यचरण का आशय है। यदि 'सकल' शब्द से सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग अभीष्ट हो, तो त्याग के द्वारा आत्मपालन या आत्मोद्धार की ओर मात्रा का संकेत है, जिसे **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** (ईश.उप., मं. 1) यह श्रुति बोधित करती है। गोरखबानी में कनक कामिनी दोनों के त्याग का वर्णन निम्न सबदी में है—

कनक कांमनी त्यागें दोइ, सो जोगेस्वर निरभै होइ।

(सबदी-103, पृ. 55)

जो योगेश्वर कनक और कामिनी का त्याग कर देता है, वह निर्भय हो जाता है। निर्भय होने का आशय है, ब्रह्मप्राप्ति का होना; क्योंकि अभय पद वही है।

नाम की पाखर पवन का घोड़ा

साधना की अवस्था में मन के वासनामय होने पर उसमें निरन्तर क्रियाशीलता होने से ही विरागकर्तृत्व 'सहज विरागी' में आ रहा है। मायाजन्य मोहिनी का त्याग-कर्तृत्व भी उसमें भासित हो रहा है; क्योंकि मन के क्रियाशील रहने पर उसमें कर्तृत्व रहता है। यही कर्तृत्व (कर्तापन आत्मा में भासित होता है। आचार्यचरण इस मन के प्रति साधक को सावधान करना चाहते हैं; क्योंकि यह सर्वदा अपना स्वरूप बदलता रहता है। अतः यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर में सहज प्रेम अथवा माया-मोहिनी का स्वाभाविक त्याग मन के वर्तमान स्वरूप में रहते सम्भव न होने से उसको मारना आवश्यक है। मन के साथ निरन्तर युद्ध चल रहा है। वह विवेक को कुण्ठित कर जीवों को विषयोन्मुख करना चाहता है। अतः ईश्वरानुरागी जीव के लिए यह आवश्यक है कि वह नाम-भक्ति का आश्रय लेकर नैष्कर्म्य, प्राणायाम आदि के अवलम्ब से गुरु के निर्देशानुसार शनैः-शनैः प्रयास करके मन के ऊपर विजय प्राप्त करे। मन के साथ चलने वाला यह युद्ध दीर्घकालिक है, अतः साधक को गुरु की शरणागति अवश्य करनी चाहिए। इस प्रकार अधिकारी-भेद से उपाय-भेद का प्रतिपादन करते हुए आचार्यचरण का उपदेश है कि साधक को मन को मारकर उस पर सवारी करनी चाहिए; किन्तु मन को मारना युद्ध में ही सम्भव है। अतः मन पर विजय प्राप्त करने हेतु, लड़ाई को जीतने के लिए एक अश्व के ऊपर सवारी करनी चाहिए; क्योंकि बिना अश्व के लड़ाई नहीं होती। आचार्यश्री ने भी **'मन को मार करो असवारी'** इस मात्रा में मरे हुए मनरूपी अश्व के ऊपर सवारी करने का उपदेश दिया है।

'अविद्यमानः श्वः अश्वः' इस प्रकार अश्व शब्द की व्युत्पत्ति करें तो जिसके लिए कल नहीं है वह अश्व कहलायेगा। अतः कल की चिन्ता छोड़कर या सम्पूर्ण परिवेश की चिन्ता छोड़कर मात्र युद्ध करने की शिक्षा अश्ववारी (असवारी) में घटकरूप में प्रविष्ट अश्व से मिलती है। घोड़ा यही करता भी है। इस अश्व को पवन का घोड़ा शब्द से सम्बोधित किया गया है। 'घुट परिवर्तने'

भ्वा.आ. व 'घुट प्रतिघाते' तु.प. धातुओं से घोटक शब्द बनेगा। 'घोटकाः' का अपभ्रंश घोड़ा को कहें तो परिवर्तन और प्रतिनियत आघात को घोड़ा शब्द कहेगा। प्राणायाम में यह घोड़े का लक्षण घटता है; क्योंकि प्राणायाम में पवनरूपी घोड़ा अपना स्वरूप और मार्ग दोनों परिवर्तित करता है। अतः यह 'पवन का घोड़ा' प्राणायाम है। इसके ऊपर नाम की पाखर (लोहे की फौलादी चादर), जो शत्रुओं के प्रहारों से घोड़े की रक्षा करती है, उसे विंधने नहीं देती, जिससे वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है, चढ़ी हुई है, अर्थात् नाम-जप के साथ प्राणायाम करने को कहा गया है। श्रीमद्भागवत में भी—

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥

(श्रीमद्भागवत 11/14/35)

इस प्रकार प्रणवसंयुक्त प्राण के अभ्यास का विधान मिलता है। दिन में तीन बार (त्रिषवणं) प्रणवयुक्त प्राणायाम का अभ्यास करने से एक माह से पहले ही वायु पर विजय प्राप्त होती है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो.सू. 1/27) में प्रणव को ईश्वर का वाचक बतलाया गया है। अतः घोड़े पर ईश्वर के नाम ऊँकार की पाखर लगी है, यह स्पष्ट होता है। ईश्वर के अन्य नाम भी पाखर हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुं जो चाहसि उजियार॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 21)

यह गोस्वामी तुलसीदास जी का वचन विशेष ध्यातव्य है। रामनाम का मणि जीभरूपी द्वार की देहली पर रखने से भीतर एवं बाहर दोनों ओर उजियार (प्रकाश) होता है। इस कथन के द्वारा तुलसीदास जी यह बताना चाहते हैं कि बाहर का प्रकाश, जो जागतिक दुःखों से मुक्ति है तथा आन्तर प्रकाशरूप आत्म-ज्ञान दोनों ही राम नाम की मणि से, राम नाम के निरन्तर आवर्तनरूप मणि से प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार दीप निरन्तर जलता रहता है, उसी प्रकार राम नाम का आवर्तन भी निरन्तर अनुष्ठित होने पर अविद्या आदि क्लेशों के 'तनूकरण' में सहायक होता है।

आचार्यचरण पवन के घोड़े पर नाम की पाखर को संयुक्त कर रहे हैं; क्योंकि नाम-जप में मनुष्य मात्र का अधिकार है। 'घोड़ा' शब्द यह बतला रहा है कि पवन के घोड़े की चाल तथा प्राप्ति-स्थान दोनों ही बदलते रहेंगे, अर्थात् योग से ही अगली योगभूमि की प्राप्ति होगी। इतना ही नहीं, नाम की पाखर में भी परिवर्तन होगा वह छूट जायेगी, अर्थात् आगे चलकर प्राणायाम के साथ प्रणव या किसी अन्य नाम का जप नहीं होगा, केवल प्राणायाम होगा। पवन शब्द शोधक (शुद्धि करने वाले) का वाचक है; क्योंकि 'पूञ् पवने' धातु से **बहुलमन्यत्राऽपि** (उणा.सू. 2/78) से युच् करके इसकी निष्पत्ति होती है। फलतः पवन के घोड़े से मन को मारना उसकी शुद्धि करना होगा, जो **'मन को मार करो असवारी'** इस मात्रा से भी सूचित होता है। अन्यथा मन को मार देने पर पुनः उस पर सवारी नहीं हो सकती। इस प्रकार यह पवन का घोड़ा मन की शुद्धि होने पर वासना का त्याग होने से माया मोहिनी के त्याग में सहायक होगा।

निःकर्म जीन

इस पवन के घोड़े पर निःकर्म (नैष्कर्म्य) की जीन (काठी) बँधी है। काष्ठी शब्द का अपभ्रंश काठी हो सकता है, जो जीन को काठ या लकड़ी का बना हुआ बता रहा है। पवन का घोड़ा स्वयं शुद्धि करने वाला है, अतः शुद्धि करने वाले नैष्कर्म्य को जीन के रूप में धारण किए हुए है। 'जीन' शब्द जीर्ण अर्थ को कहता है। निष्कर्म जीन बन गया है, अधिक पुराना होने से साधक का स्वभाव बन गया है। श्वास के साथ नाम-जप करने के कारण साधक की फलाकांक्षा मिट गयी है। इस प्रकार आचार्यचरण क्रमिक रूप से मन के निर्वासन होने की स्थितियों का वर्णन कर रहे हैं; क्योंकि फलाकांक्षा के साथ ही मन का जीवन है। यह निःकर्म, कर्म का अनुष्ठानाभाव नहीं है; क्योंकि **'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते'** (गीता 3/4) में कर्म के आरम्भ न करने मात्र से नैष्कर्म्य की प्राप्ति होती है, इस धारणा का निषेध किया गया है। अतः **'कर्मभ्यो निर्गतः निःकर्म'** कर्म का जो त्याग कर चुका है वह निःकर्म है, यह निःकर्मशब्द का अर्थ नहीं समझना चाहिए। यह नैष्कर्म्य, ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति है, जो वासना के रहते संन्यास लेने से भी नहीं प्राप्त होती, यह तथ्य **'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति'** (उत्तरार्ध 3/4) से स्पष्ट होता है।

वासनाओं के अवस्थान काल में केवल संन्यास के द्वारा कर्म का त्याग कर देने से कर्मानधिकारिता (कर्म न करने की शास्त्रीय अनुज्ञा) के प्राप्त होने पर भी उससे ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि 'न च संन्यसनादेव' इस वाक्य के द्वारा भगवान् यह बता रहे हैं कि केवल संन्यास से नहीं, वासनारहित संन्यास से ही 'सिद्धि' ज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति होती है। वासना के न रहने पर तो सलिङ्ग संन्यास की आवश्यकता केवल विधेयानुष्ठान के लिए है। न कर्मणामनारम्भात्—यह वचन कर्म के न करने मात्र से नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होती, यह बतलाता तो है; किन्तु साथ ही यह भी जिज्ञासा होती है कि ज्ञान-निष्ठा या नैष्कर्म्य की प्राप्ति कैसे होती है? इसका शमन 'फलेच्छा' के अभाव को दृष्टिगत करने से होता है। अर्थात् फलेच्छा के अभाव में यदि हम कर्म करते हैं तो उससे लोकसंग्रहपूर्वक ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति होगी। यदि कर्म नहीं करते तो भी लोक-शिक्षा न होने पर ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति होगी। अतः फलेच्छारूप वासना का ही प्राधान्य है, वह न रहकर ज्ञाननिष्ठा के भाव या सत्ता को सूचित करती है तथा रहने पर ज्ञान-निष्ठा के अभाव को बतलाती है। नैष्कर्म्य की प्राप्ति कैसे होगी इसे स्पष्ट करते हुए भगवान् ने कहा है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति ॥

(गीता 18/49)

सर्वत्र आसक्ति को छोड़कर, मन को जीतने वाला, शरीर, जीवन तथा भोगों की प्राप्ति की इच्छा का त्याग करके निष्क्रिय ब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में जानकर नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है। नैष्कर्म्य सिद्धि को समझने के लिए हमें कर्म करते हुए निष्कर्म होने की विधा जाननी होगी, जिसे स्पष्ट रूप से समझाते हुए कूर्मपुराण में कहा गया है—

धर्मात् संजायते सर्वमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ।
धर्मेण धार्यते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥
कर्मणा प्राप्यते धर्मो ज्ञानेन च न संशयः ।
तस्माज्ज्ञानेन सहितं कर्मयोगं समाश्रयेत् ॥

(पूर्वार्द्ध 2/61-63)

इन वचनों के 'तस्माज्ज्ञानेन सहितं कर्मयोगं समाश्रयेत्' इस अंश में ज्ञान के सहित कर्मयोग के समाश्रयण का विधान है। श्लोकों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—ब्रह्मवादी (वेदज्ञ) लोग कहते हैं कि धर्म से ही सबकुछ प्राप्त होता है, तथा धर्म ही स्थावर-जंगम सबको धारण करता है। द्वितीय वचन में यह प्रतिपादित किया गया है कि कर्म से धर्म की प्राप्ति होती है, ज्ञान से भी धर्म की प्राप्ति होती है, अतः ज्ञान के सहित कर्मयोग का आश्रयण करना चाहिए। कर्मयोग शब्द कर्म को योग या मेल का साधन बताता है। यह तभी सम्भव है जब उसे ईश्वर में अर्पित किया जाय। अन्यथा फल देकर कर्म शान्त हो जायेगा।

कर्म से धर्म की प्राप्ति होती है, इसमें वेद का कर्मकाण्ड भाग प्रमाण है। ज्ञान से धर्म की प्राप्ति होती है। यह तथ्य **'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'** (4/33) इस गीतावचन से भी प्रमाणित होता है।

ज्ञान की धर्मफलप्रापकता को स्पष्ट करते हुए—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(2/46,8/28 श्रीमद्भगवद्गीता)

में कहा गया है कि जैसे लोक में वापी-कूप-तडाग आदि परिमित जल वाले जलाशयों से स्नान तथा जलपान आदि जितना प्रयोजन सिद्ध होता है, वह सम्पूर्ण प्रयोजन समुद्र (जहाँ सभी नदियाँ जाती हैं) के प्राप्त होने पर भी सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार वेद-प्रतिपाद्य कर्मों से जो प्रयोजन सिद्ध होते हैं, जो फल प्राप्त होते हैं, वह सभी फल समुद्रस्थानीय ज्ञान से (आत्मसाक्षात्कार से) प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, सम्यक्तया वेदाध्ययन से, अंगों सहित यज्ञों का अनुष्ठान करने से शास्त्रोक्त तपोगण के अनुष्ठान से तथा श्रद्धापूर्वक देश-काल-पात्र में दान करने से जो भी फल प्राप्त होते हैं, उस पुण्यनिचय से अधिक पुण्य ज्ञान से प्राप्त होता है तथा योगी सर्वकारण ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

स्पष्ट है कि जो ज्ञान सम्पूर्ण धर्मों के फलों को प्राप्त कराने वाला है, वह आत्मसाक्षात्काररूप है। यदि कूर्मपुराण के उपर्युक्त वचन **'तस्माज्ज्ञानेन सहितं कर्मयोगं समाश्रयेत्'** में यही 'ज्ञान' कर्म के साथ समाश्रयणीय बताया जा रहा है, तो यह जिज्ञासा होती है कि कर्मों का सम्पूर्ण फल जब ज्ञान से प्राप्त हो गया तो, अब किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ज्ञानसहित कर्म का समाश्रयण होगा। यदि यह कहा जाय कि लोकसंग्रह के लिए कर्म का समाश्रयण ज्ञानी को करना चाहिए, यह आशय है, अतएव गीता में कहा गया है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वाँस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥(3/25)

जैसे फलासक्ति से प्रेरित होकर अज्ञानी लोग कर्म करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् (ज्ञानी) को लोकसंग्रह की इच्छा से (लोगों को कर्म में प्रवृत्त कराने की इच्छा से) कर्म करना चाहिए। ज्ञानी के द्वारा कर्मानुष्ठान से कर्म करने हेतु प्रेरणा इसलिए दी जा रही है; क्योंकि कर्म से ही भक्ति एवं ज्ञान दोनों की प्राप्ति होती है। अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति, मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥
(11/20/11)

इस श्लोक में कर्मयोगी किस प्रकार ज्ञान अथवा भक्ति-भूमि को प्राप्त है, उसका वर्णन किया गया है। **'कर्मयोगिनो ज्ञानभक्तिभूमिकारोहण-प्रकारमाह—स्वधर्मस्थ इति'**। यह श्रीधर स्वामी का वचन इसमें प्रमाण है। अनघ शब्द निषिद्ध कर्म का त्याग करने वाले को कहता है, इनके त्याग से व्यक्ति पवित्र हो जाता है, उसके रागद्वेषादि दोष निवृत्त हो जाते हैं, जिससे वह इच्छानुसार ज्ञान अथवा केवल ज्ञान से भी श्रेष्ठ (भक्तिरहित ज्ञान से श्रेष्ठ) भक्ति को इसी शरीर में (लोके) प्राप्त कर सकता है। प्रकृत वचन के प्रसंग में यह अवधेय है कि फलासक्ति के रहने पर व्यक्ति अनघ नहीं हो सकता। जब राग-द्वेष-शून्य होकर विहित कर्म, फलासक्तिरहित होकर करे तभी उसमें शुचिता होगी। ज्ञान-भक्ति-समुच्चय के सिद्धान्त की दृष्टि से यह अवश्य कहा जा सकता है कि जब कर्म ही ज्ञान एवं भक्ति दोनों के साधन हैं, तो फलकामनारहित

कर्मानुष्ठान करते हुए व्यक्ति, ज्ञान एवं भक्ति दोनों के साधनों का अनुष्ठान करता है। इस सम्बन्ध में यह अवधेय है कि ज्ञान और साध्य भक्ति दोनों ही फल हैं और कर्मों के फल के रूप में उन्हें बताया भी गया है। वचन में 'वा यदृच्छया' इस शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि एक की ही प्राप्ति होती है। अतः अनुष्ठान की दृष्टि से ज्ञान एवं भक्ति के साधनों का ही समुच्चय सम्भव है। यह कर्म एवं धर्म शब्द से कहे गये हैं। गीता में भी स्वधर्म में निधन को श्रेय कहा गया है।

कर्म के इसी महत्त्व के कारण नवधा भक्ति में अर्चन-भक्ति के रूप में श्रवण आदि से भिन्न विष्णुप्रीतिफलक व्यापार की गणना की गयी है, यह कर्मरूप भक्ति है। श्रीमद्भागवत के इस वचन पर विचार करें तो ज्ञान-भक्ति-समुच्चय के रहस्य को इस रूप में स्पष्ट कर सकते हैं। फलासक्तिरहित कर्मों के अनुष्ठान से ही रागादि दोषों की निवृत्ति के बाद भक्ति अथवा ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन दोनों की प्राप्ति में इच्छा ही मूल कारण है। ज्ञानप्राप्ति की इच्छा होने पर स्वरूप-साक्षात्काररूप ज्ञान की प्राप्ति होती है, अन्यथा भगवद्रूपलावण्यादि के आस्वादन की इच्छा होने पर भक्ति के समुद्रेक की प्राप्ति होती है। कर्म से ज्ञान की प्राप्ति कालान्तर में होती है, इसे स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (4/38) में कहा है—

ज्ञान की तरह पवित्र, कोई भी वस्तु तप-योगादि भी नहीं है तथा उस 'ज्ञान' को कर्मयोग अथवा समाधियोग से ज्ञानप्राप्ति की योग्यतारूप संस्कार को अतिदीर्घकाल में प्राप्त कर मुमुक्षु, स्वयं प्राप्त करता है।

ईश्वरार्पण-बुद्धि से क्रियमाण फलाभिसंधिरहित प्रत्येक कर्म भक्ति है। अतएव पूर्वोद्धृत भागवत-श्लोक में **'अस्मिँल्लोके वर्तमानः'**–इस अंश से यह स्पष्ट है कि इस शरीर में रहकर ही वह विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है अथवा पराभक्ति प्राप्त करता है। जीवन्मुक्ति का आनन्द ऐसा आनन्द है, जिसकी समता का कोई सुख नहीं है। हम जानते हैं कि कर्म से फलासक्ति का त्याग करने पर आत्मजिज्ञासा तथा अन्ततः ज्ञान की प्राप्ति होगी, जिसे **'कर्मणैव हि संसिद्धिम्'** (भगवद्गीता 3/20) इस वचन से बताया गया है। कर्म से संसिद्धिलक्षण ज्ञान भी प्राप्त होता है। कर्म से भक्ति भी प्राप्त होती

है, यह तथ्य '**मद्भक्तिं वा यदृच्छया**' इस अंश से बोधित हो रहा है। श्रीमद्भागवत में भी भक्ति के रूप में परिगृहीत सभी कर्मों की मोक्ष-प्रापकता श्रुत है। भगवान् ने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम्॥

(11/19/33)

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥

(11/19/34)

एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि॥

(11/19/35)

अस्तु, निःकर्म को जीन बताकर पवन के घोड़े से उसके नित्य सम्बन्ध को सूचित करने वाले आचार्यचरण यह स्पष्ट कर रहे हैं कि फलेच्छात्यागरूप नैष्कर्म्य का अनुष्ठान हमें नाम-जप एवं प्राणायाम के साथ, दिनचर्या या स्वभाव के रूप में अपनाकर करना चाहिए। जैसे किसी भी अनुष्ठान में दिनचर्या नहीं छूटती, जो भी दैनन्दिन शारीर कार्य या आवश्यक गृह कार्य हैं, उनके अनुष्ठान के साथ ही अन्य विशेष अनुष्ठान भी किये जाते हैं, उसी प्रकार फलेच्छा का त्याग करना चाहिए तथा जपादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार वेदान्त के ज्ञान की अधिकारिता सूचित होती है। जैसे ज्ञान के अधिकारी के लिए साधन-चतुष्टय की सम्पन्नता को आवश्यक बतलाया गया है, उसी प्रकार आचार्यचरण भी स्वीकार करते हैं। वेदान्तसार में '**साधनानि नित्यानित्य-वस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि**' इस रूप में साधनों को बतलाया गया है—1. नित्यानित्यवस्तुविवेक (कौन वस्तु नित्य है, सर्वदा रहने वाली है, कौन अनित्य है इसका भेद-ज्ञान), 2. 'इहामुत्रार्थफलभोगविरागः' इस लोक में तथा परलोक में भी फलों के भोग की इच्छा का त्याग, 3. शमादिषट्कसम्पत्ति—शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान तथा श्रद्धा रूप छः साधनों से युक्त होना तथा 4. मुमुक्षुत्व—मोक्ष की इच्छा का

होना, यह चार साधन हैं। इनमें द्वितीय साधन के महत्त्व को देखते हुए आचार्यचरण ने इसे नैष्कर्म्य के रूप में परिगृहीत किया। क्योंकि कर्मफल का त्याग नित्य वस्तु की प्राप्ति के लिए होने से आत्मा (ब्रह्म) रूप नित्य वस्तु का ज्ञान तथा जगत् का अनित्यत्व ज्ञान दोनों के अभाव में सम्भव नहीं है। जगत् का अनित्यत्व ज्ञान होने पर ही साधक जागतिक फलों को विनाशी समझकर उन्हें कर्म से प्राप्त करना नहीं चाहेगा। शम-दम आदि से भी वह युक्त होगा; क्योंकि किसी भी फल की कामना न होने पर इन्द्रियों तथा मन की विषयप्रवणता स्वतः रुकने लगेगी तथा अन्ततः समाप्त हो जायेगी। इस प्रकार तृतीय साधन शमादिषट्क-सम्पत्ति की प्राप्ति साधक में फल-भोग की इच्छा का त्याग करने से सूचित हो रही है। फल-भोग की इच्छा का त्याग करने वाले में मुमुक्षा तो सिद्ध ही है; क्योंकि फल-भोग की इच्छा तक संसार है तथा मोक्ष की इच्छा के उदय से ही उसका त्याग होता है। इस प्रकार चारों साधनों की परस्पर सम्बद्धता सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में किसी कवि ने कहा है—

जिनके मन मुक्ती बसी तिनहिं न कबहुं सुहात।
विषय-भोग निद्रा हँसी जगत् प्रीति बहु बात॥

मन में मोक्ष की इच्छा का उदय होते ही, मन में मुक्ति के स्थान बनाते ही विषय-भोग, निद्रा, हंसी, संसार से प्रेम तथा अधिक वार्तालाप (बातचीत) यह सब समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैतवेदान्त का अधिकारी ही इस ग्रन्थ के अभ्यास का अधिकारी है। पवन के घोड़े पर निःकर्मजीन को लगाने का आशय है कि हम फलेच्छा का त्याग कर दें, अन्यथा फलेच्छा के रहने पर निरन्तर नाम-जप और प्राणायाम का अनुष्ठान नहीं होगा।

तत्त्व कर जोड़ा

घोड़े की पीठ पर जीन या लकड़ी की काठी (काष्ठी) चमड़े की पट्टी (वरत्रा) से बँधी रहती है, अतः गिरती नहीं। इसी काठी के सहारे आसन बिछाकर सवार पीठ पर बैठ जाता है। काठी के पीठ से बँधे रहने के कारण आसन भी गिरता नहीं है। चमड़े की इसी पट्टी को 'जोड़ा' कहते हैं; क्योंकि वह लकड़ी की काठी को घोड़े की पीठ से जोड़ती है।

आचार्यचरण कहते हैं कि 'तत्त्व' का जोड़ा कसा हुआ है। 'जुड बन्धने' परस्मैपदी सेट् धातु से घञ् प्रत्यय करके जोड शब्द बनता है अथवा 'जुडति बध्नाति इति जुडः, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इस रूप में बन्धनकारक के रूप में कर्तापरक 'जुड' शब्द की निष्पत्ति हो सकती है, जो बन्धन के कर्ता को बोधित करेगा। इसी 'जुड' शब्द के जुडाः बहुवचनान्तरूप का अपभ्रंश जोडा या जोड़ा है।

यह जोड़ा तत्त्वरूप है, यह कहकर आचार्यचरण तत्त्वरूप परमात्मा को अथवा तत्त्वरूप प्रकृति को (योगशास्त्र की दृष्टि से) जोड़ा शब्द से बोधित कर रहे हैं। जोड़े का तात्त्विक या मजबूत होना लौकिक दृष्टि से भी अपेक्षित है। अन्यथा उसके टूट जाने पर काठी के साथ आसन और सवार दोनों घोड़े से गिरेंगे। यदि ईश्वर को जोड़ा शब्द से लिया जाय तो यह बोधित होता है कि हम नाम-जप, नैष्कर्म्य, प्राणायाम आदि का अभ्यास करते हुए भी ईश्वरानुग्रह के अभाव में तत्त्वप्राप्ति नहीं कर सकते; क्योंकि वही जोड़ा है जोड़ने वाला, मिलाने वाला है। ईश्वर ही तत्त्व है, उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ अतात्त्विक हैं। वास्तव में वही जोड़ा या योजक है; क्योंकि सर्वज्ञ होने के कारण वही जानता है कि किसे किस रूप में कहाँ जोड़ा जाय। अतएव योगशास्त्र में ईश्वरानुग्रह को समाधि के द्वारा तत्त्वप्राप्ति में प्रधान कारण कहा गया है। नैष्कर्म्य, कर्मों को छोड़ देने से सिद्ध नहीं होता। अतः यह सोचकर कि कर्मों का अनुष्ठान न करने से हम निष्क्रिय आत्मस्वरूप में अवस्थित रहेंगे, कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। तथ्य तो यह है कि कर्मानुष्ठान से ही हम नैष्कर्म्य को प्राप्त कर सकते हैं। नैष्कर्म्य की सिद्धि तो आसक्तिरहित कर्म के अनुष्ठान से होती है तथा इस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति होती है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(गीता 3/19)

में इसे स्पष्ट किया गया है। अतः आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि निःकर्म जीन तत्त्वात्मक ईश्वर रूप जोड़ा से सम्बद्ध है।

योगशास्त्र की दृष्टि से ही हम यह भी कह सकते हैं कि नाम-जप, नैष्कर्म्य, प्राणायाम आदि के द्वारा हम प्रकृति एवं पुरुष रूप दो विभक्त, एक-दूसरे से असम्पृक्त तत्त्वों का दर्शन करते हैं। योगशास्त्र में प्रकृति-पुरुष का पृथक्-पृथक् रूप में दर्शन या साक्षात्कार ही मोक्ष है। इसी दर्शन के बाद चित्त का प्रतिसर्ग होता है। यह चित्त-प्रतिसर्ग आगे विषम गढ़ तोड़कर निर्भौ घर आने के वर्णन से स्पष्ट होता है। अतः क्रमशः इन तथ्यों को योगशास्त्र की संगति में मात्राशास्त्र के आधार पर स्पष्ट करने हेतु विचार प्रस्तुत है, जिससे तत्त्व के जोड़े के साक्षात्कार के क्रम को स्पष्ट किया जा सके।

योगसूत्र (4/34) 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः' में गुणों के प्रतिप्रसव का वर्णन है, जिसे पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजनों की प्राप्ति होने के बाद गुणों के प्रतिप्रसव या प्रधान में लय का क्रम प्रारम्भ होता है। गुणों का लय होने से उनका अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है, यह तथ्यतः नहीं कहा जा सकता; क्योंकि योगसूत्र (4/33) में उनकी नित्यता का वर्णन है—**'उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्'** यह भाष्य-वाक्य पुरुष एवं गुण दोनों की नित्यता, तत्त्वानभिघात के कारण बता रहा है। यह तत्त्वानभिघात तत्त्वतः अप्रच्युति है, जिसमें वस्तु अपने अस्तित्व का सर्वथा परित्याग नहीं करती। त्रिगुणात्मक संसार की वस्तुएँ कभी सर्वथा नष्ट नहीं होतीं। उनका दृश्यमान स्वरूप जरूर अदृश्य होता है; किन्तु परिवर्तित अदृश्य स्वरूप में रहने के कारण कभी भी तत्त्वतः प्रच्युत नहीं होतीं। अतएव कहा गया है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

(यो.सू. भाष्य 4/13)

गुणों का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई नहीं पड़ता (दृष्टि-पथ को नही प्राप्त होता), किन्तु जो दिखाई पड़ता है वह तो माया ही है, वह सबसे तुच्छ या हेय है। यह वर्णन दृश्य संसार को अत्यन्त तुच्छ एवं अनास्था का आस्पद बतलाता है। यह कथन युक्तियुक्त है; क्योंकि भाष्यकार ने योगसूत्र (4/33) में गुणों की परिणामिनित्यता स्वीकार की है, जिसका तात्पर्य है कि गुण भोगार्थ परिणत होने

पर भी सर्वथा विनष्ट नहीं होते तथा वाचस्पति मिश्र ने योगभाष्य (4/33) का अनुसरण करते हुए कहा है कि यह संसार स्थिति एवं गति दोनों ही अवस्थाओं में गुणों में वर्तमान रहता है। प्रलयावस्था, स्थिति की अवस्था है उसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गुणों में सिमट कर रहता है। सृष्टिकाल में गुण गतिशील होते हैं, भोगप्रद होते हैं, यही संसार काल है, अतः इस काल में संसार को गति के द्वारा गुणों में वर्तमान कहा जाता है; क्योंकि परिवर्तनशील गुण भोग देते हैं।

वाचस्पति मिश्र के व्याख्या-वाक्य में यदि गति का अर्थ ज्ञान किया जाय तो संसार काल में गुण अपने ज्ञायमान या दृश्य स्वरूप में विद्यमान होकर भोग देते हैं तथा महाप्रलयकाल में स्थिति या गति-निवृत्ति अर्थात् दृश्यमानता की निवृत्ति होने से संसार अदृश्य तथा अभोगप्रद होकर विद्यमान रहता है। यह तो संसार में संसरण करने वाले जीवों के लिए बतलाया गया। जो तत्त्वज्ञानी लोग 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' की अवस्था में पहुँच चुके हैं, उनके लिए तो शरीरावसान के साथ ही गुणों का प्रतिप्रसव होता है, प्रधान में लीन होकर गुण भोगप्रद नहीं रह जाते, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार प्रधान और पुरुष यह दो तत्त्व के जोड़ा या युग्म हैं। योगभाष्य (4/33) में भाष्यकार ने कहा है—**'तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्'**—पुरुष के अविकारी या परिणामरहित होने के कारण उसे कूटस्थ नित्य कहते हैं। गुण परिणत होते हैं, विकाररूपता को प्राप्त करते हैं; किन्तु (भोग समाप्त होने पर) प्रकृतिस्वरूपापन्न होकर अपने मूलस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, अतः वे परिणामी नित्य हैं। यह दो तात्त्विक या नित्य पदार्थ हैं, जिन्हें जोड़ा कह सकते हैं। निःकर्म की जीन तत्त्व के जोड़े से बँधी है। अतः इससे यह सूचित होता है कि नैष्कर्म्य के अनुष्ठान से हम तत्त्व के जोड़े को प्राप्त कर सकते हैं। वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से वस्तुतः एक ही तत्त्व है, जिसे परमात्मा या ईश्वर कहते हैं; किन्तु नैष्कर्म्य का अनुष्ठान व्यवहारदशा में होगा, यह द्वैत की प्रपञ्चात्मक अवस्था है। इस अवस्था में परमात्मा 'पञ्चकोश'रूपी आवरण से ढँका है। नैष्कर्म्य का अनुष्ठान कर हम नाम-जप करते हुए प्राणायाम के द्वारा तत्त्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार 'निःकर्म जीन' तत्त्व के जोड़े से सम्बद्ध होती है, यह भी आचार्यचरण का आशय कहा जा सकता है; क्योंकि

बहुत अर्थ वाले 'जोड़ा' शब्द का प्रयोग 'मात्रा' में हुआ है। निःकर्म (नैष्कर्म्य) तत्त्व के जोड़े की प्राप्ति करा देता है, यह तथ्य 'निःकर्म जीन' और 'तत्त्व कर जोड़ा' इन दो मात्राओं से ध्वनित होता है। निष्कृष्ट रूप से कहा जा सकता है कि 'तत्त्व कर जोड़ा' इस मात्रा के द्वारा यह बोधित हो रहा है कि निःकर्म जीन से तत्त्व जुड़ा है, उससे तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसके लिए मन को निर्वासन करना आवश्यक है। अतः अग्रिम मात्रा में वासनारहित मन को 'ढाल' बताया जा रहा है।

निर्गुण ढाल

मन के साथ अनादिकाल से प्रवृत्त इस युद्ध में ढाल क्या है? इसे बताने हेतु आचार्यचरण ने 'निर्गुण ढाल' यह मात्रा उच्चारित की है। निर्गुण शब्द, गुणरहित या भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजनरहित चित्त को बोधित करता है, जो धर्म-मेघ-समाधि-युक्त मन होता है। भोग एवं अपवर्गरूप दोनों प्रयोजन के पूर्ण हो जाने के कारण चित्त के अधिकार की समाप्ति होने से चित्त इस समय निर्गुण या गणनीय प्रयोजनों से शून्य हो जाता है। इस समय चित्त के सभी मल दूर हो जाते हैं। अब ये चित्त का आवरण नहीं करते (द्रष्टव्य–यो.सू. 4/31)। धर्ममेघ शब्द चित्त की उस अवस्था को बतलाता है, जब किसी पदार्थ के ज्ञान के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता (द्रष्टव्य–तत्त्ववै., यो.सू. 4/31)। सभी पदार्थ सर्वदा प्रकाशित होते रहते हैं। इस समय चित्त अपने स्वाभाविक गुण, इन्द्रियों के सम्पर्क में भोगार्थ कार्य करने की शक्ति, का परित्याग कर देता है। अनादि काल से सञ्चित वासना भी उसकी एक विशेषता है, उसे भी वह छोड़ चुका है। अतः उसे निर्गुण कहा जा रहा है। इस अवस्था की प्राप्ति से वासनासहित क्लेश-कर्माशय का प्रशम या नाश होता है। क्लेश-कर्माशय का प्रशम होने के बाद कारण न होने से भोगार्थ जन्म की प्राप्ति नहीं होती। सूक्ष्म शरीर ही जन्म के लिए संसरण करता है।

इसको निर्गुण कहने का आशय है कि चित्त वासनारहित हो गया है, अतः यह ऐसी ढाल बन गया है जो रागादि के बाणों को आसानी से सहन कर लेगा। प्रत्युत यह कहना अधिक उपयुक्त है कि यह ऐसी ढाल है जिसके ऊपर किसी प्रहार का प्रभाव नहीं होगा। सामान्यतः युद्ध में शत्रु के प्रहार को योद्धा

प्रयासपूर्वक झेलता है, इसमें उसे सावधान रहना होता है; क्योंकि चूकने पर घायल या सव्रण होने की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु धर्ममेघसमाधिसम्पन्न निर्वासन मन ऐसी ढाल है जिस पर शत्रु का कोई प्रभाव होता ही नहीं, उस ढाल के उदय मात्र से, हाथ में धारण करने मात्र से, राग-द्वेष आदि के बाण उठते ही नहीं, शत्रु उनका प्रयोग ही नहीं कर सकता; क्योंकि इस समय मन संसार की वासना से ऊपर उठ चुका होता है। जब तक मन संसार की वासना में रहता है तब तक उस पर प्रहार होते हैं।

गुरु शब्द कमान

ढाल के द्वारा निकटवर्ती शत्रु के प्रहार को रोका जाता है। शत्रु पर दूर से धनुष के द्वारा ही प्रहार किया जाता है। योद्धा को ढाल और धनुष दोनों की आवश्यकता होती है। मन के साथ निरन्तर युद्ध चल रहा है। अतः इसमें एक ऐसे धनुष की आवश्यकता है, जो जीर्ण न हो, जिसकी डोरी (ज्या) कभी टूटे नहीं। कमान या धनुष एक ऐसा अस्त्र है, जो बहुत दूर से शत्रु पर प्रहार कर सकता है। अतः आचार्यचरण इस युद्ध में गुरु शब्दरूपी कमान (धनुष) भी मन को मारने के लिए आवश्यक अस्त्र बताते हैं। अतः इस मात्रा में 'गुरु' शब्द को कमान (धनुष) बताया जा रहा है। यह उचित है; क्योंकि गुरु के निर्देशात्मक शब्दों से मन का सुगमता से नियन्त्रण हो सकता है। इस कमान से प्रीति के बाणों को चलाना है। प्रीति या प्रेम अन्तःकरण में रहता है। गुरु के निर्देशरूप शब्दों से जो शिक्षा मिलती है, उसे हम 'मन' में बैठा लें, निरन्तर उसका स्मरण करते रहें, तो धनुष और बाण का सन्निधान बन जायेगा। बाह्य धनुष-बाण योद्धा के कन्धे पर एक-दूसरे के पास ही रहते हैं, इससे योद्धा को प्रहार में सरलता होती है। प्रकृत में गुरु शब्दरूपी धनुष का प्रीति के बाण से सम्बन्ध बताना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे यह सूचित होता है कि गुरु शब्द तो कठोर होंगे; क्योंकि शिष्य को सन्मार्ग में लगने के लिए कटु शब्दों का प्रयोग गुरु के द्वारा होगा; किन्तु शिष्य को सर्वदा उससे प्रसन्न होना है। उसे गुरु का कृपाप्रसाद समझना है। गुरु के निर्देशों के अनुसार चलकर ही हम अपने लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। अर्थात् लक्ष्य का भेदन करने हेतु धनुष जैसे परमावश्यक है, उसी प्रकार गुरु के निर्देशों का पालन परमावश्यक है। उसके बिना हमें 'निर्गुण ढाल' की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

गुरु शब्द से यदि श्रेष्ठ शब्द को लें तो कहीं भी किसी के भी द्वारा उच्चरित उपदेशात्मक शब्द हमारे लिए लक्ष्य के भेदन करने वाले धनुष बन सकते हैं। सबसे श्रेष्ठ शब्द 'वेदात्मक' शब्द है, अतः वेद और वेदानुगामी स्मृति पुराण आदि भी 'गुरु' शब्द से लिये जा सकते हैं। हम गुरु की क्रियाओं से भी शिक्षा ग्रहण करते हैं; किन्तु गुरु शब्द को ही कमान कहा जा रहा है; क्योंकि गुरु हमारे लिए जो अत्यावश्यक है, जिससे हमारा उद्धार हो सकता है, उसी को करने की आज्ञा देते हैं। अतः शब्द को ही 'कमान' कहा जा रहा है। भागवत में भी कहा है—

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

(श्रीमद्भागवत 10/33/32)

समर्थ पुरुष (ईश्वर) का वचन सत्य होता है। अतः उन्होंने जो कहा है उसका पालन करना चाहिए। उनका आचरण सर्वथा प्रमाण नहीं होता, वह किसी-किसी अंश में प्रमाण होता है। अतः उनके आचरण का वही 'अंश' अनुकरणीय है, जिसका उनके वचन से विरोध न हो। इसीलिए उपनिषद् में, आचार्य शिष्य से कहते हैं—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि॥

(तै.उप., शीक्षावल्ली, अनुवाक 11, मन्त्र 2)

जो हमारे अनिन्द्य कर्म हैं, उनका सेवन करो, अन्य का नहीं। जो हमारे शोभन चरित हैं, उनकी तुम उपासना करो।

अकल संजोह

युद्ध में अवश्य धारणीय सन्नाह, चारों ओर से ढँककर रक्षा करने वाला, पूर्णतः रक्षक कवच है, जिसके ऊपर दुश्मन के शस्त्रास्त्रों का प्रभाव नहीं होता। उस सन्नाह या संजोह को आचार्यचरण 'अकल संजोह' इस मात्रा में वर्णित कर रहे हैं। सन्नाह 'संजोह' कहलाता है। अकल शब्द कलारहित को कहता है। उपनिषद् में पुरुष को षोडश कला वाला कहा गया है। **'एवमेवाऽस्य**

परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः' (प्र.उप. 6/5) इस वाक्य से बोधित होने वाली सोलह कलाएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन हैं। स्पष्ट है कि इस वाक्य में कला शब्द इन्द्रियवाची हो गया है। पञ्च प्राण की यद्यपि इन्द्रियरूप में स्फुट प्रसिद्धि नहीं है, तथापि इन्द्रियों का प्रेरक होने से उसे इन्द्रिय कहा जा सकता है। अतः यदि अकल शब्द से कलारहित, इन्द्रियरहित अर्थात् निगृहीत इन्द्रिय वाले पुरुष का बोध हो (क्योंकि इसी स्थिति में अकल पुरुष का बोध होता है) तो हम यह कह सकते हैं कि निगृहीतेन्द्रियत्वरूप धर्म जो उसमें आया है वही सन्नाह का कार्य करता है। अतएव योगसूत्रभाष्य (2/55) में कहा गया है **'ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति'**—'यह परमावश्यता है क्योंकि चित्त-निरोध के बाद निगृहीत इन्द्रियाँ इतर इन्द्रियों के जय की तरह प्रयत्नान्तर की अपेक्षा नहीं करतीं'। इसका आशय यह है कि चित्त-निरोध के बाद इन्द्रियों का विषय-वैमुख्य स्वतः हो जाता है। उस समय पुरुष 'अकल' इन्द्रियरहित या इन्द्रियों के दुष्प्रभाव से मुक्त होता है। जैसे सन्नाहरूप आवरण में बैठा हुआ सैनिक रक्षा के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार चित्त-निरोध के साथ इन्द्रियों का सर्वथा निग्रह हो जाने पर इन्द्रिय-जय के लिए पृथक् प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। चित्त के निरोध के लिए किये गये प्रयास से इन्द्रियाँ भी निरुद्ध होती हैं, यह आशय है। अतः मन के साथ लड़ाई में इन्द्रियों का निग्रह करके 'अकल' होना अर्थात् इन्द्रिय निग्रह का रक्षा कवच पहनना आवश्यक है।

प्रीति के बाण

आचार्यचरण इस युद्ध में प्रीति के बाणों का प्रयोग चाहते हैं। प्रकृत में 'प्रीति के बाण' शब्द से सत्त्वगुण का स्वच्छ स्थिति-प्रवाह विवक्षित है। सांख्यकारिका में प्रीति को सत्त्वगुण का स्वरूप बतलाया गया है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवार्था जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥

(सां.का. 12)

इस कारिका में यह स्पष्ट किया गया है कि सत्त्व, रज एवं तम; प्रीति, अप्रीति और विषाद रूप हैं तथा प्रकाश, प्रवृत्ति एवं नियम इनका प्रयोजन है। यह गुण एक-दूसरे का अभिभव करते हैं तथा जनन या उत्पत्ति करना तथा एक-दूसरे से मिथुनीभाव को (युग्मरूपता को) प्राप्त होना इनका स्वभाव है। अस्तु, मात्रा के अर्थ का विचार करने हेतु यदि योगसूत्र की दृष्टि लें, तो स्पष्ट है कि इस विषय में 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' (1/47) इस योगसूत्र पर भाष्यकार का यह कथन कि अशुद्धिरूप आवरण मल से रहित प्रकाशस्वरूप बुद्धि सत्त्व का रजोगुण एवं तमोगुण से अभिभूत न होने वाला स्वच्छ स्थिति-प्रवाह ही वैशारद्य है, विचारणीय होगा। सत्त्व की प्रधानता वाली बुद्धि को बुद्धि सत्त्व कहा जा रहा है। जब निर्विचार समाधि का इस प्रकार का स्थिति-प्रवाह प्राप्त होता है तो योगी को भूतार्थविषयक प्रज्ञालोक की प्राप्ति होती है, जिसमें वह युगपत् (एक साथ) अतीत एवं अनागत पदार्थों को देखता है। उस समय योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। इसके बारे में जानने हेतु हम योगसूत्र (1/48) **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** में वर्णित विषय का अवलोकन कर सकते हैं। जैसे बाण लक्ष्य पर निरन्तर चलते रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि सत्त्व का स्थिति प्रवाह भी निरन्तर गतिशील रहकर प्रज्ञालोक की प्राप्ति करता है।

यदि बाण शब्द के वाच्यार्थ का विचार करें तो कोश के अनुसार बाण शब्द गौ के स्तन, बाणासुर, केवल (अकेला) तथा काण्ड का वाचक है; क्योंकि **'बाणः स्याद् गोस्तने दैत्यभेदे केवलकाण्डयोः'** इस मेदिनीकोश में इन अर्थों में इसका प्रयोग दिया हुआ है। भ्वादिगण की आत्मनेपदी 'बण शब्दे' स्वार्थ ण्यन्त धातु से पचाद्यच् **'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः'** (पा.सू. 3/1/134) प्रत्यय करके बाण शब्द बना है। इस प्रकार शब्दार्थक धातु से निष्पन्न बाण शब्द का प्रयोग करके आचार्यचरण, साधक को नाद की प्राप्ति होती है, यह सूचित कर रहे हैं। आशय है कि पूर्वमात्रा में वर्णित पूर्णतः इन्द्रिय निरोध की स्थिति में मन के पहुँचने के बाद तृप्तिकारक नाद की प्राप्ति होती है। प्रीञ् धातु के अर्थ के अनुरोध से प्रीति शब्द तृप्ति का भी बोधक है। अतः प्रीति का बाण तृप्तिकारक नाद, अनहद नाद है। यह अवधेय है कि नाद और ज्योति दोनों ही ब्रह्म-प्राप्ति (समाधि-प्राप्ति) के पहले आते हैं। किसी को पहले नाद

प्राप्त होता है, किसी को पहले ज्योति प्राप्त होती है। 'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी' (यो.सू. 1/35) तथा इसके आगे के सूत्र में मन के निग्रह की आसन्नता के सूचक नाद आदि का वर्णन है। इस प्रकार नाद की प्राप्ति से समाधि की आसन्न-प्राप्ति सूचित होती है।

यदि बाण शब्द के स्थान पर 'वान' शब्द का प्रयोग स्वीकार किया जाय तो **'शुष्के वानम्'** अमरकोश (2/4/15) के अनुसार यह शुष्क फल का वाचक होगा। इसकी निष्पत्ति 'पै ओवै शोषणे' इस धातु से होगी अथवा 'वनु याचने' धातु से घञ् करके होगी। शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया इस प्रकार है— **'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च'** (3/4/72) सूत्र से 'वा' धातु से कर्ता अर्थ में क्त प्रत्यय करके **'ओदितश्च'** से क्त को 'न' होगा अथवा 'वनु याचने' धातु से घञ् होगा। हैमकोश में 'कट' अर्थ में भी इसका प्रयोग है। अतः प्रीति के वान का अर्थ प्रीति की चटाई (कट) या प्रीति का विस्तार होगा। प्रीति की चटाई पर साधक का आसन होगा।

यदि 'वनु याचने' धातु से निष्पन्न वान को स्वीकार करें तो प्रीति की याचना या प्रीति का सार्वकालिक भाव साधक के भीतर होगा, यह सूचित होगा—

अरथ न धरम न काम रति गति न चहउं निर्बान।
जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आन॥

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा 304)

गोस्वामी श्रीतुलसीदास की यह उक्ति भी तो यही सूचित कर रही है। यह भाव चित्त के प्रसादन के लिए आवश्यक है। आशय यह कह सकते हैं कि गुरुशब्दरूपी धनुष (कमान) से प्रीति के बाण निकल रहे हैं, मन के ऊपर चलाये जा रहे हैं। शिष्य के मन के साथ उसकी लड़ाई चल रही है, उस समय वहाँ गुरु की सन्निधि नहीं है, तथापि गुरुमुख से उच्चरित साधनविषयक शब्दों की स्मृति के द्वारा गुरु की उपस्थिति को स्वीकार कर यह तथ्य वर्णित है। गुरु के शब्दों से उपदिष्ट सम्पूर्ण साधनों से प्रीति या सत्त्व की विवृद्धि होती है। निरन्तर प्रीति या सत्त्व के ही बाण चलते हैं, जिससे रजोगुण एवं तमोगुण सर्वथा प्रभावहीन या मृतप्राय हो जाते हैं और मन में पूर्व वर्णित अनिन्द्रियावस्था, ऐसी अवस्था

जिसमें पूर्णतः निगृहीत इन्द्रियाँ किसी प्रकार बाधक नहीं बनतीं, की प्राप्ति होती है।

सन्त परम्परा की ओर दृष्टि दें, तो मनको कैसे रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में गोरखबानी में निम्न पद द्रष्टव्य है।

दाबि न मारिबा षाली न राषिबा, जांनिबा अगनि का भेवं।
बूढी हीं थै गुरुबानी होइगी, सति सति भाषंत श्री गोरष देवं ॥

(सबदी-174, गो.बानी, पृ. 79)

मन को दबाकर नहीं मारना चाहिए, उसे खाली भी नहीं रखना चाहिए। अग्नि (ब्रह्माग्नि अथवा योगाग्नि का) भेद (रहस्य) जानना चाहिए। ऐसा करने से बूढ़ी माया जो स्वभावतः बन्धनकारिणी है, वही मुक्त करने वाली गुरु आनी (गुरुपत्नी, जो गुरु की तरह उद्धार करती है) हो जायेगी। उद्धार करने वाली हो जायेगी। माया का विद्या और अविद्या दो स्वरूप है, अविद्या रूप में वह जीव को वश में करके बन्धन का कारण है, और विद्या रूप में वही मोक्षदायिनी हो जाती है।

मन को दबाकर नहीं मारना है, यह कहने का आशय है, प्रेम से उसे अनुशासन में रखना है, लेकिन कभी भी खाली नहीं रखना है, यह कथन स्पष्ट करता है कि निरन्तर उसे सत्पथ की ओर प्रेरित करना है। 'प्रीति के बाण' का प्रयोग होने से प्राणान्तक पीडा नहीं होगी, यह द्योतित हो रहा है। किन्तु निरन्तर प्रहार होने से मन निरंकुश भी नहीं होगा। इसका ध्वनन 'दावि न मारिबा' इस अंश से गोरखबानी में भी हुआ है।

अकल की बरछी

भाषा में 'अकल' शब्द बुद्धिवाचक है। बरछी एक छोटा हथियार है, जिसे हाथ में रखकर प्रहार किया जाता है। रहस्यार्थ की दृष्टि से योगशास्त्र की दृष्टि का आश्रयण कर यह कह सकते हैं कि मात्रा में 'अकल' शब्द से बुद्धिशब्दवाच्य महत्तत्त्व को लिया गया है। इसे 'कला' शब्द के विभिन्न अर्थों से स्पष्ट किया जा सकता है; क्योंकि कला से ही समस्त होकर 'अकल' शब्द बना है। अमरकोश (3/198) **'कला शिल्पे कालभेदेऽपि'** की व्याख्या में उद्धृत मेदिनीकोश—

कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके।
षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालमानयोः ॥

से 'कला' शब्द के जो विभिन्न अर्थ प्राप्त हो रहे हैं। इनमें से कालभेद या कालमान को कला शब्द से कहा जा सकता है। अल्पार्थक नञ् शब्द के साथ उसका समास 'न कला अकला' इस रूप में किया जाय तो इस प्रकार निष्पन्न अकला शब्द अल्पकला (अल्पकाल) तथा उससे सम्बद्ध बुद्धि को कहेगा। इसके पश्चात् 'अकला अस्त्यस्मिन्' इस विग्रह में 'अर्शआद्यच्' प्रत्यय किया जाय तो अकल शब्द बनेगा, जो प्रकृति का बोधन करेगा; क्योंकि अकला पदवाच्य बुद्धि प्रकृति में लीन होने से प्रकृति से सम्बद्ध है अथवा **'अविद्यमानकलोऽकलः'** इस व्युत्पत्ति में समास करेंगे। इस प्रकार बुद्धि का अल्पकाल या सीमित काल बोधित होता है। प्रकृति तो नित्य होने से काल-सम्बन्धरहित है। बुद्धि या महत्तत्त्व प्रकृति में लीन होता है, अतः वह उसकी अपेक्षा अल्पकाल वाला है। सत्त्व शब्द बुद्धि या महत्तत्त्व को कहता है। पुरुषार्थ क्रिया-क्षम को सत् कहते हैं। पुरुष या जीव के द्वारा इष्यमाण भोग एवं अपवर्ग रूप अर्थ की प्राप्ति कराने वाला पुरुषार्थ क्रिया में समर्थ कहलाता है, उसी को सत् कहते हैं। **'सतो भावः सत्ता या सत्त्वम्'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न सत्त्व शब्द महत्तत्त्व को कहता है; क्योंकि जितनी भी शब्दादिभोगलक्षणक्रिया अथवा सत्त्व एवं पुरुष की अन्यताख्याति लक्षण क्रिया है, जिसे भोग एवं अपवर्ग कहते हैं, सभी महत्तत्त्व या बुद्धि में परिसमाप्त होती है। यद्यपि योगसूत्र (2/19) **'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि'** के भाष्य में महत्तत्त्व को— **'एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः'**—इस वाक्य में आत्मा कहा गया है। तथापि यहाँ स्वरूप के प्रदर्शन के द्वारा 'तुच्छता' के निषेध मात्र से आत्म शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः प्रकृत प्रसंग में महत्तत्त्व से बुद्धि को ही लेना है।

इसी महत्तत्त्व में अवस्थित होकर छः अविशेष (शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र और अस्मिता) भोग एवं अपवर्ग रूप कार्य के लिए विवृद्धि की काष्ठा को प्राप्त करते हैं। इन छः अविशेषों (किसी भी विशिष्टता से रहित) के विशेष परिणाम होते हैं, जिन्हें—

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥

(सां.का. 22)

इस सांख्यकारिका में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार अविशेषों के जो विशेष परिणाम प्राप्त होते हैं, उनके भी धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम होते हैं। यह सृष्टि या उत्पत्ति क्रम का वर्णन है। धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम योगसूत्र में वर्णित हैं। इसके अनन्तर प्रलय का वर्णन योगसूत्र (2/19) के भाष्य में ही **'प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय'** इत्यादि रूप में मिलता है। आशय यह है कि प्रलय-क्रम में स्थूलभूत तन्मात्ररूप में आते हैं फिर अपने कारण अहंतत्त्व या अस्मिता के स्वरूप को प्राप्त कर पुनः अव्यक्त या महत्तत्त्वरूप में आते हैं। उसके अनन्तर महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व का लय, अलिङ्ग प्रधान में होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धिसत्त्व ही इससे उत्पन्न पदार्थों के द्वारा भोग प्रदान करता है तथा अपवर्ग-प्राप्तिकाल में उसी में सभी पदार्थ मन, अस्मिता आदि लीन हो जाते हैं। यह बुद्धितत्त्व अलग-अलग होता है, अतः एक पुरुष के बुद्धितत्त्व के लीन होने पर भी दूसरे पुरुष के बुद्धितत्त्व के कार्य करते रहने से सबका मोक्ष एक साथ नहीं होता।

यह अवश्य अवधेय है कि पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए सृष्टि है तथा पुरुष बहुत हैं (सांख्ययोग दृष्टि), अतः जिस पुरुष को सत्त्वपुरुषान्यताख्याति होती है, उसी का भोग समाप्त होता है, उसके लिए ही गुणों का प्रतिसर्ग होता है, सबके लिए नहीं। इस तथ्य को **'गुणों की कटारी'** इस मात्रा के साथ **'मन को मारि करो असवारी'** इस मात्रा के अर्थ विचार के साथ प्रस्तुत किया जायेगा। अस्तु, प्रकृत में तो **'अकल की बरछी'** बुद्धिसत्त्व (महत्तत्त्व) की बरछी या श्रेष्ठ की छेदन प्रक्रिया को स्पष्ट कर उसकी बरछी की उपमा की सार्थकता को स्पष्ट किया जा रहा है।

वर या श्रेष्ठ भोग हैं, इनकी प्राप्ति के लिए लिङ्ग (या महत्तत्त्व) प्रवृत्त होता है। वही सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के बाद, विवेक ज्ञान होने पर इनका छेदन भी करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि भोगों का वरण करने तथा उनका छेदन करने के कारण अकल कलारहित या भोगाक्षम बुद्धि-सत्त्व ही बरछी है। यह मन को मारकर ही भोगों का छेदन कर अपवर्ग की प्राप्ति कराता है।

अकल की वरछी इस मात्रा का योगशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार व्याख्यान किया गया। वेदान्तशास्त्र के अनुसार तो 'अकल' शब्द से कलारहित परमात्मा या निर्गुण 'ब्रह्म' को लिया जा सकता है। अतएव उसके ध्यान हेतु प्रेरणा गोरखबानी में मिलती है—

रिषि छड्यां सिधि पाइए
सिवि संकर के हाथि।
छांड़ौ सकल अकल कूं ध्यावौ
यों कथंत जती गोरष नाथ॥

(पद-6, गो.बानी, पृ. 256)

क्रोध (रिषि) को छोड़कर उन सिद्धियों को प्राप्त कर सकते हो, जो शिवशंकर के हाथ में हैं। शिवशंकर के अधीन हैं, किन्तु यह सिद्धियाँ बाधक हैं। अतः इनको छोड़कर, निष्कल पुरुष (अकल-परब्रह्म) का ध्यान करो, ऐसा यति गोरखनाथ कहते हैं।

प्रकृत वचन में सिद्धियों की प्राप्ति के अनन्तर उन्हें छोड़कर (अकल का ध्यान) विहित है। यह ध्यान की चरम अवस्था है, जिसके बाद निर्गुण का साक्षात्कार होता है। द्रष्टव्य मात्रा 'शिवविभूता'। यह अकल परमात्मा 'बरछी' का काम करता है। वह वर या श्रेष्ठ का छेदन कर देता है; क्योंकि उसका साक्षात्कार होने के बाद जगत् में असारत्व ज्ञान होने से श्रेष्ठता बुद्धि नहीं रह जाती है। इस प्रकार वर या श्रेष्ठ का छेदन करने के कारण बरछी नाम सार्थक हो जाता है।

गुणों की कटारी

गोरखबानी में भी शरीर के भीतर पाँच कटार प्रतिपादित है—

इस ओजुदा मैं मारि लै गोता, कछु मगज भीतरि ष्याल रै।
पंच कटार है भीतरि निमस करि बेहाल रै॥

(सबदी 236, गो.बानी, पृ. 95)

यदि मस्तिष्क में कुछ भी विचार शक्ति है, तो इस शरीर में ही गोता मारो (डुबकी लगाओ, डूबकर रत्न खोजो)। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शरीर में कटार का काम कर रही हैं, जो मन को एक क्षण (निमेष) में बेहाल कर देती हैं। ज्ञानेन्द्रियों के

बहिर्मुख होने पर विषयों के सम्पर्क से जीव व्यथित होता है, यही कटार के प्रहार की पीडा है। अतः मन को अन्तर्मुख कर शरीर के भीतर गोता लगा कर परमात्मा को खोजने की बात कही जा रही है, जिससे शाश्वत शान्ति मिल सके।

इस प्रकार इन्द्रियों के भी कटार के रूप में होने से, इनसे प्राप्त होने वाली पीड़ा की शान्ति के लिए परमात्मा की प्राप्ति करने का उपदेश दिया गया है। आचार्यचरण इन्द्रियों को कटार नहीं कहते। **'अकल की बरछी'** के साथ गुणों की कटारी का वर्णन करते हैं; क्योंकि बरछी और कटारी दोनों ही मन को मारने के लिए अपेक्षित है। अतएव अगली मात्रा में मन को मारने की चर्चा करते हैं, अतः योगसूत्र 4/34 के भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार गुणों के प्रतिसर्ग का क्रम प्रस्तुत किया जा रहा है।

भाष्यकार ने पुरुषार्थशून्य गुणों के प्रतिप्रसव को कैवल्य कहा है। प्रतिप्रसव या प्रतिकूल प्रसव, उत्पत्ति के विपरीत क्रम में प्रधानरूप में हो जाने के लिए क्रमिक रूप से नये-नये रूपों में होना है, इस क्रम की परिसमाप्ति प्रधानरूपता की प्राप्ति के साथ होती है। 'गुणों की कटारी' इस मात्रा में आचार्यचरण यही बतला रहे हैं कि कैसे गुण 'कटारी' की तरह अपने परिणामभूत भोग्य पदार्थों का ही कर्तन करते हैं। अपने स्वभाव या धर्मों में परिवर्तन लाते हैं। उनका प्रतिसर्ग प्रतिकूल सर्ग या प्रलयोन्मुख होना ही कर्तनरूप कटारी का कार्य है। कटारी अत्यन्त निकट के शत्रु पर तथा आवश्यकता होने पर अपने ऊपर भी प्रहार करती है। भोग एवं अपवर्ग के लिए ही दृश्य है। इसे 'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (2/18) सूत्र में स्पष्ट किया गया है। अपवर्ग-प्राप्ति के बाद उस पुरुष के लिए दृश्य निष्प्रयोजन होकर प्रायः समाप्त हो जाता है, किन्तु अन्य पुरुषों के लिए रहता है। इस तथ्य को **'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्'** (2/22) सूत्र में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार प्रयोजनशून्य होने के बाद गुण अपने ऊपर ही प्रहार करते हुए कटारी का कार्य करते हैं और उनका प्रतिप्रसव आरम्भ होता है। इस प्रतिप्रसव के क्रम में गुणों की कटारी से मन भी मरता है; क्योंकि वह भी त्रिगुण कार्य ही है। इस प्रकार गुणों की कटारी त्रिगुणात्मक दृश्य जगत् तथा मन दोनों के ऊपर प्रहार कर दोनों को नष्ट करती है।

इस रूप में अकल की बरछी और गुणों की कटारी दोनों अपना कार्य करते हैं। अकल की बरछी—प्रधान के नियन्त्रण में रहने वाला बुद्धि-सत्त्व है, जो भोग के लिए श्रेष्ठ (वर) भोग्य पदार्थों को पुरुष के लिए समर्पित करता है तथा सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के बाद उन भोग्य पदार्थों का छेदन भी करता है। वरण एवं छेदन दोनों ही प्रक्रियाओं में मन का विशेष स्थान है। चित्त पदवाच्य मन का छेदन या नाश (अपने कारण में लय) अकलरूपी बरछी (बुद्धितत्त्व) के द्वारा होता है। किन्तु मन सहसा नहीं मरता उसके मरने की एक विशेष प्रक्रिया है। हम जानते हैं 'मन' के रहते ही भोग है तथा अपवर्ग में भी उसका उपयोग है। जैसे सामान्य मनुष्य इन्द्रियों के सहयोग से मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर व्यवहार करता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुषों में भी मन रहता है, यह स्वीकार करना होगा। प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न चित्त होते हैं, अतएव योगसूत्र (4/16) में कहा गया है—**'स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते'** प्रत्येक पुरुष में चित्त स्वतन्त्र कार्य करते हैं। चित्त का प्रतिसर्ग, जिसका वर्णन अभी किया गया है, जीवन्मुक्त के शरीर त्याग के समकाल में ही होता है। अतएव योगसूत्र (3/51) में वाचस्पति मिश्र ने **'तस्य ह भगवतो जीवन्मुक्तस्य चरमदेहस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः'** यह कहा है।

यह अवश्य अवधेय है कि विवेकख्याति या सत्त्व पुरुष की अन्यताख्याति या भेद के प्रकाशनपर्यन्त योगाङ्गों का अनुष्ठान होता है, इसके बाद के कार्य अर्थात् चित्तप्रतिसर्ग के कार्य में पुरुषार्थ कारण नहीं है। वह विवेकख्याति के बाद का कार्य है तथा उसे 'गुण' स्वयं करते हैं।

जीवन्मुक्तावस्था में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति या विवेक ख्याति हो जाने के बाद केवल चित्त-प्रतिसर्ग ही अवशिष्ट रहता है। जीवन्मुक्त के चित्त का प्रतिसर्ग कब होता है? इस पर विचार करना आवश्यक है; क्योंकि इसी के साथ गुणों की कटारी का कार्य समाप्त होता है तथा मन मरता है।

योगसूत्र (2/27) **'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा'** में भाष्यकार ने प्रज्ञा की विमुक्ति एवं चित्त की विमुक्ति का अलग-अलग वर्णन किया है। 'अकल की बरछी' यह मात्रा बुद्धिसत्त्व (प्रज्ञा) की विमुक्ति का वर्णन करती है तथा 'गुणों की कटारी' चित्तसत्त्व की विमुक्ति का वर्णन करती है। प्रज्ञा की सप्तप्रकारा अवस्था

में चार पुरुष प्रयत्नसाध्य हैं तथा तीन अप्रयत्नसाध्य हैं, जो चित्तप्रतिसर्ग को बताती हैं। यह सात प्रकार की प्रज्ञा निम्न है—

1. प्राधानिक या प्रधान के कार्य जितने भी हैं सभी दुःखरूप हैं, अतः हेय हैं। इस हेय का सम्यग् ज्ञान प्रथमा प्रज्ञा है।
2. हेय दुःख के जो भी हेतु हैं, वह क्षीण हो गये हैं, उनके अभाव में प्रधान की पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः अब पुनः क्षेतव्य (नाश के योग्य) कुछ नहीं रह गया।
3. सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था में ही निरोध-समाधि-साध्य हान (त्याग) का साक्षात्कार कर लिया है। इससे आगे कोई भी निश्चय नहीं करना है।
4. मैंने विवेकख्याति (सत्त्वपुरुष की अन्यताख्याति) रूप हान का उपाय निष्पादित कर लिया है। अब इससे श्रेष्ठ कोई भी वस्तु निष्पादनीय नहीं है। यह चार प्रकार की विमुक्ति कार्या अर्थात् प्रयत्नसाध्या है। यहाँ तक पुरुष प्रयत्न करता है। इसके अनन्तर प्रतिसर्ग की प्रक्रिया में पुरुष-प्रयत्न कारण नहीं है। अतएव चित्तविमुक्ति को अप्रयत्नसाध्य मानकर इसे आगे बतलाते हैं।
5. बुद्धि चरिताधिकारा हो गयी है, अर्थात् इसके भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजन पूर्ण हो गये हैं।
6. गुण अवस्थान (स्थिति) रहित होने के कारण अपने कारण में प्रलीन होने की ओर उन्मुख हैं। कारण के साथ अव्यक्त में लीन हो जायेंगे, पुनः उनका इस पुरुष के लिए उत्पाद नहीं होगा। गुणों का भोगोन्मुख होना ही उनका उत्पाद या उत्पत्ति है।
7. इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से अतीत पुरुष जीते ही केवली या मुक्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि चित्त का लय जीवन के अन्त में ही होता है। चित्त का प्रतिसर्ग एवं बुद्धिसत्त्व का प्रतिसर्ग दोनों साथ ही साथ समाप्त होते हैं। चित्त-सत्त्व अस्मिता में लीन होकर बुद्धिसत्त्व या महत्तत्त्व में लीन होता है और महत्तत्त्व प्रधान में लीन होता है।

जीवन्मुक्त में मुक्तत्व व्यवहार दो प्रकार से होता है। अनौपचारिक मुक्तत्व व्यवहार चित्त-प्रतिसर्ग को लेकर होता है। औपचारिक मुक्तत्व व्यवहार तो महत्तत्त्व या बुद्धिसत्त्व के लय के कारण होता है। चित्त की विमुक्ति अप्रयत्नसाध्य होती है। चित्त की विमुक्ति, चित्त का प्रतिसर्ग या लय है, जो चरमदेह का सहभावी अथवा प्राणवियोग का सहभावी कहा जा सकता है। अद्वैतवेदान्त में वेदान्तपरिभाषा ग्रन्थ में भी चित्त को मोक्षपर्यन्त स्थायी स्वीकार किया गया है। विदेह-कैवल्य ही मुख्य मोक्ष है, अतः विदेह-कैवल्यपर्यन्त चित्त रहता है। यह स्वीकार करने में बाधा नहीं है। स्पष्ट है कि चित्त-प्रतिसर्ग में गुण ही पुरुष-प्रयत्न-निरपेक्ष होकर कार्य करते हैं, वे प्रलयाभिमुख होते हैं, अतः कटारी का कार्य करते हैं, फलतः 'गुणों की कटारी' यह सार्थक कथन है।

मन को मारि करो असवारी

इस मात्रा में मन को मारकर उस पर सवारी करने की चर्चा है। यह भी मात्रा पिछली दोनों मात्राओं से सम्बद्ध है। अतः मन को मारने का आशय, मन की विषयोन्मुखता को रोकना है, जिसे हम चित्त-निरोध शब्द से कहते हैं। सम्प्रज्ञात-समाधि के प्राप्त होने पर ही चित्त मर जाता है, वह साधक के अधीन हो जाता है, वह उस पर सवारी करता है। अतः यह कहना चाहिए कि सम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति के बाद जीवन्मुक्त मन पर सवारी करता है तथा उसके बाद देहपात के साथ उसका प्रतिसर्ग पूर्ण होता है, जो शनैः-शनैः उपर्युक्त क्रम से होता है। इसके पहले जीवन्मुक्त साधक मन पर सवारी करता है; क्योंकि उसका मन निर्वासन होने के कारण सर्वथा उसके वश में होता है, उसका विषयलौल्य (विषय की उत्सुकता) समाप्त हो गया होता है। उसे विषयों से इन्द्रियों को हटाने के लिए प्रयास नहीं करना है, उसकी इन्द्रियाँ विषयोन्मुख होती ही नहीं। इन्द्रिय-निरोध और चित्त-निरोध के विषय में निम्न वचन ध्येय है—

शब्दादिष्वनुसक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥

वश्यता परमा तेन जायते निश्चलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥

(वि.पु., 6/7/43-44)

शब्द-स्पर्श आदि विषयों में प्रसक्त इन्द्रियों का निग्रह करके प्रत्याहार-परायण योगी उन्हें चित्त का अनुवर्तन करने वाला बनाता है। इस प्रकार निश्चल इन्द्रियों की परमा वश्यता होती है। इन्द्रियों के अवश्य अर्थात् अपने वश में न होने पर, योगसाधना नहीं की जा सकती (यो.सू. 2/54 की तत्त्ववैशा.)। इस प्रकार इन्द्रियाँ वशीभूत होकर जब चित्त का अनुवर्तन प्रारम्भ करती हैं, तो चित्त का भोगरूप प्रयोजन समाप्त हो गया, यह सूचित होता है, इसके बाद चित्त के प्रतिसर्ग की अवस्था होती है। इसके पहले तक मन विषयों का अनुगमन करता है तथा उसे विवेकरूप अंकुश के द्वारा साधक नियन्त्रित करता है। अब तो मन मर चुका है, भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि के बाद वह अपने अस्तित्व के प्रति सशङ्क है। इस प्रकार वह सर्वथा साधक के वश में है, और अब साधक उस पर सवार होकर उसे सर्वथा नियन्त्रित कर जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है। अपने प्रारब्ध का क्षपण करता है और लोककल्याण के लिए विचरण करता है। मन को मारने में **'अकल की बरछी'** और **'गुणों की कटारी'** दोनों का विशेष महत्त्व है, जिसे प्रज्ञाविमुक्ति एवं चित्तविमुक्ति के द्वारा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। मन को भी मारकर उस पर सवारी करने की बात कही जा रही है। हम जानते हैं कि कहीं जाने के लिए सवारी आवश्यक होती है। यह मरा हुआ मन जो वासनाओं को छोड़ चुका है, आगे की यात्रा में सहायक होगा। उस पर सवार होकर हम 'निर्भव गढ़' में जाते हैं, यह आगे स्पष्ट किया गया है।

विषम गढ़ तोड़ निर्भौं घर आया नौबत शंख नगाड़ा वाया

योग की प्रक्रिया में 'नाद' की प्राप्ति, ब्रह्म-प्राप्ति को सूचित करती है। अतएव गोरखबानी में अनेक स्थलों पर नाद-प्राप्ति के साथ ब्रह्म-प्राप्ति को बताया गया है। आचार्यचरण भी यही कर रहे हैं।

अनहद सबदैं संष बुलाया काल (काम) महादल दलिया लो।
काया कै अंतरि गगन मंडल मैं सहजै स्वामी मिलिया लो॥

(पद रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 133)

'अनाहत' शब्द का शंख बजा कर हमने काल की बड़ी सेना (महादल) का दलन कर दिया अर्थात् काल के ऊपर विजय प्राप्त कर लिया। (काम पाठ होने पर) काम पर विजय प्राप्त कर लिया। इस 'काम' के नष्ट हो जाने पर इस शरीर (काया) के भीतर ही आकाश-मण्डल में सहज रूप से स्वामी (परब्रह्म) से मैं मिल गया, मैं ब्रह्मरूप हो गया।

तूंबी मैं तिरलोक समाया त्रिबेणी रिब चंदा।
बूझो रे ब्रंभ गियानी, अनहद नाद अभंगा॥

(सबदी-257, गो.बानी, पृ. 99)

माया की तुम्बी में बीज रूप से तीनों लोक, त्रिवेणी (इडा, पिंगला, सुषुम्ना) तथा सूर्य चन्द्रमा सभी समाए हुए हैं। इसलिए हे ब्रह्मज्ञानियों कभी भंग न होने वाले अनाहत नाद को समझो (यह तुम्हें माया के क्षेत्र से बाहर पहुँचाकर ब्रह्म प्राप्ति करा देगा)।

संन्यासी सोई करै सर्बनास,
गगन मंडल महि मांडै आस।
अनहद सूं मन उनमन रहै,
सो सन्यासी अगम की कहै॥

(सबदी 104, गो.बानी, पृ. 56)

संन्यासी वही है, जो अपने सर्वस्व का न्यास (त्याग) कर देता है। केवल शून्यमण्डल में मिलने वाली ब्रह्मानुभूति की आशा करता है। अनाहत को सुनकर मन को उन्मनीभाव में रखता है। यह संन्यासी (स्वानुभव से) अगम परब्रह्म का कथन करता है।

अनाहत नाद से तत्त्व की प्राप्ति का वर्णन गोरखबानी में मिलता है—

बरष एक देखिलै हो पंडिता
तत एक चीन्हिबा सबदैं सुरति समाई।
गोरषनाथ बोलै भ्रम न भूलिबा रे भाई॥

(सबदी 222, गो.बानी, पृ. 92)

हे पंडित! एक वृक्ष (ब्रह्म के ऊपर अधिष्ठित जगत् को देख लो। इसी जगत् के तत्त्वभूत पदार्थ को शब्द (अनाहत नाद) में 'सुरति' लगाकर, उसी में

तल्लीन होकर प्राप्त कर सकते हो। अतः मायिक जगत् के पदार्थों के भ्रम में मत भूलो, तत्त्व को प्राप्त करो।

आचार्यचरण भी 'निर्भौं' घर की प्राप्ति होने पर नौबत, शंख, नगाड़ा आदि की तरह उठने वाली 'अनाहत' ध्वनि से साधक का स्वागत बतला रहे हैं।

मन पर 'सवारी' करने वाला साधक कहाँ जाता है? उसे क्या प्राप्त होता है? इसका वर्णन 'विषम गढ़ तोड़ निर्भौं घर आया' इस मात्रा में है। विषम शब्द की व्युत्पत्ति यदि **'विगतः समः समत्वं येभ्यस्ते विषमाः'** यह की जाय तो इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न विषम शब्द गुणों की असाम्यावस्थारूप संसार को कहता है और निर्भौं गढ़ (निर्भव गढ़) उत्पत्तिरहित प्रधान को कहता है, जो गुणों की वैषम्यावस्थारूप संसार के अभाव को बोधित करता है। अतः इस मात्रा से यह बोधित होता है कि मन, विषमगढ़रूप संसार को छोड़कर उसके प्रति भोग-बुद्धि का परित्याग कर निर्भव घर अर्थात् प्रधान में प्रवेश कर रहा है, वहीं लीन हो जाता है। इसके अनन्तर ऐसे साधक का स्वागत नौबत, शंख, नगाड़ा आदि वाद्यों से विभिन्न लोकों में होता है।

ऐसे साधक का स्वागत लोकान्तरों में होता है, ऐसी प्रसिद्धि है। वीतराग सन्त जिन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन कर योगमार्ग के द्वारा मन का प्रविलापन कर दिया है, उनके अनुभव एवं उक्ति के अनुसार ऐसे सन्त के समाधिस्थ होने पर उनका स्वागत महीनों तक लोकान्तरों में गाजे-बाजे के साथ तत्तल्लोकों के निवासी उसी प्रकार करते हैं, जैसे परराष्ट्र का विजय कर लौटने पर राजा का स्वागत उसके देश के लोग विभिन्न वाद्यों के साथ उत्साह से करते हैं। भगवान् बुद्ध ने भी धम्मपद के 'प्रियवर्ग' में यह स्पष्ट किया है कि जैसे बहुत दिन के प्रवास के बाद, दूर से सुखपूर्वक लौटे हुए पुरुष का स्वागत ज्ञाति-मित्र-सुहृत् लोग करते हैं, उसी प्रकार इस लोक से परलोक में जाने वाले पुण्यात्मा का स्वागत पुण्याचरणसम्पन्न लोग करते हैं—

चिरप्रवासिनं दूरात् पुरुषं सुखमागतम्।
अभिनन्दन्ति सर्वेऽपि ज्ञातिमित्रसुहृज्जनाः ॥

अस्माल्लोकात्परं यातं कृतपुण्यं तथा नरम्।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति ज्ञातिं प्रियमिवागतम् ॥

(धम्मपद, प्रियवर्ग, 11-12)

विषम गढ़ को तोड़ने की प्रक्रिया सम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति के अनन्तर ही आरम्भ हो जाती है तथा गुणों के प्रतिसर्ग की समाप्ति पर समाप्त होती है। गुणों के प्रतिसर्ग की समाप्ति दो चरणों में होती है—1. चित्त का प्रतिसर्ग 2. महत्तत्त्व का प्रतिसर्ग। इसका वर्णन पूर्व में किया गया है। विषम गढ़ को विषम ग्रह का अपभ्रंश कहा जा सकता है। गुणों के वैषम्य (विषमता) प्रयुक्त सृष्टि पुरुष का ग्रहण (ग्रह) करती है। यह ग्रहण बन्धन है संसार में आसक्ति है, जिससे जीव को छुटकारा नहीं मिलता और वह आसक्ति के कारण ही जन्म-मरण-परम्परा में भोग प्राप्त करता रहता है। अब मन के मरने के बाद वह निर्भव अवस्था को प्राप्त करता है। निर्भव को घर बताकर यहाँ मन की अवस्थिति बतलाई जा रही है। अतः निर्भव घर शब्द से प्रधान को कहा जाय तो यह कथन संगत हो जाता है। क्योंकि मन कारणक्रम से प्रधान में लीन होता है और पुरुष अपने स्वरूप में व्यवस्थित हो जाता है। यह योगशास्त्र की दृष्टि से मात्रा का अर्थ विचार है।

वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से विचार करें, तो विषम गढ़ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन स्थान हैं, जहाँ अपनी उपाधियों में अभिमान के कारण शुद्ध चेतन, व्यष्टि और समष्टि की दृष्टि से विश्व-वैश्वानर, तैजस-हिरण्यगर्भ तथा प्राज्ञ एवं ईश्वर नामों से व्यवहार को प्राप्त करता है। ग्रहण करने के कारण, अपने सम्बन्ध से व्यष्टि-समिष्ट रूपों में पूर्वोल्लिखित 'विश्व' आदि नामों से चेतन को व्यवहार्थ बनाने के कारण इन अवस्थाओं को ग्रह या गढ़ कहते हैं। विषमसंख्या में होने के कारण अथवा **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता 5/19) इस भगवदुक्ति के अनुसार सम-ब्रह्म के विशिष्टस्वरूप या सोपाधिकरूप का बोध इन अवस्थाओं में होने के कारण इन्हें विषम गढ़ कहते हैं। सम-ब्रह्म की प्राप्ति को समाधि कहते हैं; क्योंकि समाधि की अवस्था में सम-ब्रह्म में मन का आधान या स्थापन होता है। श्रीमद्भागवत में यह वर्णन मिलता है कि समाधि में स्थित ऋषि के गले में राजा परीक्षित् ने सर्प डाला था। वहाँ ऋषि की समाधि का वर्णन निम्नरूप में है—

'ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम्' (1/18/25), **'स्थान-त्रयात्परं प्राप्तं, ब्रह्मभूतमविक्रियम्'** (1/18/26)। प्यासे परीक्षित ने नेत्रों को बन्द करके शान्त बैठे हुए मुनि (शमीक ऋषि) को देखा, जो तीन स्थानों से

श्रेष्ठ चतुर्थ स्थान को प्राप्त किए हुए थे। इस समय ऋषि अविक्रिय-ब्रह्म के रूप में थे। इन तीन स्थानों में चेतन की गति की निवृत्ति होती है, अर्थात् चेतन जीव जब तक इन तीन अवस्थाओं तक ही सीमित रहता है, चतुर्थ अवस्था समाधि की अवस्था को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह इस शरीर से सर्वत्र जाने में समर्थ नहीं होता; किन्तु जब वह समाधिस्थ होने लगता है, तो उसमें यह सामर्थ्य आ जाती है, अब उसकी गति का विघात नहीं होता। इस प्रकार गति का विघात करने के कारण इन्हें स्थान कहते हैं; क्योंकि स्थान शब्द 'स्था गतिनिवृत्तौ' धातु से बनता है।

इन तीन स्थानों में चेतन के रहने का आशय है, उन स्थानों में अभिमान करना। तीन स्थानों में चेतन कैसे विभिन्न उपाधियों में अभिमान करता है, इसका वर्णन पञ्चदशी में इस प्रकार मिलता है—चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति का शुद्ध सत्त्व प्रधानरूप जिसे माया कहते हैं, उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है। 'माया' ईश्वर के वश में रहती है, उपाधि के शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान होने से ईश्वर सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त होते हैं। मलिनसत्त्वप्रधान चेतन की उपाधि, जिसे अविद्या कहते हैं, उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है। यह जीव, अपनी उपाधि अविद्या की विचित्रता के कारण देवता, तिर्यक् (पक्षी), मनुष्य आदि कहे जाते हैं। अविद्या को कारण शरीर कहते हैं। इस कारण शरीर में व्यष्टिभूत अज्ञान में अभिमान करने वाला चेतन 'प्राज्ञ' कहलाता है। जैसे स्थूल शरीर में अहम् बुद्धि होने से **'अहं गच्छामि'** मैं जा रहा हूँ इत्यादि व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति में भी 'अहम्' यह अनुभव स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के कारणभूत अविद्योपाधिक चेतन में होता है। **'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'**–'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी नहीं जान सका' यह अनुभव इसमें प्रमाण है। सप्तदश (17) अवयव वाले सूक्ष्म शरीर में 'अहम्' यह अभिमान करने के कारण प्राज्ञ को 'तैजस' कहा जाता है। समष्टि सूक्ष्म शरीर में अभिमान करने के कारण अविद्या उपाधि वाले ईश्वर की हिरण्यगर्भ संज्ञा होती है। यही हिरण्यगर्भ, समष्टिस्थूलशरीरों (सभी स्थूल शरीरों) में अहम् (अभिमान) के कारण 'वैश्वानर' संज्ञा प्राप्त करते हैं। व्यष्टि सूक्ष्म शरीर के अभिमानी 'तैजस' जब व्यष्टि स्थूल शरीर में 'अहम्' इस रूप में

अभिमान करते हैं, तो उनकी विश्व-संज्ञा होती है। समष्ट्यज्ञानरूप विशुद्धसत्त्वप्रधान अविद्या जिसे 'माया' कहते हैं, जो ईश्वर की उपाधि है, उसे 'सुषुप्ति' भी कहते हैं; क्योंकि प्रलयकाल में सभी वस्तुओं का उसमें लय होता है। इसलिए सोपाधिक चेतन परमेश्वर भी शयन करते हैं, यह व्यवहार होता है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया गया। यही विषम गढ़ है; क्योंकि शुद्ध चेतन यहाँ अभिमान के कारण बँधा हुआ है, गृहीत है (द्रष्टव्य–पञ्चदशी तत्त्वविवेकप्रकरण, श्लो. 15-29 तक)।

इन तीनों शरीरों से आत्मा को अलग समझ लेना, अपने से अभिन्न समझ लेना ही आत्मज्ञान ब्रह्म-प्राप्ति या निर्भव घर में आना है। अतएव—

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरत्रितयाद् धीरैः परं ब्रह्मैव जायते॥

(पञ्चदशी 1/42)

में यह प्रतिपादित किया गया है कि जैसे मूंज से सींक (इषीका) निकाली जाती है, उसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों से जो धीर आत्मा को अलग निकाल लेते हैं, पृथक् रूप में जान लेते हैं, वे परब्रह्म ही हो जाते हैं।

प्रकृत मात्रा में 'विषम गढ़' शब्द से यह तीनों शरीर तथा उनसे सम्बद्ध तीनों अवस्थाएँ ली जा रही हैं। जब इन तीनों अवस्थाओं से जीव ऊपर उठ जाता है, तीनों अवस्थाओं में अभिमान के कारण होने वाले 'अहम्' व्यवहार को छोड़ देता है, तब वह ब्रह्मरूप हो जाता है। इस विषम 'गढ़' को तोड़ना उनसे ऊपर उठना है; क्योंकि 'तुड भेदने' धातु से बनने वाला 'तोडन' शब्द भेदन को कहेगा और भेदन किसी आवरण को तोड़कर उसके बाहर निकलने को बोधित करेगा।

अतएव तीन स्थानों से श्रेष्ठ स्थान को 'शमीक' ऋषि प्राप्त किये हुए थे, यह कहकर भागवत श्लोक (11/18/26) में तुरीयावस्था में ब्रह्म-प्राप्ति को बताया गया है। ब्रह्म को यहाँ अविक्रिय भी बतलाया गया है। इस अविक्रिय विशेषण से ब्रह्म का विक्रियायुक्त रूप भी सूचित होता है। तुरीय स्थान को प्राप्त होने पर वह अविक्रिय हो रहा है, तो तीनों स्थानों में रहने तक वह विक्रियासहित है, यह भी इससे सूचित हो रहा है। यह तीन अवस्थाएँ ब्रह्म की विकृत अवस्थाएँ

हैं। इसको बताने के लिए **'विकृतं समं ब्रह्म यत्र तद् विषमम्'** जहाँ सम-ब्रह्म विकृत है, इस अर्थ को सूचित करने वाले विषम शब्द का प्रयोग मात्रा में है। इससे स्पष्ट होता है कि विकाररूप से जगद्रूपता को प्राप्त ब्रह्म ही विषम पदवाच्य गढ़ है। इस विषम गढ़ को तोड़कर जीव निर्भव घर में प्रवेश करता है। निर्भव घर, संसार धर्म से वर्जित ब्रह्म ही है, जिसे **'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः'** (मा.उप., अ.प्र.मं. 7) में अदृष्ट अग्राह्य अव्यवहार्य बताते हुए श्रुति ने सर्वसंसारधर्मवर्जित कहा है। इस निर्भै घर में वह (जीव) आ चुका है, ब्रह्मरूप हो गया है। इस ब्रह्मरूपता प्राप्ति के पहले नौबत (शहनाई), शंख, नगाड़ा आदि की तरह ध्वनि अनाहत नाद के रूप में सुनाई देती है, मानों यह ध्वनियाँ इस साधक के स्वागत के लिए पहले से ही सन्नद्ध हैं। जो साधक ब्रह्मचर्यपूर्वक ब्रह्म साक्षात्कार करते हैं, वह सभी लोकों में जा सकते हैं, यह तथ्य श्रुति से प्रमाणित है।

'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा.उप. 8/4/3) इस श्रुति में 'ब्रह्मलोक' शब्द ब्रह्म को ही लोक बता रहा है। 'जो लोग ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु के उपदेश के अनुसार साधन का अनुष्ठान करके ब्रह्मसाक्षात्कार किये हैं, वे सभी लोकों में इच्छा से जा सकते हैं', यह श्रुति का अर्थ है। इसलिए ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में ब्रह्मचर्य सबसे श्रेष्ठ साधन है। इस शरीर में जो तीनों स्थानों को तोड़कर तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्मरूप लोक में प्रवेश पाता है। सहस्रार में प्रवेश कर ब्रह्म का अपने स्वरूप के रूप में साक्षात्कार करता है, यही ब्रह्म प्राप्ति है। श्रुति में **'ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः'** यह अर्थबोधक विग्रह है।

गुरु अविनाशी सूषम वेद

'गुरु शब्द कमान' इस मात्रा में गुरु के शब्द को कमान या धनुष बतलाया गया है। वह गुरु कौन है? इस जिज्ञासा का शमन समीप में उच्चारित 'गुरु अविनाशी सूषम वेद' यह मात्रा करती है। मात्रा में प्रयुक्त 'सूषम वेद' शब्द स्वसंवेद्य का अपभ्रंश है, अर्थात् 'सूषम वेद' शब्द से स्वसंवेद्य पर ब्रह्म को कहा जा रहा है, यह तथ्य गोरखबानी और सन्त-परम्परा के आधार पर कहा जा सकता है। गोरखबानी में निम्न पद मिलता है—

बदंत गोरषनाथ दसवीं द्वारी सुर्ग नैं केदार चढ़िया।
इकबीस ब्रह्मण्ड ना सिषर ऊपरि ससमवेद ऊचरिया॥

(पद रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 129)

गोरखनाथ कहते हैं कि दसवें द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) में, मैं स्वर्ग और मोक्षपद शिव स्थान केदार तक चढ़ गया हूँ और इक्कीस ब्रह्माण्डों के ऊपर से स्वसंवेद्य परमानुभूति ब्रह्मानुभूति का उच्चारण कर रहा हूँ। उसे बतला रहा हूँ। इस सम्बन्ध में निम्न सबदी भी द्रष्टव्य है—

पंथ बिन चलिबा, अगनि बिन जलिबा,
अनिल तृषा जहटिया।
ससंबेद श्री(गुर)गोरष(नाथ) कहिया
बूझिल्यौ पंडित पढ़िया॥

(सबदी 22, गो.बानी, पृ. 28)

मार्ग के बिना चलना, अग्नि के बिना जलना, वायु से प्यास का बुझना (ठगा जाना, जटना) आदि स्वसंवेद्य अनुभव है। अपने से इनका अनुभव किया गया है। अर्थात् अपनी स्वयं की अनुभूति गुरु गोरखनाथ ने कहा है—हे पण्डितों! इस अनुभूति को पुस्तक से पढ़कर नहीं, स्वयं की अनुभूति से समझने का प्रयास करो।

बिना पंथ के चलकर साधक गगन-मण्डल में पहुँचता है। जहाँ अमृतपान करता है, यह तथ्य अगली सबदी में वर्णित है। सबदी का अर्थ इस प्रकार है—

गगन मंडल के औंधे कुएँ के अमृत का पान सगुरा (जिसने गुरु को प्राप्त किया है) वह करता है, जिसने गुरु नहीं किया है, जो निगुरा होने के कारण गुरु से अमृतपान की विधि नहीं प्राप्त कर सका है, वह प्यासा ही चला जाता है। न तो वह अमृतपान कर पाता है, न उसे ब्रह्म साक्षात्कार ही होता है। अमृतपान ब्रह्मरन्ध्र में होता है और स्वसंवेद्य परब्रह्म का परिचय भी वहीं प्राप्त होता है, हम परब्रह्म को अपने स्वरूप के रूप में वही पहचानते हैं। जिस गुरु की कृपा से हम अमृतपान करने में समर्थ होते हैं, जो गुरु हमें ब्रह्म-प्राप्ति कराकर अजर-अमर

बना देते हैं, उनका स्वरूप 'गुरु अविनाशी सूषम वेद' इस मात्रा में बताया गया है। 'सूषमवेद' और 'ससमवेद' जिसका प्रयोग गोरखबानी में हुआ है, में अधिक समता है। पूर्व उद्धृत सबदी में इक्कीस ब्रह्माण्ड के शिखर के ऊपर से ससमवेद के उच्चारण या कथन का वर्णन है। दशवें द्वार में यति गोरखनाथ पहुँच चुके हैं और स्वानुभूत (स्वसंवेद्य) ब्रह्म का कथन कर रहे हैं। ब्रह्म स्वसंवेद्य है, गुरु के द्वारा बताये गये मार्ग से चलकर उसका अनुभव किया जा सकता है, वह पुस्तकों के पढ़ने से नहीं जाना जा सकता। अतएव उसे बूझने 'अवबुद्ध' करने का उपदेश 'बूझिल्यौ पण्डित पढिया' यह कहकर गोरखबानी में दिया गया है। श्रुति भी मेधारूप ग्रन्थार्थ धारण शक्ति से शास्त्रार्थ विचार से आत्मा को अलभ्य बतलाती है। अतएव 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (काठ.उप. 1/2/23) मन्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि यह आत्मा अनेक वेदों के स्वीकरणरूप प्रवचन से, ग्रन्थ के अर्थ को धारण करने की शक्ति रूप मेधा से अथवा गुरूपदेश रहित केवल शास्त्रविचार से भी गृहीत नहीं होता। किन्तु परमेश्वररूप आचार्य (गुरु) के उपदेश से प्राप्त होता है। अतः तत्त्व प्राप्ति के लिए गुरु का निर्देश प्राप्त करना आवश्यक है।

स्वसंवेद्य गुरु की प्राप्ति श्रद्धापूर्वक प्रयास करने से होती है। अतएव गोरखबानी के पद रागरामग्री में कहा गया है—

जागा जोगी कनक रावलिया, गुरुदेव मेंहलौ बूठौ।
षोजतां षोजतां सतगुरु पाया सहजै नैं भावै तूठौ ॥

(पद-31, गो.बानी, पृ. 144)

कनक रावलिया जोगी वह योगी है, जो कनक या स्वर्ण की तरह श्रेष्ठ है। योगी के ऊपर गुरुदेव की कृपा मेघ के समान बरस पड़ी है, उसने बहुत खोजते-खोजते(निरन्तरध्यान आदि के द्वारा अन्तर्यात्रा से) गुरुदेव को प्राप्त किया है। सद्गुरु देव सहजभाव से अर्थात् योगी के छल-छद्मरहित स्वभाव से प्रसन्न हो गये हैं। कनक रावलिया योगी के जगने का आशय है सावधान होना। वह जब सावधान होकर निरन्तर प्रयास करते हुए (खोजते-खोजते) ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर

सद्गुरु स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है, तो गुरुदेव मेघ के समान वृष्टि करते हैं। अमृतस्राव होता है। पद में सहजभाव से गुरुदेव की संतुष्टि को बतलाया गया है। इससे ध्वनित होता है कि जैसे-जैसे हम छल-छद्म को छोड़कर सहज सामान्य होते जायेंगे 'गुरुदेव' की कृपा-प्राप्ति के निकट पहुँचते जायेंगे।

मात्रा में 'अविनाशी' शब्द के प्रयोग से भी 'सूषम वेद' शब्द को स्वसंवेद्य ब्रह्म का बोधक कह सकते हैं; क्योंकि उपाधिरहित नित्य ब्रह्म का ही अविनाशी विशेषण गोरखबानी में भी देखा जाता है—

पाथर मैं पारस अबिनासी, ज्यूं असट धात में सोनां।
यूं सब जुग मांहिं समझि अबिनासी ता घटि पाप न पूनां ॥

(ग्यांनतिलक 28, गो.बानी, पृ. 233)

जैसे पत्थर में अविनाशी स्पर्श मणि (पारस का) निवास है, जैसे आठों धातुओं में सोने का निवास है, ऐसे सारे संसार में अविनाशी परब्रह्म को सभी युगों में सर्वत्र व्याप्त समझो। इस प्रकार जिसने ब्रह्मपद को प्राप्त कर लिया है, उसके शरीर में पाप-पुण्य नहीं होता।

गुरु का स्वरूप, इस मात्रा के द्वारा आचार्यचरण बतला रहे हैं। सामान्यतः गुरु के शरीर में गुरुबुद्धि होती है, उसे दूर करने के लिए गुरु को अविनाशी बतलाया गया है। शरीर विनाशवान् है, अतः गुरु नहीं है। यहाँ अविनाशी शब्द से बोधित करने के बाद लौकिक कोई भी पदार्थ गुरु नहीं है, यह बोधगम्य कराने के लिए गुरु को अविनाशी ही नहीं 'स्वसंवेद्य' बतलाया गया है, लौकिक सभी पदार्थ चक्षु आदि साधनों के द्वारा संवेद्य है, अन्य साधनों से असंवेद्य तो केवल आत्मा या ब्रह्म ही है। अतएव श्रुति कहती है—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति'** (बृ.उप. 2/4/14, 4/5/15) जिससे इन सभी वस्तुओं को जानते हैं, उसे किससे जाना जाय। उसके ज्ञान का साधन कौन है? अर्थात् कोई नहीं है। यह कहकर श्रुति आत्मतत्त्व को स्वसंवेद्य बतला रही है। अतएव आत्मा को स्वप्रकाश कहते हैं, स्वप्रकाश का अर्थ है, अपने को प्रकाशित करने वाला।

सूषमवेद का अर्थ सूक्ष्मवेद या ऊँकार करने पर, आचार्यचरण का आशय होगा कि यह सूक्ष्म वेदरूप अविनाशी गुरु ओंकार या प्रणव रूप है; क्योंकि उसी को सर्वज्ञान साधन के रूप में अनादिनिधना वाक् कहा गया है। यथा—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

यह वचन वेद के उत्पत्ति-विनाश-राहित्य को प्रतिपादित करता है तथा सभी प्रवृत्तियों को नित्य वेद से नियन्त्रित बतला रहा है। इस वचन का 'आदौ वेदमयी' यह अंश वेद के मूलभूत ऊँकार की ओर सङ्केत करता है; क्योंकि आदि में स्वयम्भू ब्रह्मा ने ऊँकार का उच्चारण किया था।

ऊँकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

इस तथ्य-प्रतिपादक वचन के अनुसार ऊँकार और अथ शब्द दोनों ही ब्रह्माजी के कण्ठ का भेदन कर निकले हैं, अतः इनकी प्रथम उत्पत्ति स्वीकार की जाय तो भी इन दोनों में ऊँकार की माङ्गलिकता का संकीर्तन पहले है। अतः इन दोनों में भी प्राथम्येन उत्पन्न ऊँकार को ही उपर्युक्त वचन के अनुसार आदि में उत्पन्न होने वाली वेदमयी वाक् स्वीकार करना उचित है।

ऊँकार या प्रणव वेद का सूक्ष्म रूप है। इसे हम ऊँकार से स्थूल वेद की उत्पत्ति बतलाने वाले गीता के वचन से प्रमाणित कर सकते हैं—

ऊँ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ (17/23)

इस गीतावचन में यह बताया गया है कि ऊँ, तत् एवं सत् यह ब्रह्म के तीन नाम संकीर्तित हैं। इसी निर्देश से पहले (पुरा) ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञों का निर्माण हुआ है। यह निर्देश की स्तुति के लिए वचन है। **'ओमिति ब्रह्म, तत्त्वमसि, सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** इन श्रुति वाक्यों में यह निर्देश उपलब्ध होते हैं (द्रष्टव्य–गीताटीका, भाष्योत्कर्षदीपिका, श्लो. 17/23)। 'ऊँ तत्सत्' यह एक निर्देश समूह है, इसके ऊँ, तत् और सत् तीन अवयव हैं। ऊँकाररूप अवयव से ही ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञों की उत्पत्ति है, अतः ऊँकार सूक्ष्म वेद है। इस प्रकार गीता में ऊँकार की स्तुति की गयी है। मधुसूदन सरस्वती इस श्लोक की व्याख्या में कहते हैं कि 'ऊँ तत्सत्' इस रूप में भगवन्नाम का उच्चारण करके सामान्य प्रायश्चित्त का निर्देश प्रभु कर रहे हैं। स्पष्ट है कि कर्मानुष्ठान में स्वल्प पाप तो

होते हैं, उनके क्षालन के लिए पहले ही भगवन्नाम के उच्चारण का विधान हो रहा है।

वेद के अनुसार ब्रह्म को जानने का एक सरल मार्ग इस गीतावचन के अनुसार भी प्रतिपादित होता है। गुरु वही होता है जो ब्रह्मोपदेश-पुरस्सर ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा शिष्य का उद्धार करे। अतः ऊँकार गुरु है। अतएव **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'** (बृ.उप. 4/4/22) इस ब्रह्मतत्त्व को ब्रह्मजिज्ञासुगण, वेदानुवचन (गुरु के उच्चारण के बाद वेद का उच्चारण करके) यज्ञ, दान एवं अनाशक तप से जानने का प्रयत्न करते हैं' यह श्रुतिवचन वेद को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बतलाता है। इस वाक्य के अनुसार वेदानुवचन के ब्रह्मवेदन का कारण सिद्ध होने पर सूक्ष्म वेदरूप प्रणव भी ब्रह्म-प्राप्ति का साधन सिद्ध होता ही है। क्योंकि उसका भी अनुवचन या गुरुमुख से प्राप्ति के बाद जप उद्धार करता है। **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** (मु.उप. 1/2/12)। यह श्रुतिवाक्य भी ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान के लिए गुरूपसदन (गुरु के पास विधिवत् जाना, शरणागत होना) को ब्रह्मज्ञान का कारण बतलाता है। अतः ऊँकार को गुरु मानकर आचार्यचरण विशेष रूप से प्रणवोपासना के द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का उपदेश कर रहे हैं। **'गुरु शब्द कमान'** इस मात्रा में, गुरु शब्द से अविनाशी सूक्ष्म वेद को लिया जाय, यह आचार्यचरण ने स्पष्ट किया है। अतः गुरु शब्द से प्रणवरूप सूक्ष्म वेदात्मक शब्द अथवा गुरु के उपदेश दोनों लिए जायेंगे। आशय यह है कि जब तक गुरु का विशेष निर्देश प्राप्त न हो, तब तक प्रणव-जप तथा वेद के अन्य निर्देशों का पालन किया जाना कल्याणकारी है। गुरु की प्राप्ति के बाद तो गुरु के ही निर्देशों का पालन होगा।

निर्वाण विद्या अपार भेद

मात्रा में प्रयुक्त 'निर्वाण विद्या' शब्द, निर्वाण स्वरूप ब्रह्मपद का बोधक है, यह तथ्य वाक्यपदीय के आधार पर कहा जा सकता है।

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिना ॥

(वा.प., ब्र.का. 9)

उपाधि परिच्छेदरूप अशुद्धिरहित ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही (विद्यैव) वेद में प्रतिपादित है, प्रणवरूप एकपद ही उसके ज्ञान का साधन है, वह प्रणव या ऊँकार से ही वाच्यरूप में युक्त है, अर्थात् प्रणव ही उसका वाचक है, यह ब्रह्म सर्ववादों का अविरोधी है। ब्रह्मवाद का सभी वादों से अविरोध है; क्योंकि अद्वैतवाद में सर्ववाद गोचर पदार्थों की व्यावहारिकी सत्ता स्वीकार की जाती है, पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म की ही स्वीकार की जाती है।

गोरखबानी में निर्वाण पद शब्द से ब्रह्म का बोध किया गया है—

कापड़ी संन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नृबांण पद का भेवं।

(सबदी-97, गो.बानी, पृ. 53)

कापाड़ी और संन्यासियों को तीर्थों ने भ्रम में डाल दिया, किसी को निर्वाण पद का भेद नहीं मालूम हो सका।

तीर्थ आदि में केवल भ्रमण करने से निर्वाण पद या स्वसंवेद्य ब्रह्म पद का भेद नहीं मालूम हो सकता; क्योंकि वह स्वसंवेद्य पद है, जिसे हम साधना के चरमोत्कर्ष पर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में जाकर शरीर के भीतर प्राप्त करते हैं। यहाँ निर्वाण ब्रह्म को पद या प्राप्तव्य कहा गया है। आचार्यचरण निर्वाण को 'विद्या' कह रहे हैं; क्योंकि यह अविद्या का विरोधी है, उसको नष्ट करने वाला है। पूर्वमात्रा में अविनाशी गुरु के रूप में स्वसंवेद्य ब्रह्म तथा ऊँकार दोनों को वर्णित किया गया है।

इस मात्रा को पूर्व मात्रा के द्वितीय अर्थ के सन्दर्भ में विचारित करें तो स्पष्ट रूप से प्राथमिक दृष्टि से यह बोधित होता है कि अविनाशी गुरुरूप सूक्ष्म वेद या ऊँकार ही निर्वाणों की विद्या है, अर्थात् निवृत्ति-मार्ग के पथिकों का यह उपासना-मार्ग है। **'निर्वाणो मुनिवह्न्यादौ'** (अ.को. 3/1/96) के अनुसार निर्वाण शब्द 'मुनि' का वाचक है।

'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' इसको जानकर ही मुनि होता है (बृ.उप. 4/4/22) श्रुति में जिसका स्वरूप वर्णित है, उसी आत्मा का साक्षात्कार करने पर साधक मुनि होता है, अन्य का नहीं, यह प्रतिपादित है। अतः निर्वाण विद्या शब्द से ऊँकाररूप विद्या या प्रणव की उपासना विहित है, जो आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले मुनियों की विद्या है। इस प्रणव की उपासना के

अधिकारी 'सकाम कर्मी' नहीं हैं। इस प्रकार प्रकृत मात्रा के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि निवृत्ति-मार्ग के पथिक निर्वाण सन्तों को ऊँकार या प्रणव-जप करना चाहिए, अन्य सकाम कर्म एवं उपासना में नहीं लगना चाहिए। इस तथ्य को 'निर्वाणानां विद्या निर्वाणविद्या' इस षष्ठीतत्पुरुषसमास से प्राप्त किया जा सकता है। प्रणवोपासना के अपार भेद हैं, अर्थात् प्रणव की उपासना, उसके स्वरूप का निर्धारण, प्रणव के विभिन्न अवयव एवं अवयवार्थों के बारे में विभिन्न सम्प्रदाय एवं गुरु-परम्परायें हैं। परम्परा से हमें प्रणव को प्राप्त करना चाहिए तथा उसकी उपासना करनी चाहिए। प्रणवोपासना के भेदों का अन्त, उनकी सीमा का ज्ञान दुःशक होने के कारण, हमें अपने सम्प्रदाय के अनुसार जो पद्धति प्राप्त हो जाय, उसके अनुसार चलकर लक्ष्य-प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।

निर्वाण विद्या इस मात्रा में प्रयुक्त निर्वाण शब्द **'निर्वाणोऽवाते'** (8/2/50) इस पाणिनि के अनुशासन के अनुसार अग्नि एवं मुनि दोनों का वाचक है। अग्निवाचक इसी निर्वाण शब्द का प्रयोग 'धूनी' का सेवन करने वाले सन्तों के लिए होने लगा, अर्थात् यह लोग निर्वाण सन्त कहे जाने लगे। यह सन्त तत्त्व का मनन करते ही थे, अतः अग्नि एवं मुनिरूप दोनों अर्थ निर्वाण सन्तों में घटता है। नि-पूर्वक 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से क्त प्रत्यय करके निष्ठा क्त को न करके णत्व के अनन्तर निर्वाण शब्द की सिद्धि होती है।

अमरकोश (2/1/96) में उद्धृत विश्वकोश **'निर्वाणमस्तगमने निर्वृत्तौ गजमज्जने, सङ्गमेऽप्यपवर्गे च'** के अनुसार निर्वाण शब्द के अस्तगमन, निर्वृत्ति, गजमज्जन, संगम तथा अपवर्ग आदि भी अर्थ हैं। यदि कोशानुसार अस्तगमन अर्थ लिया जाय, तो प्रपञ्च के अस्तगमन में निमित्त या उसको विलीन करने वाली विद्या जो पराविद्या है, उसे निर्वाण विद्या कहेंगे। पराविद्या उपनिषदों में बोधित है, जिसके द्वारा प्रपञ्च का उपशम होकर अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है (द्रष्टव्य–मा.उप. 1/1/4)। निर्वाण का अर्थ अपवर्ग होगा तो भी निर्वाण विद्या का अर्थ पराविद्या होगा; क्योंकि इससे अपवर्ग-प्राप्ति होती है। यह भी कह सकते हैं कि अपवर्ग की प्राप्ति साक्षात् अथवा परम्परा से सभी विद्याओं के द्वारा होती है, तो सभी उपासना-मार्गों को निर्वाण-मार्ग कहेंगे; किन्तु उनका सम्बन्ध वेद से होना चाहिए, अर्थात् उन मार्गों का वेद से विरोध न हो; क्योंकि इसके पहले 'सूषम वेद' की चर्चा है।

यदि निर्वाण शब्द को संगम अर्थ का बोधक कहा जाय, तो यह जीव का ईश्वर के साथ मेल कराने वाली विद्या कही जायेगी; क्योंकि श्रीमद्भागवत (3/29/13) में भगवान् के साथ एक लोक में वास (सालोक्य), समानैश्वर्यरूप सार्ष्टि, निकटवर्तित्वरूप सामीप्य तथा समानरूपता की प्राप्तिरूप सारूप्य (सारूप्य की प्राप्ति से भक्त भी भगवान् की तरह पीताम्बरधारी चतुर्भुजरूप या अन्य रूपों में आते हैं) तथा एकत्वप्राप्तिरूप सायुज्य को भक्ति का फल बताया गया है। इन सभी भेदों में भक्तों को भगवान् के साथ संगम प्राप्त होता है।

इस प्रकार उपासना के विभिन्न भेदों और उनके फलों को सूचित करने के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग आचार्यचरण ने किया है। उपासना भी मन का कर्म है। इसके साथ और क्या करना चाहिए? यह आगे आचार्यचरण अपारभेद कहकर बतला रहे हैं। अपारभेद का अर्थ यदि यह किया जाय कि भेद या द्वैत अपार है, अर्थात् जन्म-मरण परम्परारूप संसार का छूटना कठिन है, तब यह कहना होगा कि हमको निर्वाणविद्या प्राप्त हो जाय, हम उसका अनुसरण भी करते रहें, तो भी यदि हमारे भीतर अहंकार है, भगवान् अथवा गुरु के प्रति समर्पण का अभाव है, तो विद्या का अनुष्ठान करने पर भी हम संसार-सागर को पार नहीं कर सकते। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि निर्वाणपद जो अविद्या के अस्त होने से प्राप्त होता है, भेदरहित है, किन्तु अविद्याकालिक भेदों का कोई अन्त नहीं है। वह भेद तो 'अपार' है।

अखण्ड जनेऊ

इस प्रकार 'निर्वाण विद्या' रूप प्रणव के निरन्तर उच्चारण अथवा पराविद्या या अपने सम्प्रदाय की अन्य उपासना को प्रतिपादित कर आचार्यचरण आगे यह बतलाते हैं कि यदि यह 'निर्वाण विद्या' अखण्डरूप से सेवित हो, अर्थात् प्रणवोपासना प्रतिपल की जाय, अथवा निर्वाण विद्यारूप ब्रह्म का ध्यान प्रतिपल किया जाय, तो यह जनेऊ 'जनौः' लोगों की रक्षा करने वाला हो जाता है। 'जनान् अवति इति जनौः' इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न 'जनौः' शब्द का अपभ्रंश जनेऊ को कहा जाय तो यह उचित होगा। क्योंकि जनेऊ (यज्ञोपवीत) को धारण करने के अनन्तर उससे सम्बद्ध व्रतादि का अनुष्ठान कर साधक ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के द्वारा अपनी, जन्म-मरण की परम्परा से रक्षा कर लेता है तथा दूसरों के भी

उद्धार की क्षमता प्राप्त करता है। अतः यज्ञोपवीत तथा उससे उपलक्षित व्रतादि को 'रक्षक' कहना अनुचित नहीं है। इसीलिए अन्वर्थक जनेऊ शब्द का प्रयोग किया गया है। जनेऊ सखण्ड होता है; क्योंकि नवतन्तु एवं तीन ग्रन्थियाँ उसकी अखण्डता को सर्वथा बाधित करती रहती हैं। ब्रह्म भी व्यवहारकाल में सर्वदा सखण्ड ही प्रतीत होता है; क्योंकि सृष्टि-काल में सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में अध्यस्त होकर उसकी सखण्डता को प्रतीत कराता हुआ अखण्डता को बाधित करता रहता है। सृष्टि के पहले से ही अर्थात् अनादि काल से अविद्या उसमें अध्यस्त है। अतः ब्रह्म सर्वदा सखण्ड रहता है। किन्तु लौकिक यज्ञोपवीत एवं ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत की सखण्डता में भेद है। यज्ञोपवीत कभी भी अखण्ड नहीं होता, उसमें सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद सर्वदा रहते हैं, जबकि ब्रह्म सर्वदा अखण्ड ही रहता है, कल्पित वस्तु की सत्ता, अधिष्ठान से अतिरिक्त न होने के कारण प्रतीयमान भेद अवास्तविक है। **'नेह नानाऽस्ति किञ्चन'** (बृ.उप. 4/4/19) ब्रह्म में नानात्व नहीं है तथा **'न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद् विजानीयात्'**—'उस ब्रह्म से विभक्त (उससे पृथक्) कोई द्वितीय वस्तु नहीं है, जिसको जाना जाय' (बृ.उप. 4/3/30) इत्यादि श्रुतियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। प्रकृत में ब्रह्म की सखण्डता एवं अखण्डता की चर्चा प्रासङ्गिक है; क्योंकि वही वास्तव में 'जनौः' अर्थात् लोगों की रक्षा करने वाला है।

'जनान् अवतीति जनौः' इस व्युत्पत्ति में जनौः शब्द की सिद्धि होती है। यह पूर्व में कहा गया है—शब्दसिद्धि का प्रकार यह है। जनान् सुबन्त उपपद रहते अव् धातु से क्विप् प्रत्यय करें, तो **'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च'** इस सूत्र से व् तथा उपधाभूत अकार दोनों अर्थात् पूरे अव् को ऊठ् होकर जन ऊ इस स्थिति में वृद्धि के पश्चात् जनौः बनेगा, जो जन (प्रादुर्भूत होने वाले प्राणियों) का रक्षक कहलायेगा। अब प्रश्न यह है कि अखण्ड ब्रह्म जनौः (जनेऊ–लोगों का रक्षक) कैसे बनता है? तथा ब्रह्म जब सर्वदा अखण्ड ही है तो वह सर्वदा रक्षक ही है। तो अखण्ड ब्रह्म को जन समुदाय का रक्षक कहने का आशय क्या है? अर्थात् अखण्ड विशेषण की सार्थकता कैसे है? विचार करें तो स्पष्ट होता है कि खण्ड या भेदरहित (सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-शून्य) ब्रह्म ही, जन (जायते इति जनः पचाद्यच्) होता है। जागतिक पदार्थों के रूप में उत्पन्न

होकर भेदवान् के रूप में प्रतीत होता है। इस तथ्य को **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** (छा.उप. 6/2/3) उसने इच्छा किया कि हम प्रजनन के द्वारा बहुत हो जाँय, यह श्रुति प्रमाणित करती है। यहाँ प्रजनन स्थावर-जङ्गम के रूप में ब्रह्म का विवर्तभाव को प्राप्त होना है। इस प्रकार अखण्ड एक ब्रह्म प्रादुर्भाव के द्वारा अनेक हो जाता है। प्रजनन से ब्रह्म विकार को प्राप्त होता है; क्योंकि किसी भी वस्तु के जन्म, स्थिति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और नाश यह छः विकार होते हैं। यह विकार-प्राप्ति अज्ञानावरण को सूचित करती है। अज्ञान में भय होता है। क्योंकि अज्ञान काल में ब्रह्म, नाना रूपों में विवर्त को प्राप्त होकर भेद को प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है। इसकी भेद की अवस्था में भय होता है; क्योंकि **'द्वितीयाद् वै भयं भवति'**—द्वितीय से निश्चित रूप से भय होता है (बृ.उप. 1/4/2), यह श्रुतिवाक्य द्वितीय से भय की प्राप्ति को सूचित करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अखण्ड ब्रह्म ही अज्ञान के कारण भेदवान् की तरह प्रतीत होता हुआ जीवरूप में भय को प्राप्त कर रहा है। उसके भय का निवारण तब तक नहीं हो सकता, जब तक अज्ञान दूर न हो जाय। अज्ञान के दूर होने पर नाना रूपों में प्रतीयमान ब्रह्म की एकता एवं अखण्डरूपता का भान होते ही भय उसी प्रकार दूर हो जाता है, जैसे सर्प की प्रतीति से होने वाला भ्रम रज्जु के अवगम के अनन्तर दूर हो जाता है। इस प्रकार अखण्ड ब्रह्म जनौः (जनरक्षक) बनता है। अखण्ड ब्रह्म पूर्ण ब्रह्म ही स्थावर-जङ्गम के रूप में प्रतीत हो रहा है, इस तथ्य को—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ईशावास्योपनिषद् के आरम्भ में मङ्गल श्लोक के रूप में उल्लिखित इस मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है। अदः विप्रकृष्ट (दूर) प्रतीत होने वाला ब्रह्म पूर्ण है। यह नाना रूपों में प्रतिभासमान जगत् भी पूर्ण है (इदं पूर्णम्) क्योंकि पूर्ण ब्रह्म से ही यह पूर्ण जगत् निकला हुआ है। यह भेद-दृष्टि है, जिसमें सुवर्ण को नाना अलङ्कारों के रूप में हम अङ्गुलीयक, हार आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। इस भेद-व्यवहार में सुवर्ण-दृष्टि तिरोहित रहती है। किन्तु पूर्ण ब्रह्म ही सब कुछ है,

स्वयं ही नाना रूपों में भास रहा है, इस पूर्णत्व दृष्टि के आने पर भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है, अखण्ड एकरस ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। जैसे हार, अङ्गुलीयक आदि में केवल स्वर्ण-दृष्टि उनके विक्रय के समय होती है। पूर्णत्व दृष्टि के आने पर ब्रह्म, जनौः या रक्षक हो जाता है। अखण्ड या पूर्ण ही रक्षक होता है, यह तथ्य लोक में भी प्रसिद्ध है। धन से परिपूर्ण व्यक्ति हमारी आर्थिक विपत्ति को दूर करता है, बल से परिपूर्ण व्यक्ति समाज में मात्स्य न्याय को रोकता है। अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर पूर्णाहिंसक व्यक्ति के सन्निधान में सभी हिंस्र पशु भी हिंसा के भाव को छोड़ देते हैं। किन्तु लौकिक व्यक्तियों की पूर्णता सबलता आदि सापेक्ष हैं, निरपेक्ष पूर्णत्व तो केवल ब्रह्म में ही है, वही अपरिमित ऐश्वर्यसम्पन्न है, वही बल की सीमा है, वही कारुण्य का सिन्धु है, अतः वास्तविक रक्षक वही है। अन्यत्र प्रतीत होने वाली पूर्णता तो उसकी कृपापाङ्गपूतता को इङ्गित करती है। अर्थात् उसकी कृपा से ही व्यक्ति पूर्ण होता है, यह स्पष्ट होता है।

इस सम्बन्ध में पहले यह जिज्ञासा प्रदर्शित की गयी थी कि ब्रह्म जब सर्वदा पूर्ण ही है, उसमें कभी भी विक्रिया होती ही नहीं, तो उसे सर्वदा रक्षक होना चाहिए; किन्तु यह समीचीन नहीं है; क्योंकि ब्रह्म सर्वदा पूर्ण होने पर भी हमारी दृष्टि से अपूर्ण ही रहता है। हम उसे सखण्ड ही समझ रहे हैं, अतः भेद में होने वाला भय समाप्त नहीं होता। ब्रह्म को पूर्ण या अखण्ड समझ लेने पर रज्जु-सर्प से प्राप्त होने वाले भय की समाप्ति की तरह हमारा द्वैतप्रीति-प्रयुक्त भय सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है।

तैलधारा की तरह अविच्छिन्न भक्ति के भी अखण्डता या निरन्तरता से युक्त होने पर ही रक्षक या पोषक के रूप में हम अपने आराध्य को पाते हैं, अतः अखण्डरूप से इष्ट की स्मृति ही रक्षक बनती है। अहिंसा आदि महाव्रत होकर सर्वदा पालनीय हो जाते हैं, तब हमें इनका फल मिलता है। यह भी हमारे रक्षक होते हैं। इस प्रकार वहाँ भी अखण्डता अपेक्षित है। अखण्डता या निरन्तरता के कारण ही दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा, विद्या, तप एवं ब्रह्मचर्यपूर्वक प्रयास करने पर मन का निग्रह होता है, यह तथ्य योगसूत्र (1/14) **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः'** में प्रतिपादित है। इस प्रकार

अखण्डता या निरन्तरता सर्वत्र हमारा रक्षक बनती है, जिससे लौकिक व्यवहार में भी 'अखण्ड जनेऊ' की सार्थकता समझी जा सकती है। अतः निष्कृष्टरूप से यह कहा जा सकता है कि हम लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयत्न करें अथवा उपासना आदि मानस कार्य करें, उनमें निरन्तरता या अखण्डता आवश्यक है। ऐसा करने से फल सिद्धि की अवश्यं-भाविता (अवश्य होना) तथा सन्निकटता दोनों सूचित होती है। इससे मन भी एकाग्र होता है, ऐसा मन उपासना के लिए उपयोगी होता है। यह सब भाव इस मात्रा से सूचित होते हैं। कर्मकाण्ड में यज्ञोपवीत (जनेऊ) और धोती का सम्बन्ध देखने को मिलता है—

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।
उत्तरार्थं तृतीयं स्याद् वस्त्राभावे चतुर्थकम्॥ (हेमाद्रि)

इस वचन में यज्ञोपवीत को धोती के अभाव में उसका पूरक कहा जा रहा है।

यह वचन स्पष्ट करता है कि श्रौत एवं स्मार्त कर्मों के निष्पादन में दो यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। किन्तु दो यज्ञोपवीत से कर्म का निर्वर्तन करते समय उत्तरीय वस्त्र भी आवश्यक है। उत्तरीय वस्त्र के न होने पर उसकी पूर्ति हेतु तृतीय यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है। इस प्रकार केवल अधोवस्त्र के रहने पर तीन यज्ञोपवीत धारण कर कर्मनिर्वर्तन का विधान किया गया; किन्तु यदि शरीर पर कोई वस्त्र नहीं है, तो अधोवस्त्र के अभावप्रयुक्त दोष की भी निवृत्ति हेतु चतुर्थ यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है। वस्त्र, शरीर का आवरण करता है। सर्वथा निर्वस्त्र होने पर चौथे यज्ञोपवीत को धारणीय बताकर तुरीय ब्रह्म के साक्षात्कार को बताया जा रहा है, जो सब प्रकार के आवरण के अभाव में होता है। इस श्लोकार्थ के वर्णन से स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत की सार्थकता धौतवस्त्र से है। अतः अखण्ड जनेऊ के साथ निर्मल धोती को धारणीय बताया गया है।

निर्मल धोती

गोरखबानी में भी कपड़े 'आवरण' को साफ करने का वर्णन मिलता है। हम उस वर्णन का 'साम्य निर्मल धोती' के कथ्य में पाते हैं। पद रागरामग्री, पृ. 135 पर—

जोगी अजपा जपै त्रिबेणीं कै घाटी।
चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी।
मूंनी राजा लूगा धोवै गंग जमुन की घाटी॥1॥

यह पद मिलता है। इसमें पवन से कहा जा रहा है कि—हे पवन (प्राण) तुम किस रास्ते (वाट) से जाओगे। त्रिवेणी (त्रिकुटी) में योगी अजपा जाप कर रहा है, अर्थात् वह मार्ग बन्द है। चन्द्रमा को साबुन की टिकिया और सूर्य को पाटी, जिस पर पटक कर धोबी कपड़ा धोता है, बनाकर सुषुम्ना में स्थित होकर योगीराज, वस्त्र या आत्मा को ढँकने वाले आवरण को धो रहे हैं।

इस पद में अजपा जप करते हुए वस्त्र का प्रक्षालन बताया गया है, अतः धोती का प्रक्षालन अजपा जप से होता है, यह स्पष्ट हो रहा है। आचार्यचरण भी 'सोऽहं' जप से वस्त्र के क्षालन का सम्बन्ध बतलाते हैं।

धौति संस्कृत शब्द का अपभ्रंश 'धोती' कहा जा सकता है, जो 'धावु गतिशुद्ध्योः' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। कर्म अर्थ में प्रत्यय होने से 'धाव्यते शोध्यते इति धौतिः' जिसका शोधन किया जाय वह 'धौति' है, यह अर्थ होता है।

'धावु गतिशुद्ध्योः' धातु से बना धोती (धौति) शब्द गति एवं शुद्धि दोनों से निर्मल धोती का सम्बन्ध बतला रहा है। यह भी कह सकते हैं कि गति से प्राप्त होने वाली शुद्धि की ओर यह संकेत कर रहा है। गति प्रयुक्त शुद्धि का मन से विशेष सम्बन्ध है; क्योंकि 'मन' को विशेष गति या वेग से जब तक संलग्न रखा जाता है, वह शुद्ध रहता है, अर्थात् व्यर्थ की चिन्ता नहीं करता।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में प्राण, मन, शरीर सभी का शोधन होता है। यह शोधन पञ्चकोश के शोधन में पर्यवसित होता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय यह पाँच कोश वर्णित हैं, जो आत्मा को आच्छादित किए हुए हैं। आत्मा की अशुद्धि या अपवित्रता का कारण यही है, जब तक अज्ञान है इन कोशों का आवरण दूर नहीं होता। आत्मा का जो स्वरूप उपनिषद् में वर्णित है, उसका अनुभव न होने से यह ज्ञात होता है कि आत्मा का आवरण हुआ है। जैसे अँधेरे में पड़ी रस्सी का आवरण सर्प से होता है, वही दिखाई देता

है, रस्सी नहीं दीखती। उसी प्रकार अज्ञान काल में अध्यस्त प्रपञ्च ही दिखाई दे रहा है, आत्मा तिरोहित है।

विचार करें तो अज्ञान ही आवरण है, अज्ञान की आवरण-शक्ति से 'आत्मा' के आवृत्त होने पर (ढ़ँक जाने पर) ही विक्षेप शक्ति से सृष्टि होती है। अतः यह कहना समीचीन है कि अज्ञानावृत आत्मा में अज्ञानावरण काल में ही पञ्चकोश का आवरण प्रतीत होने से अज्ञान के कार्य पञ्चकोश से आवृत्त आत्मा को अज्ञान से आवृत्त कहा जाता है। इतना ही नहीं सम्पूर्ण सृष्टि की मोहकता एवं परमार्थतः अस्तित्व भी अज्ञानकाल में ही है। फ़लतः अन्नमयादि कोशों की भी आच्छादकता अज्ञानकाल में ही स्वीकार की जाती है। इन कोशों में तादात्म्य बुद्धि होने के कारण आत्मा का स्वरूप तिरोहित हो जाता है। जैसे लौहखण्ड के साथ तादात्म्यापन्न अग्नि के कारण 'अयो दहति'—लोहा जला रहा है—यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि कोशों में तादात्म्य-व्यपदेश के कारण **अहं गच्छामि**–मैं जाता हूँ, **अहं श्वसिमि**–मैं श्वास लेता हूँ, **अहं संकल्पयामि**–मैं संकल्प करता हूँ आदि व्यवहार होते हैं। जैसे तादात्म्याध्यास के कारण (लोहे में अग्निरूपता की प्रतीति होने के कारण) अग्नि का दाहकत्वरूप धर्म, लोहे में प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा के धर्म अचेतन शरीर आदि में तथा शरीर आदि अचेतन पदार्थों के धर्म गमन आदि आत्मा में प्रतीत होते हैं। इस अध्यास के कारण आत्मा को अनात्मा से पृथक् या विविक्त रूप में जानना सम्भव नहीं होता। अतएव तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है—**'यो वेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान्'** (2/1/1) जो परमव्योम रूप गुहा में प्रतिष्ठित ब्रह्म को जानता है, वह सभी कामनाओं को प्राप्त करता है, उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। प्रकृत कथन आत्मा की दुर्दर्शता को स्पष्ट करता है। क्योंकि ऐसे लोग, जिनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हों, कम दिखाई देते हैं। वह सभी भोगों को प्राप्त करता है, यह भी मन्त्र बोधित करता है। अतः आत्मा दुर्दर्श है, कम लोगों को उसका ज्ञान है, यह स्पष्ट है, अन्यथा आत्मज्ञान होने से बहुत लोग अपनी कामनाओं को पूर्ण कर लेते, कामना हीन हो जाते।

आत्मा की दुर्दर्शता गुहा में छिपने के कारण है। पञ्चकोश को भी गुहा कह सकते हैं; क्योंकि इनमें आत्मतत्त्व छिपा हुआ है। 'गुहू संवरणे' धातु से गुहा

शब्द की निष्पत्ति होती है। **'निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः'** जिसमें ज्ञान ज्ञेय ज्ञातृ पदार्थ छिपे हैं उसे गुहा या बुद्धि कहते हैं अथवा जिसमें भोग एवं अपवर्गरूप पुरुषार्थ निगूढ़ हैं (छिपे हैं) उस बुद्धि को ही गुहा कहेंगे (द्रष्टव्य–शा.भाष्य)। आकाश (व्योमन्) शब्द से हृदयदेश में होने वाला आकाश विवक्षित है क्योंकि विज्ञान (वेदन) के अङ्ग के रूप में 'आकाश' विवक्षित है, अन्य श्रुति **(यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशो योऽयमन्तर्हृदय आकाशः)** में हृदयदेश के आकाश को ही परम व्योम कहा गया है। इस हार्द आकाश में जो बुद्धिरूप गुहा है उसमें ब्रह्म निहित है। इस ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से होने वाली बुद्धिवृत्ति से विविक्त रूप में (घटादि पदार्थों से असम्पृक्त रूप में) होता है। इसके पहले तो सन् घटः आदि प्रत्यक्षों में अविविक्त रूप में ब्रह्म ज्ञात होता रहता है। इसीलिए 'परमे व्योमन्' शब्द का प्रयोग श्रुति में है (द्रष्टव्य–शां.भाष्य, तै.उप. 2/2/2)।

पूर्व में उद्धृत तैत्तिरीय श्रुति-वाक्य में यह बताया गया है कि युगपद् (एक साथ) सभी भोगों को प्राप्त करता है। सुख या दुःख के साक्षात्कार को भोग कहते हैं। यह अकर्ता, अभोक्ता आत्मा की भोग-प्राप्ति का वर्णन है। अतः आत्मा इन भोगों से मलिन हो रहा है, यह स्पष्ट होता है। एक साथ भोगों की प्राप्ति का आशय है पुत्र आदि की प्राप्तिजन्य सभी सुखों को एक साथ प्राप्त करना अथवा यह कह सकते हैं कि ब्रह्मप्राप्ति के साथ ही सब कुछ प्राप्त करने की योग्यता उसमें आ जाती है, इतना अधिक पुण्य होता है कि उस पुण्य से वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है। गीता 2/46 में यह स्पष्ट किया गया है (द्र.– पृ. 401)।

यह भी कह सकते हैं कि सुखस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के साथ ही सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि पुत्र आदि की प्राप्ति में वही ब्रह्म स्वरूप आनन्द विषय संयोग से अभिव्यक्त होकर वैषयिक आनन्द के रूप में प्राप्त होता है। सत्य ज्ञान एवं अनन्त स्वरूप अखण्ड जनेऊ (जनौः) रूप ब्रह्म की प्राप्ति से सभी सुखों की प्राप्ति वर्णित की गयी है।

उपनिषद् में वाक्यों के पौर्वापर्य को देखें तो ब्रह्म को हृदयाकाश में बुद्धि-गुहा में प्रतिष्ठित बतलाया गया है तथा इसके पश्चात् आत्मा से आकाशादि क्रम से सम्पूर्ण प्रपञ्च की उत्पत्ति का वर्णन है। यहाँ यह विचारणीय है कि आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म नहीं हैं; क्योंकि उसमें कर्तृत्वादि मानने पर वह परिच्छिन्न होगा, जिससे उसकी अनन्तता बाधित होगी। सृष्टि के प्रारम्भ में **'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत'** उसने ईक्षण (विचार) किया कि लोकों की सृष्टि करें, उसने इन लोकों की सृष्टि की (ऐत.उप. 1/1/1-2) तथा **'स ईक्षांचक्रे स प्राणमसृजत'** (प्र.उप. 6/3) सृष्टि आदि के विषय में चिन्ता करके उसने प्राण की सृष्टि की। इन श्रुति वाक्यों के द्वारा ब्रह्म में ईक्षण प्रतिपादित है। अतः ईश्वर की इच्छा से आविद्यक सृष्टि होती है, यह प्रकाश में आता है। यह अवधेय है कि अविद्या की विक्षेप शक्ति से सृष्टि की उपपत्ति होगी। श्रुति में आगे सृष्टि का जो क्रम बतलाया गया है, उसको आकाश से लेकर अन्न-रसमय शरीर की उत्पत्ति का वर्णन कहा जा सकता है। अर्थात् यह वर्णन अन्नमय कोशरूप पार्थिव शरीर की उत्पत्ति बताने के लिए है; क्योंकि इसी शरीर के हृदयाकाश में बुद्धि-गुहा में ब्रह्म को निहित बतलाया गया है।

यद्यपि सभी शरीर अन्न-रसमय हैं, तथापि कर्म एवं ज्ञान का अधिकारी होने से मानव शरीर को प्रधानता दी गयी है। यह शरीर ही आत्मज्ञान का अधिकारी है, अन्य शरीर नहीं हैं। इस तथ्य को **'पुरुषे त्वेवाऽऽविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सति इत्येवं सम्पन्नः, अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिज्ञानम्'**[110] इत्यादि श्रुति में प्रतिपादित करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि पशुओं में तो बुभुक्षा, पिपासा आदि का ही ज्ञान रहता है। अतः पुरुष ही ज्ञान एवं कर्म का अधिकारी है। यहाँ ज्ञान आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान है। बुद्धि-गुहा में निहित आत्मतत्त्व को सहसा समझना कठिन है, अतः क्रम से बोधन करने के लिए प्रथमतः अन्नरसमय शरीर को ही आत्मा बतलाया गया। इसके अनन्तर **'अन्योऽन्यतर आत्मा प्राणमयः'** अन्नमय (अन्नविकार) शरीर से अतिरिक्त, शरीर के भीतर रहने वाला, प्राणवायु रूप आत्मा है। इस प्रकार

प्राणमय को आत्मा बताकर अन्नमय शरीर को प्राण से पूर्ण बताया गया (तेनैष पूर्णः)। प्राणमय आत्मा को भी काल्पनिक रूप से मूषा (साचा) निषिक्त प्रतिमा की तरह पुरुष रूप में वर्णित किया गया तथा इसके बाद प्राणमय आत्मा का भी आभ्यन्तर आत्मा जो प्राणमय आत्मा का भी पूरक है, उसे अग्रिम वाक्य से बताया गया। 'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयाद् अन्योऽन्यतर आत्मा मनोमयः'— आभ्यन्तर आत्मा मनोमय आत्मा है। इस मनोमय आत्मा से प्राणमय आत्मा को पूर्ण कहा गया है; क्योंकि यह प्राणमय आत्मा का आभ्यन्तर आत्मा है, उससे सूक्ष्म है तथा उसका व्यापन करता है। इसी तरह प्राणमय आत्मा से अन्नमय आत्मा स्थूल शरीर को पूर्ण कहा गया है; क्योंकि मनुष्य, पशु आदि सभी शरीरधारी प्राणकर्म से चेष्टावान् देखे जाते हैं। इसी क्रम में मनोमय आत्मा से सूक्ष्म तथा उसको (मनोमय आत्मा को) पूर्ण करने वाला आत्मस्वरूप 'विज्ञानमय आत्मा विज्ञानमय कोश' है यह कहा गया तथा इस आत्मस्वरूप प्रतिपादन के क्रम का अन्त 'अन्योऽन्यतर आत्मा आनन्दमयः' यह कहते हुए आनन्दमय आत्मा (आनन्दमय कोश) से किया गया।

श्रुति में कोश-प्रतिपादन की विधा (प्रकार) में एक साम्य देखने को मिलता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों में प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों को अपने से पूर्व वर्णित कोश की अपेक्षा सूक्ष्म तथा पूर्व का पूरक बतलाया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया कि यह कोश अपने से पूर्व का व्यापन करते हैं तथा पूर्व से सूक्ष्म भी हैं। पञ्च कोशों की उत्पत्ति आकाश आदि पञ्च भूतों से है तथा भूतों की उत्पत्ति अविद्या से है। उत्पन्न होने से यह सभी विनाशशील भी हैं। यह भी अवधेय है कि आकाशादि पञ्चभूत कोशों के उत्पादक तो हैं किन्तु यह स्वयम् आत्मा से उत्पन्न हैं। यह आत्मा या ब्रह्मरूप कारण सभी कोशों का उत्पादक होने से उनकी 'आत्मा' है जैसे घट की आत्मा मृत्तिका है।

हम देखते हैं कि श्रुति में प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा सर्वान्त में आनन्दमय आत्मा से प्राणियों की आत्मवत्ता बतलाकर सबके कारणभूत ब्रह्मस्वरूप आत्मा से आत्मवत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इन कोशों में ही 'यह आत्मा है' इस प्रकार की बुद्धि होने से 'आत्मा' का वास्तविक स्वरूप ज्ञात

नहीं होता, विचार के बिना तिरोहित रहता है। अतः आत्मस्वरूप का तिरोधायक होने या ढँकने के कारण इन्हें कोश कहते हैं। यह कोश जब तक मलिन है, आत्मा से अविविक्त रूप में गृहीत है, तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। यह कोश ही **'निर्मल धोती'** इस मात्रा में धोती शब्द से कहे गये हैं। इनकी शुद्धि 'अजपा जप' से होती है। अतः अगली मात्रा में 'सोऽहं जप' की चर्चा की गयी है।

सोऽहं जप सच माल पिरोती

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि निर्मल धोती के अनन्तर 'सोऽहं जप सच माल पिरोती' इस मात्रा में श्वासों की सही माला (सच्ची माला) पर 'सोऽहं सोऽहं' इस जप का विधान प्राप्त होने से केवल प्राणमय एवं मनोमय दो कोशों का ही निर्मल धोती के रूप में कथन उचित है, तथापि प्राणमय कोश से, अन्नमय कोश की पूर्णता का उल्लेख होने से तथा अन्नमय कोश की आत्मा के रूप में प्राणमय कोश के उससे सम्बन्ध होने से प्राणमय कोश की शुद्धि के साथ अन्नमय कोश की शुद्धि अवश्य स्वीकार करनी होगी। इसी प्रकार मनोमय कोश के साथ विज्ञानमय कोश की शुद्धि अवश्यम्भावी है; क्योंकि यह दोनों भी परस्पर सम्बद्ध हैं। आनन्दमय कोश के भी विज्ञानमय कोश से सम्बन्ध होने से श्वास क्रिया के द्वारा उसके सहित सभी कोशों की शुद्धि विवक्षित है। एक भी कोश में जब तक तादात्म्याध्यास (कोश को ही अपना स्वरूप समझना) है, तब तक अन्तःकरण में विपरीत भावना या गलत संस्कार होने से वह शुद्ध नहीं होता तथा शुद्धि के अभाव में वह निर्मल धोती नहीं बन सकता। अतः इन सबकी शुद्धि के बिना फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म का समाधि में साक्षात्कार नहीं हो सकता। चित्त शुद्धि के द्वारा प्रकृत ब्रह्म का अखण्ड रूप में ज्ञान होने के अनन्तर (अखण्ड जनेऊ के अनन्तर) होने वाला लोक-रक्षण ही फल है।

इस प्रकार आचार्यचरण ने यह स्पष्ट कर दिया कि पञ्चकोशों को निर्मल करके उनसे आत्मा को पृथक् किए बिना अखण्ड जनेऊ नहीं प्राप्त किया जा सकता है तथा 'सोऽहं सोऽहं' इस जप को प्रत्येक श्वास के साथ किये बिना निर्मल मन के अभाव में आत्मा का कोशों से पृथक्करण नहीं होता। 'सोऽहं' जप

से क्रमशः पहले ब्रह्म के साथ अपना अभेद, उसके बाद सर्वाभेद में पर्यवसान होने पर ब्रह्म से पृथक् शरीर अथवा अन्य पदार्थ नहीं दिखाई देते। इस प्रकार ब्रह्म जनौः होता है। 'सोऽहं सोऽहं' यह प्रत्येक श्वास के साथ चलने वाला जप भी अखण्ड जनेऊ की प्राप्ति के कारण ही सच्चा जप हुआ है। इसके पूर्वकाल में यह जप, मन्त्रार्थ (मन्त्र का अर्थ) के ज्ञान के अभाव में ही हो रहा था, अतः वह सत्य जप नहीं था। सच जप सत्य परमात्मा का जप है। जीव से अभिन्न रूप में ज्ञात परमात्मा (ब्रह्म) ही सच है, उसी का यह जप है। 'सोऽहं' को सच्चा जप इसलिए कहते हैं; क्योंकि अनाहत नाद उठने पर 'सोऽहं' यह मन्त्र सुनाई देता है, ऐसा योगियों का अनुभव है। यह नाद उठकर निरन्तर चलता है, अतः यह सच्चा जप है। गोरखबानी में 'सोऽहं' जप का उल्लेख निम्न रूप में मिलता है—

अमरा निरमल पाप न पुंनि। सत रज बिबरजित सुंनि ।
सोहं हंसा सुमिरै सबद। तिहिं परमारथ अनंत सिध ॥

(सबदी-46, गो.बानी, पृ. 37)

जो अन्तर्लीन मुनि सत्त्व रजस् तमस् तीनों से विवरजित होने के कारण पुण्य, पाप से रहित है, निर्मल है, अमर है, 'सोऽहं, हंसः' इस आभ्यन्तर शब्द का स्मरण कर रहा है, उससे अनन्त परमार्थ सिद्ध हो जाता है। अन्तहीन ब्रह्म ही परमार्थ या वास्तविक अर्थ है। उसके सिद्ध होने का आशय है, शरीर के भीतर उसकी प्राप्ति हो जाना।

परमार्थ की सिद्धि मन के विचार शून्य होने पर होती है और अजपा जप से मन विचार शून्य होता है। अतएव **'अजपा जाप मन, तजै बिचार'** गो.बानी, पृ. 216 में अजपा जाप से मन विचार शून्य होता है, यह कहा गया है। 'सोऽहं सोऽहं' का जप ही अजपा जप है। अतएव गोरखबानी में कहा गया है—

ऐसा जाप जपौ मन लाई,
सोहं सोहं अजपा गाई ।
आसण दिढ करि धरौ धियानं,
अहनिस सुमिरौ ब्रह्म गियानं ॥

(पद रागरामग्री 30, गो.बानी, पृ. 143)

मन लगाकर ऐसा जाप जपो कि 'सोऽहं सोऽहं' का अजपा जाप मन से हो जाय। आसन दृढ़ करके ध्यान करो और दिन-रात ज्ञानरूप ब्रह्म का स्मरण करो।

यदि सच को 'माल' के साथ जोड़कर यह अर्थ करें कि 'सोऽहं' का जप सच्ची माला, मन की माला जो श्वांसों के साथ चल रही है, वही कर रही है, तो यह भी उचित है; क्योंकि कर के मनका (माला) से मन की 'मनका' श्रेष्ठ है तथा मन को शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक भी है। अतएव—

माला फेरत युग गया, गया न मन का फेर।
करका मनका डार के, मन का मनका फेर॥

यह तथ्य परक वचन संत कबीर ने कहा है। अतः सच्चा जप वही है, जो श्वास रूप में चल रहा है। इस मात्रा में यह जिज्ञासा होती है कि 'सोऽहं जप सच माल पिरोती' में 'पिरोती' का अर्थ क्या है? यदि निर्मल धोती, सोऽहं जप के द्वारा सच्ची माला जो मन की माला है, उसको पिरो रही है, गूथ रही है, यह अर्थ करें, तो वासनारहित निर्मल मन (धोती) अनाहत नाद के रूप में 'सोऽहं-सोऽहं' इस ध्वनि के द्वारा मन को एकाग्र कर रहा है। यही माला का ग्रथन, गूँथा जाना या पिरोया जाना है, यह कहना होगा; किन्तु अब प्रश्न यह होगा कि सच्ची माला किस सूई और धागे से पिरोई जायेगी। इस शंका के समाधान के लिए **'सुरति की सूई ले सद्गुरु सीवै'** से 'सूई' में तथा **'सन्तोष सूत, विवेक धागे'** से सन्तोष और विवेकरूप धागों को प्राप्त किया जा सकता है। मात्राशास्त्र सूत्र शैली में लिखा गया है। अतः मात्रारूपी सूत्रों में कहीं भी उच्चरित पद आवश्यकता एवं योग्यता के अनुसार अन्यत्र सम्बन्ध प्राप्त करते हैं। जैसे पाणिनि के व्याकरण सूत्रों में अनुवृत्ति (पूर्व सूत्र या उसके पदों का अग्रिम सूत्र में सम्बन्ध) तथा अनुकर्षण (अग्रिम सूत्र से किसी पद का पीछे के सूत्र में सम्बन्ध करना) दोनों ही प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार मात्रा सूत्रों में सुरतिरूपी सूई का उपयोग मन की माला को पिरोने में होगा। सन्तोष और विवेक धागे का काम करेंगे; क्योंकि उस नाद में हम सम्यक् रूप से तुष्टि प्राप्त करते हैं। सन्तोषयुक्त तथा विविक्तसेवी (एकान्त सेवन करने वाला) बनकर नाद का आनन्द लेते हैं। यह नाद, शंख, शहनाई आदि की ध्वनि की तरह अव्यक्त शब्द नहीं है, उससे इस नाद का विवेक या

भेद है, यह स्पष्ट 'सोऽहं'रूप में सुनाई दे रहा है, यह भी विवेक से ध्वनित होगा।

'सोऽहं' यह सच्चा जप है; क्योंकि इसका जप चलते-चलते श्वास थमने लगती है और मन निरुद्ध होकर मन्त्र के अर्थ ('तत्' शब्द एवं 'अहं' शब्द के अर्थ जीव एवं ब्रह्म की एकता) का समाधि में साक्षात्कार होता है।

सिखा गुरुमन्त्र

हम जानते हैं कि यज्ञोपवीत एवं धोती के साथ शिखा का भी अविनाभाव सम्बन्ध है। कर्म करने हेतु अपरिहार्यतया शिखा वांछित है। अतएव **'विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्'** (का.स्मृ.) शिखाहीन तथा यज्ञोपवीतरहित कर्माधिकारी जो कुछ भी करता है वह व्यर्थ होता है—इस वचन में शिखारहित व्यक्ति के द्वारा किए गए कर्मों को निष्फल बताया गया है। स्पष्ट है कि शिखा, यज्ञोपवीत और धोती तीनों ही कर्म करने वाले के लिए आवश्यक हैं। किन्तु इन तीनों में भी शिखा सबसे पहले अस्तित्व प्राप्त करती है; क्योंकि 1 वर्ष अथबा 3 वर्ष की उम्र में ही 'शिशु' का चूड़ाकरण संस्कार होता है। इस संस्कार में शिर के केशों का मुण्डन जन्म के बाद पहली बार होता है तथा 'शिखा' के रूप में केशों का अवस्थापन होता है। यह शिखा कर्मत्याग के सूचक संन्यासपर्यन्त रहती है। यज्ञोपवीत का भी 'संन्यास' में शिखावपन के साथ ही त्याग होता है। अतः शिखा की तरह महत्त्वपूर्ण तथा साधनापथ में चलने वाले के लिए अवश्य आश्रयणीय 'गुरुमन्त्र' को बताया जा रहा है। यह गुरु अर्थात् गुरुत्व का आधान करने वाला मन्त्र, अत्यधिक गोपनीय है; क्योंकि 'गुरु' शब्द का अर्थ महत् तथा मन्त्र का अर्थ गुह्य या रहस्य है। अतः यह स्पष्ट हो रहा है कि जैसे शिखा का कर्माधिकार पर्यन्त अवश्य धारण होता है, उसी प्रकार साधना के रहस्य भी आजीवन अपने भीतर ही धारणीय हैं। प्रकाशनीय नहीं। उनके सम्बन्ध में अत्यधिक रहस्य गोपन अपेक्षित है।

यद्यपि यह शङ्का की जा सकती है कि गायत्री हरिनाम (ब्रह्म का प्रकाशित होना) के साथ 'शिखा, गुरु मन्त्र' को क्यों कहा जा रहा है, इसको तो आरम्भ में ही कहना चाहिए। तथापि गोरखबानी देखने से यह शङ्का दूर हो जाती है; क्योंकि **'उनमनि रहिबा भेद न कहिबा, पीयबा नींझर पांणी'** (सबदी 65,

गो.बानी, पृ. 43) में ब्रह्मरन्ध्र से होने वाले अमृतस्राव का पान करने के लिए उन्मन रहने तथा भेद (रहस्य) को न कहने की बात कही जा रही है। दसवें द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) में पहुँच कर ही योगी उन्मनीभाव को प्राप्त करता है, अतएव गोरखबानी में कहा गया है, **'उन्मन जोगी दसवैं द्वार'** (सबदी 136, गो.बानी, पृ. 67)। इस प्रकार ब्रह्म के प्रकाशन तथा अमृतपान की चर्चा के साथ ही रहस्यगोपन का उपदेश परम्परा में है, यह कह सकते हैं।

यद्यपि साधक को रहस्य को सर्वदा गोपनीय रखना चाहिए। अतएव कहा गया है, **'मन मैं रहिणां भेद न कहिणां'** (सबदी 64, गो.बानी, पृ. 43) तथापि दसवें द्वार में पहुँचने पर तो इसकी अत्यधिक आवश्यकता है, यह इन प्रसंगों से द्योतित होता है। साधना के स्थिति विशेष में शिर के ऊपरी भाग में अग्नि की ज्वाला निकलती रहती है, किन्तु सबको दिखाई नहीं देती। यह साधकों का अनुभव है। इसी ज्वाला (शिखा) की तरह गुरु मन्त्र भी सर्वथा गोपनीय है। अतएव शिखा को गुरु मन्त्र कहा जा रहा है। अध्यात्म पथ में गुरु की आवश्यकता मार्ग-निर्देशन के लिए तो है ही, उपासना में आने वाले विघ्नों के शमन के लिए भी गुरु की आवश्यकता है। अतएव गुरुगीता में कहा गया है—**'कालमृत्युभयाद् वाऽपि गुरू रक्षति पार्वति'** (गुरुगीता 105) भगवान् शङ्कर कहते हैं—हे पार्वति! साधनानिरत शिष्य को मृत्यु का आह्वान प्राप्त होने पर गुरु उससे भी उसकी रक्षा करता है। इस वचन से यह स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है कि अन्य बाधाओं की तो कोई बात ही नहीं है, शिष्य की उपासना में आने वाले मृत्यु जैसे विघ्नों को भी कथमपि गुरु सहन नहीं करता। ऐसे गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र या उनका परामर्श शिखा की तरह आदरणीय है, यह भी तात्पर्य कह सकते हैं।

'शेते इति शिखा' इस व्युत्पत्ति में 'शीङ् स्वप्ने' धातु से **'शीङो ह्रस्वश्च'** उणादिसूत्र (5/24) से 'ख प्रत्यय' तथा धातु के ईकार को ह्रस्व होकर टाप् प्रत्यय के द्वारा शिखा शब्द निष्पन्न होता है। सुषुप्ति से तमोगुण तथा तमोगुण से जाड्य को उपलक्षित करें तो जाड्य को गुरुमन्त्र के द्वारा दूर करने पर अखण्ड परमात्मा की प्राप्ति होती है, यह तथ्य ध्वनित होता है। जनरक्षक अखण्ड परमात्मा की प्राप्ति के लिए पूर्व में 'निर्मल धोती' इस मात्रा के द्वारा

पञ्चकोश का निर्मलीकरण वर्णित है। इस निर्मलीकरण में गुरुमन्त्र भी सहायक है, वह बुद्धि के जाड्य एवं अन्य कोशों के भी दोषों को दूर कर ब्रह्मप्राप्ति कराता है। अतः गुरुमन्त्र या गुरूपदेश का पञ्चकोश के निर्मलीकरण में **'पञ्चकोशविवेक'** में विशेष उपयोग यहाँ ध्वनित होता है। इस प्रकार गुरुमन्त्ररूप शिखा का महत्त्व बतलाकर **'सिखा गुरुमन्त्र'** इस मात्रा से आचार्यचरण यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जैसे शिखा के अभाव में कामनापरक सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं, उसी प्रकार अध्यात्म पथ के पथिक के द्वारा परमात्म-प्राप्ति के लिए किए गये सभी कर्म, गुरुमन्त्र (गुरु के उपदेशानुसार आचरण) के बिना निष्फल हो जाते हैं।

शिखा शब्द के विभिन्न अर्थों में 'अग्र' अर्थ भी है; क्योंकि **'घृणि ज्वाले अपि शिखे'** (अमरकोश 3/3/19) की व्याख्या में प्रदत्त मेदिनीकोश—

शिखा, शाखा-बर्हि-चूडा-लाङ्गलिक्यग्रमात्रके।
चूडामात्रे शिफायां च ज्वालायां प्रपदेऽपि च॥

के अनुसार वह चूडारूप अर्थ का तथा अमरकोश (2/6/97) **'शिखा चूडा केशपाशी'** में उद्धृत हैमकोश **'चूडाशिखाग्रयोः बाहुभूषाबलभ्योश्च'** के अनुसार 'शिखा' शब्द चूडा के वाच्यार्थ अग्र को भी कहता है। यहाँ अग्र अर्थ को यदि हम गृहीत करें, तो शिखा गुरुमन्त्र का अर्थ होगा—नाद के रूप में सुनाई पड़ने वाले मन्त्रों में गुरुमन्त्र 'अग्र' है, अग्रजन्मा है, पहले सुनाई देता है। साधकों का ऐसा अनुभव है कि गुरुमन्त्र भी अनाहत ध्वनि के रूप में सुनाई देता है। इसको शिखा की तरह प्रधान भी कह सकते हैं; क्योंकि सभी साधकों को अपने-अपने गुरुमन्त्र का प्रत्यक्ष होगा। गुरु से प्राप्त मन्त्र का जपादि के द्वारा अधिक अभ्यास होने से उसे पहचानने में साधक को प्रयास नहीं करना पड़ता। यदि गुरु शब्द को गुरु की तरह महत्त्वपूर्ण या श्रेष्ठ का बोधक कहें तो शिखा गुरुमन्त्र का अर्थ होगा—गुरु की तरह महत्त्वपूर्ण मन्त्र या गुरु परमात्मा का बोधक **'अहं ब्रह्माऽस्मि'** (बृ.उप. 1/4/10) यह मन्त्र होगा। 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस मन्त्र का भी श्रवण नाद-श्रवण की अवस्था में होता है, इसकी ओर मात्रा का सङ्केत इससे होता है। साधकों का यह अनुभव भी है कि यह मन्त्र सुनाई देता है।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यम्, मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

(गुरुगीता 76)

में गुरु के वाक्य को मन्त्र का मूल या आधार कहा गया है। यदि हमने गुरु के वाक्य का पालन किया है, तो गुरु की कृपा होती है, जो मोक्ष का मूल कारण बनती है। गुरुकृपा गुरुमन्त्र के प्रकाशन के द्वारा कारण बनती है, इसे 'शिखा गुरुमन्त्र' इस मात्रा में बताया गया है। यह गुरुमन्त्र गुरु या ब्रह्म को बताने वाला मन्त्र 'अहं ब्रह्माऽस्मि' तथा 'सोऽहं' यह भी हो सकता है, जो गुरुरूप परमात्मा के द्वारा ही अनाहत नाद के रूप में उच्चरित हो रहा है, यह आशय भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इस मात्रा के विभिन्न आशयों का 'ऊह' किया जा सकता है। किन्तु रहस्यगोपनरूप प्राथमिक अर्थ, गोरखबानी से संवाद प्राप्त करने के कारण विशेषरूप से संगत कहा जा सकता है।

गायत्री हरिनाम, निश्चल आसन कर विश्राम

गोरखबानी में 'गायत्री' शब्द के प्रयोग स्थलों को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'गायत्री' शब्द 'परब्रह्म' का वाचक है; क्योंकि—

काया कै अन्तरि गगन मंडल मैं सहजै स्वामी मिलिया लो।
ऐसी गायत्री घरि बारि हमारै, गगन मंडल मैं लाधी लो।
इहि लागि रह्या परिवार हमारा, लेइ निरंतरि बांधी लो।
कानां पूछां सींग बिबरजित बर्न बिवरजित गाई लो।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, तहां रहै ल्यो लाई लो॥4॥

(पद-रागरामग्री, पृ. 133)

आदि पदों में ब्रह्मपरक वर्णन है। आरम्भ में गगन मण्डल में सहज स्वामी के मिलने की चर्चा है। उन्हें ही तीसरे पद में 'ऐसी गायत्री' शब्द से कहा गया है तथा उसे गगन मण्डल में प्राप्त किया हूँ, यह भी चर्चा है। इस ब्रह्म को कान-पूँछ-सींगरहित तथा रंगरहित गाय भी बताया जा रहा है। इस गाय की सेवा में हमारा सम्पूर्ण परिवार (इन्द्रियों सहित मन) लगा हुआ है तथा इसको हमने निरन्तर बाँध रखा है, अर्थात् इसी ब्रह्मरूपी गाय में निरन्तर मन लगा हुआ है।

हम इसी गाय में अर्थात् ब्रह्मानुभूति में निरन्तरलीन हैं। स्पष्टरूप से यह ब्रह्म का वर्णन है।

गोरखबानी में पृ. 185 पर भी गायत्री की चर्चा है—

गंगा जमुना तृबेणीं संधी, अजपा जपौ गावत्री बन्धी॥9॥

(प्राण संकली)

गंगा-जमुना-त्रिवेणी की संधि या मिलन स्थान में (इडा, पिंगला, सुषुम्ना के संधि स्थान ब्रह्मरन्ध्र में) गायत्री को बाँधकर, ब्रह्म में तल्लीन होकर अजपा जपो। यहाँ 'गायत्री' शब्द से प्रसिद्ध गायत्री नहीं लिया जा सकता। यतः 'अजपा जपो' यह कहा जा रहा है। साथ ही 'गावत्री बन्धी' यह कहकर ब्रह्म ध्यान में (गायत्री) तल्लीन होकर अजपा जपने की बात कही जा रही है।

आचार्यचरण भी इस अर्थ में अपनी सहमति देते हुए 'गायत्री हरिनाम' इस मात्रा का उच्चारण करते हैं। 'हरि' शब्द **हरति इति हरिः** इस व्युत्पत्ति में 'अच इः' उणादि सूत्र से हृ धातु से निष्पन्न होकर सब वस्तुओं के लय के अधिष्ठान ब्रह्म का बोधक है। 'नाम' शब्द हरि (ब्रह्म) के प्रकाशन को कहता है; क्योंकि 'नाम प्राकाश्य संभाव्य क्रोधोपगम कुत्सने' (अमर 3/4/251) के अनुसार 'नाम' शब्द, प्राकाश्य (प्रकाशन-अभिव्यक्ति), संभावना, क्रोध, स्वीकृति (उपगम) तथा कुत्सा आदि अर्थों को कहता है। अतः 'हरिनाम' शब्द ब्रह्म की प्रकाशमानता, ब्रह्म की आत्मा के रूप में अभिव्यक्ति का अभिधान करेगा।

'गायत्री' शब्द से ब्रह्म के प्रकाशन (हरिनाम) को बताकर इस ब्रह्माऽभि-व्यक्ति को गायत्री की तरह उद्धारक बताया जा रहा है। ब्रह्म उद्धारक तभी होगा जब प्रतीयमान जगत् का उसमें लय हो जाय। अतएव 'हरिनाम' शब्द से ब्रह्म के निर्विकल्प रूप में, द्वैतभानरहित रूप में प्रकाशन को कहा जा रहा है।

अज्ञान का हरण करने वाले हरि का नाम ही गायत्री है, यह भी कह सकते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों के लिए 'गायत्री' का विधान प्राप्त होता है। 'हरिनाम' में उच्चारित नाम शब्द का अर्थ **'ज्वलह्वलनमामनुपसर्गाद्वा'** इस गणसूत्र से विकल्प मित्व के कारण **'नमयति नामयति इति वा नाम'** इस व्युत्पत्ति में झुकाने वाला होगा। 'णमु प्रह्वत्वे' इस णिजन्त धातु से

'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इस वार्तिक से ड प्रत्यय करें तो णिच् का लोप होकर नाम शब्द अकारान्त बनेगा, जो उपर्युक्त अर्थ को कहेगा। **'नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन्'** इस उणादि-सूत्र से नकारान्त नाम शब्द निपातित है। यहाँ म्ना धातु से **'म्नायते इति नाम'** इस व्युत्पत्ति में मनिन् प्रत्यय हुआ है (द्रष्टव्य–तत्त्वबोधिनी टीका)। धातु का मलोप अथवा नाभाव निपातित है। अतः नाम संज्ञा है; क्योंकि वैदिक परम्परा में गायत्री मन्त्र का महत्त्व सर्वविदित है। **'कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'** (म.स्मृ. 2/87) और कुछ करे या न करे, सूर्य की उपासना करने वाले मैत्र में ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता (ब्राह्मणत्व) रहती है, वह ब्राह्मण कहा जाता है—यह वचन सूर्य की उपासना तथा उसके प्रधान मन्त्र 'गायत्री-मन्त्र' के महत्त्व को प्रकट करता है। इस महत्त्व को स्वीकार कर आचार्यचरण कालानुसार हरिनाम को गायत्री की संज्ञा दे रहे हैं। **'गायन्तं त्रायते इति गायत्री'** यह शब्दार्थबोधक व्युत्पत्ति होगी अथवा **'गानं गायः'** इस भाव-व्युत्पत्ति में युक् प्रत्यय तथा घञ् करके गाय बनेगा। **'गायेन गानेन त्रायते इति गायत्री'** इस व्युत्पत्ति में सुपि योगविभाग से क-प्रत्यय करेंगे। द्रष्टव्य–**'गायत्री प्रमुखं छन्दः'** (अमरकोश 2/7/22 की रामाश्रमी टीका)। **'सुपि स्थः'** (3/2/4) सूत्र में सुपि यह योगविभाग वैयाकरण करते हैं। अर्थ होगा सुबन्त उपपद रहते धातु से क प्रत्यय हो। प्रकृत में 'गायेन' यह तृतीयान्त उपपद रहते त्रा धातु से क प्रत्यय हुआ है।

अतः **'गायेन गानेन त्रायते इति गायत्री'** इस व्युत्पत्ति के द्वारा गायनपूर्वक हरिनामोच्चारण त्राण करता है, इस अर्थ का लाभ होता है। वैदिक गायत्री गायन से नहीं मानस जप से त्राण करती है, यही कारण है कि गायन से त्राण करने वाले हरिनाम-संकीर्तन को ही आचार्यचरण गायत्री बतलाते हैं; क्योंकि इस कलियुग में नामसंकीर्तन से ही जीवों का कल्याण होना है। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥ (6/2/7)

विष्णु-दूत कहते हैं—अजामिल ने करोड़ों जन्मों के पाप का प्रायश्चित्त कर लिया; क्योंकि इसने विवशता में ही सही मोक्ष के साधन हरिनाम का उच्चारण किया। अतएव—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥
(श्रीमद्भागवत 6/7/10)

में भगवान् के नाम-जप को ही श्रेष्ठ प्रायश्चित्त कहा गया है; क्योंकि इससे भगवान् की ओर मन जाता है। श्लोक में 'इदमेव' अंश में 'एव' का प्रयोग होने से इससे अच्छा कोई प्रायश्चित्त नहीं है, यह सूचित हो रहा है। हरिनाम के श्रेष्ठ प्रायश्चित होने से 'गायत्री हरिनाम' इस मात्रा के उच्चारण का विशेष महत्त्व है; क्योंकि हरिनामरूप प्रायश्चित्त से 'दुष्कृत' के शान्त होने पर मन उद्वेगरहित होता है। मन की निश्चलता से शरीर की निश्चलता का सम्बन्ध है। किन्तु मन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत के प्रतिष्ठित होने पर जितना निश्चल होता है, उतना अन्य साधनों से नहीं हो पाता। मन के निश्चल या वृत्तिशून्य होने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिसे 'विश्राम' शब्द कर्माधीन जन्म-मरण की परम्परा की निवृत्ति को सूचित करते हुए बताता है, इस प्रकार हरिनामरूप गायत्री जीवों का कल्याण करती है, यह कह सकते हैं। अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार करने के पहले तक कर्मों के वशीभूत होकर जन्म-मरण की परम्परा में पड़ा हुआ जीव अब उससे मुक्त हो जाता है।

गायत्री हरिनाम के बाद **निश्चल आसन कर विश्राम** यह मात्रा आती है। 'निश्चल आसन' ब्रह्म ही है; क्योंकि वही अविक्रिय है, शेष सभी आसन (मन के विश्राम स्थान) चल या विक्रियायुक्त हैं। ब्रह्म साक्षात्कार होने के पहले तक इन्हीं विक्रियायुक्त नाशवान् जागतिक पदार्थों में मन विश्राम करता है। उन्हीं का चिन्तन करता है। जब 'आसन' ही चलायमान है, तो 'विश्राम' कितना श्रम का अपनोदन करेगा, यह विवेक दृष्टि से समझा जा सकता है। अतः पूर्णरूप से भय की आशंका से रहित विश्राम इस निश्चल आसन की प्राप्ति होने पर ही होगा, यह आचार्यचरण का संकेत है।

इस प्रकार निष्कृष्ट रूप में हम कह सकते हैं कि अब तक अपने को जीव, परिच्छिन्न नियतपरिमाण वाला समझते हुए वह भ्रमण कर रहा है। अब अविक्रिय, व्यापक रूप होकर, ब्रह्मरूप निश्चल आसन पर ही वह विश्राम करेगा; क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से होने वाली यात्रा पूर्ण हो चुकी है।

तिलक सँपूर्ण

देव पूजन आदि में पूजा के पहले तिलक किया जाता है। अतः **'पूजा प्रेम'** इस मात्रा से पहले 'तिलक सँपूर्ण' का उच्चारण किया गया है। 'निश्चल आसन कर विश्राम' इस मात्रा के बाद तिलक सँपूर्ण का उच्चारण भी सार्थक है; क्योंकि निश्चल आसन पर बैठने के बाद ही ब्रह्म को अपना स्वरूप समझने के बाद ही सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान (आधार) भूत ब्रह्म अब साधक की पहचान बनता है। अतः इसके अनन्तर 'तिलक सँपूर्ण' यह मात्रा-सूत्र है। लौकिक दृष्टि से भी आसन पर बैठने के बाद ही पूजा के पहले तिलक किया जाता है। अतः आसन के बाद तिलक का कथन उचित है। यहाँ प्रयुक्त तिलक शब्द के विभिन्न अर्थ हैं।

तिलको द्रुमरोगाश्वभेदेषु तिलकालके।
क्लीबं सौवर्चलक्लोम्नोर्न स्त्रियां तु विशेषके ॥

इस मेदिनीकोश के अनुसार 'तिलक' शब्द वृक्ष, रोग, अश्व, तिल का चिह्न, सौवर्चल (रुचक-बीजपूर, निष्क, दन्त, कपोत मङ्गल्य द्रव्य कटक (कड़ा)) आदि अर्थों को कहता है। धातु के अर्थ की अनुगति से 'तिलक' शब्द ज्ञाता और स्नेह कर्ता दो अर्थों का बोधक होगा। तिल धातु कई गणों में विभिन्न अर्थों में पठित है। भ्वादिगण में गति अर्थ में यह धातु पठित है। तुदादिगण में 'तिल स्नेहने' यह अर्थ-निर्देश है। चुरादिगण में भी 'तिल स्नेहने' पठित है। अमरकोश की रामाश्रमी टीका में क्वुन् प्रत्ययान्त 'तिलक' शब्द व्युत्पदित है। इस प्रकार 'तिलक' शब्द संज्ञा होगा। गति अर्थ को क्रोडीकृत करके तिलक शब्द का अर्थ-विचार किया जाय तो समस्त गत्यर्थक धातुओं के ज्ञानार्थक होने से अर्थों के ज्ञाता को 'तिल' कहेंगे और स्वार्थ में क-प्रत्यय करने पर तिल के ही अर्थ में 'तिलक' शब्द निष्पन्न होगा। **'तेलति इति तिलः'** इस व्युत्पत्ति में क-प्रत्यय **'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'** (पा.सू. 3/1/35) के द्वारा तिलक को निष्पन्न करें, तो उसका अर्थ गन्ता, ज्ञाता होगा तथा 'तिलः एव तिलकः' स्वार्थे 'कन्' करने पर 'तिलकः' बनेगा। अतः मात्रा का अर्थ होगा सम्पूर्ण का ज्ञाता। 'सँपूर्ण' शब्द से जड़-चेतन सभी का ग्रहण करें तो स्थावर-जङ्गम सबका यथार्थतः ज्ञाता

वह ज्ञानी होता है, जिसे ब्रह्म-साक्षात्कार हो गया है। किन्तु सबका सब कुछ जानने वाला अथवा सम्पूर्ण स्वरूप में विद्यमान ब्रह्म को जानने वाला भी ब्रह्मविद् गुण-दोष की ओर दृष्टि न रखकर सबसे स्नेह ही करता है, द्वेष नहीं; क्योंकि सभी उसके स्वरूप ही हैं। यह अर्थ तिल धातु के स्नेह अर्थ को लेने पर निकलता है। यदि 'सँपूर्ण' शब्द को **'पूर्णः कृत्स्ने पूरिते च'** इस हैमकोश के अनुसार पूरित अर्थ में स्वीकार किया जाय तो इसका अर्थ ब्रह्म से पूरित सृष्टि होगा, सम्पूर्ण सृष्टि सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म से सम्यक्तया पूरित है। ब्रह्म, जागतिक पदार्थों का पूरक कैसे होता है? इसे तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चकोश के विवेचन से समझा जा सकता है, जहाँ अन्नमयकोश (स्थूल शरीर) को प्राणमयकोश से पूर्ण कहा गया है (तेनैष पूर्णः)। प्राणमयकोश को मनोमयकोश से पूर्ण कहा गया है (तेनैष पूर्णः)। मनोमयकोश को विज्ञानमयकोशरूप बुद्धि से पूर्ण कहा गया है तथा विज्ञानमयकोश को आनन्दमयकोश से पूर्ण कहा गया है। यह आनन्दमयकोश ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही उसका पूरक है; क्योंकि **'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'** (तै.उ., ब्रह्मवल्ली अनु. 5 का शाङ्करभाष्य) यह श्रुति आनन्दस्वरूप ब्रह्म के आनन्दांश की ही अनुभूति विषयानन्द के रूप में बतलाती है। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म से यह जगत् सम्पूर्ण है, यह कहने का अर्थ है समस्त रूप से पूर्ण है, अर्थात् यह जगत् समस्त रूप में ब्रह्म ही है। अतः जगत् को ब्रह्म रूप में देखने वाला साधक पूर्ण स्नेह करता है। वह विकारों की ओर ध्यान नहीं देता। किन्तु उसका स्नेह 'राग' के कारण नहीं होता, वह तो पूर्णतः रागद्वेषशून्य होता है। जैसे रज्जु स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला रज्जु में प्रतीयमान सर्प के प्रति राग द्वेषशून्य होता है, वही स्थिति ब्रह्मवित् की होती है।

इस प्रकार **'तिलक सँपूर्ण'** इस मात्रा से आचार्यचरण यह सङ्केत कर रहे हैं कि अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार कर निश्चल होकर आसन पर विश्राम करने वाला 'ज्ञानी' अपने प्रभुमय सम्पूर्ण संसार को देखता हुआ उससे स्नेह करता है, उसके उद्धार का उपाय भी बताता है। क्योंकि उसके गुरु ने उसे इसी कार्य के लिए संसार में भेजा है। **'चेतहु नगरी तारहु गाँव'** इस मात्रा में गुरु के निर्देश पर विचार किया जा चुका है।

यदि तिलक शब्द का लौकिक प्रसिद्ध अर्थ तिलक या विशेषक लिया जाय तो 'तिलक सम्पूर्ण' इस मात्रा का अर्थ होगा ब्रह्मस्वरूपभूत इस ज्ञानी का सम्पूर्ण प्रपञ्च तिलक है, विशेषक है। घटः सन्, पटः सन् इत्यादि बुद्धियों में घट-पट आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च को सद्रूप ब्रह्म के विशेषण के रूप में देखा जाता है। चूँकि सद्रूप ब्रह्म ही ज्ञानी का स्वरूप है, अतः सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने तिलक या विशेषक के रूप में वह देखता है। यह विशेषकता उपलक्षणतया[111] (उपलक्षण रूप से) है; क्योंकि जगत् ब्रह्म में उपलक्षण है विशेषण नहीं। विशेषण होने पर ब्रह्म से सम्बद्ध होगा, तब द्वैत की आपत्ति होगी।

सम्पूर्ण (ब्रह्म से पूरित जगत्) तिलक है, ब्रह्म को विशेष रूप या सोपाधिक रूप देने वाला है, तो तिलक से प्रेम होना ही स्वाभाविक है; क्योंकि वह ब्रह्म का रूप ही है। किन्तु ब्रह्मवित् पुरुष का अपने तिलकभूत जगत् से प्रेम दूसरे ढंग का है, उसमें स्वार्थ की झलक नही है; क्योंकि उसका अपना कोई स्वार्थ है ही नहीं। वह जगत् से पराकाष्ठा का प्रेम करता है, जागतिक जीवों की रक्षा में अपनी अमूल्य सामर्थ्य को बिखेरता रहता है, वह किसी से किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता; किन्तु हमें सन्मार्गस्थ एवं साधनारत जरूर देखना चाहता है। अन्तर्यामी प्रभु का भी तो यही स्वभाव है।

तर्पण यश

सन्ध्या-पूजा-तर्पण आदि वेद विहित क्रियाएँ निवृत्ति मार्ग के पथिक, निर्वाण, सन्त किस प्रकार करते हैं, उनका तर्पण आदि क्या है? इसे आचार्यचरण इस मात्रा में प्रकट कर रहे हैं। इस मात्रा में उच्चरित तर्पण शब्द कर्तृवाचक है। तृप प्रीणने दिवादि गणस्थ धातु से **'तृप्यतीति तर्पणः'** इस व्युत्पत्ति में बाहुलकात् कर्ता अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करें तो तर्पण शब्द की सिद्धि होगी, जो तृप्ति करने वाले का बोधक होगा। यदि 'तृप्तिः तर्पणम्' इस व्युत्पत्ति में भाव में ल्युट् किया जाय तो यह भाववाची या क्रियावाची होगा। ऐसा मानने पर जिज्ञासा यह होती है कि ब्रह्म-विद् किस प्रकार तृप्त करता है? उसकी तृप्त करने में प्रवृत्ति कैसे होती है? उसके तो सभी अपने हैं और वस्तुतः कोई अपना नहीं है; क्योंकि सभी रूपों में वह स्वयं है। इसका उत्तर 'यश' शब्द देता है। 'यश' शब्द की सिद्धि **'अशेर्देवने युट् च'** इस उणादि-सूत्र से अश् धातु से

असुन् प्रत्यय और धातु को युट् का आगम करके **'अश्नुते व्याप्नोति इति यशः'** इस व्युत्पत्ति में होती है। इस प्रकार यशस् शब्द का अर्थ व्यापन करने वाला होगा। ब्रह्मवित् यशस् शब्द वाच्य होगा; क्योंकि वह सबका व्यापन करता है, वस्तुतः सभी रूपों में वही है, तथापि अपने सम्पर्क में आने वाले सभी जीवों के ऊपर कृपादृष्टि की अनवरत वृष्टि करता है, यदि कोई साधक भटक रहा है तो उसे मार्ग-निर्देश करता है। साधक उसके पास नहीं आ सकता तो वह स्वयं साधक के पास जाता है, जाग्रत में दर्शन का अधिकारी न होने पर स्वप्न में उसे अपनाता है। इस प्रकार सम्बन्ध बनाकर उसे तृप्त करता है।

यदि यशस् शब्द को यश वाचक ही लिया जाय तो मात्रा का अर्थ होगा 'ब्रह्मविद् का यश' सबको तृप्त करने वाला (तर्पण) होता है। केवल इस लोक में ही नहीं अन्य लोकों में भी देवादिगण ब्रह्मवित् के दर्शन की इच्छा करते हैं; क्योंकि उसका 'यशःकाय' सभी लोकों में व्याप्त रहता है।

ब्रह्मवित् को लौकिक यज्ञोपवीत, तर्पण या तिलक से कोई प्रयोजन नहीं होता। यदि वह आश्रम के अनुरूप रैक्व आदि की तरह यज्ञोपवीत आदि धारण भी करता है तो केवल लोक-संग्रह के लिए करता है। इसीलिए आचार्यचरण ने यह कह दिया कि वह निश्चल आसन पर विश्राम करता है। प्रयोजन के उद्देश्य से कोई कार्य नहीं करता। अतएव गीता में कहा गया है—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (5/8-9)

सभी इन्द्रियों के विषयों से व्यवहार करते हुए भी मैं कुछ नहीं करता, इस प्रकार की भावना तत्त्ववित् को करनी चाहिए। इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में व्यवहार कर रही हैं, यह निश्चत रूप से समझना चाहिए। इससे साधक अकर्तृ ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अपने स्वरूप को पहचानने के बाद भेद-दृष्टि समाप्त हो जाने के कारण उसके द्वारा कर्म नहीं होते। अतएव गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है 'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें'।

पूजा प्रेम

आगे आचार्यचरण ऐसे यति की पूजा का वर्णन 'पूजा प्रेम' इस मात्रा में करते हैं। 'प्रेम ही उसकी पूजा है'। लौकिक पूजा का प्रकार गीता में **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं'** इत्यादि श्लोक में वर्णित है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं—पत्र, पुष्प, फल तथा जल कोई भी वस्तु यदि कोई भक्तिपूर्वक (प्रीतिपूर्वक) मुझे देता है, तो उसके द्वारा प्रीतिपूर्वक समर्पित उस तुच्छ वस्तु को भी मैं प्रेमपूर्वक स्वीकार करके तृप्त होता हूँ। इस प्रकार प्रीतिपूर्वक समर्पण स्वीकार करने में निमित्त है, यह सूचित होता है। अतः अभक्तिपूर्वक तपस्वी ब्राह्मण के द्वारा दी गयी वस्तु को भी मैं स्वीकार नहीं करता, यह ध्वनित होता है। श्लोक में 'प्रयतात्मनः' यह पद शुद्ध बुद्धि वाले भक्त का बोधक है। किन्तु शुद्ध बुद्धि कैसी है? इसका विचार करें तो शुद्ध बुद्धि एक ही है, जिसे—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहु शाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

(गीता 2/41)

में वर्णित किया गया है। भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! कल्याण-मार्ग में (इह) निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है वह आत्मतत्त्व का निश्चय करने वाली है। यह बुद्धि एक है क्योंकि इसका फल एक है। यदि श्रीधराचार्य की रीति से विचार करें तो ईश्वराराधनरूप कर्मयोग में (इह) 'परमेश्वर की भक्ति से निश्चित रूप से मेरा उद्धार हो जायेगा' इस प्रकार की निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है। यह अर्थ 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' का होगा। एक शब्द का प्रधान अर्थ करें तो यह बुद्धि ही प्रधानभूता बुद्धि है; क्योंकि यह भगवान् के निर्गुण या सगुण स्वरूप को विषय करती है। अशुद्धिरहित परमात्मा को विषय करने के कारण शुद्ध बुद्धि यही है। अव्यवसायी लोग जो बहिर्मुख हैं, जिनके अन्तःकरण में नित्य कामनाएँ उदित होती रहती हैं, उनकी बुद्धियाँ अनन्त होती हैं। यह बुद्धियाँ स्थिर नहीं हैं; क्योंकि कामनाओं के कारण यह भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करती रहती हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों की पूजा में प्रेम का नहीं, वासना का प्राधान्य होगा। ऐसे लोग कुछ समर्पित कर उससे अधिक लेना चाहते हैं। यह कामनावान् संसारी लोगों की पूजा है, ऐसी पूजा में भगवान् कामनापूर्ति के साधन होते हैं।

अतः प्रेम का प्राधान्य नहीं होता, प्रेम की प्रधानता तो संसार से उपरत लोगों की पूजा में ही होगी।

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि व्यवसायात्मिका बुद्धि को प्राप्त कर पूजा की जा सकती है, जिसमें प्रेम का प्राधान्य होता है। 'पूजा प्रेम' इस मात्रा में ऐसे भक्त की पूजा वर्णित है, जो अनन्य है, अपृथग्दर्शी है, जो भगवत्स्वरूप से भिन्न कुछ देखता ही नहीं। लौकिक लोगों की पूजा में तो पूजक, पूज्य, पूजा की सामग्री, पूजा का भाव, अर्थात् ईश्वर के प्रति क्षणिक अनुराग, यह सभी चीजें देखने को मिलती हैं; किन्तु भक्त की अलौकिक पूजा में सब कुछ ईश्वरमय है, वह अपने प्रभु से अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता। ज्ञानी की पूजा तो और भी विलक्षण है, वह अपने आराध्य के स्वरूप से अभिन्न रूप में अपने को ही नहीं सम्पूर्ण संसार को देखता है। उसका जगत् जड़ नहीं चिन्मय है। अपने स्वरूपरूपी समुद्र की तरंग, फेन तथा बुद्बुद आदि के रूप में जगत् को देखने वाला साधक सब कुछ आत्ममय देखता है। अतएव स्थावर-जङ्गम सभी के साथ उसका आत्मीयता का व्यवहार होता है। वह अपने स्वरूप के रूप में सम्पूर्ण जगत् को देखने के कारण सबके साथ प्रेम का व्यवहार करता है। ब्रह्मवित् का प्रेम स्वार्थरहित होता है; क्योंकि आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के बाद उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि सब कुछ प्राप्त हो जाता है। उसका सम्पूर्ण व्यवहार प्रेम का निदर्शन होता है। वह प्राणियों के गुण-अवगुण की ओर ध्यान नहीं देता। वह तो उनके स्वरूप को देखता है तथा उसे अपना स्वरूप (अपना आपा) समझकर प्रेम करता है; क्योंकि निर्व्याज प्रेम अपने से ही होता है और निर्व्याज प्रेम ही वास्तविक प्रेम है, जहाँ स्वार्थ के कारण प्रेम होता है वहाँ हम प्रेम नहीं करते, अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं; क्योंकि उस व्यक्ति या वस्तु के साथ सभी व्यवहारों में हमारा स्वार्थ ही अग्रप्रतिष्ठित होता है। स्वार्थ को छोड़ दें तो पूजा में प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता।

पूजा में प्रेम का प्रकर्ष स्वार्थ छूटने के बाद ही आता है। यह प्रकृष्ट प्रेम-पूर्ण पूजा सर्वदा सभी स्थानों में की जा सकती है; क्योंकि उसमें सम्भार की आवश्यकता नहीं होती। पूजा की सम्पूर्ण सामग्रियों के होने पर भी प्रेममग्न भक्त का सामग्रियों की ओर ध्यान नहीं रहता। उसके पत्र-पुष्प आदि के समर्पण के

क्रम में भी व्यत्यास सम्भावित है। शुचिता-अशुचिता के विवेक को वह भूलता जाता है और गजेन्द्र की तरह जल एवं कमल दोनों एक साथ शुण्ड से समर्पित करता है। उसकी दृष्टि पूजा से मिलने वाले फलों की ओर नहीं होती, वह दीप इसलिए नहीं अर्पित करता कि उसे उत्तम नेत्र (दीपश्चक्षुरुत्तमः–दीप का समर्पण इसलिए किया जाता है क्योंकि उसे उत्तम नेत्र प्राप्त होते हैं) प्राप्त हों, फल का समर्पण इसलिए नहीं करता कि जन्म-जन्मान्तर में उसे उत्तम फलों की प्राप्ति होगी (तेन मे सफलाऽवाप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि)। वह तो षोडशकल पुरुष की षोडशोपचार पूजा करता भी है तो षोडश कलाओं से पुष्ट पुरुष के पूर्ण स्वरूप को आप्यायित कर लोक में उसका पूर्ण रूप में प्रतिबिम्बन चाहता है। पञ्चोपचार पूजा करता है तो पञ्चभूतों को उनके उत्पत्ति-कारण परमात्मा में विलीन कर अपने शुद्ध स्वरूप को परखने की प्रक्रिया की ओर सङ्केत करता है।

स्पष्ट है कि जहाँ भी संसार में असक्त लोग कुछ देते हैं उनका स्वार्थ जुड़ा होता है। इसी कारण से जीव को मुक्ति दिलाने के लिए भगवान् अर्जुन से (गीता 9/27) में कहते हैं—

मैं भक्तिपूर्वक दिया हुआ पत्र-पुष्प-फल-जल (तोय) सब कुछ लेता हूँ; किन्तु यदि तुम मेरा सार्वकालिक भजन करना चाहते हो, तो पूजा के उद्देश्य से यह समर्पित कर रहा हूँ, इस बुद्धि को छोड़कर विहित (शास्त्रविहित) अविहित सभी कर्मों को मुझमें समर्पित करो। यद्यपि कर्मों का अनुष्ठान विहित फलों के उद्देश्य से होगा; किन्तु उनका समर्पण होना ही सार्वकालिक भजन होगा; क्योंकि शारीर, मानस एवं वागव्यापाररूप क्रियाएँ सुषुप्ति को छोड़कर सभी अवस्थाओं में होती रहती हैं। भगवदर्पण बुद्धि से किये जाने वाले कर्म, भगवान् की पूजा है, जिससे उनको प्रसन्नता होती है।

यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् ने अशन (भोजन), हवन, दान एवं तपःस्वरूप क्रियाओं का ही समर्पण करने को कहा है; क्योंकि सबसे पहले 'यत्करोषि—जो भी कर्म करते हो' इस रूप में सभी क्रियमाण कर्मों के समर्पण को सूचित कर दिया। वह कर्म चाहे शरीर से अनुष्ठित हों अथवा वाणी या मन से, इसका विचार नहीं करना चाहिए, सबका समर्पण विवक्षित है, अन्यथा कर्म-सामान्य के सूचक यत् शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता।

भगवान् ने क्रियमाण शुभ कर्म तथा अशुभ कर्म सबके परित्याग अर्थात् फल के समर्पण का विधान किया; क्योंकि अग्रिम वचन—**'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः'** (9/28) में कर्मों के भगवान् में समर्पण का फल बताते हुए कहते हैं कि इस प्रकार समर्पण करने से तुम शुभ एवं अशुभ फल देने वाले कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। **तत्कुरुष्व मदर्पणम्**—उसे मुझे समर्पित करो। इस वाक्य में 'कुरुष्व' आत्मनेपद का प्रयोग यह सूचित करता है कि समर्पणरूप कर्म का फल समर्पक को मिलेगा। अतः यह शङ्का निरस्त हो जाती है कि शुभ, अशुभ कर्म जब अपने फलों के लिए अनुष्ठित हुए तो वे अपना फल देंगे ही; क्योंकि यदि ऐसा होगा, तो समर्पण करने से कर्मबन्धन से मुक्ति कैसे होगी? ईश्वर में कर्मों का समर्पण भी एक कर्म है तो उसका भी फल अवश्य होगा। यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जैसे शुभ एवं अशुभ कर्मों का तथा उनके फलों का श्रुति-स्मृति आदि में विधान है, उस प्रकार कर्म समर्पण का, बन्धन-मुक्ति के उद्देश्य से गीता में **'तत्कुरुष्व मदर्पणम्'** यह कहकर लोट् लकार के द्वारा विधान हो रहा है तथा आत्मनेपद के द्वारा समर्पण करने वाले को फल मिलेगा, यह सूचित कर दिया गया। इस कर्म-समर्पण को भगवान् ने संन्यासयोग शब्द से कहा है **'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि'** (गीता 9/28) यह वाक्य इसमें प्रमाण है। भगवान् कहते हैं यह कर्मों का समर्पण, त्याग होने से संन्यास है; किन्तु 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' इत्यादि शब्दों का उच्चारण तथा शब्दानुवेधपूर्वक मानस वृत्ति यह दोनों कर्म होने से समर्पण, कर्म भी होता है। अतः **'संन्यासश्चासौ योगश्च'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न संन्यासयोग शब्द, त्याग और कर्म दोनों को समर्पण का वाच्य बतलाता है। आगे भगवान् कहते हैं, इस प्रकार संन्यासयोग से जब तुम्हारा अन्तःकरण युक्त हो जायेगा तो कर्म-फलों से अन्तःकरण का योग नहीं होगा और तुम विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करोगे। यह समर्पण प्रेमपूर्वक भगवदर्पण है, अतः यह प्रेमरूपी भगवत् पूजा है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि कर्मफल से जब तक अन्तःकरण का योग है, अर्थात् कर्मफलभोग की इच्छा है, तब तक भगवत्प्राप्ति नहीं होगी। कर्मफलभोग की इच्छा के सर्वथा समाप्त होने पर ही भगवत्प्राप्ति होती है, तो ऐसा भक्त जो भगवत्प्राप्ति कर चुका है उसकी पूजा या कोई भी क्रिया, फल की

इच्छा से किसी भी स्वार्थ से प्रेरित होकर कैसे होगी? अतएव आचार्यचरण कहते हैं कि उसकी पूजा प्रेम ही है। वह निश्चल आसन पर विश्राम कर रहा है, ब्रह्म के रूप में अपने को जान चुका है। सर्व-क्रिया-शून्य है फिर भी अपने प्रेम से, अपने आराध्य के स्वरूपभूत सम्पूर्ण जगत् को आप्यायित कर रहा है। अतएव प्रपञ्चरागी पुरुष के प्रति उसकी निग्रह एवं अनुग्रह की दृष्टि केवल प्रेम से प्रेरित होती है।

भोग महारस

इस प्रकार की प्रेमप्रधान पूजा में 'भोग' (वह वस्तु जो आराध्य के सेवन के लिए समर्पित की जाती है) 'महारस' है। महारस क्या है? इसे गोरखबानी के आधार पर समझ सकते हैं—

सोनां ल्यौ रस सोनां ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे।
धंमणि धर्मीं रस जांमणि जांम्या,
तब गगन महारस मिलिया रे।।टेक।।

(पद-रागरामग्री, गो.बानी, पृ. 110)

मैं जाति का सुनार हूँ। मुझसे रस (आत्मानंद रूप अमृत रस) रूप सोना लो। मैंने धमनी (धौकनी-श्वास क्रिया) को धौंका। श्वास क्रिया के द्वारा अजपा जप को सिद्ध किया। यही रस का जमना है। अजपा जप के सिद्ध हो जाने से चंचल मन स्थिर हो जाता है, वह विषयों का चिन्तन छोड़ देता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मरन्ध्र में 'महारस योगामृत' की प्राप्ति होती है।

अन्यत्र भी गोरखबानी में 'महारस' का वर्णन इस रूप में है—

षरतर पवनां रहै निरंतरि,
महारस सीझै काया अभि अंतरि।
गोरष कहै अम्हे चंचल ग्रहिया
सिव सक्ती ले निज घरि रहिया।।

(सबदी 131, गो.बानी, पृ. 65)

तीक्ष्ण तर (खरतर) पवन तीव्र गति से निरन्तर चलता रहता है। उसकी चंचलता छूट जाती है। तब शरीर के भीतर 'महारस' सिद्ध होता है। गोरखनाथ

कहते हैं कि हमने चंचल (मन) को पकड़ लिया है और शिव शक्ति का मेल करके अपने घर में रहने लगे अर्थात् अपने स्वरूप में पहुँच गये। स्पष्ट है कि अमृत को महारस कहा जा रहा है।

अमृत रूप महारस की प्राप्ति के साथ ही ब्रह्म-प्राप्ति का भी वर्णन गोरखबानी में मिलता है—

अवधू मन जोगी जै उनमनि रहै।
उपजै महारस सब सुष लहै।
रस ही मांहि अषंडित पीर, सतगुर सबद बंधावै धीर॥120॥

(मछीन्द्र गोरखबोध, गो.बानी, 220)

हे अवधूत वही मन योगी है, (परमात्मा के साथ योग या मेल प्राप्त करता है) जो उन्मन रहता है। उन्मनी अवस्था में 'महारस' की उत्पत्ति होती है और सभी सुखों की प्राप्ति होती है। रस में अखण्ड ब्रह्म (अखंडित, पीर) है। अमृतरूप रस की प्राप्ति से ब्रह्म की प्राप्ति सूचित होती है। रस की प्राप्ति के लिए सद्गुरु के शब्द धैर्य बँधाते हैं। सद्गुरु के शब्दों से ही उसकी प्राप्ति होती है।

'भोग महारस' इस मात्रा के उच्चारण में आचार्यचरण के आशय को 'भोग' एवं 'महारस' दोनों शब्दों के अर्थों के स्पष्टीकरण से प्रकाशित किया जा सकता है—

भोगः सुखे धने पुंसि शरीरफणयोर्मतः।
पालनेऽभ्यवहारे च योषिदादिभृतावपि॥

इस मेदिनी-(22/14-15) कोश के अनुसार भोग शब्द के 'सुख, धन, शरीर और सर्प का फण, पालन, भक्षण (अभ्यवहार) तथा स्त्री आदि की भृति (मजदूरी जो काम करने के बाद दी जाती है) इतने अर्थ हैं।' 'योषिदादि भृतौ' इस शब्द में प्रयुक्त आदि पद हस्ति, अश्व आदि की सेवा करने वालों की मजदूरी तथा अन्य कर्मकरों की मजदूरी को भी भृतिशब्द वाच्य बतलाता है।

महारस शब्द महत्त्वयुक्त रस को बोधित करता है। रस शब्द मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त इन छः रसों का लोक में बोधक है। षड्रस से युक्त व्यञ्जन का निर्माण रसोई में होता है, अतएव उसे 'रसवती' कहते हैं। यह षड्रस

केवल रस शब्द से कहे जाते हैं; क्योंकि यह 'परिच्छिन्न रस' या अल्पत्वयुक्त रस हैं। विभिन्न द्रव्यों के संयोजन से या पाकविशेष से उत्पन्न यह रस विनाशी भी हैं। इनकी अल्पता या परिच्छिन्नता का एक कारण यह भी है कि ये केवल पृथिवी में ही उपलब्ध होते हैं। जल में केवल मधुर रस ही मिलता है। अन्य द्रव्यों में तो रस की सम्भावना ही नहीं है। अस्तु, इन परिच्छिन्न रसों से युक्त भोग्य वस्तु 'महारस' वाली नहीं कही जा सकती। श्रुति में तो इन रसों को रस माना ही नहीं गया।

जैसे षोडशोपचार या चतुःषष्ट्युपचार पूजन में देवता के अभ्यवहार (भक्षण) के लिए नैवेद्य अर्पित किया जाता है, उसी प्रकार इस ब्रह्मवित् की पूजा में भोग क्या है? इस जिज्ञासा का शमन **'भोग महारस'** यह मात्रा करती है। **'रसो वै सः'** इस श्रुति से ब्रह्म की रसरूपता बोधित होती है। आचार्यचरण उसी रसरूप ब्रह्म को महारस शब्द से बोधित कर रहे हैं; क्योंकि वह ब्रह्म महत्त्वविशिष्ट या महत्त्वयुक्त होकर आस्वाद्य हो रहा है। वह ब्रह्म महत् या बृहत् है। सबसे बृहत् होकर ही रस या आस्वाद्य है। वह महत् न हो अर्थात् देश, काल एवं वस्तु से परिच्छिन्न हो, तो सबको सर्वदा सर्वत्र उपलब्ध नहीं हो सकता, आस्वाद्य नहीं हो सकता। वह समाधि में योगिजन को प्रत्यक्ष-गोचर होता है। वह बृहत् इसलिए है क्योंकि उसकी कोई इयत्ता या सीमा नहीं है।

'पूजा प्रेम' और **'भोग महारस'** इन दो मात्राओं के द्वारा आचार्यचरण ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्युत्थान काल में वह ब्रह्मसाक्षात्कार-सम्पन्न योगी सबसे प्रेम करता है। यही उसकी पूजा है तथा समाधिकाल में महत्त्व या बृहत्त्व युक्त ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, यही रस का भोग है। इस प्रकार उसका दैनन्दिन व्यवहार परिलक्षित होता है। भक्तिपक्ष में यह कहेंगे कि वह भक्त व्युत्थान काल में अपने प्रभु के स्वरूप के रूप में सबसे निर्व्याज स्नेह करता है तथा समाहित स्थिति में अपने प्रभु की लीलाओं का अथवा विभिन्न स्वरूपों का साक्षात्कार करता हुआ प्रारब्ध का शमन करता है।

कोशों में 'रस' शब्द के कुछ अन्य अर्थ भी वर्णित हैं, जैसे अमरकोशकार ने **'शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः'** (3/3/226) यह कहते हुए रस शब्द के विष, वीर्य, गुण, राग, द्रव आदि अर्थ बतलाये हैं।

'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः, शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे', 'रसा तु शल्लकी पाठा जिह्वाधरणिकंगुषु'—विश्वकोश (173/1-2) के अनुसार रस शब्द का वाच्य गन्धरस (एक औषधि विशेष, जिसके रस में गन्ध है), मधुर अम्ल आदि रस, विष तथा राग (अनुरक्ति), शृंगार, रौद्र आदि रस, द्रव, वीर्य, देह की धातुएँ (वात, पित्त, कफ), अम्बु (जल), पारद आदि हैं।

इन अर्थों को दृष्टिगत करके यदि 'भोग महारस' इस मात्रा के अर्थ का विचार किया जाय तो अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं—

(क) यदि 'रस' शब्द को 'विष'परक कहा जाय और 'भोग' शब्द सुखवाची हो, तो 'महाविष वाले' सर्प से प्राप्त सुख, यह शब्दप्रतिपाद्य अर्थ होगा, जिसकी प्रकृत प्रसंग में संगति सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर, अमृतपान करने से प्राप्त आनन्द को सूचित करने से होगी। कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है तो शरीर के दोषों का शमन करती है। यह प्रक्रिया **'विषस्य विषमौषधम्'**—विष का विष ही औषध है' इस उक्ति को चरितार्थ करती है। कुण्डलिनीरूपी सर्पिणी (शनैः शनैः चलने वाली) को महाविषयुक्त, बहुव्रीहिसमास के बल पर कहेंगे। इसमें स्थित विष की महत्ता यही है कि यह शरीर में स्थित दोषों को तो नष्ट कर देता है; किन्तु जीवनी शक्ति को अक्षुण्ण ही नहीं करता, योगी को इच्छा-मृत्यु भी प्रदान करता है।

(ख) यदि रस शब्द को **'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'**—'जिसका आस्वादन किया जाय वह रस है' इस व्युपत्ति में आस्वाद्य रस या आनन्दपरक कहा जाय तो महारस शब्द से आनन्दस्वरूप ब्रह्म लिया जायेगा, साथ ही भोग शब्द को 'धनपरक' गृहीत किया जाय तो मात्रा का अर्थ होगा 'महत्तया आस्वाद्य या निरवच्छिन्न रूप से सर्वदा आस्वाद्य ब्रह्म ही उसका धन है।' ब्रह्म को 'धन' शब्द से सम्बोधित करते हुए प्रेमसरोवरनिमग्ना मीरा ने कहा है—**'पायो जी मैंने रामरतन धन पायो'**। मीरा ने राम को रतन कहा क्योंकि रत्न शब्द

का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ जिसमें रमण किया जाय–रमन्तेऽस्मिन् इति रत्नम्–यह है। भगवान् में ही तो भक्तों तथा योगियों का रमण होता है, अतः उनके रत्न वही हैं। राम शब्द की भी व्युत्पत्ति वही है जो रत्न की है।

(ग) यदि भोग शब्द को भृति (मजदूरी) परक कहा जाय तथा महारस शब्दवाच्य ब्रह्म या सगुण साकार प्रभु को ही लिया जाय तो मात्रा का अर्थ होगा भृति या मजदूरी के रूप में हमें महारसस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हुई है। अनेक जन्मों में किये गये सत्कर्मों की यह मजदूरी है। यह भृति भी निराशा में प्राप्त होती है; क्योंकि लौकिक दाता की तरह अधिपति के सम्मुख न रहने पर भी निरन्तर उसका यशोगान तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का अनुष्ठान साधक करते रहते हैं। वे सिद्धियों तथा सांसारिक सुखों का तृणवत् परित्याग करते हैं। प्रभु की एक-एक झलक के लिए वर्षों रोते रहते हैं, जगत् से तिरस्कृत होते हैं, सम्बन्धियों से वियुक्त होते हैं, विषय-सुख ही नहीं, शरीर के लिए अत्यावश्यक भोजन के रस का भी परित्याग करते हैं, निद्रा का त्याग करते हैं, अपमान का विष पीकर जीते हैं, अच्छे-बुरे सभी परिणामों को प्रभुकृपा मानकर स्वीकार करते हैं, संसार से ही नहीं भगवान् से भी कुछ नहीं चाहते, अतएव कहा गया है—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भागवत 10/16/37)

जिसके चरण की धूलि को प्रपन्न हुए भक्तगण सम्पूर्ण पृथ्वी का एकछत्र राज्य, ब्रह्मा का पद, सभी भोगों का आधिपत्य, योग की सिद्धियाँ तथा जन्मराहित्यरूप मोक्ष को भी नहीं चाहते हैं।

(घ) यदि भोग शब्द का अर्थ 'पालन' लिया जाय तो 'भोग महारस' मात्रा का अर्थ होगा महारसस्वरूप प्रभु ही हमारा पालन करने वाला है।

ऐसा साधक जो एकान्त-भक्त है, जिसने केवल भगवान् से प्रेम किया है, जिसके सभी सम्बन्ध भगवत्सम्बद्धता को सूचित करते हैं, वह भगवदवलम्ब पर ही निरुपद्रव होकर शान्त मन से जीवन-यात्रा पूरी करता है। उसका अपना कोई शत्रु या द्वेष्य नहीं होता, वह तो प्रह्लाद की तरह, मारने के लिए उद्यत पिता की भी कल्याण-कामना करता है। अवधेय है कि पिता की मृत्यु के पहले भी प्रह्लाद का उनके प्रति द्वेष नहीं था। बाद में द्वेष का तो अवसर ही नहीं है। वस्तुतः ऐसे भक्त द्वेष नहीं करते, यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि वहाँ द्वेष का अवसर ही नहीं है, वे तो सर्वथा अपने प्रभु की रूप-माधुरी में आसक्त होकर उन्हीं का चिन्तन करते हुए जीवन बिताते हैं। जगत् उनकी दृष्टि में है ही नहीं, वह प्रभु रूप ही है, तो द्वेष किससे होगा? भगवत्कथा, भगवद्गुणालाप के अतिरिक्त जगत् की चर्चा तो वे प्रयासपूर्वक बुद्धि को आनन्द-सिन्धु के बाहर लाकर करते हैं।

किन्तु ऐसे भक्तों की रक्षा ही नहीं, योग-क्षेम का भार भी प्रभु के ऊपर होता है। अतएव गीता में भगवान् कहते भी हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता 9/22) मैं अपने एकान्त-भक्तों के योग-क्षेम का निर्वाह करता हूँ। इस वचन को हिरण्यकशिपु का बध कर प्रमाणित भी करते हैं। इस प्रकार इस मात्रा में प्रतिपादित है कि **महारस पदवाच्य प्रभु ही पालन (भोग) करते हैं।**

निर्वैर सन्ध्या

'निर्वैर सन्ध्या' इस मात्रा से प्रकृत अर्थ की संगति भी है। क्योंकि महारसस्वरूप ब्रह्म जिसका पालक है, वह निर्वैर होता है। यही उसकी सन्ध्या है। दिन-रात की संधि में सायं-सन्ध्या तथा रात-दिन की सन्धि में प्रातःसन्ध्या होती है। **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** (शतपथ-ब्राह्मण) प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए, यह वेदवाक्य सन्ध्या के प्रतिदिन अनुष्ठान को, नित्य कर्म के रूप में विहित करता है। सन्ध्या का त्याग नहीं होता। अतएव हरिवंशपुराण में यह वर्णन मिलता है कि राक्षसों से आकाश में युद्ध करने वाले प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, साम्ब आदि ने सन्ध्या का समय होने पर आकाशगंगा में सन्ध्या की। **'सन्ध्योपास्ता वियज्जले'** आकाश के जल में उनके द्वारा सन्ध्या की गयी, यह वाक्य इसमें प्रमाण है।

यह अवश्य अवधेय है कि सन्धि अर्थात् परमात्मा से मेल, जीवत्व की समाप्ति या जीव-परैक्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला कर्म, सन्ध्या है। क्योंकि सन्ध्यारूप नित्य कर्म के अनुष्ठान से दुरित-क्षय के द्वारा परमात्मप्राप्ति होती है। किन्तु परमात्मप्राप्ति के अनन्तर सन्ध्या के द्वारा प्राप्तव्य कुछ भी नहीं रह जाता। इस स्थिति में तो लोकसंग्रह के लिए ही 'यज्ञोपवीती' भी सन्ध्या करता है, तो जिसने 'अखण्डब्रह्म' को ही यज्ञोपवीत बना लिया है, वह कौन सन्ध्या करेगा? इसे 'निर्वैर' शब्द से आचार्यचरण स्पष्ट करते हैं।

'निर्वैर सन्ध्या' इस मात्रा में 'निर्वैर' शब्द को 'वैरान्निर्गतः' इस विग्रह में निष्पन्न कहें तो, 'वैर' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना होगा। **'वीरस्य कर्म वैरम्'** इस व्युत्पत्ति में वैर शब्द की सिद्धि होने पर वीर के कर्म को बोधित करेगा अथवा अदादिगण की 'ईर् गतौ' धातु से 'विशेषेण ईर्ते गच्छति' इस विग्रह में **'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'** सूत्र से क प्रत्यय करके 'वीर' शब्द बनेगा, जो विशिष्ट गति वाले को कहेगा। यह विशिष्ट गति मन की ली जा सकती है; क्योंकि वह सर्वदा तथा सबसे अधिक गतिशील रहता है। निरन्तर चलने पर भी थकता नहीं। मन की विरुद्ध गति भी होती है, अर्थात् उसका प्रतिसर्ग भी होता है। संसारकाल में मन विशिष्ट गति को प्राप्त करता है। क्योंकि संकल्प के द्वारा नाना प्रकार के भोगों को देता है और सम्प्रज्ञात-समाधि के अनन्तर प्राणत्याग के समय उसकी विरुद्ध गति प्ररम्भ होती है तथा वह अस्मिता में लीन होकर, अस्मिता के बुद्धि में लीन होने के बाद बुद्धिलय के साथ ही प्रधान में लीन हो जाता है; किन्तु आचार्यचरण जीवन्मुक्ति का आनन्द लेने हेतु मन के कारण अस्मिता के साथ उसे बुद्धि (महत्) से नियन्त्रित बताते हैं। यह योगशास्त्र की प्रक्रिया है। अतएव आगे **'वाद विवाद मिटाओ आपा'** इस मात्रा में आपा (अस्मिता अहंकार) को मिटाने की बात कर रहे हैं। अहंकार मिट जायेगा, वह सर्वथा प्रभावहीन होकर जीवनमुक्ति सुख की प्राप्ति में सहायक होगा। नाश तो उसका बुद्धि के लय के साथ ही होगा। मन भी अभी जीवित है। उसका लय नहीं हुआ है। अतएव 'वाद विवाद मिटाओ आपा' इस मात्रा के तुरन्त बाद मन, अहंकार (चित्त) और बुद्धि तीनों की सत्ता को बताने हेतु आचार्यचरण, तीन मात्राएँ योग की विशिष्ट अवस्थाओं को द्योतित करने हेतु बोलते हैं तथा उसके बाद जीवन्मुक्ति की चर्चा

भी करते हैं। यह तथ्य आगे वर्णित किया जायेगा। यह तीन मात्राएँ निम्न हैं— **प्रीति पितम्बर मन मृगछाला, चित्त चिदम्बर रुनझुन माला, बुद्धि बघम्बर, कुलह, पोस्तीन।**

यहाँ तक बुद्धि का अवस्थान स्वीकार कर अगली मात्रा **'खौस खड़ावा इह मतिलीन'** में बुद्धि का लय बतलाते हैं। बुद्धिलय के साथ मन का भी प्रधान में लय होता है। यह पूर्व में वर्णित किया गया है।

अतः **'निर्वैर सन्ध्या'** इस मात्रा में सन्ध्या शब्द बुद्धि का वाचक है, यह कहना चाहिए। **'सम्यग् ध्यायन्त्यनया इति सन्ध्या'** इस व्युत्पत्ति में सम्यग् ध्यान के साधन को सन्ध्या शब्द कहेगा। आतश्चोपसर्गे सूत्र से अङ्प्रत्यय और टाप् करके 'सन्ध्या' शब्द सिद्ध होगा। बुद्धि, सत्त्व पुरुष की अन्यता को बता रही है, यही उसकी सम्यग् ध्यानसाधनता है। मन इस समय निर्वैर होकर अपनी गति को छोड़कर पूर्णतः बुद्धि के नियन्त्रणाधीन है, अतः बुद्धिरूप ही है। यह औपचारिक अभेद इस मात्रा से बोधित होता है और निर्वैर मन ही सम्यग् ध्यान के साधन बुद्धि के रूप में बोधित हो रहा है। मानो निर्वैर मन ही सम्यग् ध्यान का कारण है।

वैर हृदय का ऐसा भाव है जिसमें प्राणी अपने वैरी के मरने के बाद भी जलता रहता है। इस भाव को समाप्त करने के लिए शास्त्रकारों ने **'आमरणान्तानि वैराणि'** मरण वैर की सीमा है, ऐसा कहा। वैर अन्तःकरण की अशुचिता को सूचित करता है; क्योंकि राग-द्वेषादि के न होने पर वैर हो ही नहीं सकता। अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर साधक के सन्निधान में हिंस्र जीव भी वैर का त्याग करते हैं। यह तथ्य **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** (2/35) इस योगसूत्र में प्रतिपादित है। इससे यह सूचित होता है कि अहिंसा प्रतिष्ठित होने के पहले वैर का भाव नहीं जाता, अर्थात् निर्वैरता की स्थिति पूर्ण रूप से अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर ही आती है। जब तक राग-द्वेषादि बने रहते है मन, वचन तथा कर्म से मनुष्य हिंसक बना रहता है। अतः अहिंसा के प्रतिष्ठित होने का आशय है सर्वथा रागद्वेषादिशून्यता को प्राप्त होना। संसार से पूर्णतः वैराग्य तभी होता है जब व्यक्ति परमात्मा में लीन हो जाता है, उसका मन समाप्त हो जाता है। इस अमनीभाव की स्थिति में वह पूर्ण निर्वैर तथा विरागी

होता है। यही निर्वैर सन्ध्या है। परमात्मा की प्राप्ति के अनन्तर 'निर्वैरता' साधक का स्वभाव बन जाती है। परमात्मा की रूप-माधुरी का सन्दर्शन उसे जगत् की रूप-ज्वाला की लपटों से बचाता है। परमात्मा की प्राप्ति के पहले भी वह नामासक्ति एवं धामासक्ति के कारण जगत् की उपेक्षा करता ही है। किन्तु अब निर्वैरतारूपी सन्ध्या का अनुष्ठान वह स्वाभाविक रूप से करता रहता है।

दर्शन छापा

'दर्शन' शब्द गोरखबानी में ब्रह्म के दर्शन, ब्रह्म साक्षात्कार या ब्रह्म का वाचक है, यह कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में निम्न सबदी द्रष्टव्य है—

दरसण माई दरसण बाप, दरसण माहीं आपै आप।
या दरसण का कोई जाणै भेव, सो आपै करता आपै देव॥

(सबदी, 272, गो.बानी, पृ. 103)

दरसण (दर्शन ब्रह्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म) ही माई (माता) है, दरसण ही बाप है, अर्थात् दर्शन ही सब कुछ है; क्योंकि वह दरसण (दर्शन) ब्रह्मरूप है। अतएव आगे 'दरसण माही आपै आप' कह कर यह बताया गया है कि दरसण में हो जाने पर, ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर, मन के संसार से हटकर ब्रह्म में ही लग जाने पर आप ही आप रह जाता है, केवल व्यापक ब्रह्म ही रह जाता है। आप्लृ व्याप्तौ धातु से निष्पन्न 'आप' शब्द, व्यापक ब्रह्म का बोधक है। यह सब कुछ पदार्थ जो दिखाई दे रहे हैं, सब ब्रह्म ही है, इस तथ्य को आगे स्पष्ट किया गया है। इस दर्शन के भेद को जो कोई जानता है, दर्शन से होने वाले विदारण (भिदिर विदारणे धातु से भेद शब्द बनता है, जो ब्रह्मदर्शन से होने वाली माया की निवृत्ति माया के नाश, विदारण को कहता है) को जानता है, वह अपने आप ही कर्ता है अर्थात् ब्रह्म का सोपाधिक रूप जिसमें कर्तृत्व आदि धर्म रहते हैं, वह स्वयं है तथा देव स्वप्रकाश निरुपाधिक ब्रह्म भी वही है। अतः ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, यह स्पष्ट है।

परिशिष्ट के पद में भी दर्शन को ब्रह्मपरक कहा गया है—

अवधू भ्रम सोई जिहि ब्यापै संसा,
धरम सोई दरसण आदेसा।

निसचल सोई जो ल्यौ स्यूं रहै,
अधरम सोई जो मिथ्या कहै ॥28॥

(परिशिष्ट, गो.बानी, पृ. 249)

दत्तात्रेय जी कहते हैं कि हे अवधूत भ्रम वही है, जिससे संशय व्याप्त हो, धर्म वही है, जो दर्शन या आदेश रूप ब्रह्म को प्राप्त करा दे। 'दर्शन' शब्द का अर्थ ब्रह्म है, यह स्पष्ट करने के लिए दरसण को 'आदेश' कहा गया; क्योंकि **'उत तमादेशमप्राक्ष्यः'** (छा.उप. 6/1/2), **'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति'** (छा.उप. 6/1/3)–श्वेतकेतु के पिता ने उससे पूछा क्या तुमने उस आदेश (केवल शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से प्राप्त होने वाले ब्रह्म) को गुरु से पूछा, जिससे न सुनी गयी वस्तु भी श्रुत हो जाती है, उसका ज्ञान हो जाता है, जो अतर्कित (अमत) वस्तु है, वह भी तर्कित हो जाती है, अतर्कित का भी ज्ञान हो जाता है, जिससे अविज्ञात वस्तु भी विज्ञात हो जाती है (अनिश्चित वस्तु भी निश्चित हो जाती है। इस प्रकार अन्य के विज्ञान से अन्य के विज्ञान का संकेत मिलने पर श्वेतकेतु, इसे अप्रसिद्ध मानते हुए पुनः प्रश्न करता है। हे भगवन्! वह आदेश किस प्रकार का है? इस प्रकार 'धरम सोई दरसण आदेसा' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, जो धर्म या सबके अवस्थान का साधन है, जिसमें सब कुछ रहता है, वही दरसण रूप आदेश है। आगे निश्चल वही है, जो दीपक की न हिलने वाली 'लौ' की तरह रहता है तथा मिथ्या कथन ही अधर्म (प्रधान अधर्म) है, यह बताया गया है।

इसी दर्शन को आचार्यचरण ने 'छापा' शब्द से कहा है। वैष्णव सन्त अपने शरीर पर भगवान् विष्णु के शंख-चक्र आदि आयुधों को अङ्कित कराते हैं। अन्य लोग भी अपने आराध्य का अंकन कराते हैं। इसका प्रयोजन यही है कि भगवान् के इन आयुधों को देखकर हम निरन्तर भगवान् का स्मरण करते रहें। इन आयुधों से भक्तों के शरीर और मन दोनों की रक्षा होती है। यह विश्वास है। यह कथा प्रसिद्ध है कि 'अम्बरीष' और 'राजा बलि' की रक्षा हेतु प्रभु ने 'सुदर्शन-चक्र' को नियुक्त कर रखा था। श्रुति में यह प्रतिपादन है कि **'नाऽतप्ततनुः पश्यति'** जिसने तप नहीं किया है वह प्रभु का साक्षात्कार नहीं करता। इस श्रुतिवाक्य का अर्थ 'जिसने शङ्ख-चक्र आदि धातुनिर्मित आयुधों से

शरीर को तपाया नहीं है, चिह्नांकित नहीं किया है, वह भगवत्साक्षात्कार नही कर पाता' इत्यादि रूप में स्वीकार करके आयुधों के शरीर पर अङ्कन की परम्परा चली है, यह कहा जा सकता है।

आचार्यचरण का कथन है कि इन लौकिक छापों को धारण करने पर त्रिशूलधारी शैव तथा चक्रधारी वैष्णव में विवाद की सम्भावना रहती है, विवाद होते भी रहते हैं। किन्तु इस दर्शनरूपी छापा को धारण करने पर आपसी विवाद स्वतः समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि इस स्थिति में आने पर शैव एवं वैष्णव का भेद नहीं रह जाता। वहाँ तो विष्णुभक्त को भी शिव का तथा शिवभक्त को भी विष्णु का दर्शन होता है, तभी तो भक्त कहते हैं—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं बृहन्तं
सञ्चिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम्।
तावद् बलात्स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्ज मञ्जु॥

अर्थ स्पष्ट है—सकल जगत् में स्फुरणशील निरञ्जन पुरुष का चिन्ता करने वाले निर्गुण भक्त को गोपशिशु श्रीकृष्ण का बलात् दर्शन होता है।

पञ्चाक्षरी मन्त्र का जप करने वाले सगुणोपासक शिवभक्त को भी श्रीकृष्ण का दर्शन होता है।

शैवा वयं न खलु तत्र विचारणीयं
पञ्चाक्षरीजपपरा नितरां तथाऽपि।
चेतोऽस्मदीयमतसीकुसुमावभासं
स्मेराननं भजति गोपवधूकिशोरम्॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम् 2/22)

अर्थ स्पष्ट है—हम शैव हैं, शिवपञ्चाक्षर मन्त्र का निरन्तर जप भी करते हैं, तथापि हमारा चित्त हासपरक श्रीकृष्ण की ही सेवा करता है। यह समन्वय की दृष्टि है, जिसमें कृत्रिमता नहीं स्वाभाविकता है, जिससे स्पष्ट होता है कि शिव एवं कृष्ण में भेद नहीं है। आचार्यचरण इसी दर्शनरूपी छापा को धारण कर वाद-विवाद को मिटाना चाहते हैं। केवल शब्दज्ञानसम्पन्न विद्वान् शास्त्र की

अधिकारी भेद से व्यवस्थित मर्यादाओं का सम्बल पाकर भक्तिरस से अस्पृष्ट होने के कारण अपनी तर्कशक्ति से जो व्यवहारार्थ विभिन्न मत कल्पित किए हुए हैं, उनका शमन भगवद्दर्शन होने के बाद अपने आप हो जाता है। केवल यह परस्पर विरोधी वाग्विलास ही नहीं समाप्त होता; परन्तु इसका मूल अहंकार भी समाप्त हो जाता है, जिसे 'वादविवाद मिटाओ आपा' इस मात्रा में सङ्केतित किया गया है।

योगशास्त्र की दृष्टि से सत्त्व (बुद्धि) एवं पुरुष की अन्यता का प्रकाशन **'दर्शन छापा'** यह मात्रा कर रही है। मात्रा का लौकिक अर्थ 'छापा' शब्द की दृष्टि से यह कहा जा सकता है—'दर्शन ही हमारा छापा है'। अतएव आचार्यचरण महात्माओं को यह सङ्केत दे रहे हैं कि सत्त्व एवं पुरुष के अन्यता का ज्ञान (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) ही हमारा छापा है। अन्तर केवल यह है कि यह छापा हमारे पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर पर नहीं, मन पर अङ्कित है। महात्मवृन्द अपने आराध्य देव शिव, विष्णु आदि के त्रिशूल, चक्र आदि आयुधों का अथवा राम-कृष्ण-हनूमान् आदि के विग्रहों का अपने शरीर पर अंकन करते थे। यह उनकी देवनिष्ठा या देवताविशेष के प्रति समर्पण का प्रतीक होता था। शरीर के बाहु आदि अंगों में किए जाने वाला यह अंकन (छापा) जल्दी नहीं मिटता था; किन्तु कालक्रम से धूमिल तो होता ही था। किन्तु आचार्यचरण का 'दर्शन' रूप 'छापा' या अंकन कभी मिटने वाला नहीं है। इसे मन की स्थितिपर्यन्त रहना है।

यह दर्शन क्या है? इसे हम योगसूत्र (2/23) **'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः'** के भाष्य पर विचार कर विशेष रूप में जान सकते हैं। वैसे तो सम्पूर्ण योगसूत्र में इसकी चर्चा व्यापक रूप से है। क्योंकि **'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'** ही योगशास्त्र का प्रमुख लक्ष्य है। अतएव **'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'** (यो.सू. 1/4) के भाष्य में **'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'** यह सूत्र उद्धृत है। अस्तु, प्रकृत सूत्र-भाष्य का जो वाक्य हम इस मात्रा के प्रसंग में विवेचित करना चाहते हैं, वह है—**'तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति, तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेव दर्शनमवभासते'** (भाष्य, यो.सू. 2/23)।

प्रकृत सूत्र-भाष्य में प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट रूप में प्रतिपादित है कि पुरुष (चेतन) स्वामी है तथा वह दृश्य प्रपञ्चरूप स्व (धन) के साथ 'दर्शन' के लिए संयुक्त है। इसी संयोग के कारण दृश्य की उपलब्धि होती है, जिसे भोग कहते हैं। पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि को मोक्ष कहते हैं। दृश्य एवं पुरुष का संयोग तब तक रहता है, जब तक दर्शन (पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि) नहीं हो जाता। दर्शन हो जाने पर यह संयोग निवृत्त हो जाता है। बुद्धि आदि से विविक्त (अलग किये गये) आत्मा का स्वरूपतः अवस्थान (रहना) ही मोक्ष है और इसका साधन अदर्शन (अविद्या) की निवृत्ति है। दर्शन के होने पर, बन्धन के कारण अदर्शन या अविद्या की निवृत्ति होती है, अतः दर्शन को कैवल्य का कारण कहा जाता है। इस प्रकार दर्शन, पुरुष के स्वरूप का ज्ञान अविद्यानिवृत्ति के द्वारा मोक्ष का कारण कहा जाता है, कारणता तो अविद्यानिवृत्ति में ही है।

प्रकृतभाष्य-वाक्य की व्याख्या करें तो कह सकते हैं कि यह दर्शन, (पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि) दृश्य (बुद्धि) का धर्म है, अतः पुरुष का अनात्मभूत है। पुरुष का अस्वरूपभूत होकर पुरुष से वस्तुतः वह सम्बद्ध नहीं है; किन्तु पुरुष प्रत्यय या 'चैतन्य छायापत्ति' के बिना दर्शन के न होने से वह पुरुष धर्म की तरह प्रतीत होता है। इसी को 'धर्मत्वेनेव' में इव शब्द से कहा गया है। यही है 'चैतन्य छाया' जो बुद्धि में आपादित है, प्रकृत में 'दर्शन छापा' इस मात्रा में छापा शब्द से विवक्षित है।

इस स्थिति को मात्रा में आचार्यचरण स्पष्ट करना चाहते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि जैसे छापा में अपने इष्ट के भौतिक विग्रह को भक्त अपने शरीर पर अंकित कर लेता है, उसी प्रकार दृश्य बुद्धि का धर्म, दर्शन (सत्त्व पुरुष की अन्यता या भेद प्रत्यय का जिसे पुरुष की उपलब्धि कहा जा रहा है (क्योंकि पुरुष को बुद्धि से अलग नहीं समझा जा रहा है), पुरुष में आरोप है। इसी को भाष्य में **'पुरुषधर्मत्वेनेव दर्शनमवभासते'** इस शब्द से कहा गया है। इस प्रकार बुद्धि में जो दर्शनरूप विशेष आया है, बुद्धि को पुरुष की उपलब्धि पृथक् रूप में हुई है, वही छापा है, जो चर्मचक्षुगोचर नहीं है। यह **'दर्शन छापा'** इस मात्रा का आशय है। यह छापा ऐसा है, जो न मलिन होता है न मिटता है।

वाद-विवाद मिटाओ आपा

इस दर्शन के बाद क्रमशः 'आपा' (अस्मिता/अहंकार) मिटता है। अतएव 'दर्शन छापा' के अनन्तर 'वाद विवाद मिटाओ आपा' इस मात्रा का उल्लेख है। आचार्यचरण का यह आशय है कि अदर्शनरूप अविद्या के निवृत्त हो जाने पर अर्थात् तत्त्व के प्रकाशित होते ही वाद-विवाद अपने आप मिट जायेंगे। यह कैसे होगा—इस पर विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि अब तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने से तत्त्व को जानने की इच्छा से 'तत्त्वबुभुत्सुकथा' (तत्त्व को जानने की इच्छा वालों का विचार) रूप वाद में प्रवृत्ति नहीं होगी तथा केवल विरुद्ध वदनरूप विवाद जो 'वितण्डा' कथा को इङ्गित करता है, भी समाप्त हो जायेगा; क्योंकि अब शब्दों में उलझने का समय नहीं रह गया, अब तो समाधि का आनन्द प्राप्त करने का समय है।

इन सबका मूल तो आपा या अहंकार है, उसके अभाव में मन, शरीर या वाणी का स्पन्दन भी नहीं हो सकता, अतः आचार्यचरण का सङ्केत है कि इस दर्शनरूप 'छापा' से आपा ही मिट जायेगा, जो वाद-विवाद का मूल है। अतः वाद-विवाद सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेंगे।

योगशास्त्र की प्रक्रिया में 'आपा' अस्मिता या अहंकार है, जो मन का कारण है। पूर्व में अनेकत्र वर्णित मनोलय की प्रक्रिया में हम देख चुके हैं कि मन अपने कारण अस्मिता में लीन होता है। अस्मिता का बुद्धि में लय होता है और शरीरपात के साथ बुद्धि का प्रधान में लय होता है। किन्तु यह सब कुछ भक्ति के बिना नहीं होता; क्योंकि इसमें पुरुष का प्रयत्न कारण नहीं है। इसे हम सप्तधा प्रान्त भूमि प्रज्ञा के विचार प्रसंग में कह चुके हैं। अतः भक्तिसमन्वित योग के क्रम को यहाँ इन मात्राओं में व्यक्त किया गया है।

गोरखबानी में काम, क्रोध और अहंकार को मिटाने हेतु सामान्यरूप से उपदेश मिलता है—

नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ करि राषहु चीया।
काम क्रोध अहंकार निबारौ तो सबै दिसंतर कीया॥

(सबदी 29, गो.बानी, पृ. 31)

गोरखनाथ का उपदेश है कि हे अवधूत तुम चित्त को स्थिर रखो, काम क्रोध और अहंकार का निवारण करो, तो सभी स्थान देशान्तर हो जायेगे। स्पष्ट है कि काम, क्रोध आदि के रहते कहीं जाने पर भी शान्ति नहीं मिलेगी। भ्रमण व्यर्थ होगा।

इसी पृष्ठ पर एक और सबदी में 'गर्व' न करने तथा सहजभाव से बोलने और चलने का परामर्श मिलता है—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चालिबा धीरै धारिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरष रावं॥

(सबदी 27, गो.बानी, पृ. 31)

गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि अचानक आक्रामक होकर नहीं बोलना चाहिए, अहंकार में पैर पटकर नहीं चलना चाहिए, पैर को शनैः शनैः रखकर सहजता से चलना चाहिए। गर्व न कर सहजभाव से रहना चाहिए।

इस प्रकार अहंकार को मिटाने हेतु, दैनन्दिन जीवन में निरन्तर प्रयास करने का उपदेश गोरखबानी में प्राप्त होता है। किन्तु 'वाद विवाद मिटाओ आपा' इस मात्रा में ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद अहंकार (आपा) की अपने-आप समाप्ति होती है, यह स्पष्ट किया गया है।

प्रीति पितम्बर मन मृग छाला

पूर्व मात्रा में वाद-विवाद को मिटाने का उपदेश दिया गया है। किन्तु वाद-विवाद के मूल कारण अहंकार को मिटाए बिना वाद-विवाद का मिटाना सम्भव न होने से जिस अहंकार (आपा) से प्रेरित होकर वाद-विवाद में प्रवृत्ति होती है, उसको भी निर्मूल करने हेतु उपदेश विगत मात्रा में दिया गया है। यह 'आपा' या 'अहंकार' अन्तःकरण (मन) की एक वृत्ति है, एक अवस्थाविशेष है। अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ होती हैं, जिन्हें मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार शब्दों से कहा जाता है।

मनुष्य शरीर में ज्ञान के बाह्य साधन तथा आन्तर (भीतर का) साधन के भेद से दो प्रकार की इन्द्रियों की उपलब्धि होती है। आन्तर साधन, मनरूप करण है तथा बाह्य साधन चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-रसन-त्वग् रूप में व्यवस्थित पाँच

इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रिय शब्द का अर्थ होता है, परम ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (इन्द्र) के द्वारा बनाया गया। इन्द्रियों की सृष्टि परमात्मा ने विषयोपभोग के लिए की है। अतएव गीता में कहा गया है—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

(गीता 15/9)

श्रोत्र, चक्षु, स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय), रसना तथा घ्राण एवं मन को नियन्त्रित करके यह देह इन्द्रिय आदि के समूह का स्वामी जीव विषयों का उपसेवन करता है। विषयों का सेवन शरीर से सम्बन्ध के बिना नहीं होता। अतएव अग्रिम गीता-श्लोक में कहा गया है—'जो भी शरीर यह ईश्वर इन्द्रियों तथा मन का नियन्ता प्राप्त करता है अथवा जिस शरीर को यह छोड़ता है, वहाँ से इन इन्द्रियों को साथ लेकर उसी प्रकार जाता है, जैसे वायु गन्धयुक्त द्रव्यों से गन्ध लेकर जाता है'।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

(गीता 15/8)

स्पष्ट है कि यह उत्क्रमण तथा मन एवं ज्ञानेन्द्रियों के साथ पुनः शरीर की प्राप्ति, किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए होती है। यह प्रयोजन क्या है? इस पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि भोगायतन शरीर की प्राप्ति भोग के द्वारा कर्मों का क्षय करने के लिए होती है और मन तथा अन्य इन्द्रियाँ इसमें साधन (करण सहायक) बनती हैं। इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं यह तो अनुभूत है ही, यह भी अनुभव में आता है कि भोग के लिए अक्षम शरीर को इन्द्रियाँ मृत्यु के पहले छोड़ना आरम्भ कर देती हैं। हम देखते हैं कि स्वाभाविक मृत्यु के पहले प्रायः व्यक्ति में बोलने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। इससे यह स्पष्ट होता है कि भोगायतन शरीर और इन्द्रियाँ भोग के लिए हैं। भोग क्षीण होने के बाद यह अपवर्ग के साधन बनते हैं। अस्तु, सवासन मन वाला जीव विषयोपभोग-पटु इन्द्रियों के साथ, नाना योनियों में विभिन्न शरीरों को प्राप्त करता हुआ, भोग के द्वारा कर्मों का क्षय करता है, यह तथ्य पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण,

मन एवं बुद्धि के उत्क्रमण एवं स्थूल शरीर-प्राप्ति को सूचित करता है, जिसे **'गुरु का भेजा नगरी आया'** इस मात्रा में स्पष्ट किया गया है। इन्द्रियों का मन के साथ गमन तभी तक होता है, जब तक मन में भोग की वासना होती है। अतएव 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ.उप. 4/4/6) इस श्रुति में ब्रह्मवित् (ज्ञानी) पुरुष के प्राण का उत्क्रमण नहीं होता, यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मवित् महापुरुषों का मन वासनारहित होता है, यह तथ्य **'विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः'** (मु.उप. 3/2/8)—'अपने स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी नामरूपात्मक प्रपञ्च से सर्वथा मुक्त हो जाता है' इस श्रुति तथा **'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः'** (ग.पु., अ. 237, श्लो. 6) 'पापकर्म का क्षय होने पर जीव को ज्ञान होता है' इस वचन से भी प्रमाणित होता है। ज्ञानी नामरूपात्मक प्रपञ्च से मुक्त होता है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को जागतिक पदार्थों में सत्यत्व, प्रियत्व आदि की प्रतीति नहीं होती है, वह यह जान जाता है कि सत्य एवं प्रिय आत्मा ही है। आत्मा के सम्बन्ध[112] के कारण जागतिक वस्तुएँ सत्य एवं प्रिय रूप में प्रतीत हो रही हैं। इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति से वासना का अभाव लक्षित होता है तथा जब तक वासना है, तब तक सूक्ष्म शरीर की स्थूल शरीर प्राप्ति रूप जन्म की परम्परा भी चलती रहती है, यह भी सूचित होता है?

अस्तु, इस परम्परा से मुक्ति कैसे पायी जाय? भोग की पिपासा को शान्त करने के लिए विषय-मृगतृष्णा से प्रेरित होकर निरन्तर गतिशील जीव कैसे विराम प्राप्त करे? जन्म-मरण की परम्परा कैसे समाप्त हो? इत्यादि जिज्ञासाओं के समाधान का उपक्रम साधनोपन्यासपुरस्सर, **'प्रीति पितम्बर मन मृग छाला'** इस मात्रा से आचार्यचरण ने किया है। लौकिक दृष्टि से तो इन मात्राओं में उन्होंने पीताम्बर, मृगचर्म (मृगछाला), चिदम्बर (चित्राम्बर) कई प्रकार के रंगों वाला विचित्र वस्त्र जिसे सन्त फेंके गये विकारभूत वस्त्रों से 'गोदड़ी की तरह' तैयार कर लेते थे, माला, बाघम्बर, कुलह (ऊँची टोपी) पोस्तीन, रोयेंदार वस्त्र एवं चर्म का बना कोट आदि की चर्चा की है; किन्तु यह चर्चा केवल दृष्टान्त के रूप में है, जिससे हम आध्यात्मिक रहस्य को समझ सकें।

'प्रीति पितम्बर मन मृग छाला' इस मात्रा में विषयपरायण मन को 'मृग' की उपमा दी गयी है तथा उसका क्षालन या शुद्धि पीताम्बर हरि की प्रीति से होती

है, यह भी व्यक्त किया गया है। मन को शुद्ध करना ही उसका पालन या रक्षा है। 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' इस धातु से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करने पर 'प्रीति' शब्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार 'प्रीति' शब्द का अर्थ कान्ति या इच्छा रूप धात्वर्थ की अनुगति से पीताम्बर हरि को प्राप्त करने की इच्छा होगा। अन्य इच्छाओं को तिरस्कृत कर केवल प्रभु की प्राप्ति की इच्छा मात्र के ही रह जाने पर मन अत्यधिक शुद्ध हो जाता है।

हमारी भक्ति से (भगवद्विषयक अनुराग से) समदर्शी प्रभु में 'यह मेरा है' (अयं मदीयः) इस प्रकार का भाव उत्पन्न होता है और भगवान् उसी रूप में हमारे हो जाते हैं। यही भाव की तीव्रता उन्हें अर्जुन का सारथी बनाती है, यशोदा का पुत्र बनाती है, ग्वालों का सखा बनाती है। तभी तो प्रभु ने गीता में कहा है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता 4/11)—जो जिस रूप में हमारा भजन करता है, उसी रूप में मैं उसको भजता हूँ। जो जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए मेरा भजन करता है, मैं उस प्रयोजन की सिद्धि कराकर उसके ऊपर अनुग्रह करता हूँ। स्पष्ट है कि हम भाव की उपासना करते हैं, तीव्रानुराग से भक्त, प्रभु से पुत्र रूप में आने की प्रार्थना करते हैं और प्रभु पुत्र बनते हैं। शरीर धारण के द्वारा सारथ्य आदि कर्म स्वीकार कर हमारी इच्छा पूर्ण करते हैं। किन्तु जब हमारी कोई इच्छा नहीं होती तब हमारी उपासना से भगवान् को अत्यधिक तृप्ति होती है। क्योंकि उस समय हम केवल उन्हें चाहते हैं। यही तृप्ति कारक प्रीति वास्तव में प्रीति है, जिसकी चर्चा आचार्यचरण मन मृग के क्षालन के लिए कर रहे हैं। इस तृप्ति से साधक के मन की वासना दूर होती है; क्योंकि वासना के दूर हुए विना भगवान् के साकेत आदि धामों की प्राप्ति अथवा उनके सान्निध्य, सारूप्य आदि की भी प्राप्ति नहीं होती, एकत्व की प्राप्ति की तो कोई सम्भावना नहीं है।

किसी इच्छा के न होने पर उपासना से, भगवद्विषयक अनुराग से, मन की शुद्धि होती है। इस तथ्य को हम किसी पात्र में स्थापित अग्नि के दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जैसे पात्र में स्थित तृण आदि से आच्छन्न अग्नि, तृण-काष्ठ आदि को जलाने के बाद पात्र को जलाती है, उसी प्रकार तेजोमय प्रभु के विग्रह का हृदय में ध्यान करने पर पहले तृण आदि की तरह तुच्छ कामनाओं की पूर्ति

होती है; किन्तु कामना-पूर्ति के अनन्तर अथवा कामना के न होने पर पात्र में उष्णता एवं दाह सम्पत्ति की तरह वासनाओं का नाश होता है। अतएव श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

(श्रीमद्भाग. 11/14/25)

जैसे अग्नि के सम्पर्क में स्वर्ण पहले अपने मल (स्वान्तर्गत अशुद्धि) का त्याग करता है; किन्तु बाद में निरन्तर हो रहे तीव्र अग्नि-संयोग से उसके शुद्ध स्वरूप का प्राकट्य होता है, उसी प्रकार आत्मा (मन) भी मेरी भक्ति के योग से (मेरी भक्ति के आने पर) मुझे प्राप्त कर लेता है। भगवान् की वास्तविक भक्ति निष्काम भक्ति ही है, जिससे वे अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। अतएव प्रह्लाद ने कहा है—

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

(श्रीमद्भाग. 7/7/52)

भगवान् केवल अमला भक्ति से, निर्व्याज प्रेम से प्रसन्न होते हैं, पूजा के उपचार तथा सम्भार आदि भगवत्-प्रीति के जनक नहीं हैं। अतएव 'हरये रोचते भक्तिः' इस वाक्य के द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि समदर्शी प्रभु के प्रति भक्त के हृदय में रहने वाले, अनन्यानुराग के कारण, भक्त के ऊपर भगवान् का जो अनुग्रह होता है, वह प्रीति के कारण होता है। उससे उनमें (भगवान् में) वैषम्य की प्रतीति होती है। वस्तुतः तो उनमें 'वैषम्य-नैर्घृण्य' नहीं है, यह तथ्य **'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति'** (ब्र.सू. 2/1/34) इस ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित किया गया है।

पीताम्बर प्रभु से प्रेम करने पर मन मृग की शुद्धि तो होगी, किन्तु हमें भगवदनुग्रह की प्रतीक्षा करनी होगी। जब हमारे आचरण से भगवान् में हमारे

प्रति पराकाष्ठा का अनुराग होगा, तब हमारे मन की शुद्धि होगी, तब वे हमें अपनायेंगे, यह प्रक्रिया समय सापेक्ष है। अतएव भागवत में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः
भुञ्जान एवाऽऽत्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन् नमस्ते
जीवेद् यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
(श्रीमद्भागवत 10/14/8)

आपकी अनुकम्पा की समीक्षा के द्वारा सुख एवं दुःख दोनों को आपका कृपाप्रसाद मानकर अपने कर्मों का ही भोग समझते हुए, हृदय, वाणी और शरीर से आपको सर्वदा नमस्कार करते हुए जो जीवन-यापन करता है, वही मुक्ति प्राप्त करता है। अनुकम्पा की सुसमीक्षा करने का आशय श्रीधर स्वामी ने उसको मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हुए उसकी प्रतीक्षा तथा अत्यधिक तप आदि के द्वारा शरीर को क्लेश न पहुँचाना कहा है।

अस्तु, पीताम्बर प्रभु की कृपा से मन मृग का क्षालन होगा अर्थात् मन अपना मृगत्व छोड़ देगा। विषयों का अन्वेषण छोड़ना ही मृगत्व का त्याग है, प्रभु का चिन्तन करने वाला मन ही मृगत्व छोड़ता है। पीताम्बर प्रभु से प्रेम करना चाहिए। मन त्रिगुणात्मक माया का कार्य होने से त्रिगुणात्मक है। जब रजोगुण एवं तमोगुण अभिभूत हो जाते हैं तथा सत्त्व गुण का उद्रेक होता है, उस समय मन संसार से उपराम होता है, विषयों का त्याग करता है तथा सत्त्व की प्रधानता में वह सात्त्विक विषयों का ही ग्रहण करता है। मन में सत्त्व गुण का प्राधान्य होने पर ज्ञान होता है। अतएव गीता में कहा गया है—**'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्'** (भगवद्गीता 14/17) सत्त्व गुण से ज्ञान होता है; किन्तु ज्ञान की प्राप्ति हेतु भगवान् शङ्कर की कृपा अपेक्षित होती है—**'विद्याकामस्तु गिरिशम्'**–विद्या प्राप्ति की कामना हो, तो गिरिश (शंकर) की पूजा करनी चाहिए (श्रीमद्भाग. 2/3/7)। ज्ञान की इच्छा से शंकर का भजन करना चाहिए। यह भागवत-वाक्य इस तथ्य को पुष्ट करता है। यहाँ गिरिश को चिदम्बर के नाम से स्मृत किया जा रहा है। पूर्व मात्रा में विष्णु को भी 'अम्बर' घटित पीताम्बर नाम से स्मृत किया गया है। आगे बघम्बर में भी अम्बर का प्रयोग है। **'अम्बं शब्दं राति ददाति'**–

जो शब्द को देता है, वह अम्बर है। इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न अम्बर शब्द, शब्द को देने वाले या शब्द के आश्रय आकाश को कहता है। वेदान्तशास्त्र में सृष्टि की वर्णित प्रक्रिया में पञ्चीकृत आकाश में शब्द की उत्पत्ति बतलाई जाती है। इस प्रकार आकाश शब्द का आश्रय बनता है; किन्तु यह शब्द कैसा है? इस पर विचार करें तो किसी के द्वारा उच्चरित यह शब्द है, यह तथ्य निर्धारित नहीं हो पाता। अतः यह कहना चाहिए कि सृष्टिकर्ता प्रभु की इच्छा से, उनके संकल्प से सूक्ष्म शब्द की अभिव्यक्ति होती है। यह सुमधुर शब्द बाह्य जगत् से सम्पृक्त श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने वाला नहीं है। यह तो हरि की भक्ति से वासनारहित अवस्था को प्राप्त मन से विषय से उपरत श्रोत्र से ही गृहीत होगा। अतः यह अनाहत नाद की ही अवस्था विशेष है, जिसे 'रुणझुण माला' कहकर व्यक्त किया गया है। तीनों मात्राओं में अम्बर शब्द का प्रयोग कर आचार्यचरण इनके प्रतिपाद्य अर्थ को अनाहत नाद से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध बताना चाहते हैं, यह कहा जा सकता है। अनाहत शब्द अक्षर परमात्मा का ही है, उसी की प्रेरणा से हो रहा है; क्योंकि वही पृथिवी से आकाशपर्यन्त सभी भूतों को धारण करता है। यह तथ्य **'अक्षरमम्बरान्तधृतेः'** (ब्र.सू. 1/3/10) में प्रतिपादित है। यद्यपि सृष्टिक्रम में आकाश पहले उत्पन्न होता है, तथापि प्रलयक्रम में वह सबसे पीछे अपने कारण अव्यक्त में लीन होता है। पृथिवी आदि सबसे सूक्ष्म है। अतः सूक्ष्मता क्रम के कारण अम्बरपर्यन्त भूतों को अक्षर परमात्मा धारण करते हैं, यह प्रतिपादित है।

मन-ज्ञाने, मनु अवबोधने दोनों धातुओं से 'मन' शब्द, मन्यते अनेन इस व्युत्पत्ति में बनता है तथा ज्ञान या अवबोध के साधन का वाचक है। यह मन जब तक वासनारहित होकर शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक लौकिक पदार्थों के ज्ञान का साधन रहता है, किन्तु वासनारहित होने पर यही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार का भी साधन बनता है। अतएव आगे **'खौस खड़ावां इह मीति लीन'** इस मात्रा में मन के लीन होने पर समाधि में आत्मसाक्षात्कार का वर्णन भी है।

चीत चितम्बर रुणझुण माला

'अनाहत' शब्द की प्राप्ति या उसके श्रवण का ब्रह्म साक्षात्कार से सम्बन्ध है। अनाहतनाद की प्राप्ति के बाद ब्रह्म-प्राप्ति होती है। अतएव गोरखबानी में कहा गया है—

सबद बिंदौ रे अवधू सबद बिंदौ थांन मांन सब धंधा।
आतमां मधे प्रमातमां दीसै ज्यौं जल मधे चंदा॥

(सबदी 125, गो.बानी, पृ. 64)

हे अवधूत शब्द को प्राप्त करो, शब्द को प्राप्त करो। स्थान प्राप्त करना तथा सम्मान प्राप्त करना धंधा है। शब्द की प्राप्ति से तुम जानोगे कि आत्मा में परमात्मा वैसे ही दिखाई देता है, जैसे जल में चंदा दिखाई देता है। जल अधिक स्थान में है, अतः उसके भीतर दिखाई देने वाला चन्द्रमा छोटा है। इसी प्रकार आत्मा व्यापक होने से ब्रह्म है तथा परिच्छिन्न होने से 'चन्द्रमा' के रूप में परमात्मा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार 'अनाहत' शब्द को परमात्मा की प्राप्ति का सूचक कहा जा रहा है।

सिष्या दरसन में भी एक पद ऐसा मिलता है—

नाद अनाहद निहसबद बांणी। जीव थैं सीव होइबा प्राणी।

(गो.बानी, पृ. 179)

अनाहत नाद शब्द रहित वाणी है, इसके प्राप्त हो जाने पर प्राणी जीव से शिव (ब्रह्म) हो जाता है। यहाँ भी अनाहत शब्द को ब्रह्म प्राप्ति का सूचक कहा गया है।

गोरखबानी के 'ज्ञानतिलक' में एक पद ऐसा मिलता है, जिसमें शिवशक्ति की चर्चा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ चिदम्बर शिव का स्मरण क्यों किया जा रहा है—

गिरही कै घरि जनम हमारा, संगति सुरति दिढांसी।
कहै नाथ जीव ब्रह्म एकै, जब सिव घरि सक्ति समांणी॥

(गो.बानी, पृ. 234)

गृहस्थ के घर हमारा जन्म हुआ है, साधुजनों की संगति में हमने आध्यात्मिक मनोवृत्ति (सुरति) को दृढ़ किया है। नाथ कहते हैं कि जब अकल (कला रहित) शिव में सकला सर्व स्वरूपा शक्ति समा जाती है, तब जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। शिव के घर में शक्ति का समाना 'सहस्रार चक्र' में माया शक्ति के कार्यभूत मन का प्रवेश करना है। नाद की प्राप्ति की चर्चा 'रुणझुण

माला' में की जा रही है। अगली मात्रा 'खौस खड़ावा' में आत्म प्राप्ति का वर्णन है। इस प्रकार आचार्यचरण की मात्राओं के साथ गोरखबानी का भी संवाद प्राप्त होता है।

मन का विकल्प समाप्त होने पर जब वह सत्त्व प्रधानता की स्थिति में है, चित्त भाव को प्राप्त होता है तथा चित्त जब चिदम्बर शंकर में लगता है, चिदाकाश में स्थिति को प्राप्त करता है, तो 'रुणझुण माला' की प्राप्ति होती है। यहाँ रुणझुण माला अनाहत नाद के रूप में प्राप्त होने वाला सुमधुर स्वर है, जो निरन्तर चलता रहता है। यह प्रेम रूप भक्ति से प्राप्त होने वाला नाद है। अतः केवल योग की प्रक्रिया को प्रधान रूप से अपनाने पर ही नाद प्राप्ति होगी, यह कथन निराकृत हो जाता है। चिदम्बर या चिदाकाश चित्र-विचित्र आकाश है, जिसमें विभिन्न नक्षत्र और तारागण उदित हैं। यह सब कपोलकल्पना नहीं है। योगसाधनारत साधक को अनाहत नाद की प्राप्ति होती है तथा शरीर में सूर्य, चन्द्रमा तथा तारों से युक्त सम्पूर्ण खगोल दिखाई देता है, यह साधकों की अनुभूति है। इसी स्थिति की ओर आचार्यचरण इस मात्रा में इङ्गित कर रहे हैं।

'माला' शब्द का प्रयोग कर आगे प्राप्त होने वाली ज्ञानलक्ष्मी की ओर सङ्केत भी आचार्यचरण करते हैं, क्योंकि **'मां लक्ष्मीं लातीति माला'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न माला शब्द ज्ञानलक्ष्मी को सूचित करता हुआ साधक के चरम लक्ष्य को बतलाता है। रुणझुण शब्द करती हुई माला रुणझुण माला, ब्रह्मविद्यारूपी लक्ष्मी को सूचित करती है। अतएव **'प्रातिभाद्वा सर्वम्'** (यो.सू. 3/33) में कहा गया है—**'प्रातिभं नाम तारकम्, तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्, यथोदये प्रभा भास्करस्य। तेन वा सर्वमेव जानाति योगी'**। यह प्रातिभ ज्ञान 'तारक' ज्ञान कहलाता है। तारक ज्ञान तारों से सम्बद्ध ज्ञान है, जो तारों के दर्शन से सूचित होता है। 'तारक ज्ञान' का दूसरा अभिप्रेतार्थ तारने वाला ज्ञान होगा; क्योंकि प्रातिभ ज्ञान के बाद ही विवेकज ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रातिभ ज्ञान और विवेकज ज्ञान को स्पष्ट करने हेतु 'यथोदये प्रभा भास्करस्य' यह दृष्टान्त दिया गया है। जैसे उदय के प्राप्त होने पर, सूर्योदय के पहले भास्कर (सूर्य) की प्रभा दिग्दिगन्त में व्याप्त होती है, उत्तर काल में सूर्य उदित होते हैं, उसी प्रकार 'प्रातिभ ज्ञान' (विवेकज ज्ञान) ब्रह्मसाक्षात्काररूप सूर्य के उदय के

पहले प्राप्त होता है। विवेकज ज्ञान, प्रकृति अथवा पुरुष के स्वरूप का अलग-अलग ज्ञान है। पुरुष के ज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्काररूपी ज्ञान की उपमा सूर्य से गीता में भी दी गयी है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥ (11/12)

आकाश में हजारों सूर्य यदि एक साथ उदित हो जाँय तो उनकी दीप्ति जिस प्रकार की हो सकती है, उस प्रकार का तेज या उससे अधिक तेज ज्ञान-सम्पन्न महात्मा का होता है। अर्जुन ने विश्वरूप दर्शन के समय भगवान् के तेजोमय विग्रह को देखा था।

'वाद-विवाद मिटाओ आपा' इस मात्रा के द्वारा वाद-विवाद या तर्क-वितर्क के मूल कारण अहंकार को मिटाने हेतु उपदेश आचार्यचरण ने दिया है। इस उपदेश के अनन्तर यह 'आपा' कैसे समाप्त हो? इसके लिए किस साधन का उपयोग किया जाय? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है; क्योंकि इस आपा या अहंकार के मिटने के बाद जीव, ब्रह्म या ईश्वर-तुल्य हो जाता है। इस जिज्ञासा के शमन हेतु आचार्यचरण **'प्रीति पितम्बर मन मृग छाला'** इस मात्रा का उपदेश करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि **'पूजा प्रेम'** इस मात्रा में 'प्रेम' की चर्चा की जा चुकी है, तो प्रीति को पीताम्बर बताकर पुनः उसे अपनाने की बात क्यों कही जा रही है? इस शङ्का के समाधान के लिए दोनों मात्राओं के वर्ण्यविषय का भेद जानना आवश्यक है। 'पूजा प्रेम' यह ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद की स्थिति का वर्णन है, जबकि 'प्रीति पीताम्बर' यह मात्रा साक्षात्कार के पहले मन को शुद्ध करने हेतु सगुण प्रभु में पराकाष्ठा के प्रेम का वर्णन करती है।

सन्त समाज में विभिन्न प्रकार के वेश प्रचलित हैं। पीताम्बर धारण करने वाले सन्तों की परम्परा में पीताम्बर को ही शिष्य-प्रशिष्य आदि धारण करते हैं। कुछ लोग चित्राम्बर (चिदम्बर) (अयाचित यथोपलब्ध वस्त्र) धारण करते हैं। अतएव श्रीमद्भागवत 2/2/5 में कहा गया है—**'चीराणि पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षाम्'** इत्यादि पृ. 239 पर विशेष द्रष्टव्य।

आचार्यचरण प्रीति को ही पीताम्बर बता रहे हैं। प्रीति किससे की जाय? नाशवान् संसार से अथवा अविनाशी परमात्मा से? यह प्रश्न पीताम्बर शब्द से ही समाहित हो जाता है। क्योंकि प्रसन्न होकर जो अम्बर (वस्त्र एवं आकाश आदि भूतों से उपलक्षित अन्य उपभोग हेतु आवश्यक सामग्री) को देता है, वह पीताम्बर है। पीताम्बर ही अभीष्ट पूरक होने से ध्येय है। अतः सभी स्वरूप ध्येय हो जायेंगे; क्योंकि सबसे अभीष्ट प्राप्ति सम्भव है। फिर भी पीताम्बर को विष्णु का बोधक कहें, तो पीताम्बर हरि से प्रीति की जाय, प्रलयङ्कर शंकर से नहीं, इसका नियमन कैसे होगा? क्योंकि यह जिज्ञासा तो होगी कि हम शङ्कर की भक्ति ही क्यों न करें? अतः पीताम्बर शब्द को **'पीतम् अम्बरं येन असौ पीताम्बरः'** जिसने अम्बर (आकाश) का पान कर लिया है, वह पीताम्बर है—इस व्युत्पत्ति में बहुव्रीहिसमास से निष्पन्न मान लें तो पीताम्बर शब्द उस ब्रह्म या आत्मा को कहेगा, जो आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च का भक्षण करने वाला है। **'यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः'** (काठ.उप. 1/2/25) यह काठकोपनिषन्मन्त्र आत्मा को सम्पूर्ण प्रपञ्च का भक्षण करने वाला बताता है। सबका भक्षण करने वाला मन की वासना का भी भक्षण करता है, इसी उद्देश्य से पीताम्बर की भक्ति करने का उपदेश दिया जा रहा है। 'प्रीति' शब्द प्रेमस्वरूपा भक्ति का वाचक है। इस प्रीति का फल 'मनमृगछाला' के रूप में बताया गया है। मन संकल्प-विकल्प करता है। संकल्प सम्यक् कल्पना है, जो **इदं नीलम्**–यह नीला है, **इदं पीतम्**–यह पीला है, इत्यादि रूप में विषयविवेचनपूर्वक होती है। विकल्प विरुद्धकल्प है, जिसमें सम्यक् कल्पना का अभाव होता है। मन मृग का क्षालन होने से वह संकल्प-विकल्प को छोड़कर निश्चयात्मक स्वरूप धारण कर लेता है। वह केवल ईश्वर से प्रेम करने लगता है। इस परानुरक्ति या ईश्वर-भक्ति से मन मृग का क्षालन होता है। मन का मृगत्व या विषयान्वेषण की प्रवृत्ति समाप्त होती है। अतएव **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** (यो.सू. 1/23) में कहा गया है—**'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण'** भक्तिविशेष से आवर्जित होकर ईश्वर, ज्ञान-वैराग्य आदि के द्वारा अथवा उसकी अभिमत वस्तु देकर उसके ऊपर अनुग्रह करता है।

यदि पीताम्बर शब्द हरि का वाचक होगा, तो कल्याण के लिए हरि भक्ति का विधान **'श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः'** (श्रीमद्भाग. 1/2/23) सत्त्वप्रधान ईश्वर से श्रेय या कल्याण होता है, इस भागवत-वचन से होगा।

मन का क्षालन होने पर वह सम्यग् ज्ञान का साधन होकर चित्त (बुद्धि का एक रूप) बनता है। अन्तःकरण की अनुसन्धानात्मिका वृत्ति को चित्त कहते हैं। इसका अन्तर्भाव बुद्धि में होता है, यतः यह भी विषय के परिच्छेद या परिच्छित्तिरूप ही है, अतः विषय का भान यहाँ भी होता है। चित्त की यही अवस्था समाधि-प्रज्ञा की ओर उन्मुखता को सूचित करती है, जिसे **'चित्त चिदम्बर रुणझुण माला'** इस मात्रा में वर्णित किया गया है। किन्तु परब्रह्म-विषयक प्रीति से तात्पर्य क्या होगा? इस प्रश्न पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि जागतिक कामनाओं को छोड़कर परब्रह्मप्राप्ति की तीव्र इच्छा ही प्रीति है, जिसके द्वारा वह शीघ्र प्राप्त होता है। अतएव योगसूत्र में कहा गया है— **'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'** (1/20)। यह श्रद्धा ही 'प्रीति' है; क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्र व्याख्या में इसे इच्छाविशेष बतलाया है। उनका कथन है कि आगम, अनुमान एवं आचार्य के उपदेश से तत्त्व के अच्छी तरह से ज्ञात होने के बाद चित्त में जो संप्रसाद होता है, तत्त्व को प्राप्त करने की जो अभिरुचि होती है, वही श्रद्धा है। यह श्रद्धा जननी की तरह योगी का कल्याण करने वाली होती है और उसकी सब प्रकार से रक्षा करती है। इस इच्छाविशेष से योगी के चित्त में वीर्य या बल प्राप्त होता है, जिससे वह ध्यान करने में समर्थ होता है। इसी ध्यान को सूत्र में स्मृति शब्द से कहा गया है। इस स्मृति या ध्यान से सम्प्रज्ञात-समाधि का लाभ होता है। सम्प्रज्ञात-समाधि का लाभ होने पर योगी की प्रज्ञा में प्रकर्ष (उत्कर्ष) आता है, जिससे वह यथार्थ वस्तु को जानता है। सम्प्रज्ञात-समाधि का अभ्यास करने पर तथा उस समाधि से सहज प्राप्त होने वाली सिद्धियों आदि अलौकिक उपलब्धियों से भी विरक्त होने पर असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस सूत्र में यह स्पष्ट किया गया कि श्रद्धा आदि समाधि के अंग हैं; किन्तु इनके रहने पर भी तीव्र वैराग्य के अभाव में समाधि में विलम्ब होता है। इस तथ्य को **'तीव्रसंवेगानामासन्नः'** (1/21) योगसूत्र में बताया गया है।

समाधि के आसन्न काल को कैसे जाना जाय? यह जिज्ञासा होती है, जिसका समाधान **'चित्त चितम्बर रुणझुण माला'** तथा आगे की दो मात्राओं में आचार्यचरण करते हैं।

भक्ति से प्रक्षालित चित्त को जब योगी चिदम्बर या 'चिदाकाश' में ले जाते हैं, तो दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, जिसे अनहद नाद कहते हैं। यही नाद यहाँ 'रुनझुन माला' शब्द से कहा जा रहा है, जो विद्यारूप श्री की प्राप्ति की आसन्नता को सूचित करता है। यह अनहद नाद या दिव्य शब्द कैसे प्राप्त होता है, इसे **'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी'** (1/35) इस योगसूत्र में स्पष्ट किया गया है। केवल दिव्य शब्द की ही प्राप्ति का वर्णन यहाँ नहीं है, दिव्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्श की भी प्राप्ति बतलाई गयी है। जैसे नासिका के अग्रभाग में मन के धारणा आदि का अभ्यास करने पर दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है। जिह्वा के अग्रभाग में धारणा करने पर दिव्य रस का साक्षात्कार होता है। ऐसे ही 'तालु' में धारणा से रूप का साक्षात्कार, जिह्वा के मध्य में धारणा से स्पर्श का साक्षात्कार तथा जिह्वा के मूल में धारणा से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, यह वर्णन प्राप्त होता है। दिव्य शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि के साक्षात्कार का तीन फल इस सूत्र के व्यासभाष्य में स्पष्ट बतलाया गया है—**'एता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्ति'**—यह वृत्तियाँ (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का साक्षात्कारात्मक ज्ञान) जब उत्पन्न होती हैं, तो चित्त को स्थिर करती हैं, संशय का निवारण करती हैं तथा समाधि-प्रज्ञा में द्वार बनती हैं, अर्थात् इनकी उत्पत्ति के पश्चात् समाधि प्राप्त होती है। योगमार्ग में चलने वाले साधक को योग से क्या होगा? इस जीवन में कुछ प्राप्त होगा या नहीं, इत्यादि संशय कभी-कभी होते हैं, किन्तु दिव्य शब्द-स्पर्श आदि की प्राप्ति के बाद यह संशय दूर हो जाते हैं।

प्रकृत मात्रा 'चित्त चिदम्बर रुनझुन माला' पर विचार करते समय चित्त का स्थान कहाँ है? इस पर विचार करना आवश्यक है। टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने **'विशोका वा ज्योतिष्मती'** (1/36) सूत्र की व्याख्या में चित्त का स्थान कहाँ है? इस पर विचार किया है। हृदय एवं उदर के बीच में अधोमुख (नीचे

की ओर लटका हुआ) अष्टदलकमल है। उसको रेचक प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्वमुख (ऊपर की ओर मुंह वाला) करके उसमें चित्त को स्थापित करना चाहिए।

उस अष्टदलकमल के मध्य में ओंकार की अवस्थिति है, ऊँकार के घटक वर्ण अ,उ,म् की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है—**'तन्मध्ये सूर्यमण्डलमकारो जागरितस्थानम्'** कमल के मध्य में सूर्यमण्डलस्वरूप अकार है, जो जागरित स्थान है, उसके ऊपर चन्द्रमण्डलस्वरूप उकार है, जो स्वप्नस्थान है तथा उसके ऊपर वह्निमण्डलस्वरूप मकार है, जो सुषुप्तिस्थान है और उसके भी ऊपर परव्योमात्मक ब्रह्मनाद है, जो तुरीय स्थान है और अर्धमात्रास्वरूप है, ऐसा ब्रह्मवादी लोग कहते हैं।

वहीं कमल की कर्णिका में ऊर्ध्वमुख वाली ब्रह्मनाड़ी है, जो सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल, वह्निमण्डल तथा तुरीय स्थान के मध्य में है। इस ब्रह्मनाडी के ऊपर सुषुम्ना नाडी है, जिसके द्वारा बाह्य भी सूर्य-चन्द्र आदि सम्पृक्त हैं। यही सुषुम्ना नाडी चित्त का स्थान है। इसी तथ्य को योगवार्तिक में भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'तत्कर्णिकायां (अष्टदलकमलकर्णिकायां) विष्वग्व्यापिशाखा-सहस्रवत्याः मनोवहनाड्या मूलं तिष्ठति तस्याम् अलाबुलतिकाया इव ऊर्ध्वमुख्येका शाखा सुषुम्नेति गीयते, तया च शाखारूपया ब्रह्मनाड्या बाह्यान्यपि सूर्यमण्डलानि प्रोतानि। सैव मनोवहा नाडी चित्तस्थानं भवति। तस्यां चित्तं धारयतो योगिनश्चित्तसाक्षात्कारो जायते'।

अष्टदलकमल की कर्णिका में चारों ओर व्याप्त (फैली हुई) हजारों शाखाओं वाली मनोवह नाडी (वह नाडी जो मन को ऊर्ध्व लोकों में भी ले जाती है) का मूल है। इसी मनोवह नाडी (के मूल में ही) लौकी (अलाबु) की लता की तरह ऊर्ध्वमुखी (ऊपर की ओर मुँह वाली) सुषुम्ना नाडी है। मनोवह नाडी की शाखारूप सुषुम्ना से अनेकों बाह्य सूर्यमण्डल सम्बद्ध हैं। इस सुषुम्ना नाडी में चित्त का धारण करने पर चित्त का साक्षात्कार योगी को होता है। सुषुम्ना नाडी का वर्णन कठोपनिषद् में इस रूप में मिलता है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

(काठ.उप., अ. 2, व. 3, मन्त्र 16)

पुरुष के हृदय से निकली हुई 100 तथा एक नाडियाँ हैं। इनमें एक नाडी जिसे सुषुम्ना कहते हैं, पुरुष की मूर्धा का भेदन करके निकली हुई है। उस नाडी से ऊपर आते हुए साधक आदित्य-द्वार से अमृतत्व को प्राप्त करता है। चिदाकाश में चित्त को ले जाने का अर्थ ऊपर की ओर ले जाना है, जिसे **'तयोर्ध्वमायन्'** इस श्रुति के द्वारा बतलाया गया है। यद्यपि यह अन्तकाल की चर्चा है। तथापि इसके पूर्व भी नाद प्राप्ति तथा ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए मन का सुषुम्ना नाडी में प्रवेश करना आवश्यक है।

चेतनपुरुष के लिए चित्त कार्य करता है। अतएव **'तदसंख्येय-वासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्'** (यो.सू. 4/24) में यह स्पष्ट किया गया है कि असंख्य वासनाओं से युक्त चित्त, पुरुष के (अन्य के) भोग एवं अपवर्ग के लिए ही है। यह भोगरूप प्रयोजन की प्राप्ति के लिए परिणत होता है तथा मोक्ष की सिद्धि में स्थिर होता है; क्योंकि लोक में यह देखा जाता है कि दूसरे पदार्थों की सहायता से समूहरूप में कार्य करने वाले पदार्थ (संहत्यकारि-पदार्थ) परार्थ होते हैं, अर्थात् वे समूह से भिन्न वस्तु के लिए कार्य करते हैं। इस तथ्य को **'संघातपरार्थत्वात्'** (सां.का. 17) में स्पष्ट किया गया है। पुरुष यद्यपि शुद्ध है वह भोक्ता नहीं है, तथापि प्रत्ययानुपश्य होता है, अतः भोक्ता की तरह लगता है (यो.सू. 2/20)। प्रत्यय शब्द बौद्ध ज्ञान को कहता है, जिसको पुरुष प्रकाशित करता है, देखता है। अतएव योगभाष्य में कहा गया है—'यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदाऽऽत्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथा चोक्तम्—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकार-मात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते'। द्रष्टा बौद्ध प्रत्ययों को देखता है तथा प्रत्ययों से भिन्न होने के कारण प्रत्यय रूप न होते हुए भी उनकी तरह प्रतिभासित होता है। पुरुष प्रत्ययों से भिन्न है; क्योंकि वह प्रत्ययों को उत्पन्न करने वाली बुद्धि से भिन्न है। बुद्धि पुरुषविषय होती है, पुरुष सर्वदा ज्ञातविषय होता है। बुद्धि, पुरुष से गृहीत और अगृहीत दोनों नहीं होती। यही विशेष, बुद्धि और पुरुष को पृथक् करता है। बुद्धि पुरुष के भेद का ज्ञान होने पर मोक्षरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति होने से चित्त का परिणाम रुकता है। इसके बाद उसका लय प्रारम्भ होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि द्रष्टा के ज्ञानस्वरूप (दृशिमात्र) होने तथा शुद्ध होने पर भी उसमें प्रत्यय का (बुद्धिवृत्ति का) अनुवेध (सम्पर्क) बना रहता है। यह प्रत्ययानुपश्यता या प्रत्ययानुवेध संसारकाल में चलता रहता है। जब प्रत्ययानुपश्यता या प्रत्ययानुवेध समाप्त होता है, तो मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार क्रमशः चित्त की परिणति तथा स्थैर्य्य से संसारकाल तथा मोक्ष की प्राप्ति सूचित होती है।

हम जानते हैं कि अनादि भव-प्रवाह में पतित जीव भवप्रवाहोपरम की कामना सँजोये भटक रहा है। इस भव-प्रवाह का उपरम (संसार का विराम) कब होगा? अथवा किन लक्षणों से यह निश्चित होगा कि अब भव-प्रवाह से छुटकारा मिलेगा? यह संकेत 'चित्त चितम्बर रुनझुन माला' तथा 'बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन' इन मात्राओं में आचार्यचरण ने दिया है। योगसूत्र में 'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी' तथा 'विशोका वा ज्योतिष्मती' (1/35-36) इन दो सूत्रों में चित्त के परिकर्मों को बतलाया गया है। चित्त का परिकर्म क्या है? इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए चित्त-परिकर्म का प्रयोजन तथा स्वरूप दोनों ही योगसूत्र 1/35 के भाष्य में वर्णित हैं। नासिकाग्र (नासिका के अग्रभाग), जिह्वाग्र, तालु, जिह्वामध्य तथा जिह्वामूल में चित्त को धारण करने से—दिव्य गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा दिव्य शब्द का साक्षात्कार (संवेदन) होता है, यह पहले स्पष्ट किया गया है। चित्त का हृदयकमल में धारण करने पर चित्त (बुद्धितत्त्व) की सूर्य, चन्द्र, ग्रह तथा मणि की प्रभा के रूप में जो परिणति होती है, उसे भी चित्त का परिकर्म कहते हैं। **'परितः सर्वतः सर्वत्र स्थितेन नासिकाग्रादिस्थानेषु स्थितेन चित्तेन सूचितं कर्म गन्धादिसाक्षात्कारः परिकर्म'**—यह व्युत्पत्ति परिकर्म शब्द की स्वीकार की जाय, तो विभिन्न स्थानों में नियन्त्रित चित्त के द्वारा सूचित कर्म क्रिया—गन्ध, रूप, रस, शब्द आदि—के साक्षात्कार को परिकर्म शब्द बोधित करेगा।

दिव्य गन्ध आदि का साक्षात्कार अग्रिम काल में समाधि को सूचित करता है। इससे साधक के मन को अवलम्ब मिलता है। वह आश्वस्त हो जाता है कि अब अल्प काल में ही समाधि-लाभ हो सकेगा। अन्यथा शास्त्र एवं आचार्य के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का कोई भी अंश अनुभूत न होने पर शास्त्र द्वारा उपदिष्ट तथ्यों के विषय में संशय बना रहेगा।

यद्यपि यह विरुद्ध प्रतीत होता है कि दिव्य गन्धादि विषयों के साक्षात्कार से निर्विषय चित्त की अवस्था (समाधि अवस्था) सूचित होती है, तथापि योग-भाष्यकार के वचन **'अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकार-संज्ञायामुपजातायां चित्तं समर्थं स्यात् तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणाय'** से इस विरोध का परिहार हो जाता है। वार्तिककार ने इस वाक्य की व्याख्या निम्न रूप में की है—'अनियतासु वृत्तिषु अव्यवस्थितासु चित्तवृतिषु मध्ये तत्तद्गन्धादिप्रवृत्त्या गन्धादीनां दोषदर्शनात् तद्विषयकवशीकारसंज्ञकवैराग्ये जाते सति विक्षेपह्रासात् तस्य तस्योत्तरभूमिरूपस्यार्थस्य साक्षात्काराय चित्तं समर्थं स्यात्'। वार्तिक का आशय निम्न है—चित्त की वृत्तियाँ अनियत या अव्यवस्थित हैं, तथापि दिव्य गन्ध आदि का साक्षात्कार होने पर चित्त जब गन्धादि के दोष-दर्शन के द्वारा विषयों से उपरत हो जाता है, तो उसमें (चित्त में) उत्तरकाल में होने वाले अर्थ-साक्षात्कार के हेतु सामर्थ्य प्राप्त होता है। दिव्यगन्धादि की प्राप्ति के बाद ईश्वर का साक्षात्कार अथवा विवेक ख्याति होती है।

'चित्त चितम्बर रुनझुन माला' में यह स्पष्ट किया गया है कि चित्त को चिदाकाश (चिदम्बर) या चिदम्बर शङ्कर में लगाने पर रुनझुन माला या माला के रूप में चक्रवत् निरन्तर घूमने वाला, घूर्णित होने वाला, निरन्तर चलने वाला अनाहत नाद या दिव्य शब्द प्राप्त होता है। चिदम्बर शब्द का अर्थ यदि चित्त का अम्बर या चित्त को ढँकने वाली, आच्छादित करने वाली सुषुम्ना नाडी किया जाय, तो अर्थ होगा कि चित्त के सुषुम्ना नाडी में प्रवेश करने पर वही चित्त की धारणा करने पर अनहद नाद की रुनझुन माला प्राप्त होती है; किन्तु यहाँ जिज्ञासा यह होती है कि चित्त को चिदम्बर शङ्कर में लगाकर उनसे ज्ञानप्राप्ति का उपदेश आचार्यचरण दे रहे हैं अथवा उनका कोई अन्य अभिप्राय है? विचार करें तो मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकाररूप चित्त की चार अवस्थाओं में मन के अधिष्ठातृ देव चन्द्र, बुद्धि के चतुर्मुख (ब्रह्मा), चित्त के शंकर तथा अहंकार के अच्युत हैं। चित्त के विभिन्न स्थानों में नियन्त्रित करने हेतु ऊपर निर्देश दिया गया है; किन्तु चित्त का नियन्त्रण उसके अधिष्ठातृ देव शङ्कर के अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं है, अतः भगवान् शङ्कर का ध्यान करने की बात आचार्यचरण कर रहे हैं। योगसूत्र में 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा' (1/23) तथा **'यथाऽभिमत-**

ध्यानाद् वा' (यो.सू. 1/39) इन दो सूत्रों में ईश्वर के ध्यान से अथवा अधिकारी भेद से यथाऽभिलषित वस्तु गुरु देवता आदि के ध्यान से भी समाधिलाभ (चित्त की एकाग्रता) बतलाया गया है। नाद की प्राप्ति के बाद समाधि प्राप्ति होती है। दिव्य प्रकाश की प्राप्ति के बाद भी समाधि प्राप्ति होती है, अतः प्रकाश प्राप्ति की चर्चा अगली मात्रा में कर रहे हैं।

बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन

इस मात्रा में भी बुद्धि को व्याघ्राम्बरधारी (बघम्बर धारण करने वाले) शङ्कर में लगाने की बात कही गयी है। यतः चित्त और मन दोनों को योगशास्त्र में एक मानकर व्यवहार किया गया है, अतः दोनों के देवता एक ही हैं; क्योंकि शङ्कर चिदम्बर और बघम्बर दोनों ही हैं। मन और चित्त की एकता को स्वीकार करके ही 'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी' तथा 'विशोका वा ज्योतिष्मती' (यो.सू. 1/35,36) की प्रवृत्ति हुई है। अतएव योगवार्तिककार ने कहा है—**'अत्र च मनस इति एकवचनात् मनश्चित्तयोरेकतेति बोध्यम्'** (1/35) योग सूत्र में 'मनसः' इस एकवचन के प्रयोग से मन और चित्त की एकता समझनी चाहिए। भगवान् शङ्कर का एक नाम कृत्तिवासा है, जिसका अर्थ है चर्म धारण करने वाले। बुद्धि को बघम्बर कहा गया तो दोनों में कुछ साम्य अवश्य है। हम जानते हैं कि बघम्बर में तीन रंग होते हैं—श्वेत, लाल और काला। बुद्धि भी त्रिगुणात्मक है, सत्त्व, रज और तमोगुण उसके अवयवभूत गुण हैं।

यह अवश्य अवधेय है कि चित्त को केवल चिदम्बर कहा गया; किन्तु बुद्धि को बाघम्बर के साथ कुलह और पोस्तीन भी बताया गया, जिसका आशय 'विशोका वा ज्योतिष्मती' (यो.सू. 1/36) इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार के वचन—**हृत्पुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणि-प्रभारूपाकारेण विकल्पते**–से स्पष्ट होता है।

हृदयकमल में धारण करने पर, मन को वहीं स्थिर करने पर बुद्धिसत्त्व का विभिन्न रूपों में परिणाम होता है (विकल्पते)। यह विभिन्न रूप सूर्यप्रभा, चन्द्रप्रभा तथा मणिप्रभा हैं, जिन्हें भाष्य में 'सूयेन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण' इस

शब्द से कहा गया है। सूर्य और इन्दु को ग्रह कहा गया है। अतः सूर्य, चन्द्र और मणि की तीन प्रभा बताई गयी है। प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा, रक्तिमा का प्राधान्य लिए रहती है। बुद्धिसत्त्व आकाश की तरह भास्वर होता है; किन्तु वह सूर्य, चन्द्र एवं मणि की प्रभा के आकार में विकल्पित होता है। इसे ही आचार्यचरण ने बघम्बर, कुलह और पोस्तीन कहा है, अर्थात् बालसूर्य की रश्मियों से रञ्जित होकर भास्वर आकाश जैसे रक्ताभ लाल दिखाई देता है, वैसे ही आकाशकल्प भास्वर बुद्धिसत्त्व बघम्बर की तरह रक्ताभ दिखाई देता है। वही भास्वर आकाश रात्रि के समय चन्द्र-किरणों से रञ्जित होकर धवलित दिखाई देता है। उसी प्रकार भास्वर बुद्धिसत्त्व की उपमा कुलह से दी गयी है। कुलह ऊँची टोपी है, चन्द्र-किरणों से रञ्जित श्वेतिमायुक्त आकाश भी ऊँचा है। बुद्धिसत्त्व को पोस्तीन भी कहा गया है, क्योंकि वह मणिप्रभा रूप में भी परिणत होता है। पोस्तीन रोमयुक्त चर्म से बना कोट है। मणिप्रभा में किरणें, समूह के रूप में दिखाई देती हैं, अतः उसे रोमसमूह से ढके चर्म से बने कोट की संज्ञा दी गयी है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ऊपर मन और चित्त की एकता में प्रमाण प्रस्तुत किया गया; किन्तु 'विशोका वा ज्योतिष्मती' सूत्र की व्याख्या में प्रथम पंक्ति में मन का उल्लेख करने के बाद भी द्वितीय पंक्ति में बुद्धि के विकल्पों की चर्चा की जाने लगी। इससे स्पष्ट है कि बुद्धि को भी मन अथवा चित्त का पर्याय समझा जा रहा है। आचार्यचरण इन तीनों मात्राओं (चीत चिदम्बर रुनझुन माला, बुद्धि, बघम्बर कुलह पोस्तीन, खौस खड़ावा इह मति लीन) में ऊपर के दोनों सूत्रों में प्रतिपाद्य अर्थ का ही वर्णन करते हैं। क्योंकि यो.सू. 1/36 के भाष्य में **'सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते'** के आगे की पंक्ति 'तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्—तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते इति' है। भाष्य की इन पंक्तियों का अर्थावबोध करने पर **'खौस खड़ावा इह मति लीन'** इस मात्रा का अर्थ स्पष्ट होता है।

बुद्धि को बघम्बर, कुलह, पोस्तीन रूप में परिणत बताने के बाद यह कहा जा रहा है कि 'अस्मिता' में समापन्न चित्त तरङ्गरहित महोदधि (समुद्र) के समान

शान्त तथा अन्तहीन होता है तथा आत्मस्वरूप (अस्मितामात्र) हो जाता है। अतएव वार्तिककार ने कहा है—**'अस्मिताऽत्र नाऽहङ्कारः किन्तु आत्मतत्त्वम्'** अस्मिता शब्द से यहाँ अहंकार वाच्य नहीं है किन्तु आत्मतत्त्व वाच्य है, इत्यादि।

'बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन' में बुद्धि को कुलह बताकर आचार्यचरण ने अग्रिम मात्रा के अर्थ को ध्वनित कर दिया है; क्योंकि कुलह शब्द के जो विभिन्न अर्थ हैं, उन पर विचार करने से अग्रिम मात्रा के प्रतिपाद्य अर्थ की ओर सङ्केत होने लगता है। **'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च, भवने च तनौ क्लीबम्'** इस मेदिनीकोश के अनुसार कुल शब्द के जनपद, गोत्र, सजातीय समूह, भवन तथा तनु या शरीर आदि अर्थ हैं।

यदि कुल शब्द तनु या शरीर का वाचक स्वीकार करें तो मात्रा का अर्थ होगा 'बघम्बर शंकर में बुद्धि को लगाने पर वह कुलह शरीर का नाश करने वाली (कुलं हन्तीति कुलहः–बुद्धिरूप तत्त्वविशेष) हो जाती है। हम जानते हैं कि शरीर तीन हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर (अविद्या)। शङ्कर में बुद्धि के लगने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है, यह पूर्व में वर्णित है। ज्ञान से कारण शरीरभूत अज्ञान या अविद्या की निवृत्ति होती है तथा कारण शरीर के अभाव में सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् पुनः स्थूल शरीर की प्राप्तिरूप जन्म नहीं होता।

यदि कुल का सजातीय समूह अर्थ किया जाय तो कारण-कार्य का साजात्य होने से भौतिक मनरूप कारणभूत ब्रह्मा से उत्पन्न भौतिक जगत् उसका सजातीय समूह होगा, जिसका नाश शङ्कर से प्राप्त होने वाले ज्ञान से होगा।

यदि कुल शब्द का भवन अर्थ स्वीकार किया जाय तो शङ्कर में आसक्त बुद्धि से उसके भवन बुद्धि के कारणभूत अविद्या अथवा आश्रयभूत स्थूल शरीर दोनों का नाश होगा। **'भवति अस्माद् बुद्धिः इति भवनम् अज्ञानम्'** इस व्युत्पत्ति में भवन शब्द बुद्धि के कारणभूत (बुद्धि के उत्पादक) अज्ञान का बोधक होगा। यदि बुद्धि का भवन बुद्धि का वासस्थान स्थूल शरीर बुद्धि शब्द से लिया जाय तो शङ्कर में आसक्त बुद्धि स्थूल शरीर का नाशक होगी। किन्तु यह दोनों ही कार्य ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा होंगे। अतः ज्ञानप्रदाता शङ्कर की आराधना, उनका ध्यान आवश्यक है।

बुद्धि को कुलह के पश्चात् पोस्तीन बताया गया है, जो साऽभिप्राय है। पुस्त धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करें तो 'पुस्तनं पुस्तः' इस व्युत्पत्ति में 'सिद्ध पुस्त' शब्द आदर एवं अनादर दोनों का वाचक होगा। पुस्त शब्द का प्रभु, समर्थ, सदा अथवा सूर्यवाची 'इन' शब्द के साथ समास करें तो 'पुस्तस्य इनः पुस्तेनः' यह शब्द सिद्ध होगा, जो पुस्त (आदर तथा अनादर) का नियन्त्रण करने में जो समर्थ है, उसको कहेगा। इसी 'पुस्तेन' शब्द का अपभ्रंश पोस्तीन को कहा जाय तो यह आशय होगा कि बुद्धितत्त्व के कुलह बनने के बाद, अज्ञान कार्य सजातीय संसार का नाशक होने के बाद भी संस्काररूप से अविद्या के अनुवृत्त होने से जागतिक पदार्थों में आदर एवं कहीं अनादर का भाव बना रहता है। बुद्धि वृत्ति से हम कहीं आदर तथा कहीं अनादर का भाव रखते हैं। इस प्रकार जीवन्मुक्त के व्यवहार का वर्णन आचार्यचरण कर रहे हैं।

हम यह भी कह सकते हैं कि कुलह, पोस्तीन शब्दों के द्वारा आचार्यचरण वेदान्त के गूढ़ रहस्य का स्फोरण कर रहे हैं। ऊपर योग की दृष्टि स्पष्ट की जा चुकी है। वेदान्त की दृष्टि यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष जब तत्त्वसाक्षात्कार कर लेता है, तो अविद्या तो निवृत्त हो जाती है, अब उसके लिए बन्ध का कारण नहीं बनती। किन्तु जितना प्रारब्ध कर्म शेष है, उसके भोग के लिए अविद्या की बाधितानुवृत्ति होती रहती है। अन्यथा अविद्या के सर्वथा निवृत्त हो जाने पर शरीर भी नहीं रहेगा। अविद्या की बाधितानुवृत्ति होने से सम्पूर्ण जागतिक पदार्थ आभास की तरह प्रतीत होते रहते हैं, जिससे उनमें अवास्तवत्व ज्ञान के कारण अनास्था या अनादर का भाव आता है; किन्तु सर्वत्र अनादर का भाव करने की आज्ञा शास्त्र नहीं देता। गुरुगीता कहती है कि **'यावदायुस्त्रयो वन्द्याः वेदान्तो गुरुरीश्वरः'**—जब तक आयु है, जब तक शरीर है, तब तक वेदान्त, गुरु एवं ईश्वर तीनों की वन्दना करनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि यह सामान्य वचन है, जीवन्मुक्त ब्रह्मवित् तो विधि-निषेध से परे होता है तो यह उचित नहीं है; क्योंकि **'गुरुलोपो न कर्तव्यः स्वच्छन्दो यदि वा भवेत्'** (गुरुगीता 102) गुरु का लोप, गुरु नहीं है ऐसा भाव, मुझसे बड़ा कोई नहीं है ऐसा भाव, मन में नहीं करना चाहिए, भले ही साधक स्वच्छन्द क्यों न हो जाय। गुरु का बन्धन स्वीकार करना ही चाहिए, इसी भाव की शिक्षा आचार्यचरण ने कुलह, पोस्तीन शब्दों से दी है।

खौस खड़ावाँ इह मति लीन

आत्मतत्त्व को खौस खड़ावाँ कहा गया है। 'खौस खड़ावाँ' शब्द खौस से सम्बद्ध खड़ावाँ को कहता है। खौस अरबी का शब्द है, जिसके अरबी कोश के अनुसार तीन अर्थ—धोखा देना, दगा करना, आँखों का गड्ढा में जाना 'अन्तर्निलीन' होना हैं। एक खौश शब्द है, जिसका अर्थ—नितम्ब, कटिदेश, भाला मारना, व्याह करना, लेना, पकड़ना है। अस्तु, इन अर्थों की संगति के अनुसार विचार करें तो—'आँखों का गड्ढा में जाना' यह अर्थ यदि खौस का किया जाय तो समाधि अवस्था से पूर्व ध्यानस्थ योगी के शरीर की वह अवस्था सूचित होती है जब दोनों आँखों की कनीनिका (कृष्णतारा/काला भाग) पलकों के भीतर छिपने के कारण दिखाई नहीं दे। दोनों आँखें खुली होती हैं किन्तु पुतलियाँ दिखाई नहीं देतीं। यही आँखों का गड्ढा में जाना है। इस अर्थ को दृष्टिगत करने पर खौस से, आँखों के गड्ढे में जाने से प्राप्त खड़ावां, आत्मतत्त्व में मति या मन लीन हो गया है, यह मात्रा का अर्थ होगा। 'आँखों के गड्ढे में जाने से' यह कहने का आशय समाधि प्राप्त होने से है; क्योंकि आँखों के उपर्युक्त रीति से गड्ढे में जाने से समाधि प्राप्त होती है तथा समाधि में आत्मा का साक्षात्कार या प्रकृति-पुरुष की विवेक-ख्याति होती है। यदि 'खौश' शब्द मात्रा में है, तो उसका 'पकड़ना' अर्थ लेकर, खड़वाँ रूप आत्मा को पकड़ लेने के कारण, आत्मा का साक्षात्कार करने के कारण, मन अब आत्मा में लीन हो गया है, यह अर्थ होगा। आत्मा को पुरुष कहा जाता है, अतः केवल पुरुष का साक्षात्कार होता है, यही इसका आशय है। मति, बुद्धि का पर्याय है, अतः मति के लीन होने का आशय बुद्धि का लीन होना है। बुद्धि (महत्तत्त्व) का लय योगशास्त्र की दृष्टि से 'प्रकृति' में होता है, तो यहाँ खड़ावाँ से प्रकृति को भी ले सकते हैं। बुद्धि का लय होने पर पुरुष का भी कैवल्य हो जाता है। अतः योगशास्त्र की दृष्टि से उसे भी खड़ावाँ शब्द से कहें, तो यह कहेंगे कि पुरुष में जो बुद्धि का उपराग था, वह समाप्त हो गया। इस प्रकार पुरुष का संसार समाप्त हो गया। वह कैवल्य को प्राप्त हो गया, यह अर्थ होगा। सामान्यतः 'खड़ावाँ' शब्द खड़ाऊँ या पादुका का वाचक है।

अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से प्रपञ्च का लय कहाँ होता है? इस पर विचार करें तो आत्मा में होता है, यही उत्तर प्राप्त होता है; क्योंकि—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(काठ.उप. 1/3/13)

मन्त्र में वागादि इन्द्रियों का मन में प्रविलापन करने का विधान है। मन का बुद्धि में (ज्ञान में), बुद्धि का (ज्ञान का) महत्तत्त्व में तथा महत्तत्त्व का सर्वविशेषरहित (शान्त) आत्मा में लय करने का विधान है। आत्मा सभी प्रत्ययों का साक्षी है। वही पुरुष है, उसी में सबका लय होता है। अतएव आचार्यचरण यह कहते हैं कि खौस से, अन्तर्निलीन नेत्रों से, सूचित समाधि से प्राप्त जो आत्मा उसमें (इह) (मति) महत्तत्त्वलीन हो गया है। योगशास्त्र में बुद्धितत्त्व में यह लय प्रतिपादित है।

खौस से प्राप्त खड़ावाँ (आत्मतत्त्व) में मति के लीन हो जाने के बाद भी सम्पूर्ण अविद्या तथा अविद्या कार्य का विलय हो जाने के बाद भी गुरु, वेदान्त आदि का आदर तथा शेष सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपेक्षा (अनादर) चलना चाहिए। यह आचार्यचरण का दिव्य उपदेश है। सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति का वर्णन, निम्न मात्राओं में मिलता है, जिसे हम मात्रा का अर्थ विचार कर स्पष्ट कर रहे हैं।

तोड़ा चूड़ा और जञ्जीर। ले पहिरै साधु उदासी धीर॥
जटा जूट मुकुट सिर होइ। मुक्ता फिरे बन्ध नहिं कोइ॥

तथा—

नानक पूता श्रीचन्द बोले। जुगत पछाणे तत्व विरोले॥
ऐसी मात्रा ले पहिरै कोय। आवागमन मिटावे सोय॥

इन मात्राओं का उल्लेख साभिप्राय है। आरम्भ की चार मात्राओं के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्यचरण ने लौकिक दृष्टि से साम्प्रदायिक वेशभूषा का वर्णन इन मात्राओं में किया है। परन्तु जिज्ञासा यह होती है कि यह उत्तर आचार अर्थात् दीक्षा के बाद का आचार तथा वेशभूषा है

अथवा 'खौस खड़ावाँ इह मति लीन' के द्वारा प्रतिपादित आत्मप्राप्ति के अनन्तर जीवन्मुक्त का आचार है? यह शङ्का इसलिए हो रही है; क्योंकि आत्म-साक्षात्कार प्रतिपादक मात्रा 'खौस खड़ावाँ इह मति लीन' के बाद इसका उपदेश है। किन्तु आचार का उपदेश मान लेने पर यह जिज्ञासा होती है कि आत्मज्ञान के बाद इस बाह्यवेश के प्रतिपादन के द्वारा आचार्यचरण क्या उपदेश करना चाहते हैं? अस्तु, इन मात्राओं के अर्थ पर योग की दृष्टि से विचार प्रस्तुत है।

'विशोका वा ज्योतिष्मती' (1/36) योगसूत्र के वार्तिक में जिज्ञासा की गयी है कि **'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीति'** 'उस सूक्ष्म आत्मा का साक्षात्कार कर रहा हूँ'—ऐसी अनुभूति को जब भाष्यकार ने कहा है तो आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर कृतार्थता होनी चाहिए, फिर ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को चित्त की विशेष स्थिति के रूप में क्यों वर्णित किया जा रहा है? इसका उत्तर प्रस्तुत करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि आत्मसाक्षात्कार करने वाले पुरुषों को भी परम वैराग्य प्राप्त करने के लिए ज्ञाननिष्ठा से अभ्यास की अपेक्षा होती है, **(नन्वनेनैवात्मसाक्षात्कारेण कृतार्थत्वात् कथमस्य स्थितिविशेषतयोपन्यास इति चेत्? न कृतात्मसाक्षात्काराणामपि ज्ञाननिष्ठया परवैराग्यार्थमभ्यासापेक्षणात्**–यो.वा.) पर वैराग्य की प्राप्ति के लिए अभ्यास की अपेक्षा क्यों है? इसे स्पष्ट करने हेतु—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(भगवद्गीता 3/18)

की व्याख्या में गीता के टीकाकार 'मधुसूदन सरस्वती' द्वारा योगवाशिष्ठ के आधार पर वर्णित ज्ञान की सातों भूमिकाओं पर विचार आवश्यक है। योग की भूमिकाओं को बताने हेतु वशिष्ठ ऋषि ने जो राम को उपदेश दिया है, उसका संग्रह 'योगवाशिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें संसार की असारता का साक्षात्कार करने में योग की साधनता का प्रधान रूप से निरूपण है। निर्विचार अवस्था की प्राप्ति कैसे हो? यह योग की भूमिकाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है। ब्रह्मविद् को जानने के लिए ज्ञान की भूमिकाओं का परिचय प्रस्तुत है। इनके ज्ञान से

प्रकृत मात्राओं का अर्थ बोध सुगमता से हो सकता है। ज्ञान की सात भूमिकाएँ इस रूप में वशिष्ठ मुनि के द्वारा वर्णित हैं—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥ इति।

(योग.वा. 1-118, श्लो. 5-6)

नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक फलपर्यवसायिनी मोक्ष की इच्छा (ऐसी इच्छा जो मोक्ष के पूर्व समाप्त न हो) को ज्ञान की प्रथम भूमिका कहा जाता है। ऐसी मोक्ष की इच्छा से प्रेरित होकर गुरु के निर्देशानुसार वेदान्त-वाक्यों का विचार दूसरी भूमिका है। इसके बाद निदिध्यासन (ध्यान के अभ्यास) कें द्वारा मन को एकाग्र करके सूक्ष्म वस्तु के ग्रहण की योग्यता प्राप्त करना, यह तृतीय भूमिका है। इन तीन भूमिकाओं को योगीगण जाग्रदवस्था कहते हैं। यह तीनों अवस्थाएँ साधनरूप हैं तथा इनमें जगत् का भान होता रहता है। अतएव योगवाशिष्ठ में कहा गया है—

भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम्।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते॥

हे राम! यह तीन भूमिकाएँ 'जाग्रत्' कही जाती हैं तथा इस योग की जाग्रत् अवस्था में भेदबुद्धि के कारण जगत् यथावद् दिखाई पड़ता है।

ज्ञान की चौथी भूमिका निर्विकल्पक ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्काररूपा है। यह फलरूपा भूमिका है, जिसे स्वप्नावस्था कहते हैं। क्योंकि इसमें सम्पूर्ण जगत् मिथ्यारूप में भासित होता है। गुरु के निर्देशानुसार चलता हुआ योगी इस अवस्था को प्राप्त करने पर 'ब्रह्मवित्' कहलाता है। अतएव कहा गया है—

अद्वैते स्थैर्य्यमायाते द्वैते प्रशममागते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकामिताः॥

पाँचवी, छठीं (षष्ठी) तथा सातवीं (सप्तमी) भूमिकाएँ जीवन्मुक्ति के ही अवान्तर भेद हैं। सविकल्प-समाधि के अभ्यास से मन का निरोध होने पर जो निर्विकल्पक समाध्यवस्था प्राप्त होती है, उसे असंसक्ति या सुषुप्ति कहते हैं। इस

अवस्था से योगी स्वयं व्युत्थान को प्राप्त करता है। ऐसे योगी को 'ब्रह्मविद्वर' कहते हैं। इस समाधि का अभ्यास होने पर चिरकाल तक स्थिर रहने वाली जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे पदार्थाभावनी (जिसमें पदार्थों का भावन न हो) अर्थात् गाढ़ सुषुप्ति कहते हैं। इस अवस्था से योगी स्वयं नहीं व्युत्थान प्राप्त करता, पर प्रयत्न से ही उसे व्युत्थान-लाभ होता है। ऐसे योगी को ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं। अतएव कहा गया है—

पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम्।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात् पतति भूमिकाम्॥

सुषुप्ति नाम की पाँचवीं भूमिका को प्राप्त कर योगी क्रमशः गाढ़ सुषुप्ति नामक छठीं भूमिका को प्राप्त करता है।

सातवीं समाध्यवस्थां को प्राप्त योगी न तो स्वतः न दूसरे के प्रयत्न से व्युत्थान को प्राप्त करता है; क्योंकि उसे भेददर्शन होता ही नहीं है, अन्य लोग उसके दैहिक व्यवहार का निर्वाह कराते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने पर वह ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। इस अवस्था को योगभूमियों की सीमा बतलाते हुए कहा गया है—

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात्।
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्त्वथवैष न किञ्चन॥

विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु॥

षष्ठी भूमिका में स्थिर होकर अभ्यासवशात् वह सातवीं भूमिका को प्राप्त करता है। यह सप्तमी योगभूमिका विदेहमुक्तता है। यह देह सम्बन्ध के रहते हुए भी है। यह अवस्था वाणी से अगम्य है। इस अवस्था में योगी किस स्वरूप को प्राप्त हुआ या नहीं हुआ, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह अवस्था योगभूमि की सीमा है। इस अवस्था में 'योगी परिपूर्ण परमानन्दघन' ही रहता है।

ऊपर स्पष्ट किया गया है कि पाँचवीं, छठीं तथा सातवीं भूमिका जीवन्मुक्ति के ही अवान्तर भेद हैं। 5वीं अवस्था को सुषुप्त्यवस्था तथा छठीं अवस्था को गाढ़ सुषुप्त्यवस्था कहते हैं। नाम से ही स्पष्ट है कि जैसे सुषुप्ति तथा गाढ़ सुषुप्ति

से मनुष्य प्रबोध को प्राप्त करता है, उसी प्रकार 5वीं भूमिका तथा छठीं भूमिका से भी योगी क्रमशः अपने प्रयत्न से तथा दूसरे के प्रयत्न से व्युत्थान को प्राप्त कर लेता है। किन्तु सातवीं भूमिका से वह व्युत्थान को नहीं प्राप्त करता। उस समय उसके शरीर के कार्यों का सम्पादन भी अन्य लोग ही करते हैं, स्नान-शौचादि भी वह स्वयं नहीं करता। अतएव इस अवस्था को 'विदेहमुक्तता' की अवस्था कहा गया है।

आचार्यचरण ने **'खौस खड़ावाँ इह मति लीन'** इस मात्रा में सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था का वर्णन किया है। यह ज्ञान की चौथी भूमिका है, जिसे 'फल' भूमिका शब्द से ऊपर कहा गया है। यह स्वप्नावस्था है। इसके बाद की तीन भूमिकाओं को जीवन्मुक्ति का ही अवान्तर भेद कहा गया है। **'मुक्ता फिरै बन्ध नहि कोय'** से जीवन्मुक्त की पाँचवीं और छठीं भूमिका की ओर संकेत किया गया है; क्योंकि जीवन्मुक्त का फिरना या भ्रमण करना इन दो अवस्थाओं तक ही सीमित है। सातवीं अवस्था में तो ज्ञानी का जगत् से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता, वह विदेहमुक्त की तरह ही होता है।

ज्ञान की तीसरी अवस्था जिसे तनु, मानसा अवस्था कहा गया है, उसी की ओर सङ्केत आचार्यचरण ने—

'चीत चितम्बर रुणझुण माला'।

तथा—

'बुद्धि वघम्बर कुलह पोस्तीन'।

में किया है। क्योंकि चित्त इस अवस्था में शुद्ध होकर आत्मतत्त्व के ग्रहण के योग्य हो जाता है।

चौथी भूमिका 'सत्त्वापत्ति' रूपा कही गयी है। यही सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था है, इसे पूर्व में निर्दिष्ट किया गया है। सम्प्रज्ञात-समाधि का योगसूत्र में जो वर्णन मिलता है, उस पर विचार करें तो यह प्रमाणित हो जाता है। **'अथ योगानुशासनम्'** (यो.सू. 1/1) सूत्र के भाष्य में सम्प्रज्ञात-समाधि का वर्णन करते हुए कहा गया है—**'यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति**

स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते'। योगवार्तिककार ने भाष्य की इन पंक्तियों का व्याख्यान करते हुए कहा है—'यस्तु समाधिरेकाग्रे चेतसि वर्तमानोऽर्थं ध्येयं वस्तु सद्भूतं परमार्थभूतं प्रकर्षेण द्योतयति साक्षात्कारयति ततश्च क्लेशानविद्याऽऽदीन् पञ्च क्षिणोति, ततोऽपि कारणानि श्लथयति, अदृष्टोत्पादनाक्षमाणि करोति तथा निरोधमसम्प्रज्ञातयोगमभिमुखं प्रत्यासन्नं करोति परवैराग्यजननेनेति शेषः स समाधिः सम्प्रज्ञातो योग इति कथ्यते इत्यर्थः। सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन् निरोधविशेषरूपे योगे इति सम्प्रज्ञातो योगः'। एकाग्र चित्त में वर्तमान जो समाधि परमार्थ[113] सद्भूत अर्थ का प्रकर्षेण (अच्छी तरह से) प्रकाशन करती है तथा परमार्थ सद्भूत आत्मतत्त्व के प्रकाशन के द्वारा[114] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप पाँच क्लेशों को क्षीण करती है। इसके अनन्तर कारण का उच्छेद हो जाने से धर्म एवं अधर्मरूप बन्धनों को, जिनके कारण बुद्धि एवं पुरुष बन्धन को प्राप्त हो जाते हैं, शिथिल कर देती है, उस समाधि को सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं; क्योंकि इसमें ध्येय वस्तु का सम्यग् रीति से (अच्छी तरह से) साक्षात्कार होता है। पूर्व में पृ. 166 पर भाष्य के अनुसार समाधि स्वरूप का सामान्य वर्णन किया गया है। यहाँ पर वार्तिककार के अनुसार विशेष विवरण प्रस्तुत किया गया।

असम्प्रज्ञात-योग या असम्प्रज्ञात-समाधि क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए आगे वार्तिक में कहा गया है—'सम्प्रज्ञातकालीनसाक्षात्काररूपिणी या वृत्तिः तस्या अपि वक्ष्यमाणपरवैराग्येण निरोधे जायमाने त्वसम्प्रज्ञातयोग इत्यर्थः। वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था, अभावस्याधिकरणावस्था-विशेषमात्ररूपत्वात्, निरुध्यन्तेऽस्यामवस्थायामिति व्युत्पत्तेर्वा। सा च अस्याः संस्कारमात्रैः परिणामधारा, निरोधकाले संस्कारतारतम्यरूपस्यैव चित्तपरिणामस्य सूत्रभाष्याभ्यां वक्ष्यमाणत्वादिति। न तु वृत्तिनिरोधो वृत्त्यभावमात्रमेकाग्रताविशेषो वा, निरोधस्यावरणमात्रत्वे वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेरेकाग्रतामात्ररूपत्वे समाधिरूपादङ्गात् सम्प्रज्ञाताच्च भेदानुपपत्तेः।

उल्काहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य तास्त्यजेत्।
बोधेन ज्ञानमालोक्य तथा बोधं परित्यजेत्॥

इत्यादिस्मृतिषु यावद्धृदि गतं क्षयमिति पूर्वोक्तश्रुतौ चासम्प्रज्ञातस्य सकलवृत्तिशून्यत्वश्रवणाच्च'।

आशय यह है कि सम्प्रज्ञात-समाधि के काल में साक्षात्काररूपिणी जो वृत्ति रहती है, उसका भी (उस वृत्ति का भी) आगे वर्णित किये जाने वाले उत्कृष्ट वैराग्य से निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात-योग (सम्प्रज्ञात से भिन्न योग) प्राप्त होता है। वृत्ति-निरोध की अवस्था चित्त की ऐसी अवस्था है, जिसमें वृत्तियों के संस्कार रह जाते हैं; क्योंकि वृत्तियों का अभाव वृत्तियों के अधिकरण चित्त का अवस्थाविशेष ही है। यह अर्थ निरोध शब्द की 'निरुध्यन्तेऽस्यां वृत्तयः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्राप्त होता है। निरोध की यह अवस्था मात्र संस्कारों की परिणामधारा है। क्योंकि योगसूत्रकार तथा भाष्यकार दोनों ही निरोधकाल में संस्कारतारतम्यरूप ही चित्त का परिणाम आगे कहते हैं। वृत्तिनिरोध वृत्त्यभावमात्र अथवा एकाग्रताविशेष नहीं है; क्योंकि निरोध को अभावमात्र मानने पर वह आगे वर्णित किए जाने वाले संस्कारों का जनक नहीं होगा, एकाग्रताविशेष मानने पर निरोधसमाधि तथा अङ्गभूत सम्प्रज्ञात-समाधि से भेद नहीं होगा। स्मृतियों तथा श्रुतिवचनों में भी असम्प्रज्ञात-समाधि में सकलवृत्तिशून्यत्व का प्रतिपादन सुना जाता है, जैसे—कोई वस्तु (द्रव्य) खोजने वाला व्यक्ति द्रव्य को देखकर हाथ में प्रकाश साधन के रूप में ली हुई उल्का को छोड़ देता है, उसी प्रकार बोध (वृत्ति) के द्वारा ज्ञान को देखकर (प्राप्त कर) वृत्ति से आत्म-प्राप्ति हो जाने पर उसका उल्का की तरह त्याग हो जाता है। इस स्मृति में तथा जब तक हृदय की वृत्तियों का क्षय (नाश) नहीं हो जाता, इस श्रुति में असम्प्रज्ञात-समाधि में सकलवृत्तिशून्यता सुनी जाती है।

तोड़ा चूड़ा और जँजीर, लै पहिरै साधु उदासी धीर।

अस्तु, संगति क्रम से विचार करें तो सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि या निर्बीज-समाधि की चरमावस्था, जिसे ज्ञान की सातवीं भूमिका के रूप में ऊपर वर्णित किया गया है, को प्राप्त करने में ज्ञान की पाँचवीं एवं छठीं भूमिकाओं का उपयोग है। सातवीं भूमिका तो विदेहमुक्तता की अवस्था के रूप में वर्णित है, जिसे आचार्यचरण 'जँजीर' शब्द से द्योतित करते हैं। जँजीर उर्दू शब्द है, जो तरंग, मौज या लहर का द्योतन करता है। आचार्यचरण ने 'तोड़ा, चूड़ा और जँजीर लै पहिरै साधु उदासी धीर' इस मात्रा में पैर में पहनने का गहना, टोटा या कमी, रूपये रखने की थैली (जिसमें एक हजार रूपये आ सकें)

आदि के वाचक तोड़ा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया है। मात्रा में प्रयुक्त चूड़ा शब्द शिखा, पहाड़ की चोटी, मस्तक, कड़ा, कंकण आदि अर्थों का वाचक है। 'लै पहिरै साधु उदासी धीर' इस उत्तर-मात्रा के द्वारा तोड़ा, चूड़ा और जँजीर को लेकर पहनने का विधान है। इन दोनों मात्राओं के अर्थ पर विचार करें तो सामान्य अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि तोड़ा (पैर का गहना या शिर का बाल बाँधने का डोरा?), चूड़ा (कड़ा कंकण) तथा जञ्जीर को उदासीन सन्त धारण करें। किन्तु आध्यात्मिक अर्थ इससे भिन्न है। यदि 'तोड़ा' शब्द का अर्थ टोटा या कमी गृहीत करें तो तोड़ा धारण करने का तात्पर्य होगा कमी को धारण करना, यह कमी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूप पञ्चक्लेशों की कमी है; क्योंकि ऊपर यह वर्णित किया गया है कि सम्प्रज्ञात-समाधि अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करती है। **'क्षिणोति च क्लेशान्'** व्यास-भाष्य (यो.सू. 1/1) इसमें प्रमाण है। यह समाधि कर्मबन्धनों को भी शिथिल करती है। धर्म एवं अधर्म रूप जो बन्धन के कारण हैं, जिनके रहते जीव अवश्य भोगायतन शरीर को प्राप्त करता है, उन्हें अदृष्ट के उत्पादन में अक्षम बना देती है; क्योंकि इनमें अदृष्ट के उत्पादन की क्षमता अविद्याकाल में ही होती है। इस समय अविद्या के नष्ट होने से धर्म एवं अधर्म, भोगप्रद अदृष्ट का उत्पादन करने में समर्थ नहीं रह जाते। इस प्रकार संचित कर्मों की फलप्रदता सम्पन्न होती है। केवल संचित कर्म ही फल देते हैं। यह भी कमी है।

सम्प्रज्ञात-समाधि का एक और गुण योगसूत्र-भाष्य के आधार पर ऊपर वर्णित है—**'निरोधमभिमुखीकरोति'** अर्थात् असम्प्रज्ञात या निर्बीज-समाधि को सम्प्रज्ञात-समाधि, परवैराग्य का उत्पादन कर आसन्न करती है। परवैराग्य उत्कृष्ट वैराग्य है, जिसके द्वारा संसार में राग का सर्वथा अभाव या कमी होती है। 'तोड़ा' शब्द के द्वारा आचार्यचरण संसार में राग की इस कमी को भी प्राप्त करने या धारण करने का संकेत देते हैं। गुरु-वचन से प्राप्त ज्ञान में निष्ठा के कारण उदासीन महात्मा आत्मध्यान करते हुए इन स्थितियों को प्राप्त करते हैं, अतएव आचार्यचरण लेकर पहनने की बात करते हैं; क्योंकि साधक स्वयं अपनी निष्ठा एवं प्रयास से इन अवस्थाओं को प्राप्त करता है।

चूड़ा को भी लेकर पहनने का उपदेश आचार्यचरण करते हैं। यह चूड़ा लौकिक दृष्टि से शिर में तोड़ा से बँधा साम्प्रदायिक चिह्न हो या हाथ का कड़ा;

किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से तो आचार्यचरण चूड़ा शब्द की उत्पत्ति जिससे होती है, उस 'चुड-समुच्छ्राये' धातु[115] के अर्थ समुच्छ्रयण मात्र को लेकर अगली भूमिका में समुच्छ्रयण (सम्यक्तया ऊपर जाना) को 'चूड़ा' शब्द से कहना चाहते हैं; क्योंकि योगी अपनी पूर्णता को प्राप्त किये बिना विश्राम नहीं लेता। इस प्रकार समुच्छ्रयण के द्वारा वह सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्थाभूत ज्ञान की चतुर्थ भूमिका, जिसे फलरूपा भूमिका कहते हैं, से ऊपर उठता हुआ क्रमशः सुषुप्ति, गाढसुषुप्ति तथा तुर्यगा अवस्था को प्राप्त करता है। अतः समुच्छ्रयण की आवश्यकता को ध्यान में रखकर आचार्यचरण ने तोड़ा के साथ चूड़ा को धारण करने पर बल दिया। क्रम में तोड़ा, चूड़ा के कहने से स्पष्ट होता है कि क्रमशः प्रयत्न करने से समुच्छ्रयण की सीमा तुर्यगा अवस्था आती है, वह हमें जञ्जीर की तरह बाँधती है; क्योंकि यह योग की सीमा है। 'जँजीर' शब्द तरङ्ग, मौज या लहर को कहता है। अतः 'जँजीर' शब्द का सबसे अन्त में प्रयोग योगी की उस अवस्था को द्योतित करता है जिसमें वह केवल आनन्दघनरूप होता है, केवल परब्रह्म में लीन रहता है, आनन्द की तरंगों से तरंगायित रहता है। वह कोई कर्म नहीं करता, चाहे अपने शरीर के कर्म हों या अन्य कर्म, उसका भेददर्शन सर्वथा समाप्त हो जाता है। इस समाध्यवस्था से उसका व्युत्थान नहीं होता।

यद्यपि गीता में यह कहा गया है कि **'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'** (गीता 3/8)—हे अर्जुन! अकर्म अवस्था में तुम्हारी शरीरयात्रा भी नहीं सम्पन्न हो पायेगी, तथापि यह बाहुल्याभिप्राय से कहा गया वचन है, सार्वत्रिक नियम नहीं है। अथवा यह कह सकते हैं कि शरीर-यात्रा, शरीर से प्राप्त होने वाले प्रयोजनों की सिद्धि के लिए शरीर से किए जाने वाले कर्म हैं, जिनकी आवश्यकता उस ब्रह्मवित् को नहीं होती; क्योंकि उसका कोई अपना प्रयोजन नहीं होता। यह अवश्य अवधेय है कि ऐसा ब्रह्मविद्वरिष्ठ जगत् की आवश्यकता होता है। वह अपनी अवस्थिति मात्र से लोकों को पवित्र करता है। संसार के लोग उसकी सेवा कर उसके शरीर को चलाने का प्रयास करते हैं। अतएव गीता (3/18) की टीका (मधुसूदनी) में यह समाधि अग्रिम रूप में वर्णित है—

'यस्यास्तु समाध्यवस्थायाः न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति सर्वथा भेददर्शनाभावात्; किन्तु सर्वदा तन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणैव

परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुवशादन्यैर्निर्वाह्यमानदैनिकव्यवहारः परिपूर्ण-परमानन्दघन एव सर्वतस्तिष्ठति सा सप्तमी तुरीयावस्था'। जिस समाधि की अवस्था में भेद-दर्शन का सर्वथा अभाव होने से योगी न स्वतः न पर-प्रयत्न से उत्थित होता है, परमेश्वर से प्रेरित प्राणवायुवशात् उसका जीवन चलता है तथा अन्य लोग उसके दैनिक व्यवहार का निर्वाह कराते हैं। इस प्रकार वह एक क्षण के लिए भी आनन्द-समुद्र से असम्पृक्त नहीं होता।

जञ्जीर प्रयत्न की दृढ़ता, कटिप्रदेश से ऊपर भाग की ऋजुता एवं ब्रह्मचर्य की दृढ़ता का सूचक है, जिसके द्वारा योगी क्रमशः अनन्तर ज्ञान-भूमियों को पार करता हुआ सीमाभूत भूमिका को प्राप्त करता है।

यहाँ वर्णित तोड़ा, चूड़ा और जँजीर को कौन प्राप्त करेगा (लेकर पहनेगा), इसका उत्तर आचार्यचरण ने साधु, उदासी, धीर इन तीन विशेषणों से दिया है। तीनों विशेषण सार्थक हैं; क्योंकि **'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'** इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न साधुशब्द दूसरे का कार्य सिद्ध करने वाले का वाचक है। दूसरे का कार्य वही सिद्ध कर सकता है जिसका अपना प्रयोजन न हो। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ऐसा प्राणी सम्भव नहीं है जिसका अपना प्रयोजन न हो; क्योंकि आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न पुरुष का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। गीता (3/18) में यह पूर्व में वर्णित है। अतः ब्रह्मवित् ही वास्तविक साधु है जो केवल परोपकार ही करता है। ऐसा ब्रह्मवित् सम्प्रज्ञात-समाधि में आत्मा का साक्षात्कार करने वाला होता है। 'धीर' शब्द से भी ऐसा ही कहा जा रहा है। धीर प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करता है, इस तथ्य को कठोपनिषद् के—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(अ. 2, व. 1, मं. 1)

में बतलाया गया है। श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श आदि विषयों का ग्रहण करती हैं, यह इनका स्वभाव है। परमात्मा ने बाह्य विषयों का ग्रहण करने के स्वभाव वाली इन्द्रियों की रचना कर उनकी हिंसा की; क्योंकि जब तक विषय के प्रति उन्मुखता का त्याग इन्द्रियाँ नहीं करतीं, तब तक आत्म प्रकाशन में वे बाधक बनी रहेंगी। अतः कोई धीर व्यक्ति जो अमरणधर्मा आत्मा को प्राप्त करना

चाहता है, वह सम्पूर्ण विषयों से चक्षु आदि इन्द्रियों को व्यावृत्त कर चित्त को सुसंस्कृत कर आत्मा का प्रत्यक्ष करता है।

इन्द्रियों में नेत्र का प्राधान्य है क्योंकि उसके द्वारा मन अधिक बहिर्मुख होता है। अतः मन के नियन्त्रण में भी चक्षुनिरोध का उपयोग सबसे अधिक है। इस तथ्य को **'खौस खड़ावाँ इह मति लीन'** इस मात्रा में आचार्यचरण ने बतलाया है। क्योंकि आँखों के गड्ढे में जाकर व्यापारशून्य हो जाने पर चित्त को स्थैर्य प्राप्त होता है (इह मति लीन), यह संकेत प्रकृत मात्रा का मुख्य प्रतिपाद्य है।

उदासी शब्द उदासीन का अप्रभ्रंश है। **'उत् ऊर्ध्वम् आसीनः उदासीनः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार उदासीन शब्द के कई अर्थ होते हैं; क्योंकि 'जो ऊपर स्थित है, वह उदासीन है' इस विवक्षा में गुणों के ऊपर स्थित महात्मा, जो गुणों के बन्धन में नहीं है, वह उदासीन है। अतएव भगवद्गीता में कहा गया है—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

(गीता 14/23)

जैसे उदासीन व्यक्ति कोई पक्ष नहीं लेता, न राग करता है न द्वेष करता है, उसी तरह आत्मविद् भी राग-द्वेषशून्य होकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है तथा सुख-दुःखाकार में परिणत गुणों से वह स्वरूप से च्युत नहीं होता; क्योंकि वह सर्वदा यह विचार करता रहता है कि गुण ही देह, इन्द्रिय तथा विषय रूप में परिणत होकर ममत्व के कारण परस्पर व्यवहार कर रहे हैं, इस सर्वभासक आत्मा का तो भास्य प्रपञ्च से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः बाह्य प्रपञ्च को स्वप्न की तरह मायामात्र समझकर तथा अपने को परमार्थ सत्य, निर्विकार तथा द्वैतशून्य समझकर वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। इस प्रकार उदासीन शब्द आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न यति की आत्मलीनता को सूचित करता है।

जटा जूट मुकुट सिर होई

अस्तु, सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद तोड़ा, चूड़ा और जञ्जीर को धीर उदासी साधु लेकर पहनता है, यह कहने के साथ ही आचार्यचरण 'जटा जूट मुकुट सिर होई' यह कहकर सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद असम्प्रज्ञात-समाधि प्राप्त करने हेतु

प्रतीक्षारत साधक, समाधि में बाधक बनने वाली मध्यवर्ती सिद्धियों को प्राप्त करता है, यह सूचित करते हैं। तोड़ा, चूड़ा और जञ्जीर को तो वह लेकर पहनता है, इनके लिए वह प्रयास करता है; किन्तु जटा-जूट का मुकुट उसके सिर पर होता है। अर्थात् सिद्धियों का समूह उसके पास अनायास आता है। सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद असम्प्रज्ञात-समाधि प्राप्त होने के पहले बीच के काल में अथवा धारणा के प्रतिष्ठित होने पर समाधि की बाधकभूता सिद्धियाँ आती हैं। इसको **'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'** (3/37) इस योगसूत्र में वर्णित किया गया है। श्रीमद्भागवत में भी एकादश स्कन्ध के 15वें अध्याय में सिद्धियों का वर्णन करके उन्हें विघ्नरूप बतलाया गया है।

योग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यह भी बतलाया गया है कि जन्म से, औषधि से, तप से तथा मन्त्र से जो भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उन सब सिद्धियों को योग से प्राप्त किया जा सकता है; किन्तु अन्य साधनों से योग की गति (योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों आदि) को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

योगसूत्र **'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः'** (3/44) में वार्तिककार ने सिद्धियों का वर्णन करते हुए कहा है—

'तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्योच्चावचविषयकसंयमानां ज्ञानक्रियारूपाः सिद्धय उक्ताः। इदानीं वितर्कविचारेत्यादिसूत्रैः स्वशास्त्रे मुख्यतः प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्रहीतृग्रहणयोः ग्राह्य-निरूप्यत्वादादौ ग्राह्यविषयकसंयमस्य सिद्धिमाह—**स्थूलस्वरूप-सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः**'।

'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्' (यो.सू. 3/16) से आरम्भ करके उच्च (ऊँचा) तथा अवच (नीच) विषयक संयमों के फलभूत ज्ञानरूप तथा क्रियारूप सिद्धियों का वर्णन किया गया। अब प्रकृत सूत्र (3/44) से आरम्भ करके आगे के सूत्रों में 'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुमात् सम्प्रज्ञातः' (1/17) 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (1/18) तथा आगे के अन्य सूत्रों में योगशास्त्र में मुख्य रूप से परिगृहीत, ग्रहीता, ग्रहण (इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (विषय) में संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन—'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च' (यो.सू. 3/45) से आरम्भ

होता है। इसी सूत्र में भूतजय (व्यक्ति भेद से अनन्तरूप में स्थित भूत, इन्द्रिय एवं प्रकृति का, सत्त्वादि गुणों का तथा उनके विकारों का, योगी की इच्छा का अनुविधान (अनुवर्तन) करने को ही भूतजय कहते हैं) से प्राप्त होने वाली कायसम्पत् का उल्लेख है। भूतजय से योगी दर्शनीय कान्ति वाला, अतिशय बली तथा वज्रसंहनन (वज्र की तरह दृढ़ अवयव वाला) हो जाता है। इसके अनन्तर '**ग्रहणस्वरूपा-स्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः**' (3/47) योगसूत्र में इन्द्रिय-जय की सिद्धि का वर्णन है। इन्द्रिय-जय से मनोजवित्व (शरीर की मन की तरह शीघ्रगमनशीलता), विकरण भाव, इससे स्थूल देहसम्पर्करहित इन्द्रियों का जिस अभिप्रेत देश-काल तथा विषय में वृत्तिलाभ इष्ट होता है, वहाँ वृत्ति का लाभ प्राप्त होता है, इन्द्रियाँ उसके सम्पर्क में आती हैं तथा प्रधान जय की सिद्धि होती है। इन सिद्धियों का वर्णन '**ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च**' (3/48) योगसूत्र में है। इसके बाद 3/49 में विशोका नाम की सिद्धि का वर्णन है, जिसके प्राप्त होने पर योगी सर्वज्ञ होता है, उसके क्लेश-बन्धन क्षीण हो जाते हैं तथा वह वशी (सबका नियन्ता) होकर विहार करता है।

इसके अनन्तर '**तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्**' (यो.सू. 3/50) में यह वर्णन है कि विवेक-ख्याति (बुद्धि पुरुष की अन्यताख्याति) में निष्ठा होने से ही विवेक-ख्याति तथा उससे होने वाली सिद्धियों में वैराग्य के कारण असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है। असम्प्रज्ञात-योग से दुःखदोष के बीजभूत सम्पूर्ण वासना और कर्मों का चित्त के साथ लय हो जाने पर पुरुष का कैवल्य (बुद्धि सम्पर्क से रहित केवल पुरुषमात्र का अवस्थान) हो जाता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात-योग से असम्प्रज्ञात-योग का अन्तर स्पष्ट कर दिया गया। सम्प्रज्ञात-योग में चित्त रहता है, असम्प्रज्ञात-समाधि में उसका पूर्ण निरोध हो जाता है।

मुक्ता फिरै बन्ध नहिं कोई

'बन्ध' शब्द सिद्धियों का बोधक है; क्योंकि सिद्धियों का ऊपर जो वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि उनका परिष्कृत चित्त की स्थितिविशेष में प्रादुर्भाव होता है। इन सिद्धियों को समाधि (असम्प्रज्ञात) में बाधक कहा गया है, अर्थात् ये असम्प्रज्ञात-समाधि का बाधन करती हैं। आचार्यचरण ने 'बन्ध' शब्द

से इनकी ओर सङ्केत किया है। इन सिद्धियों को जटा-जूट रूप मुकुट बतलाया है। मुकुट शब्द मण्डन या भूषण का बोधक है; क्योंकि मकि मण्डने धातु से यह बनता है। जटा-जूट संहत केशों का समूह है, उसको सिद्धियों के समूह के रूप में आचार्यचरण वर्णित करते हैं; किन्तु जब साधक दोषदर्शन के द्वारा (जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है) इन सिद्धियों के बन्धन को तोड़कर, सिद्धियों का तिरस्कार कर आगे बढ़ता है तथा असम्प्रज्ञात-योग को प्राप्त कर लेता है, तो असम्प्रज्ञात-समाधि की अन्तरायभूता यह सिद्धियाँ बन्धन नहीं कर पातीं और योगी बन्धन-विनिर्मुक्त होकर विचरण करता है—'मुक्ता फिरै बन्ध नहिं कोई'।

आचार्यचरण ने सिद्धियों को मुकुट बताकर यह स्पष्ट कर दिया है कि जैसे राजा मुकुट को धारण करता है तथा उसका परित्याग भी करता है। वह उसके लिए बन्धन न होकर भूषण होता है, वह उसके राजत्व को अभिव्यक्त कर लोककार्य कराता है, धर्मपूर्वक शासन कराता है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त की सिद्धियाँ भी परकार्य का साधन कराती हैं; किन्तु बन्धन नहीं होतीं। व्युत्थानकाल में वह इन सिद्धियों का उपयोग लोकहित में करता हुआ भी उनके बन्धन में नहीं होता; क्योंकि उनका तिरस्कार कर निर्विशेष आत्मा का साक्षात्कार कर चुका होता है।

सम्प्रज्ञात-समाधि काल की अन्तिम सिद्धि धर्ममेघ-समाधि के रूप में **'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः'** (4/29) योगसूत्र में वर्णित है। इस समाधि के प्राप्त होने से क्लेश-कर्म आदि का समूल उन्मूलन हो जाता है। इसकी प्राप्ति से सभी पदार्थों का ज्ञान होता है। मेघ काला-श्वेत तथा मिश्रित विभिन्न प्रकार का होता है, अतः जटा-जूट के मुकुट को धर्ममेघ कहा जाय, तो समुचित ही है। किन्तु जीवन्मुक्त सन्त इसकी भी उपेक्षा करता है, वह इससे फिर जाता है, मुख मोड़ लेता है, तो असम्प्रज्ञात समाधि का कोई बन्ध नहीं रह जाता, इस प्रकार वह योगी पूर्णत्व को प्राप्त करता है।

'मुक्ता फिरै बन्ध नहिं कोई' का सामान्य अर्थ यह किया जाता है कि साधु जटा-जूट को मुड़ाकर बन्धनमुक्त होकर घूमता है; किन्तु यह उचित नहीं है; क्योंकि शिर पर बालों के न रहने पर तोड़ा और चूड़ा (साम्प्रदायिक चिह्न जो तोड़ा से बँधा रहता है) दोनों को धारण करना सम्भव नहीं है; जञ्जीर तो कमर

में धारण की जाती है, उसका शिर के बाल से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर उसका त्याग तो स्वेच्छा से ही होगा। तोड़ा, चूड़ा के साथ या दोनों के अभाव में वह रह सकती है, नहीं भी रह सकती। आध्यात्मिक या रहस्य अर्थ में तो असम्प्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने के लिए तोड़ा (टोटा या कमी को) अर्थात् क्लेशों की कमी को प्राप्त करना होगा। क्योंकि क्लेशों के क्षीण हुए बिना अगली भूमिका की ओर योगी नहीं बढ़ता। चूड़ा (समुच्छ्रयण=ऊपर उठना) तथा जञ्जीर की आवश्यकता है। जञ्जीर शब्द उस आनन्दघनता की स्थिति को द्योतित करता है, जिसकी प्राप्ति के लिए साधक निरन्तर प्रयासरत रहता है।

इस प्रकार सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करने वाले योगी के शिर पर जटा-जूट का मुकुट हो जाता है, अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि काल में प्राप्त होने वाली सभी सिद्धियाँ उसे प्राप्त होती हैं। सम्प्रज्ञात-योग की चरमावस्थारूप धर्ममेघ-समाधि के प्राप्त होने के बाद निर्बीज (असम्प्रज्ञात) समाधि प्राप्त होती है। योगसूत्र के तृतीय अध्याय में वर्णित सम्पूर्ण सिद्धियों को जिनमें अन्तिम सिद्धि धर्ममेघसमाधि के रूप में (4/29) वर्णित है, जटा-जूट के मुकुट के रूप में आचार्यचरण ने वर्णित किया है। इस धर्ममेघसमाधि के प्राप्त होने के बाद साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इस तथ्य को **'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः'** (4/30) योगसूत्र में वर्णित किया गया है। यहाँ का व्यास-भाष्य द्रष्टव्य है—**'तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति'**। धर्ममेघ-समाधि के लाभ से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि क्लेश मूल सहित नष्ट हो जाते हैं। कर्म, वासना जो अच्छे-बुरे फलों को देती है, मूल के सहित निवृत्त हो जाती है तथा क्लेशकर्म की निवृत्ति हो जाने पर ज्ञानी, विद्वान् जीवनकाल में ही विमुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति की इसी अवस्था का वर्णन **'मुक्ता फिरै बन्ध नहिं कोई'** इस मात्रा में किया गया है। जीवन्मुक्त महात्मा सिद्धियों की उपेक्षा कर, इनसे मुक्त होकर चरम लक्ष्य असम्प्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करता है। यह अवधेय है कि सम्प्रज्ञात-समाधिकाल में बन्धन धीरे-धीरे शिथिल होते हैं, उनकी पूर्णतः समाप्ति असम्प्रज्ञात-समाधि के प्राप्त होने पर ही होती है।

नानक पूता श्रीचन्द बोले। जुगत पछाणे तत्त्व विरोले॥

मात्रा की समाप्ति के अवसर पर आचार्यचरण का 'नानक पूता श्रीचन्द बोले जुगत पछाणे तत्त्व विरोले' यह वचन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आगे की दो मात्राएँ तो फलश्रुति हैं, जिन पर उपक्रम के आलोक में विचार होगा। पहले 'नानक पूता श्रीचन्द बोले' इसके अर्थ का विचार करें तो सामान्यतः यह प्रतीत होता है कि गुरु नानकदेव के पुत्र श्रीचन्द्र भगवान् यह कहते हैं—युक्ति को पहचान कर, अच्छी तरह से जानकर उनके द्वारा तत्त्व को पिरोलो, तत्त्व का साक्षात्कार कर लो; किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से **'नानकेन पूतः पवित्रीकृतः नानकपूतः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार गुरु नानकदेव के द्वारा पवित्र किए गये प्रभु श्रीचन्द्र यह बोलते हैं, यह अर्थ है। गुरु नानकदेव ने भगवान् श्रीचन्द्र को पवित्र किया, उन्हें ज्ञान दिया, ज्ञानसाधन योग दिया। योग-साधना एवं उपायों का बीजवपन किया। यह बीज आगे श्रीचन्द्र प्रभु के गुरुदेव अविनाशी मुनि के निर्देश से पल्लवित हुए तथा भगवान् श्रीचन्द्र अद्भुत सामर्थ्य प्राप्त किए। शिष्य के लिए 'पूत' शब्द का प्रयोग गोरखबानी में हुआ है—

आदि नाथ नाती मछिंद्र नाथ पूता।
ब्यंद तोलै राषीले गोरष अवधूता॥

(पद-रागरामग्री 5, गो.बानी, पृ. 110)

ज्ञान के बिना कोई पवित्र नहीं होता है तथा उसके लिए योग की आवश्यकता होती है। यह तथ्य श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के अधिकारी अर्जुन को 'ज्ञाननिष्ठा' की प्राप्ति हेतु निष्काम कर्म को 'योग' या 'तत्त्वप्राप्ति' का साधन बताने तथा 'समाधियोग' का भी साधन रूप में वर्णन करने से स्पष्ट होता है। नानक शब्द का दो अर्थ है—1. गुरु नानकदेव तथा 2. परब्रह्म; क्योंकि 'अन प्राणने' धातु से 'अनति इति अनः' (पचाद्यच्) इस व्युत्पत्ति में निष्पन्न अन शब्द का न शब्द के साथ **'सुप्सुपा'** से समास करें, तो 'नान' शब्द बनेगा, जो प्राणधारी से भिन्न परमात्मा को सिद्ध करेगा। नान शब्द से स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय करें तो 'नानक' शब्द परब्रह्म का ही वाचक होगा। परब्रह्म कैसे पवित्र करेगा? वह सबका स्वरूप है तो सभी प्राणियों को पवित्र क्यों नहीं करता? इस प्रकार की शङ्काएँ दृढ़मूल नहीं हैं; क्योंकि प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) से अभिन्न रूप में

परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ही वह पवित्र करता है। इसी साक्षात्कार को 'ज्ञान' कहते हैं तथा यही पवित्र करता है।

किन्तु इस प्रकार का आत्मसाक्षात्कार चित्त का पूर्णतया लय होने पर ही होता है तथा चित्त-लय की दो प्रक्रिया योग और ज्ञान के रूप में 'सुरति की सुई लै सद्गुरु सीवै' इस मात्रा पर विचार के प्रसंग में चर्चित है। प्रकृत में चित्तलय के सम्बन्ध हैं, उस पर विचार प्रस्तुत है। वशिष्ठ जी ने कहा है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

हे राम! चित्त का नाश करने हेतु यह दो क्रम मार्ग ('क्रमु पादविक्षेपे' धातु से क्रम शब्द बनता है, जो यह बतलाता है कि चित्तनाश के लिए प्रयास करने वाले को किस प्रकार चलना आरम्भ करना चाहिए) हैं, जिन पर चलकर चित्त का नाश किया जा सकता है—1. योगमार्ग तथा 2. ज्ञानमार्ग। दोनों का परिचय बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं तथा सम्यग् अवेक्षण को ज्ञान कहते हैं।

सम्यग् शब्द **'सत्त्वं तथ्यमृतं सम्यग्'** (अमरकोश 1/7/22) के अनुसार तथ्य या सत्य का वाची है। सत्य का अवेक्षण सभी जागतिक वस्तुओं में सद्रूप से अनुस्यूत ब्रह्म का ही अवेक्षण (देखना) है। सबमें ब्रह्म का अवेक्षण युक्ति के द्वारा होगा। 'समित्येकीभावे' इस यास्क वचन के अनुसार भी सम् शब्द एक रूप में सबको देखने को कहता है। एक रूप में सबको तभी देखा जा सकता है, जब सबमें सद्रूप से अनुस्यूत ब्रह्म का दर्शन हो। यह युक्तियाँ पञ्चकोशविवेक-प्रकरण में **पञ्चदशी** आदि ग्रन्थों में वर्णित युक्तियाँ हैं, जिनमें आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों से विविक्त किया जाता है। आचार्यचरण इन युक्तियों से आत्मज्ञान करने की अपेक्षा योग से आत्मसाक्षात्कार करने को श्रेष्ठ मानते हैं। योगवासिष्ठ का भी यही मत है। अतएव 'योगो ज्ञानं च राघव' इस वाक्य में अभ्यर्हित अर्थ के वाचक योग शब्द का पूर्व-प्रयोग किया गया है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी योग की महत्ता स्वीकार करके मनुष्य-शरीर-प्राप्ति का परम प्रयोजन योग के द्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है, केवल आत्मदर्शन

को लक्ष्य नहीं बताया गया है। **'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'** (याज्ञ.स्मृ. 1/8) यह याज्ञवल्क्य-वचन योग के द्वारा होने वाले आत्मसाक्षात्कार को श्रेष्ठ बतलाता है। आचार्यचरण भी युक्ति को पहचान कर तत्त्व पिरोने की बात करते हुए योग से आत्मसाक्षात्कार करने पर बल देते हैं।

ऐसी मात्रा लै पहिरै कोय। आवागमन मिटावे सोय॥

'ऐसी मात्रा लै पहिरै कोय' का प्रतिपाद्य अर्थ, इस मात्रा को, योगप्रधान मात्रा को, जो लेकर पहनता है, धारण करता है, वह आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है, यह है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'ऐसी' शब्द का प्रयोग न कर 'यह मात्रा' इस शब्द का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि इसके सदृश अन्य कोई मात्रा नहीं है। यदि यह कहा जाय कि इस मात्राशास्त्र का जो वर्ण्य विषय है, वही वर्ण्य विषय जिस अन्य मात्रा का होगा, वह ऐसी मात्रा कही जायेगी, तो यह भी कहना उचित नहीं होगा; क्योंकि इस मात्राशास्त्र के अन्त में दूसरे मात्राशास्त्र के धारण की फलश्रुति का वर्णन प्रासंगिक नहीं होगा।

योग की महिमा भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता 6/45)

अधिक प्रयत्न करके योगी जब पापों का क्षय कर लेता है तो अनेक जन्मों में कुछ-कुछ संस्कारों का संचय करता हुआ सम्यग् दर्शन के द्वारा मुक्ति (प्रकृष्ट गति) को प्राप्त करता है।

पापों को क्षीण करने के जो अन्य साधन हैं, उन सभी साधनों से योगरूप साधन श्रेष्ठ है, यह तथ्य—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता 6/46)

इस वचन में उल्लिखित है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! तुम पापों के क्षय के लिए योगी बनो; क्योंकि तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है। शास्त्र-पाण्डित्य (ज्ञान) से युक्त विद्वानों से भी योगी श्रेष्ठ है, अग्निहोत्र आदि कर्मों का

अनुष्ठान करने वाले कर्मियों से भी उसकी श्रेष्ठता है। किन्तु ईश्वरनिरपेक्ष योग भगवान् कृष्ण को अधिक प्रिय नहीं है, अतएव उन्होंने कहा है—सभी योगियों में वह श्रेष्ठ है, जो मुझ परमात्मा में श्रद्धापूर्वक मन लगाकर मेरा भजन करता है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता 6/47)

इस उक्ति से पूर्णतः संवाद करते हुए मात्राशास्त्र में आचार्यचरण ईश्वर-प्रणिधान से समन्वित योग को विशेष महत्त्व देते हैं। तभी तो उन्होंने **'प्रीति पितम्बर मन मृग छाला'** इस मात्रा के द्वारा पीताम्बर हरि की भक्ति से मनमृग को शुद्ध करने को कहा तथा इस प्रकार मन को शुद्ध कर चिदम्बर शंकर में मन लगाकर आत्मसाक्षात्कार की तत्परता प्राप्त करने (**चीत चितम्बर रुणझुण माला**) तथा बघम्बर शंकर में ही मन को लगाकर आत्म-ज्ञान की पूर्ण योग्यता प्राप्त करने को कहा (**बुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन**)। इस प्रकार शंकर में मन को लगाए बिना ज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि चित्त चिदम्बर..... तथा बुद्धि बघम्बर..... में उक्त चित्त और बुद्धि दोनों एक हैं; किन्तु चित्त को स्थिर करने का सरल उपाय यह है कि चित्त के अधिष्ठाता देव शंकर में चित्त को लगाया जाय। इस प्रकार भक्तिनिरपेक्ष योग को आचार्यचरण मान्यता नहीं देते। मात्राशास्त्र का आलोडन करने पर यह स्पष्ट होता है। 'अलख पुरुष का सुमिरहु नांव' इस मात्रा में 'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो.सू. 1/27) 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो.सू. 1/28) इत्यादि योगसूत्रों के वाच्यार्थ की ओर सङ्केत किया गया है; क्योंकि अलख पुरुष के नामस्मरण से ही नगरी को चेतावनी देकर सावधान कर (व्यक्ति को सावधान कर) गाँव-इन्द्रिय समूह के उद्धार की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार **'नृत्त का सूइदान, ब्रह्म अचला लै पहिरै सुजान'** इन मात्राओं में, भक्ति के वेग से अन्तःकरण में भगवान् के सगुण स्वरूप के समुच्छ्रयण तथा निर्गुण स्वरूप की प्राप्ति का वर्णन करके आचार्यचरण ने भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

'हरिभक्ति मृगानि लै पहिरै गुरुपूता' में गुरुकृपा से हरिभक्ति की प्राप्ति का वर्णन, गुरुभक्ति एवं ईश्वरभक्ति के जीव के उद्धार में उपयोग को स्पष्ट

करता है। **'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'** (4/39) श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है, यह गीतावचन श्रद्धा को ज्ञान-प्राप्ति में साधन बतलाता है और ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति होने से श्रद्धा, मोक्ष के प्रति भी साधन है। यह श्रद्धा अनन्य भक्ति ही है; क्योंकि अनन्य भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता 11/54)

इसी प्रकार 'ऐसी मात्रा लै पहिरै कोय' इस मात्रा में ऐसी शब्द का अर्थ भक्तिसमन्वित योगप्रधान मात्रा किया जाय, तो आचार्यचरण के आशय को क्रोडीकृत किया जा सकता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सेश्वर सांख्य ही योग है, तो योग में ईश्वरभक्ति का स्वतः ही अन्तर्भाव है, तथापि स्फुट प्रतिपत्ति के लिए योग के साथ भक्ति शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

'आवागमन मिटावे सोय' यह अन्तिम मात्रा है, जिससे मात्राशास्त्र का उपसंहार हो रहा है। आवागमन का मिटना जन्म-मृत्यु के बन्धन का छूटना है। मात्राशास्त्र के प्रारम्भ में **'किसका भेजा नगरी आया'** यह प्रश्न यदि जन्मविषयक प्रश्न हो तो, उपसंहार में जन्म के मिटाने की बात सार्थक होती है। यतः उपक्रम और उपसंहार दोनों एकविषयक ही होते हैं।



टिप्पणी

1. उदासीन परम्परा में आचार्यचरण भगवान् शिव के अवतार के रूप में मान्य हैं। श्रुत परम्परा के अनुसार जन्म के समय ही आचार्यजी के श्रीविग्रह में भस्म आदि माहेश्वर प्रतीक विद्यमान थे। **'विद्याकामस्तु गिरिशम्'** विद्या की कामना हो, तो भगवान् शंकर का यजन करें (श्रीमद्भाग. 2/3/7) यह भागवत-वचन उनके माहेश्वरत्व को पुष्ट ही करता है। क्योंकि उपनिषत्सदृश मात्राशास्त्र के द्वारा वे निरन्तर ज्ञान का सन्देश दे रहे हैं।
2. आत्मा शब्द के शरीर और मन दोनों का वाचक होने से आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के होते हैं—

(क) शारीर दुःख—शरीर से सम्बन्ध रखने वाले दुःख जैसे—वात, पित्त, कफ में विषमता से होने वाले शरीर के रोग।

(ख) मानस दुःख—जिनका सम्बन्ध मन से है। यह दुःख काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा किसी विशेष विषय को न देखने पर उत्पन्न होते हैं।

आधिभौतिक दुःख—मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप (धरती पर रेंगकर चलने वाले सर्प आदि) तथा स्थावर (स्थिर रहने वाले) वृक्ष आदि से उत्पन्न होते हैं। इन दुःखों से मुक्ति बाह्य उपायों से मिल सकती है।

आधिदैविक दुःख—यक्ष, राक्षस, विनायक (विघ्न करने वाले विशेष देवता) तथा ग्रहों आदि के आवेश (विपरीत प्रभाव) से उत्पन्न होते हैं। इन दुःखों का भी शमन बाह्य उपायों से हो सकता है। इन तीनों दुःखों से चेतना-शक्ति का प्रतिकूलरूप से नित्य सम्बन्ध है। यह दुःख अन्तःकरण (मन) में रहते हैं (द्रष्टव्य–सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका सं. 1)।

3. **'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति'** (यो.सू. 4/34) में यह स्पष्ट किया गया है कि पुरुष के भोग (सुख-दुःख की प्राप्ति) एवं अपवर्ग (मोक्ष) रूप प्रयोजनों की सिद्धि के अनन्तर कार्यकारणरूप में व्यवस्थित भोग देने वाले कार्यकारणात्मक गुणों (प्रकृति कारण है और महत्तत्त्व अहंकार आदि सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध तत्त्व कार्य हैं, यह सभी त्रिगुणात्मक हैं, अर्थात् इनमें सत्त्व-रज-तम तीनों गुण विद्यमान हैं) का प्रकृति या अव्यक्त में लय होता है। महत्तत्त्व आदि कार्य-कारण दोनों रूपों में हैं। यही गुणों के प्रतिप्रसव या उत्पत्ति का निरोध कहलाता है।

4. प्रकृति-पुरुष की अन्यताख्याति—सांख्यशास्त्र में प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य एवं एक-दूसरे से असंसृष्ट हैं; किन्तु उनकी अन्यता या भेद का ज्ञान न होने से ही पुरुष कर्मानुसार भोग प्राप्त करने के लिए विभिन्न योनियों में जन्म लेता है। यह जन्म-मरण की परम्परा तब तक चलती रहती है, जब तक उसे प्रकृति से विविक्त अपने स्वरूप का ज्ञान न हो जाए।

5. बुद्धि आदि प्रकृति के कार्य या धर्म हैं, त्रिगुणात्मक प्रकृति उनका धर्मी कही जाती है। यह प्रकृति नित्य है, अतः नित्य गुणों में परिणाम-क्रम का पर्यवसान या अन्त नहीं होता। गुणों का विनाश न होने से उनका परिणाम-क्रम (क्रम से भिन्न रूपों में बदलना) चलता रहता है और सत्त्व-रजस् तथा तमोगुण में से एक-एक के प्रधान तथा अन्य दो के सहायक होने पर सात्विक, राजस, तामस सृष्टियाँ होती रहती हैं।

6. जो भी ज्ञान होता है, उसमें शब्द का भान होता रहता है। अतएव जिस पदार्थ को हम सामने देखने पर भी यदि उसका नाम नहीं जानते, तो इसका नाम क्या है? यह क्या है? यह प्रश्न किसी व्यक्ति से करते हैं। शब्द का ज्ञान में भान हमारे ज्ञान के अनुसार ही होता है, जैसे यदि सामने पानी रखा है, तो इसे हम पानी कहेंगे। आंग्ल भाषा को जानने वाला उसे 'वाटर' शब्द से बोधित करेगा। इस प्रकार एक ही पदार्थ का ज्ञान विभिन्न भाषा-भाषी लोगों को भिन्न-भिन्न शब्दों के भानपूर्वक होता है, इसी को ज्ञान में शब्द का अनुवेध कहते हैं। अतएव भर्तृहरि ने कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ (वा.प. 1-123)

7. चित्ताधिकार शब्द चित्त की भोग एवं अपवर्ग हेतु प्रवृत्ति को सूचित करता है। योगसूत्र **'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'** (1/50) के भाष्य में **'ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति'** इस वाक्य के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती, तब तक चित्त की चेष्टा चलती रहती है, अर्थात् चित्त गतिशील रहता है। चित्त गतिशील रहता है, इस कथन का आशय है अपने कार्य चित्त के द्वारा प्रकृति, भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन के लिए प्रवृत्त होती रहती है। समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार चित्त की भोगार्थ प्रवृत्ति को बाधित करते हैं। इस तथ्य को समझने के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि चित्त के शब्द आदि विषयों का उपभोग और विवेकख्याति यह दो प्रयोजन हैं। जब तक चित्त क्लेश-कर्माशय-सहित होता है, तब तक वह शब्द आदि विषयों के उपभोग में प्रवृत्त होता है; किन्तु समाधि-प्रज्ञा के प्राप्त होने पर उससे उत्पन्न होने वाले संस्कार सम्पूर्ण क्लेश-कर्माशय की निवृत्ति कर देते हैं, इस अवस्था में चित्त का अधिकार अर्थात् प्रवृत्ति का उद्देश्य प्रायः समाप्त हो जाता है। केवल विवेकख्यातिमात्र उसका कार्य अवशिष्ट रहता है। इसीलिए समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार चित्त के भोगाधिकार के हेतु न होकर उसके विरोधी होते हैं और वे चित्त को भोगाधिकाररूप कार्य से विरत कर देते हैं, अर्थात् चित्त भोग में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि चित्त तब तक भोग के लिए चेष्टा करता है, जब तक विवेकख्याति का अनुभव नहीं करता है। विवेकख्याति का अनुभव होने पर तो क्लेशों की निवृत्ति होने के कारण भोगाधिकार नहीं रहता।

8. **'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे'** (बृ.उप. 2/3/1) में ब्रह्म के दो स्वरूपों का वर्णन मिलता है, परब्रह्म निर्गुण-निर्विकार एवं उपाधिरहित होता है। सोपाधिक ब्रह्म को अपरब्रह्म कहते हैं, अपरब्रह्म ही सृष्टि करता है। अतएव वेदान्तपरिभाषा के विषयपरिच्छेद में

भौतिक सृष्टि का वर्णन करते हुए कहा गया है, पञ्चतन्मात्रा की उत्पत्ति में तथा सप्तदश अवयव (सत्रह अवयव) वाले सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति में तथा हिरण्यगर्भ के स्थूल शरीर की उत्पत्ति में परमेश्वर साक्षात् कारण हैं। प्रपञ्च की अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति में हिरण्गर्भ आदि के द्वारा अर्थात् हिरण्यगर्भ को उत्पन्न कर परमेश्वर कारण बनते हैं।

9. कठोपनिषत् के मन्त्र 1/3/14 में प्रतिपादित किया गया है कि आत्मसाक्षात्कार होने पर जीव कृत-कृत्य हो जाता है। अतः सभी जन्तुओं को आत्मज्ञान प्राप्त करने का संकल्प लेकर तदनुकूल आचरण प्रारम्भ करना चाहिए (उत्तिष्ठत)। आत्मज्ञान-प्राप्ति के हेतुभूत उचित आचरण का प्रारम्भ श्रेष्ठ महापुरुषों की प्राप्ति के साथ ही होता है। अतः श्रुति कहती है कि तुम जागकर अज्ञाननिद्रा का क्षय करने हेतु महापुरुष की शरणागति प्राप्त करके आत्मविषयक उपदेश प्राप्त करो। किन्तु महापुरुष की प्राप्ति अथवा उनसे उपदेश की प्राप्ति, तब तक नहीं होती, जब तक जीव के भीतर विवेक एवं वैराग्य का उदय नहीं होता, अतः यह श्रुति-वाक्य आसक्ति छोड़ने की ओर संकेत कर रहा है।

10. **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'** (तै.उप. 3/1)—जिससे यह सभी भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं तथा जिसमें प्रलयकाल में पूर्णतः प्रविष्ट हो जाते हैं, उसको विशेष रूप से जानना चाहिए, वही ब्रह्म है। उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा को विशेषरूप से जानने का प्रयास करना है; क्योंकि उसका सामान्य ज्ञान बन्धन से मुक्ति नहीं दिला सकता।

11. जीव को तभी जगा हुआ अर्थात् सावधान समझना चाहिए, जब उसके मन में विषयों के प्रति आकर्षण न हो।

12. शास्त्रों में सर्वत्र दो प्रकार के वाक्य मिलते हैं। कुछ में कर्तव्य का उपदेश होता है तथा कुछ में अकर्तव्य बताने हेतु निन्दित कर्मों का निषेध होता है। सत्य बोलना चाहिए (**सत्यं वद**), धर्म का आचरण करना चाहिए (**धर्मं चर**), यह दोनों ही कर्तव्य के उपदेश हैं। अतः इन्हें शास्त्रीय भाषा में विधि-वाक्य कहते हैं। झूठ नहीं बोलना चाहिए (**नानृतं ब्रूयात्**), हिंसा नहीं करनी चाहिए (**मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि**) इत्यादि रूप में निषेध का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों को निषेधवाक्य कहा जाता है। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह विधि का पालन करेगा तथा निषेध का परिवर्जन करेगा। वैराग्य एवं विवेक शक्ति के अभाव में व्यक्ति शास्त्रों पर विश्वास न कर स्वेच्छाचारी होता है। उसकी स्वेच्छाचारिता न केवल उसके लिए ही अपितु समाज के लिए भी कष्टकर एवं अमंगलकारी हो जाती है।

13. **सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।**
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। (गीता 6/21)
आत्यन्तिक सुख को केवल बुद्धि से गृहीत होने वाला बताकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इसकी अनुभूति समाधि अवस्था में ही होती है, जहाँ मन का भी निरोध होता है, लय नहीं। सुषुप्ति में तो उसका लय होता है, निरोध नहीं। अतएव अविद्या-वृत्ति से सुख के गृहीत होने पर उस समय उसका अनुभव नहीं होता, समाधि में अनुभूत होने वाले आत्मसुख की विशेषता यह है कि वह निरन्तर गृहीत होता है, उससे च्युति नहीं होती। इसी तथ्य को 'यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः' इस वाक्य से व्यक्त किया गया है।

14. **'कं ब्रह्म'** (बृ.उप. 4/10/4) यह वाक्य ब्रह्म को सुखरूप बता रहा है। **'कं पादपूरणे तोये मस्तकेऽपि सुखेऽपि च'** इस मेदिनीकोश से 'कम्' इस अव्यय शब्द का प्रयोग पादपूर्ति हेतु तथा मस्तक एवं सुख के बोध के लिए होता है। इस प्रकार कम् (कं) शब्द सुखवाची है तथा सुखवाची होने से ब्रह्मवाची है।

15. अचंचल या निरुद्ध मन श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित है—
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। (6/20)
इस श्लोक में निरुद्ध चित्त का वर्णन मिलता है। आशय यह है कि जिस काल में योग के अभ्यास से चित्त का प्रचार या विषय के आकार में बदलना रुक जाता है, उस समय वह वासनारहित एवं शुद्ध होता है तथा योगी इसी चित्त या अन्तःकरण से चैतन्य ज्योतिस्वरूप आत्मा को प्राप्त करते हैं तथा वे आत्मा में ही सन्तुष्टि को प्राप्त करते हैं। भगवद्गीता में अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन का निरोध करने का उपदेश श्रीकृष्ण देते हैं। मनोनिग्रह का यह उपाय गीता (6-35) में वर्णित है। मनोनिरोध का अर्थ कामपरक तथा अन्य वृत्तियों को रोकना है। मन की वृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञातसमाधि में अपूर्णतः तथा असम्प्रज्ञातसमाधि में पूर्णतः होता है। अतएव कहा गया है—
समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।।
(मैत्राय.उप. 6/34)
ऐसा चित्त, जिसके मल का पूर्णतया अपसारण समाधि के द्वारा किया जा चुका है, उसे आत्मा में प्रविष्ट कराने पर जो सुख मिलता है, उसका वर्णन वाणी के द्वारा नहीं किया जा सकता है, वह तो अन्तःकरण के द्वारा स्वयं गृहीत होता है। यह अन्तःकरण ऐसी अवस्था में होता है, जिसकी सभी वृत्तियाँ निगृहीत होती हैं।

अन्तःकरण के द्वारा स्वयं गृहीत होने का आशय इन्द्रियों की अपेक्षा के बिना, अर्थात् इन्द्रिय-सम्पर्क की अवस्था में होने वाली वृत्तियों की अपेक्षा के बिना, गृहीत होना है। मन संकल्प-विकल्पात्मक है, अर्थात् सम्यक् कल्पना अथवा विविध कल्पना या विरुद्ध कल्पना ही उसका स्वरूप है, अतः विषय-सम्पर्क से उसमें संकल्प, विकल्प होते रहते हैं। विषयों का सम्पर्क न होने पर संकल्प, विकल्प रुकते हैं। इस समय मन वृत्तिरहित होकर आत्मा से सम्बद्ध रहता है। यही उसका आत्मा में निवेशन है। मन की वृत्तियाँ रुकने पर काम क्रोधादि का निरसन हो जाता है।

16. सुख तो प्राणियों की कामना का विषय है तथा उसकी प्राप्ति का साधन धर्म है। सभी प्राणी जिस सुख को चाहते हैं, उसकी प्राप्ति धर्म के द्वारा होती है (द्रष्टव्य-न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)।

17. **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**
लोकसंग्रहमेवाऽपि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।। (गीता 3/20)

कर्म करने की दो स्थितियाँ हैं, जिनको साक्षात् अथवा परम्परया ज्ञान से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अज्ञानी व्यक्ति अज्ञानावस्था में कर्मफल की इच्छा को छोड़कर कर्म करता है तो, उसे अन्तःकरण की शुद्धि होने पर, जब वह विक्षेपरहित (वृत्तिशून्य) होता है तो, ज्ञान होता है, अर्थात् आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अज्ञानी व्यक्ति अज्ञानावस्था में यदि कर्मफल की प्राप्ति की इच्छा से कर्म करता है, तो वह फलभोग की प्राप्ति करता है, ज्ञान की नहीं। अतः ज्ञान में बाधक होने के कारण प्रकृत में उसकी चर्चा नहीं की गयी है।

दूसरी स्थिति ज्ञानावस्था की है, जिसमें ज्ञानी संसार के लोगों को सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा देता हुआ कर्म करता है। यद्यपि उसे अब किसी फल की अभिलाषा नहीं है।

अतः भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जनक, अश्वपति आदि क्षत्रिय राजाओं ने आजीवन कर्म किया, कर्म करते हुए ही उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। तुम भी कर्म का अनुष्ठान करो; किन्तु फल की इच्छा को छोड़ दो। जनक आदि ने फल से अपने कर्म को सम्बद्ध नहीं किया, अतएव उन्हें संसिद्धि प्राप्त हुई। फल की कामना से किया गया कर्म तो फल की प्राप्ति ही कराता है। उसका आत्मसाक्षात्कार से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। अतएव संसिद्धि के सम्बन्ध में इसकी चर्चा नहीं की गयी।

यह अवधेय है कि युद्धरूप कर्म के साथ उसके फल का सम्बन्ध नियत नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि जय, पराजय तथा मृत्युरूप फलों में से कौन-सा फल

हमें मिलेगा। यद्यपि अन्य कर्मों में भी फल के सम्बन्ध नियत नहीं हैं, कर्म में वैगुण्य (विक्रिया) आने पर फल की प्राप्ति निश्चित नहीं रह जाती, तथापि उनकी स्थिति युद्ध से भिन्न है। उनका एक फल है जो विधिवत् अनुष्ठान के द्वारा मिलता ही है। यदि कर्म में विक्रिया आयी तो उसका दुबारा अनुष्ठान होगा और फल मिलेगा, किन्तु युद्ध में ऐसा नहीं है। हमें जय, पराजय अथवा मृत्यु कौन-सा फल मिलेगा यह नियत नहीं है। तथापि फल की प्राप्ति की आशा छोड़कर कर्तव्य बुद्धि से युद्धरूपी कर्म का अनुष्ठान करने की विवशता है, अतः भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तुम लोकसंग्रह के लिए कर्तव्य बुद्धि से युद्ध करो; क्योंकि तुम्हारा अनुकरण अन्य सुधी लोग भी करेंगे।

18. **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।** (भगवद्गीता 7/11)
इस गीता-वचन के द्वारा कृष्ण ने काम के स्वरूप में अपने को सभी प्राणियों में प्रतिष्ठित बतलाया है। श्रीकृष्ण व्यापक परब्रह्म हैं। व्यापक शब्द का अर्थ होता है, हर जगह उपलब्ध होने वाला।

19. जैसे **'द्वाभ्यां पिबति इति द्विपः'** इस व्युत्पत्ति में द्विप शब्द की सिद्धि में कर्ता अर्थ में क प्रत्यय हुआ है, उसी प्रकार **'मायायाः त्रायते'** इस व्युत्पत्ति में भी कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय होगा और इस प्रकार 'मात्रा' की सिद्धि होगी।

20. श्रीरामचरितमानस।
इन्द्रियाँ माया हैं; क्योंकि परमात्मा के द्वारा माया-शक्ति से उनकी रचना की जाती है। **'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा'** यह पाणिनिसूत्र, इन्द्रियों को परमात्मा की सृष्टि के रूप में बताता है। मन की भी सृष्टि, माया के द्वारा होती है। इस तथ्य को **'तन्मनः सृजते माया'** यह वचन प्रमाणित करता है। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते यह श्रुति, परमात्मा का, माया के द्वारा नाना रूपों प्राकट्य बोधित करती है। इस प्रकार सभी पदार्थ (विषय) माया से सृष्ट हैं, यह बोधित होता है। यही तथ्य मानस की इस पंक्ति में भी बोधित होता है।

21. **ध्यायतो विषयान् पुंसस्संगस्तेषूपजायते।**
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (गीता 2/62-63)

22. विधि का पालन एवं निषेध का परिवर्जन क्यों आवश्यक है? इसे समझने के लिए लौकिक रीति से हम यह कह सकते हैं कि जैसे किसी विशेष स्थान पर नियत समय के भीतर पहुँचने के लिए हमें तीव्र गति से चलने तथा मार्ग में विश्राम न करने का परामर्श दिया जाता है तथा द्रुतगति से चलने के साथ विश्राम का वर्जन करते हुए

ही हम निर्धारित समय में गन्तव्य स्थान पर पहुँचते हैं, उसी प्रकार परलोक में प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि सुख तथा पशु, पति, पुत्र आदि लौकिक प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए भी अनुष्ठेय कर्म (ऐसा कर्म जिसको करना चाहिए) के रूप में अग्निहोत्र आदि का तथा वर्ज्य कर्म के रूप में असत्यवचन तथा हिंसा आदि का उल्लेख मिलता है। अग्निहोत्र आदि कर्मों का प्रतिपादन जिन वाक्यों से होता है, उन्हें विधि-वाक्य कहते हैं तथा अनृतवदन एवं हिंसा आदि का निषेध करने वाले वचनों को निषेध-वाक्य कहते हैं। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए विधि के पालन के साथ निषेध का वर्जन आवश्यक है, अन्यथा वह प्रबल बाधक बनकर विपरीत दिशा में खींच लाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जैसे घड़े के छेद को बन्द किए बिना उसमें जल डालने का प्रयास व्यर्थ होता है, उसी प्रकार निषिद्ध के वर्जन के अभाव में विहित के अनुष्ठान मात्र से फल-प्राप्ति असम्भव या विलम्बित हो जाती है। अतएव कठोपनिषद् में कहा गया है, जो पुरुष दुश्चरित से विरत नहीं है, अर्थात् श्रुति-स्मृति में प्रतिपादित निषिद्ध कर्मों का त्याग नहीं करता, जो इन्द्रियों की विषयपरायणता को नहीं छोड़ सकता है। जो विक्षिप्त चित्त वाला है, जिसके चित्त में विषयों के कारण विक्षेप होता है, ऐसा पुरुष आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता। यदि चित्त को समाहित कर लिया गया है तो भी फल की इच्छा होने पर आत्म-प्राप्ति नहीं होती। अतः आत्म-प्राप्ति की भी इच्छा नहीं होनी चाहिए; क्योंकि फल की भी इच्छा होने पर मन अशान्त हो जाता है (काठ.उप. 1/2/24)।

23. मीमांसाशास्त्र में उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति को तात्पर्य का निर्णय करने वाला लिंग (हेतु) कहा जाता है। उपक्रम और उपसंहार मिलकर तात्पर्य का निर्णय करते हैं। शेष लिंग स्वतन्त्र रूप से तात्पर्य- निर्णायक हैं। उपक्रम शब्द प्रारम्भ को सूचित करता है तथा उपसंहार समाप्ति को द्योतित करता है। मात्राशास्त्र का प्रारम्भ शुद्ध ब्रह्म जीव भाव को कैसे प्राप्त हुआ है। इस जिज्ञासा से होता है तथा अन्त में **'आवागमन मिटावे सोय'** इस वाक्य में मोक्ष या बन्धन निवृत्ति का वर्णन है, इससे स्पष्ट होता है कि मात्राशास्त्र मोक्षपरक शास्त्र है। क्योंकि उपक्रम और उपसंहार दोनों मोक्ष से सम्बद्ध हैं।

24. **तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।**
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतः स्त्रिबालैरवधूतवेषः।।

(श्रीमद्भागवत 1/19/25)

उस समय अपनी इच्छा से पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए व्यासपुत्र स्त्रियों और बालकों से घिरे हुए बिना किसी अपेक्षा के वहाँ पहुँचे। वे अपने स्वरूप की प्राप्ति से सन्तुष्ट थे तथा किसी भी लक्षण से पहचानने में नहीं आ रहे थे।

25. **आषोडशाद्भवेद् बालः यावत्क्षीरान्नवर्तकः।**
मध्यमः सप्ततिर्यावत् परतो वृद्ध उच्यते॥
सोलह वर्ष की उम्र तक बालक होता है, तब तक उसे दूध को अन्नरूप में ग्रहण करना चाहिए। सत्तर की उम्र तक मध्यम होता है तथा उसके बाद वृद्ध कहा जाता है। (द्र.–पदमञ्जरीटीका, काशिका, 'वयसि प्रथमे' 4/1/20)

26. 'बल संचलने' धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करके संचलन अर्थ का अभिधान करने वाला 'बाल' शब्द सिद्ध होने पर पुनः 'अर्श आद्यच्' प्रत्यय से संचलन या विकार का आश्रय या प्राप्त करने वाला ब्रह्म ही बाल शब्द का वाच्य हो जाता है। ब्रह्म कूटस्थ एवं अविकारी है तथा उसमें अवस्थित अविद्या में विकार होता है, इसी विकार को ब्रह्म में बताया जा रहा है। क्योंकि ब्रह्म ही अविद्या के कारण नाना रूपों में प्रतीत हो रहा है।

27. शरीर तीन प्रकार के होते हैं—
(क) स्थूल शरीर—जो मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के स्वरूप में चर्मचक्षुगोचर होते हैं।
(ख) सूक्ष्म शरीर—जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि यह सत्रह अवयव होते हैं।
(ग) कारण शरीर—अविद्या या अज्ञान को कहते हैं, जिसके रहने पर यह स्थूल शरीर भोगार्थ अवश्य प्राप्त होता है।

28. **गुरुर्गरीयान् परमोपदेशतो यस्तारयेदाश्रितमन्तेवासिनम्।**
श्रेष्ठ गुरु वही है जो उत्कृष्ट ब्रह्मरूपता अर्थात् तुम जीव नहीं ब्रह्म हो, इस ब्रह्मभाव के उपदेश से अपने शिष्य का कल्याण कर दे।

29. विशेष जिज्ञासा से आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील दार्शनिकों ने इतना अधिक चिन्तन किया कि भारतीय दर्शन परम्परा में आत्मतत्त्व के स्वरूप को लेकर अनेक प्रकार के व्यवस्थित सिद्धान्त स्थापित हो गये। अतएव **'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'** (ब्र.सू. 1/1/1) के अर्थ विचार के प्रसंग में शाङ्करभाष्य में विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्त अनेक रूपों में दिखाई देते हैं, यथा—
1. चैतन्यविशिष्ट देह मात्र ही आत्मा है, इस प्रकार की विचारधारा सामान्य लोगों की तथा लोकायत मत को स्वीकार करने वाले चार्वाक दार्शनिकों की है।
2. कुछ लोग इन्द्रियों को ही आत्मा स्वीकार करते हैं।
3. कतिपय लोगों के मत में मन ही आत्मा है।
4. क्षणिक विज्ञान मात्र ही आत्मा है, यह क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध आचार्यों का मत है।

5. शून्यवादी बौद्ध लोग शून्य को ही आत्मा कहते हैं।
6. देह से अतिरिक्त आत्मतत्त्व को स्वीकार करने वाले उसे कर्ता, भोक्ता भी मानते हैं।
7. कुछ लोग इसे केवल भोक्ता मानते हैं, कर्ता नहीं।
8. कुछ लोग जीवात्मा से पृथक् परमात्मा या ईश्वर को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् रूप में स्वीकार करते हैं।
9. अद्वैत मत में भोक्ता जीव जो अविद्या रूप उपाधिवाला है, उसको आत्मा के रूप में तथा उससे अभिन्न रूप में ईश्वर को स्वीकार किया जाता है। (अद्वैत मत)

30. यद्यपि **'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'** (ब्र.सू. 3/2/5) के भाष्य में **'ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः'** यह कहते हुए शङ्करभगवत्पाद ने ईश्वरस्वरूप के अज्ञान को अनर्थ (बन्ध) का कारण कहा है, तथापि जीव एवं ईश्वर के स्वरूप की एकता होने से आत्मस्वरूप के अज्ञान को अनर्थ का मूल कहा जा सकता है। ईश्वरस्वरूप के परिज्ञान से मोक्ष होता है।

31. आत्मा को ज्ञान शब्द से कहा जाता है; क्योंकि वह सबका प्रकाशक है। **'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'** जिससे जाना जाय, जो वस्तु को बोधित करे, प्रकाशित करे उसे ज्ञान कहते हैं। वेद के उपनिषद् भाग में आत्मा को ही—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (काठ.उप. 2/2/15) 'उसी की दीप्ति से यह सब कुछ प्रकाशित हो रहा है'। इस वाक्य के द्वारा सबका प्रकाशन करने वाला कहा गया है। यह नित्य ज्ञान है। इसकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता। अतएव इसे आत्मरूप कहा जाता है। व्यवहार में जिसको हम ज्ञान शब्द से प्रतिदिन बोधित कर रहे हैं, वह विषयों की सन्निधि में होने वाला मन का परिणाम है, जिसे वृत्ति कहते हैं। यह जन्य एवं विनाशशील है।

32. अज्ञान के द्वारा ज्ञान के आवरण के कारण जन्तुओं को मोह हो रहा है। यह चर्चा प्रकृत गीतावचन में की गयी है, जिसे समझने के लिए हमें मोह शब्द के अर्थ का विचार करना होगा। मोह शब्द का अर्थ अविवेक है, जो 'मुह वैचित्ये' (वैचित्यम् अविवेकः) धातु से बना हुआ है। सृष्टि को देखकर जीव मोह में पड़ जाते हैं, उनका विवेक नष्ट हो जाता है। वे ब्रह्म के अज्ञान के कारण प्रतीत होने वाले व्यावहारिक जगत् को नित्य मान लेते हैं तथा उसे चिरस्थायी समझकर पशु-पुत्र-वित्त आदि की प्राप्ति के लिए मारण-ताडन आदि पशुतुल्य व्यवहार करते हैं।

33. आत्मा के आवृत्त होने पर आकाश आदि पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है तथा इन सूक्ष्म भूतों से इन्द्रियाँ तथा स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं। आत्मा के आवृत्त होने पर शरीर

आदि की प्रतीति का यही क्रम है। **'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि'** (ब्र.सू. 2/1/28) में एक ही ब्रह्म में विचित्र प्रकार की सृष्टि का प्रतिपादन है तथा ब्रह्म का स्वरूप अविकृत रहता है, यह भी बताया गया है। **'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'** (ब्र.सू. 2/1/30) में ब्रह्म का सर्वरूप में विकाररूपता को प्राप्त होना बतलाया गया है।

34. **सकृन्मेषः सकृद्धस्ती सकृच्च महिषोऽभवत्।**
सकृदिन्द्रः सकृच्चाग्निः पुनश्च पुरुषोऽभवत्।। (श्रीमद्भागवतमाहात्म्य 5/22)

35. अतएव **'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'** (यो.सू. 4/4) के उपक्रम में कहा गया है—'यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति' के बाद भाष्य में उद्धृत है—'अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति। ततः सचित्तानि भवन्ति'। जब योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है तो उनमें अनेक चित्त रहते हैं अथवा एक चित्त, यह शङ्का करके समाधान में कहा गया है कि चित्त के कारण 'अस्मिता' मात्र को लेकर अनेक चित्त बनाता है। इन अनेक चित्तों का नियन्त्रक एक चित्त होता है, इसे—**'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्'** (यो.सू. 4/5) में स्पष्ट किया गया है। अतः कायव्यूह कपोलकल्पना नहीं है।

36. कभी-कभी ऐसा होता है कि सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध की प्रतीति होती है। जैसे-दर्पण में मुख की प्रतीति। हम जानते हैं कि दर्पण में प्रतीत होने वाले मुख के साथ दर्पण का कोई सम्बन्ध नहीं है। दर्पण टूटता है तो मुख टूटता नहीं; किन्तु दर्पण की मलिनता से मुख भी मलिन प्रतीत होता है। अतः दर्पण वाला मुख कहा जा सकता है। इस प्रकार मुख की असंगता तथा दर्पण के साथ सम्बन्ध दोनों को जैसे कहा जा सकता है, उसी प्रकार ब्रह्म की असंगता तथा उपाधि के साथ सम्बन्ध दोनों की उपपत्ति की जा सकती है। उपाधि के साथ ब्रह्म का आध्यासिक सम्बन्ध स्वीकार कर सकते हैं। क्योंकि उपाधिसहित सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है।

37. **अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।**
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते।। (चित्सुखी 1/9)
अनादिभावरूप पदार्थ जो विज्ञान से निवृत्त हो जाता है, उसे अज्ञान कहते हैं।

38. प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः, स चतुर्विधः—नित्यः प्राकृतो नैमित्तिक आत्यन्तिकश्चेति। (वेदान्तपरिभाषा, शिखामणि सहित, पृष्ठ 367)।

39. शरीर, छः इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन), छः विषय (मन तथा ज्ञानेन्द्रियों के विषय), छः बुद्धियाँ (मानस ज्ञान तथा चक्षु आदि से होने वाला ज्ञान), सुख एवं दुःख यही 21 पदार्थ दुःख शब्द से कहे जाते हैं, जिनका मुक्ति में आत्यन्तिक ध्वंस

होता है। इस प्रकार मुक्ति में न्यायदर्शन के अनुसार शरीर, इन्द्रिय सबका अभाव होता है। अद्वैतदर्शन में भी विदेहकैवल्य की अवस्था में शरीर आदि का अभाव स्वीकार किया जाता है।

40. यद्यपि यह कहा जा सकता है कि आप्तकाम प्रभु को इच्छा नहीं होती; क्योंकि उनके पास किसी वस्तु की कमी नहीं है, तथापि सृष्टिविषयक उनकी इच्छा तो प्रामाणिक है। **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत'** (छा.उप. 6/2/3) उसने इच्छा की कि हम प्रकृष्ट जनन (उत्पत्ति के द्वारा) एक से बहुत हो जायें। यह श्रुति ईश्वर की सृष्टि- विषयक इच्छा को प्रमाणित करती है। अन्य दार्शनिकों का भी इसमें मतभेद नहीं है। इस प्रकार सृष्टि के द्वारा जीवों के बन्धन से ईश्वरेच्छा का भी सम्बन्ध हो जाता है।

41. **'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'** (ब्र.सू. 3/2/5) के भाष्य में ईश्वर स्वरूप के अज्ञान से बन्ध तथा उनकी कृपा से मोक्ष का प्रतिपादन मिलता है। **'ईश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेव आविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्'**—ईश्वर की कृपा से संसिद्ध ईश्वर-प्राप्ति के योग्य हुए किसी-किसी जीव में ही ईश्वरीय गुणों का आविर्भाव होता है, अन्यथा ईश्वर एवं जीव के एक होने पर भी ईश्वरीय गुण तिरोहित रहते हैं।

42. प्राणियों को अपने कर्मों का भोग सृष्टि में मिलता है। भोग का साधन शरीर है, अतएव शरीर को भोगायतन कहा जाता है। शरीर की रचना के पहले अदृष्ट का होना आवश्यक है, अन्यथा प्राणियों के शरीर में दिखाई पड़ने वाले वैलक्षण्य का कोई आधार नहीं होगा। कर्मविपाक का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों में मिलने वाले **'मातृघातकोऽन्धः'**—माता की हत्या करने वाला जन्मान्ध होता है, इत्यादि वचन कर्म को शरीर-प्राप्ति में निमित्त बतलाते हैं। इसी प्रकार अन्य भोगसाधन पदार्थों की सृष्टि में भी प्राणियों के शुभ एवं अशुभ कर्मजन्य अदृष्ट कारण होते हैं। यह स्वीकार करना होगा, अन्यथा अत्यन्त आह्लाद प्रदान करने वाले पुत्र राम अपने वियोग से पिता (दशरथ) की मृत्यु के कारण न बनते।

43. अनादिकाल से अविद्या का सम्बन्ध आत्मा से है; क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ' (अहमज्ञः) इस प्रकार का अनुभव हम लोगों को सर्वदा होता रहता है, जिसकी उपपत्ति के लिए अज्ञान एवं आत्मा का सम्बन्ध स्वीकार करना होता है। मैं अज्ञानी हूँ या मुझमें अज्ञान है, इस प्रतीति में अज्ञान का आश्रय (आधार) आत्मा प्रतीत होता है; क्योंकि मैं (अहम्) शब्द आत्मा का बोधक है।

44. तीन प्रकार के शरीर स्वीकार किये जाते हैं—1. कारण शरीर (अविद्या), 2. लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान एवं उदान वायु) तथा मन एवं बुद्धि सन्निविष्ट हैं, 3. स्थूल

शरीर—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर, जो चक्षुगोचर होता है। इसके अतिरिक्त जलीय शरीर वरुणलोक में प्रसिद्ध है, तैजस शरीर सूर्यलोक में प्रसिद्ध है तथा वायवीय शरीर भी हैं, जिनमें जल, तेज एवं वायु की प्रधानता है।

शरीर शब्द का अर्थ नष्ट होने वाला है; क्योंकि 'शॄ हिंसायाम्' धातु से बनने वाले शरीर शब्द का यही अर्थ प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों मिलकर कहते हैं। जन्तु, जब अज्ञान की अवस्था में मरता है तो उसका स्थूल शरीर से वियोग होता है; किन्तु सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर (अज्ञान) दोनों बने रहते हैं। आत्मज्ञान होने के बाद शरीर छूटने पर तीनों शरीरों से सम्बन्ध छूट जाता है।

45. पुर=शरीर में शयन करने के कारण आत्मा को पुरुष कहते हैं। आत्मा इस पुर में उपलब्ध होता है, अतः यह नाम सार्थक है।

46. **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। (गीता 13/19)

47. यद्यपि शरीर, इन्द्रिय आदि एवं विषय सभी प्रकृति के विकार हैं, तथापि उनका विकार एवं गुण दो रूपों में विभाग का प्रयोजन 'भोक्ता एवं भोग्य' को समझाना है। क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण (मन) से युक्त चेतन भोक्ता होता है तथा शेष विषयों को भोग्य कहा जाता है। चेतन के गणनापूर्वक ज्ञान का विषय होने के कारण भोग्य वस्तुओं को गुण शब्द से कहते हैं। 'गुण निमन्त्रणे' चुरादि धातु से अच् प्रत्यय करके गुण शब्द बनता है। अतः जो निमन्त्रित करता है वह गुण है, गुण शब्द की यह व्युत्पत्ति गुणों की आकर्षकता बतलाती है।

48. **कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।**
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। (श्रीमद्भगवद्गीता 13/20)

49. **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।**
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।। (गीता 13/21)

50. **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।** (काठ.उप. 1/3/4)

51. सम्प्रदायपुरस्सर शास्त्राध्ययन से होने वाला ब्रह्मविषयक ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाता है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन के अनन्तर साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी को होने वाला ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान या अपरोक्ष साक्षात्कार कहलाता है, ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार (ज्ञान) ब्रह्मविषयक अज्ञान (अविद्या) का विरोधी एवं समूल नाशक है।

52. **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।**
(श्वे.उप. 6/8)

इस श्रुति में ईश्वर की विभिन्न शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं, जो उसके स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। अतएव उसमें स्वाभाविक रूप से सर्वदा अप्रतिहत ज्ञान, अपरिमित बल एवं ऐश्वर्य रहता है।

53. उपाधि के गुण वस्तु में आते हैं, जिनके सन्निधान में वह रहती है। जैसे जपाकुसुम की रक्तिमा (लाली) सफेद स्फटिक में प्रतीत होती है। समीप (उप) में रहकर अपने गुणों का आधान (आधि) करने के कारण ही उसे उपाधि कहते हैं। चेतन आत्मा एक ही है, वह असंग या किसी भी प्रकार के सम्बन्ध से रहित है। अतः उसमें भिन्न-भिन्न व्यवहारों को देखते हुए 'उपाधि' के सम्बन्ध को स्वीकार किया जाता है। उपाधि से उसका कोई सम्बन्ध न होने पर भी वह उसे भिन्न रूप में बोधित करती है, जैसे असम्बद्ध शाखा, चन्द्रमा का द्योतक हो जाती है।

54. **'मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः'** (पञ्चदशी 1/16)—यह श्रुति मायारूप उपाधि से युक्त शुद्ध चैतन्य को ईश्वर बताती है। साथ ही 'माया' ईश्वर के वश में है, यह भी बोधित करती है। जीव की स्थिति इससे भिन्न है, वह माया के वशीभूत है।

55. स्वर्ण के आभूषण जब हम खरीदते हैं या उसे धारण करते हैं, तो उसे कुण्डल, मुद्रिका (अँगूठी), हार आदि के नाम से व्यवहार का विषय बनाते हैं। किन्तु पुराना होने पर जब हम उसे बेचते हैं तो उस समय 'स्वर्ण' शब्द से एक रूप में व्यवहार होता है। यही कार्य का कारण के रूप में व्यवहार है तथा यही व्यवहार सत्य है। कुण्डल, मुद्रिका आदि तो स्वर्ण के आकारविशेष ही हैं, उससे पृथक् नहीं।

56. संसार को अनादि स्वीकार किया जाता है, अर्थात् प्रत्येक सृष्टि के पूर्व सृष्टि है, बीच में प्रलय के होने के कारण होनेवाली सृष्टि नई मालूम पड़ती है। प्राणियों का अदृष्ट ही सृष्टि के पदार्थों में विविधता तथा विषमता की अनुभूति कराता है। अन्यथा बबूल का काँटा हम लोगों के लिए कष्टकर तथा ऊँट के लिए प्रीतिकर न होता। अतः यह स्वीकार किया जाता है कि अदृष्ट या धर्म एवं अधर्म, जो प्राणियों के शुभ एवं अशुभ कर्मों के परिणाम या फल हैं, ही भोग का नियमन करते हैं, अर्थात् हमें सुख-दुःख, हानि-लाभ सब कुछ अदृष्ट के अनुसार ही प्राप्त होता है। सुख-दुःख की प्राप्ति ही भोग है, जिसके लिए हमें नाना योनियों में शरीर मिलता है।

57. **गुरुस्तु विद्याधिगमाय सेव्यते, श्रुता च विद्या मतये महात्मनाम्।**
श्रुतानुबन्धीनि मतानि वेधसाम् असंशयं साधु भवन्ति भूतये।।

(काम.नी., सर्ग 1/69)

विद्या की प्राप्ति के लिए गुरु का सेवन किया जाता है। गुरुमुख से श्रुत (प्राप्त) विद्या से संस्कार-सम्पन्न हुए शिष्य को 'मति' शास्त्रगाम्भीर्य प्राप्त होता है। गुरु से प्राप्त ज्ञान के अनुवर्तन से निश्चित रूप से कल्याण की प्राप्ति होती है।

58. आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति आदि लोक की स्थिति के लिए आवश्यक विद्याएँ हैं, इनसे लोक मर्यादा की रक्षा तथा लोक (संसार) के जीवों का भरण-पोषण होता है। इन विद्याओं के द्वारा धर्म एवं अर्थरूप पुरुषार्थों के विषय में विचार कर हम उनको प्राप्त करते हैं। क्या धर्म है, क्या अधर्म है? ऐसे ही इस रूप में धर्म एवं अर्थ का निश्चय करने के बाद हम इन विद्याओं के द्वारा (इनके प्रतिपादक शास्त्रों में वर्णित उपायों के द्वारा) धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति करते हैं तथा प्राप्त धर्म एवं अर्थ की रक्षा भी इन विद्याओं के द्वारा करते हैं। इस प्रकार धर्म एवं अर्थ की रक्षा कर उनके कार्यभूत काम एवं मोक्षरूप पुरुषार्थों की प्राप्ति करते हैं। अतः पुरुषार्थों के विषय में विचार के कारण, जानकारी देने के कारण, उनकी प्राप्ति कराने के कारण तथा रक्षा करने के कारण, इन विद्याओं का लोक में उपयोग है। विद्याशब्द विद्‌धातु से बनता है जिसके सत्ता, ज्ञान, विचारण एवं प्राप्ति अर्थों का बोध करानेवाली यह धातु पाणिनि व्याकरण में चार गणों में पठित है। इसके अर्थ-संग्रह को प्रदर्शित करने वाली निम्न कारिका प्रसिद्ध है—

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्॥ (सि.कौ., सू. 2571)

कारिका में धातु का अर्थ तथा उसके वर्तमानकाल के प्रयोग दोनों ही दिये हैं। इन अर्थों वाली विद् धातु से बना विद्या शब्द विद्याओं के प्रयोजन को भी स्पष्ट करता है। यहाँ यह अवधेय है कि चतुर्विध पुरुषार्थ में अर्थ एवं धर्म साधन हैं तथा काम एवं मोक्ष साध्य हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो धर्म ही अर्थ, काम एवं मोक्ष का यथार्थ साधन है। अतएव लोककल्याण के लिए तथा आत्मकल्याणार्थ भी अवश्य अपेक्षणीय एवं अनुष्ठेय होने के कारण धर्म की गणना पुरुषार्थों में सबसे पहले होती है।

59. पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(भगवद्गीता 2/7)

अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं—दैन्य (दीनता) को प्राप्त होने के कारण मेरा शौर्य, तेज आदि क्षत्रिय का धर्म नष्ट हो चुका है। मैं अनात्मज्ञ होने के कारण इस जन्म के इन बन्धुओं का वियोग नहीं सहन कर पा रहा हूँ। मेरे भीतर

'ममता'रूप दोष आ गया है। अतः युद्ध के उद्देश्य का त्याग कर रहा हूँ। मैं अपने लिए क्या कल्याणकारी है, यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। अतः जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो, उसे आप निश्चित कर मुझे बता दें। मैं शिष्यभाव से आपसे पूछ रहा हूँ। मैंने प्रपत्ति भी ग्रहण कर ली है। अतः आप शरणागत के उद्धार के लिए उपदेश करें।

60. प्रपत्ति मन का ऐसा भाव है, जिसके आने पर साधक अपने आराध्य से भिन्न किसी की भी किसी भी रूप में अपेक्षा नहीं करता है।
न्यासविद्या प्रपत्तिः, सा च—
अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥
आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्यं..............................।
'इत्यङ्गपञ्चकयुक्ता प्रपत्तिः। एतद्देहावसाने मोक्षप्रदा'। (यतीन्द्रमतिदीपिका/निवासाचार्य— सप्तमावतारः, धर्मभूतज्ञानविचारप्रसङ्गे, प्रपन्नपारिजातस्वरूपपद्धतिः-2)

61. **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता 18/66)
वर्ण धर्म, आश्रम धर्म तथा सामान्य धर्मों का त्याग कर सभी धर्मों के फल को देने वाले मुझ एक अद्वितीय ईश्वर की शरण में आओ। तुम यह सोच लो कि दूसरे की अपेक्षा से फल देने वाले धर्म हों या न हों, मैं तो अन्यनिरपेक्ष ईश्वरानुग्रह से ही कृतार्थता प्राप्त करूँगा, यह सोचकर प्रतिक्षण परमानन्दचिन्मूर्ति भगवान् का भजन करो। मुझसे भिन्न कुछ नहीं है, यह निश्चय करो। मैं तुम्हें धर्म, अधर्मरूप बन्धन से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत करो।

62. **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।**
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (गीता 18/73)

63. कर्म तीन प्रकार के होते हैं—1. संचित कर्म 2. प्रारब्ध कर्म 3. क्रियमाण कर्म। संचित कर्म ऐसे कर्म हैं जो जीव के द्वारा पिछले जन्मों में किये गये हैं। सर्वज्ञ होने के कारण इन सभी कर्मों की जानकारी ईश्वर को है। इन कर्मों का भोग प्राप्त करने के लिए ही जीव को नाना योनियों में भिन्न-भिन्न शरीर मिलते हैं। सभी कर्मों का भोग एक शरीर से सम्भव नहीं है। अतः कुछ कर्मों को फलोन्मुख (फल देने में तत्पर) बनाकर ईश्वर उनके भोग के लिए एक शरीर देता है। यही कर्म, जिनका भोग प्राप्त करने के लिए यह शरीर मिला है, प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं, यह ऐसे कर्म

हैं जिन्होंने अपने फल देने का अवसर प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार संचित कर्म ही फल देने हेतु उद्यत होने पर प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं।

क्रियमाण कर्म ऐसे कर्म हैं, जिनको इस समय शरीर से किया जा रहा है। यह क्रियमाण कर्म शरीर छूटने के बाद संचित हो जाते हैं तथा अन्य शरीर से फल देते हैं। किन्तु यदि शरीर छूटने के पहले आत्मज्ञान हो जाय तो क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा पूर्व के संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म ही शेष रह जाते हैं, जिनका भोग ज्ञानी भी करते हैं। इस तथ्य को **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'** (गीता 4/30) में स्पष्ट किया गया है। **'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते'** (ब्र.सू. 4/1/19) इस ब्रह्मसूत्र में भी यह तथ्य विस्तार से निरूपित है।

64: संसार में उपलब्ध पदार्थ दो प्रकार के हैं—साध्य तथा साधन। मिट्टी साधन है, घड़ा साध्य है। किन्तु मिट्टी को साधन बनाकर घड़े को बनाने का उद्देश्य है, घड़े को जल लाने का साधन बनाना तथा जल का आनयन (लाना) पिपासा (प्यास) की निवृत्ति कराकर सुख का साधन बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण संसार के पदार्थ सुख अथवा दुःख के साधन के रूप में बनाये गये हैं। अतः यदि यह कहा जाय कि भोग (सुख अथवा दुख की प्राप्ति) साध्य है तथा सभी सांसारिक पदार्थ साधन हैं, तो साध्यसाधनभाव की उपपत्ति हो जाती है।

65. **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।**
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ (गीता 2/54)

66. मुण्डकोपनिषद् का यह मन्त्र ज्ञानी की सर्वज्ञता में प्रमाण है—
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मु.उप., खण्ड-2, म. 8)

आत्मज्ञान होने पर अविद्या-वासना-प्रचयरूप बुद्धि में स्थित काम नष्ट हो जाता है। सभी पदार्थों को विषय करने वाले संशय, जो लौकिक लोगों को आमरण होते रहते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। इस ज्ञानी पुरुष के ज्ञानोत्पत्ति के पहले इस शरीर से किये गये कर्म तथा जन्मान्तरों में दूसरे शरीरों से किये गये कर्म, जो फलोन्मुख नहीं हुए हैं, फल देना प्रारम्भ नहीं किये हैं तथा ज्ञान की उत्पत्ति के साथ जो कर्म हुए हैं, वे सभी नष्ट हो जाते हैं। किन्तु इस शरीर के आरम्भक कर्म (जिन कर्मों से इस शरीर की प्राप्ति हुई है), जिन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं, नष्ट नहीं होते; क्योंकि उन्होंने फल देना प्रारम्भ कर दिया है। ब्रह्म को पर एवं अवर दोनों शब्दों से कहा जा रहा है। कारण रूप में होने के कारण वह पर है तथा कार्य रूप होने के कारण अवर है। ऐसे परावर ब्रह्म को साक्षात् अपना स्वरूप (अपने से अभिन्न) समझना ही ज्ञान है।

67. राजा जानश्रुति एवं सयुग्वा रैक्व की उपनिषत्प्रसिद्ध आख्यायिका का उद्धरण भामतीकार ने '**शुगस्यानादरणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि**' (1/3/34) इस ब्रह्मसूत्र में दिया है।

68. राजा रहूगण एवं जड़भरत की कथा श्रीमद्भागवत महापुराण के 5वें स्कन्ध में 10 अध्यायों में वर्णित है।

69. '**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**' (मु.उप. 3/2/9)। '**जगद्व्यापार-वर्जम्**' (ब्र.सू. 4/4/17) में ब्रह्मवित् में जगदुत्पत्ति, स्थिति, व्यापार को छोड़कर अन्य व्यापार तथा अणिमादिक ऐश्वर्य की प्राप्ति बतलाई गयी है।

70. **निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।**
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ (श्रीमद्भागवत 11/14/16)

71. **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता 6/13)
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ (गीता 7/17)
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ (गीता 7/18)

72. जो ब्रह्म को अपने स्वरूप से पृथग् या भिन्न नहीं समझता।

73. विकल्प शब्द से विविध कल्पनाएँ या नाना प्रकार के ज्ञान विवक्षित हैं।

74. अतएव '**परात्तु तच्छ्रुतेः**' (ब्र.सू. 2/3/41), '**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः**' (2/3/42) में अदृष्टसापेक्ष ईश्वर को प्रेरक स्वीकार किया गया है। केवल अदृष्ट को प्रेरक नहीं कहा ज़ा सकता; क्योकि अचेतन प्रेरक नहीं हो सकता। अतएव सद्गुरु को मुण्डनकर्ता तथा अदृष्ट को प्रेरक कहा जा रहा है।

75. **गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।** (जाबालोपनिषद्)

76. इस अधिकरण में '**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः**' (2/3/42) यह सूत्र विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसी में यह प्रतिपादित किया गया है कि जीवों के कर्म को निमित्त बनाकर ही ईश्वर फल देता है। सूत्रार्थ यह है—जीव ने जो प्रयत्न किया है, अर्थात् जिस धर्म अथवा अधर्म को प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न किया है, उसकी अपेक्षा से ही ईश्वर उसे कर्म में प्रवृत्त करता है तथा जीव के द्वारा किये गये कर्मों की अपेक्षा से ही ईश्वर फल भी देता है। अतः यह मेघ के समान केवल निमित्त मात्र बनता है। उदाहरण को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि जैसे मेघ

से मिलनेवाला जल सभी सस्यों को (फसलों को) प्राप्त होने पर भी क्षेत्र की गुणवत्ता (घासरहित होना, उत्तम बीज का वपन, अच्छे खाद की मिट्टी में मिलावट) के आधार पर फलनिष्पत्ति (उपज) में अन्तर हो जाता है। यही स्थिति ईश्वर की प्रेरणा की भी है। वह सबको कर्म में प्रवृत करता है, किन्तु जीव अपने पूर्व कर्म एवं संस्कारों के अनुसार विशेष रुचि से प्रवृत्त होता हुआ कर्ता बनता है।

77. **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता 2/47)
इस श्लोक के द्वारा जीव की कर्म करने में स्वतन्त्रता को बतलाते हुए कृष्ण ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अच्छा-बुरा जो भी कर्म जीव से होगा, उसका जिम्मेदार वही है तथा उसके अच्छे-बुरे फल उसे ही भोगने हैं। किन्तु फलप्राप्ति को जीव के अधिकार से बाहर बताकर उस पर ईश्वर के नियन्त्रण की सूचना देते हुए यह कहना चाहते हैं कि तुम जो चाहो वह तुम्हें कर्म के बल पर प्राप्त नहीं हो सकता। यद्यपि इससे यह सन्देह होने लगता है कि यदि हमारे अभीष्ट फल की प्राप्ति हमें कर्मों से नहीं हो सकती तो हम कर्म करके क्या करेंगे। यदि ईश्वर ही फल देगा तो 'किसे अच्छा फल दिया जाय किसे बुरा' इसका निर्धारण (निश्चय) कैसे होगा? इत्यादि। तथापि पूर्व जन्मों में कृत कर्मों का सम्बन्ध अग्रिम में स्वीकार करने से यह समस्या हल हो सकती है; क्योंकि पूर्वजन्म में कृत कर्म यदि उसी फल से सम्बन्ध रखते हैं, जिस फल की प्राप्ति के लिए इस जन्म में कर्म किया जा रहा है, तो उस कर्म का फल मिल सकता है, अन्यथा नहीं भी मिल पाता। गंगावतरण की कथा इस तथ्य को प्रमाणित करते हुए शंकाओं को दूर करने में सहायक है। कथा प्रसिद्ध है। सगर के पुत्रों के दग्ध हो जाने पर सगर के पौत्र अंशुमान् ने गंगा को पृथ्वी पर लाने की इच्छा से तप किया किन्तु असफल रहे। अंशुमान् के पुत्र दिलीप ने भी तप किया किन्तु सफलता न मिली। दिलीप के पुत्र भगीरथ की सफलता में कारण केवल उनका ही तप नहीं था। पिछले दो पूर्व पुरुषों का कर्म भी इसी में सहायक हुआ। इसी तरह एक जीव के अनन्त जन्मों के कर्मों का लेखा-जोखा ईश्वर के पास होता है और उसी को दृष्टिगत कर वह फल देता है। ईश्वर के नियन्त्रण में फल-प्राप्ति के रहने से एक लाभ यह भी है कि फल न मिलने पर जीव कर्म से वितृष्ण होकर परमात्म-प्राप्ति की ओर भी कभी-कभी लग जाता है। क्योंकि उसे यह नहीं ज्ञात है कि फल कब मिलेगा?

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि परमात्मा का दर्शन भी ईश्वराधीन ही है, तथापि जीव जब अत्यन्त निर्विण्ण होकर भजन करता है, तो प्रभु की कृपा होती है।

78. तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः, आकाशाद् वायुर्वायोरग्नि-रग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत इत्यादिश्रुतेः। (वेदान्तसारः)

79. अविद्या अनादिकाल से ही आत्मा में है, इसे अद्वैती लोग स्वीकार करते हैं। इसलिए उनका कहना है कि अविद्या और चित् (आत्मा) का सम्बन्ध अनादि है। अविद्या आत्मा में है तो उसके कार्य भी हैं, यह मानना होगा; क्योंकि अविद्या रहे और कार्यरूप में परिणत न हो, यह नहीं कहा जा सकता। यतः अविद्या की आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ सर्वदा अपना काम करती रहती हैं। अतः जैसे आग के रहने पर दाहकता अवश्य होगी, उसी प्रकार अविद्या के रहने पर विक्षेप या कार्य अवश्य रहेगा। यह कार्य दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म तथा स्थूल। सूक्ष्म कार्य अपंचीकृतभूत अर्थात् तन्मात्रा हैं, जिनकी आत्मा से सर्वप्रथम उत्पत्ति होती है। श्रुति में आकाश, वायु, अग्नि (तेज), जल तथा पृथिवी की जो क्रमिक उत्पत्ति सुनी जाती है, वह इन्हीं सूक्ष्म तन्मात्राओं की है। स्थूल भूत तो पंचीकृत भूत हैं, जो व्यवहार के योग्य होते हैं। हम यह देखते हैं कि जिस पदार्थ का नाम एवं रूप (आकृति) दोनों ज्ञात हैं, उससे व्यवहार होता है। नामरूप ज्ञात न होने पर व्यवहार नहीं होता, जैसे किसी मनुष्य के सामने रहने पर भी केवल रूप का प्रत्यक्ष व्यवहारप्रयोजक नहीं होता, जब हम उसका नाम जान जाते हैं, तब उससे व्यवहार करते हैं। व्यवहार शब्द से शब्दाभिलाप तथा प्रवृत्ति या निवृत्ति दोनों ही कहे जाते हैं। यह व्यवहार नाम-रूप के अभाव में सम्भव नहीं है। स्थूल भूतों में नाम एवं रूप के होने से उन्हें व्यवहार्य कहा जाता है। प्रकृत प्रसंग में इस वर्णन का केवल इतना ही अभिप्राय है कि अविद्या कभी स्थूल रूप में तथा कभी सूक्ष्म रूप में अपने कार्यों के रूप में सर्वदा है। किन्तु सूक्ष्मावस्था में नाम-रूप ज्ञात नहीं होने से वहाँ व्यवहार नहीं होता। जब कार्य स्थूल रूप में रहते हैं तो वह सृष्टि या व्यवहार की अवस्था है। जब सूक्ष्म रूप में रहते हैं तो यही प्रलय की अवस्था कही जाती है। हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं कि किसी भी सृष्टि के पूर्व प्रलय होता है तथा प्रलय के पूर्व सृष्टि रहती है। प्रलय शब्द ही अपने पूर्व काल में स्थूलरूपता के त्याग को सूचित कर सृष्टि को बतला रहा है; क्योंकि प्रलय शब्द से बोधित प्रकृष्ट लय अर्थात् कारण के रूप में अवस्थिति किस पदार्थ की होगी, यदि कोई पदार्थ नहीं है। अतः प्रलय के पहले पदार्थ का होना आवश्यक है। **'सोऽकामयत'** (तै.उप. 2/6) इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित जिस सृष्टि का विचार हो रहा है उसके भी पूर्व में प्रलय है। इसका अर्थ यह है कि अविद्या के कार्य सूक्ष्म रूप में हैं। इन्हीं को स्थूलरूप में लाना ही आत्मा का बहुभवन या सृष्टि है। अतएव यह कहा गया है कि आत्मा में स्थित नाम-रूप

की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्मा का बहुभवन विवक्षित है अर्थान्तर के द्वारा नहीं। श्रुति इस तथ्य को और स्पष्ट करने हेतु उत्पत्ति के पूर्व की क्रियाओं का वर्णन करती है। उसने तप किया तथा तप के अनन्तर सृष्टि की रचना की। यह तप, ज्ञान या आलोचन है। सृष्टि के पहले रचयिता, प्राणियों के कर्म तथा सृष्टि के पदार्थों के स्वरूप आदि के बारे में विचार करता है; क्योंकि अदृष्ट के अनुसार ही सृष्टि होती है तथा जैसे पदार्थ पहले कल्प में थे, उसी प्रकार के ही इस सृष्टि में भी बनते हैं। अतएव वर्णन है कि सूर्य-चन्द्रमा आदि पूर्व की तरह ही विधाता ने बनाया— **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** (ऋ.वे. 10/190/5)।

80. मन की वृत्ति वर्तन या चलन शान्त न रहने का कारण प्राथमिक रूप में विषय-इन्द्रिय-संयोग को कहा जा सकता है; क्योंकि विषय-इन्द्रिय-संयोग की दशा में ही मन का चलन अधिकतर होता है। कभी-कभी नेत्र आदि को बन्द कर किसी भी इन्द्रिय की सहायता न लेने पर भी हमें पूर्व में अनुभूत तथ्यों का स्मरण होने लगता है। अतः यह कहना होगा कि विषयसम्पृक्त इन्द्रिय यदि मन के सम्पर्क में नहीं है, तो भी संस्कार, जो पूर्व अुनभवों से उत्पन्न होते हैं तथा आत्मा या मन में रहकर उपयुक्त अवसर पर पूर्व अनुभव (ज्ञान) के विषय का स्मरण कराते हैं, अपना कार्य करते हैं और उन्हीं की सहायता से मन में चलन होता है। पूर्व में सहस्रशः वस्तुओं का अनुभव होने पर भी कभी किसी का स्मरण होता है, अन्य का नहीं। इसमें अदृष्ट को ही नियन्त्रण करने वाला कहना होगा। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में सर्वदा मन वृत्तिमान् रहता है। इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर उनके द्वारा, तथा अन्यथा स्थिति में संस्कारों के द्वारा। स्वप्नावस्था में तो सम्पूर्ण रचना मन की ही है, जहाँ इन्द्रिय बाह्य विषय तथा स्थल आदि कुछ भी न होने पर भी सभी रूपों में मन बदलता है। अतः स्वप्न में भी चंचल ही रहता है। सुषुप्ति अवस्था में (सोते समय) मन का लय अपने कारणभूत अविद्या में हो जाता है, अतः उसमें किसी प्रकार का चलन या वृत्ति नहीं होती क्योंकि वह होता ही नहीं है। समाधि की अवस्था में वह अपने कारण में लीन तो नहीं होता किन्तु निरोध के कारण चलन या वृत्ति से रहित होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण व्यवहार काल में (चाहे स्वप्न हो या जाग्रत काल) मन सर्वदा वृत्तिमान् ही रहता है, वृत्तिशून्य नहीं।

81. समाधि दो प्रकार की होती है—सम्प्रज्ञात-समाधि तथा असम्प्रज्ञात-समाधि। सम्प्रज्ञात-समाधि में ध्याता-ध्येय का ज्ञान बना रहता है। **'सम्यक्तया ज्ञायन्ते ज्ञात्रादयः यस्मिन्नसौ सम्प्रज्ञातः'**, जिसमें ज्ञाता आदि अच्छी तरह से ज्ञात हो रहे हों वह सम्प्रज्ञात-समाधि है। इससे भिन्न समाधि असम्प्रज्ञात-समाधि है। जहाँ द्रष्टा

की स्वरूप मात्र में अवस्थिति होती है, जिसे योगशास्त्र में **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** उस समय द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित रहता है, इस सूत्र के द्वारा वर्णित किया गया है। योगशास्त्र यह भी कहता है कि इससे भिन्न अवस्था में वृत्तिसारूप्य रहता है।

82. **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (3/37)

83. **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।**
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

84. **इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।**
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ (2/67)

85. **तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।**
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (2/68)

86. गीता 12/5 से स्पष्ट है कि अव्यक्तोपासक दुःखपूर्वक तत्त्वप्राप्ति करते हैं। अतः सगुणोपासक सरलता से लक्ष्यप्राप्त करते हैं, यह 'तरप्' प्रत्यय से ध्वनित होता है।

87. इसी प्रकार का संकेत भगवान् शङ्कराचार्य ने भी गीता (2/39) के भाष्य में **'बुद्ध्या यया योगविषयया युक्तो हे पार्थ, कर्मबन्धं कर्मैव धर्माधर्माख्यो बन्धः कर्मबन्धस्तं प्रहास्यसीश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्तेरित्यभिप्रायः'** इस वाक्य द्वारा किया है। आचार्य ने ईश्वरप्रसादनिमित्तक ज्ञानप्राप्ति के द्वारा कर्मबन्ध के प्रहाण को बताकर भक्ति का महत्त्व ख्यापित किया है।

88. **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (यो.सू. 1/27)।

89. **'एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः'** (प्र.उप. 5/2) इस वाक्य से उपक्रम करके आगे **'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'** (प्र.उप. 5/5) इस वाक्य में ओंकार को त्रिमात्र कहा गया है तथा 'अनेनैव' यह कहते हुए एवकार के प्रयोग से अन्य नामों से उपासना का निषेध किया गया है। किन्तु अन्य नामों की सार्थकता की दृष्टि से एवकार को 'अपि' के अर्थों में मान लेने पर विरोध का शमन भी हो जाता है अथवा यह कहें कि ब्रह्म का प्रतीक होने के कारण ऊँकार को भगवान् के ध्यान का साधन कहा गया है।

90. **'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्'** (3/51) के भाष्य में यह वर्णित है।

91. आचार्यचरण के रहस्य को समझने के लिए 'यत' शब्द का अर्थ जानना जरूरी है। यत शब्द दो प्रकार से बन सकता है—'यती प्रयत्ने' धातु से घञर्थ भाव में क प्रत्यय करके अथवा 'यमु उपरमे' धातु से भावार्थ में क्त प्रत्यय करके। अतः यत शब्द यम-नियमादिमूलक सतत प्रयासरूप अवधानतापूर्वक सूक्ष्मनिरीक्षण तथा उपरतिप्रधान यम-नियमादि योगाङ्गों का भी सूचक है।

92. 1. ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण के प्रति आदर की भावना), 2. देवपितृ-भक्ति (देवता और अपने पूर्वजों में भक्ति), 3. नम्रता, 4. अन्योपतापिता (दूसरे को कष्ट न देना), 5. अनसूया (दूसरों के गुणों की उपेक्षा कर उन्हें दोष के रूप में देखना), 6. अपारुष्य (कठोरता का न होना), 7. मैत्री (सबमें मित्रता का भाव), 8. मृदुता (सरलता), 9. प्रियवादिता (प्रिय बोलने का स्वभाव), 10. कृतज्ञता (अपना कार्य करने वाले के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव), 11. शरण्यता (शरण में आने वाले की रक्षा करना तथा उसके प्रति साधुभाव रखना), 12. करुणा, दया का भाव तथा 13. प्रशान्ति (व्यवहार से अधिक उपराम रहना)—यह तेरह शील हारीत स्मृति में वर्णित हैं। इनको अपनाने से धर्म की वृद्धि होती है।

गृहस्थ के लिए पाँच हिंसा स्थान हैं—1. चुल्ली (रसोई घर) तथा वह रस्सी जिससे जल को कूप, तड़ाग आदि से बाहर निकाला जाता है। 2. पेषणी (आटा पिसने वाला जांत या चक्की)। 3. उपस्कर (घर का बर्तन) जिसमें धान्य आदि रखा जाता है तथा संमार्जनी (झाड़ू) आदि। 4. कण्डनी (ओखल-मूसल)। 5. उदकुम्भ (जल रखने का कलश) आदि—इनका उपयोग करने में सूक्ष्म जीवों के मरने से हिंसा होती है।

93. गीता 12/17 में श्रुत 'भक्तिमान्' शब्द का 'मतुप्' प्रत्यय भक्ति के नित्य सम्बन्ध को सूचित करता है। अतः भक्ति के प्रवाह में शोक, कामना, शुभ एवं अशुभ का परित्याग अप्रयास सिद्ध है।

94. **समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ (गीता 12/17-18)

95. **एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्धः आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।**
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र॥ (श्रीमद्भागवत 2/2/6)

96. **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः।** (यो.सू. 2/3)

97. द्रष्टव्य—अद्वैतसिद्धि **'अथ भेदश्रुतेरनुवादत्वोपपत्तिः'** पृ. 822।

98. **'नाकः अस्मात् अस्ति'** नाक या स्वर्ग जिस साधन से हो, यह फलितार्थ है।

99. कृत्तद्धितसमासाश्च।

100. सुप्तिङन्तं पदम्।

101. **यदि कुर्यात् प्रमादने योगी कर्म विगर्हितम्।**
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र परायणम्।। (11/20/25)
यहाँ यह श्रीधर स्वामी का वचन द्रष्टव्य है—
योगेनैव ज्ञानाभ्यासेनैव, एतच्च भक्तस्यापि नामकीर्तनाद्युपलक्षणार्थं नान्यत्कृच्छ्रादि।

102. साईं को सियत मास दस लागे।

103. **'वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थण्डिलचत्वरे'** (अमरकोश 2/7/8) के अनुसार 'स्थण्डिल' शब्द सम यज्ञभूमि को कहता है।

104. **यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।**
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत।।
(श्रीमद्भाग. 1/15/36)
जिनकी कथा सुनने लायक है ऐसे मुकुन्द भगवान् ने जिस दिन अपने शरीर से पृथिवी (मही) का परित्याग किया उसी दिन से, अप्रतिबद्ध चेता लोगों की अधर्म में प्रवृत्ति के कारणभूत कलियुग का अनुवर्तन प्रारम्भ हो गया। यहाँ यह अवश्य अवधेय है कि कलि का यह अनु पश्चात् वर्तन है, अर्थात् भगवान् की आज्ञा के पश्चात् कलि की प्रवृत्ति है। अतः जो प्रतिबुद्धचेता हैं, जिन्होंने अपने मन को भगवान् की ओर लगाया है, उनके ऊपर कलि का प्रभाव नहीं होता।

105. **अजोऽपि सन्नव्यमात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।। (गीता 4/6)

106. **प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।**
वशीकृत्य ततः कुर्यात् चित्तस्थानं शुभाश्रये।। (तुल. विष्णुपुराण 6/7/45)
शुभाश्रय शब्द से हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति आदि लिए जाते हैं।

107. **मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिस्पृहम्।**
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते।।
तच्च मूर्तं हरे रूपं यद्विचिन्त्यं नराधिप।
तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते।।
प्रसन्नवदनं चारु पद्मपत्रनिभेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम्।।
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम्।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम्।।

वली विभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण च।
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवाऽपि चतुर्भुजम्॥
समस्थितोरुजङ्घं च स्वस्तिकाङ्घ्रिकराम्बजुम्।
चिन्तयेद् ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम्॥
किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषितम्।
शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशंखाक्षवलयान्वितम्॥
चिन्तयेत् तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्।
तावद् यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा॥
एतदातिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तं सिद्धां मन्येत धारणाम्॥ (वि.पु. 6/7/77-85)

108. योगसूत्र 3/51 में वाचस्पति मिश्र ने कहा है—'**अस्य हि भगवतो जीवन्मुक्तस्य चरमदेहस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः**'। चरम देह वाले जीवन्मुक्त का चित्त-प्रतिसर्गरूप केवल एक प्रयोजन शेष रहता है।

109. पाति इति पात्रम्। (उणा.सू. 4/159)

110. '**तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**' (तै.उप. 2/1/1) के शाङ्करभाष्य में यह श्रुति उल्लिखित है।

111. जो अविद्यमान होकर व्यावर्तक होता है, उसे उपलक्षण कहते हैं।

112. यह सम्बन्ध ही अध्यास कहलाता है।

113. सद्भूत या सद्रूप अर्थ लोक में प्रतीयमान घटादि हैं, किन्तु परमार्थ सद्भूत अर्थ आत्मा ही है।

114. ज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रकाशन होने के साथ ही अज्ञानरूप अविद्या तथा अविद्यामूलक अन्य क्लेश निवृत्त हो जाते हैं।

115. 'चुड समुच्छ्राये' धातु से णिजभाव पक्ष में (**चुरादीनां णिज्वा** इस पक्ष में) भिदादिगण में पाठ होने से '**षिद्भिदादिभ्योऽङ्**' (3/3/104) से अङ् प्रत्यय, टाप् तथा दीर्घ करके चूडा शब्द की सिद्धि होती है।

●

उपनिषद्वाक्यानुक्रमणिका

योगसूत्रानुक्रमणिका

श्लोकानुक्रमणिका





विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
***Phone & Fax :* (0542) 2413741, 2413082**
***e-mail :* sales@vvpbooks.com**

₹ 1000.00

ISBN:978-93-5146-147-0



www.vvpbooks.com